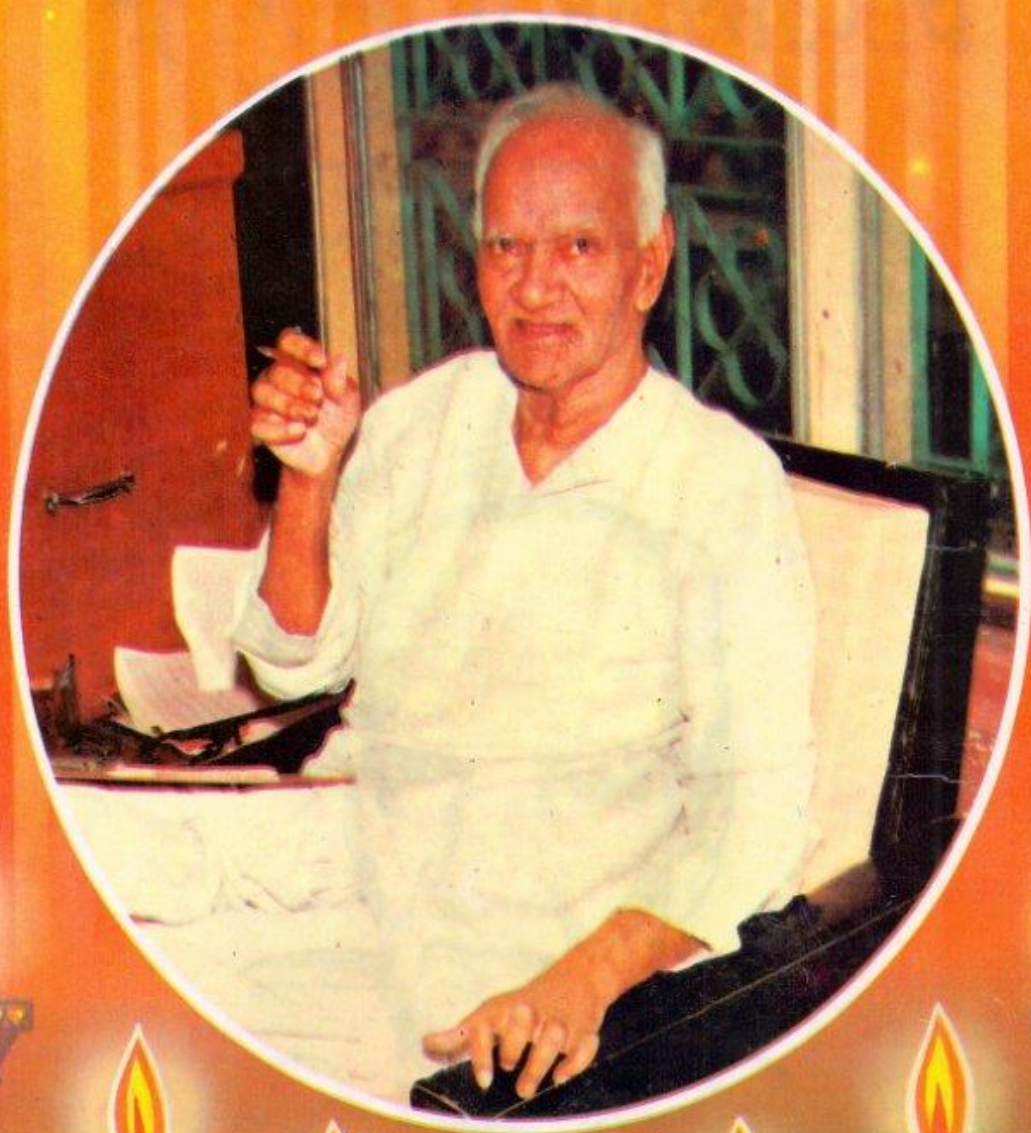


पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय

महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१



पं. श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्मय

महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१



प्रकाशक :

अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा



प्रकाशक

अखण्ड ज्योति संस्थान

मथुरा-२८१ ००३



© सर्वाधिकार सुरक्षित



द्वितीय संस्करण १९९८

www.awgp.org
www.vicharkrantibooks.org



मूल्य (१२५)



मुद्रक

जनजागरण प्रेस, मथुरा

समर्पणम्

ॐ वन्दे भगवतीं देवीं श्रीरामञ्च जगद्गुरुम् ।
पादपद्मे तयोः श्रित्वा प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥

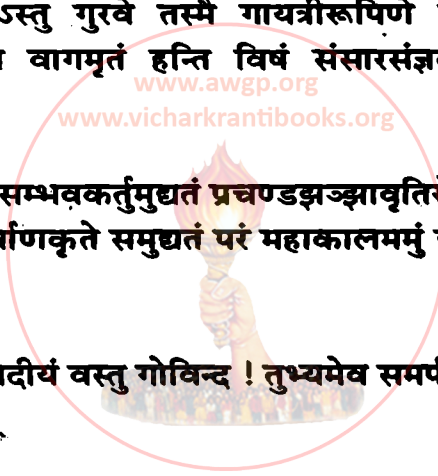
मातृवत् लालयित्री च पितृवत् मार्गदर्शिका ।
नमोऽस्तु गुरुसत्तायै श्रद्धा-प्रज्ञा युता च या ॥

भगवत्याः जगन्मातुः, श्रीरामस्य जगद्गुरोः ।
पादुकायुगले वन्दे, श्रद्धाप्रज्ञास्वरूपयोः ॥

नमोऽस्तु गुरवे तस्मै गायत्रीरूपिणे सदा ।
यस्य वागमृतं हन्ति विषं संसारसंज्ञकम् ॥

असम्भवं सम्भवकर्तुमुद्यतं प्रचण्डझञ्झावृतिरोधसक्षमम् ।
युगस्य निर्माणकृते समुद्यतं परं महाकालममुं नमाम्यहम् ॥

त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये ।



विराट गायत्री परिवार एवं उसके संस्थापक-संरक्षक एक संक्षिप्त परिचय

इतिहास में कभी-कभी ऐसा होता है कि अवतारी सत्ता एक साथ बहुआयामी रूपों में प्रकट होती है एवं करोड़ों ही नहीं, पूरी वसुधा के उद्धार-चेतनात्मक धरातल पर सबके मनो का नये सिरे से निर्माण करने आती है। परमपूज्य गुरुदेव पं. श्रीराम शर्मा आचार्य को एक ऐसी ही सत्ता के रूप में देखा जा सकता है जो युगों-युगों में गुरु एवं अवतारी सत्ता दोनों ही रूपों में हम सबके बीच प्रकट हुई, अस्सी वर्ष का जीवन जीकर एक विराट् ज्योति प्रज्वलित कर उस सूक्ष्म ऋषि चेतना के साथ एकाकार हो गयी जो आज युग परिवर्तन को सन्निकट लाने को प्रतिबद्ध है। परमवंदनीया माताजी शक्ति का रूप थीं जो कभी महाकाली, कभी माँ जानकी, कभी माँ शारदा एवं कभी माँ भगवती के रूप में शिव की कल्याणकारी सत्ता का साथ देने आती रही हैं। उनसे भी सूक्ष्म में विलीन हो स्वयं को अपने आराध्य के साथ एकाकार कर ज्योतिपुरुष का एक अंग स्वयं को बना लिया। आज दोनों सशरीर हमारे बीच नहीं हैं किन्तु, नूतन सृष्टि कैसे ढाली गयी, कैसे मानव गढ़ने का साँचा बनाया गया, इसे शान्तिकुंज, ब्रह्मवर्चस, गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान एवं युगतीर्थ आँवलखेड़ा जैसी स्थापनाओं तथा संकल्पित सृजन सेनानीगणों के वीरभद्रों की करोड़ों से अधिक की संख्या के रूप में देखा जा सकता है।

परमपूज्य गुरुदेव का वास्तविक मूल्यांकन तो कुछ वर्षों बाद इतिहासविद, मिथक लिखने वाले करेंगे किन्तु, यदि उनको आज भी साक्षात् कोई देखना या उनसे साक्षात्कार करना चाहता हो तो उन्हें उनके द्वारा अपने हाथ से लिखे गये उस विराट् परिमाण में साहित्य के रूप में युग संजीवनी के रूप में देखा सकता है जो वे अपने वजन से अधिक भार के बराबर लिख गये। इस साहित्य में संवेदना का स्पर्श इस बारीकी से हुआ है कि लगता है लेखनी को उसी की स्याही में डुबोकर लिखा गया हो। हर शब्द ऐसा जो हृदय को छूता, मन को व विचारों को बदलता चला जाता है। लाखों-करोड़ों के मनो के अंतःस्थल को छूकर उसने उनका कायाकल्प कर दिया। रूसो के प्रजातंत्र की, कार्लमार्क्स के साम्यवाद की क्रान्ति भी इसके समक्ष बौनी पड़ जाती है। उनके मात्र इस युग वाले स्वरूप को लिखने तक में लगता है कि एक विश्वकोश तैयार हो सकता है, फिर उस बहुआयामी रूप को जिसमें वे संगठनकर्ता, साधक, करोड़ों के अभिभावक, गायत्री महाविद्या के उद्धारक, संस्कार परम्परा का पुनर्जीवन करने वाले, ममत्व लुटाने वाले एक पिता, नारी जाति के प्रति अनन्य करुणा बिखेरकर उनके ही उद्धार के लिए धरातल पर चलने वाला नारी जागरण अभियान चलाते देखे जाते हैं, अपनी वाणी के उद्बोधन से एक विराट् गायत्री परिवार एकाकी अपने बलबूते खड़े करते दिखाई देते हैं तो समझ में नहीं आता, क्या-क्या लिखा जाये, कैसे छन्दबद्ध किया जाय, उस महापुरुष के जीवनचरित को।

आश्विन कृष्ण त्रयोदशी विक्रमी संवत् १९६७ (२० सितम्बर, १९११) को स्थूल शरीर से आँवलखेड़ा ग्राम जनपद आगरा जो जलेसर मार्ग पर आगरा से पन्द्रह मील की दूरी पर स्थित है, में जन्मे श्रीराम शर्मा जी का बाल्यकाल-कैशोर्य काल ग्रामीण परिसर में ही बीता। वे जन्मे तो थे एक जमींदार घराने में, जहाँ उनके पिता श्री पं. रूपकिशोर जी शर्मा आप-पास के, दूर-दराज के राजघरानों के राजपुरोहित, उद्भट विद्वान, भागवत कथाकार थे किन्तु, उनका अंतःकरण मानव मात्र की पीड़ा से सतत विचलित रहता था। साधना के प्रति उनका झुकाव बचपन में ही दिखाई देने लगा। जब वे अपने सहपाठियों को, छोटे बच्चों को अमराइयों में बिठाकर स्कूली शिक्षा के साथ-साथ सुसंस्कारिता अपनाने वाली आत्मविद्या का शिक्षण दिया करते थे, छटपटाहट के कारण हिमालय की ओर भाग निकलने व पकड़े जाने पर उनसे संबंधियों को बताया कि हिमालय ही उनका घर है एवं वहीं वे जा रहे थे। किसे मालूम था कि हिमालय की ऋषि चेतनाओं का समुच्चय बनकर आयी यह सत्ता वस्तुतः अगले दिनों अपना घर वहीं बनाएगी। जाति-पाँति का कोई भेद नहीं। जातिगत मूढ़ता भरी मान्यता से ग्रसित तत्कालीन भारत के ग्रामीण परिसर में एक अछूत वृद्ध महिला

की जिसे कुछ रोग हो गया था, उसी के टोले में जाकर सेवा कर उनसे घरवालों का विरोध तो मोल ले लिया पर अपना व्रत नहीं छोड़ा। उस महिला ने स्वस्थ होने पर उन्हें ढेरों आशीर्वाद दिये। एक अच्छूत कहलाने वाली जाति का व्यक्ति जो उनके आलीशान घर में घोड़ों की मालिश करने आता था, एक बार कह उठा कि मेरे घर कथा कौन कराने आएगा, मेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ। नवनीत जैसे हृदय वाले पूज्यवर उसके घर जा पहुँचे एवं कथा पूरे विधान से कर पूजा की, उसको स्वच्छता का पाठ सिखाया, जबकि सारा गाँव उनके विरोध में बोल रहा था।

किशोरावस्था में ही समाज सुधार की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ उनसे चलाना आरम्भ कर दी थीं। औपचारिक शिक्षा स्वल्प ही पायी थी किंतु, उन्हें इसके बाद आवश्यकता भी नहीं थी क्योंकि जो जन्मजात प्रतिभासम्पन्न हो वह औपचारिक पाठ्यक्रम तक सीमित कैसे रह सकता है। हाट-बाजारों में जाकर स्वास्थ्य-शिक्षा प्रधान परिपत्र बाँटना, पशुधन को कैसे सुरक्षित रखें तथा स्वावलम्बी कैसे बनें, इसके छोटे-छोटे पैम्फलेट्स लिखने, हाथ की प्रेस से छपवाने के लिए उन्हें किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं थी। वे चाहते थे, जनमानस आत्मावलम्बी बने, राष्ट्र के प्रति स्वाभिमान उसका जागे, इसलिए गाँव में जन्मे इस लाल ने नारी शक्ति व बेरोजगार युवाओं के लिए गाँव में ही एक बुनताघर स्थापित किया व उसके द्वारा हाथ से कैसे कपड़ा बुना जाय अपने पैरों पर कैसे खड़ा हुआ जाय यह सिखाया।

पंद्रह वर्ष की आयु में वसंत पंचमी की वेला में सन् १९२६ में उनके घर की पूजास्थली में, जो उनकी नियमित उपासना का तब से आगार थी, जबसे महामना पं. मदनमोहन मालवीय जी ने उन्हें काशी में गायत्री मंत्र की दीक्षा दी थी, उनकी गुरुसत्ता का आगमन हुआ अदृश्य छायाधारी सूक्ष्म रूप में। उनसे प्रज्वलित दीपक की लौ में से स्वयं को प्रकट कर उन्हें उनके द्वारा विगत कई जन्मों में सम्पन्न क्रिया-कलापों का दिग्दर्शन कराया तथा उन्हें बताया कि वे दुर्गम हिमालय से आये हैं एवं उनसे अनेकानेक ऐसे क्रियाकलाप कराना चाहते हैं, जो अवतारी स्तर की ऋषिसत्ताएँ उनसे अपेक्षा रखती हैं। चार बार कुछ दिन से लेकर एक साल तक की अवधि तक हिमालय आकर रहने, कठोर तप करने का भी उनसे संदेश दिया एवं उन्हें तीन संदेश दिए- १. गायत्री महाशक्ति के चौबीस-चौबीस लक्ष्य के चौबीस महापुरुषचरण जिन्हें आहार के कठोर तप के साथ पूरा करना था। २. अखण्ड घृतदीप की स्थापना एवं जन-जन तक इसके प्रकाश को फैलाने के लिए समय आने पर ज्ञानयज्ञ अभियान चलाना, जो बाद में अखण्ड ज्योति पत्रिका के १९३८ में प्रथम प्रकाशन से लेकर विचार-क्रान्ति अभियान के विश्वव्यापी होने के रूप में प्रकटा तथा ३. चौबीस महापुरुषचरणों के दौरान युगधर्म का निर्वाह करते हुए राष्ट्र के निमित्त भी स्वयं को खपाना, हिमालय यात्रा भी करना तथा उनके संपर्क से आगे का मार्गदर्शन लेना।

यह कहा जा सकता है कि युग निर्माण मिशन, गायत्री परिवार, प्रज्ञा अभियान, पूज्य गुरुदेव जो सभी एक-दूसरे के पर्याय हैं, की जीवन यात्रा का यह एक महत्त्वपूर्ण मोड़ था, जिसमें भावी रीति-नीति का निर्धारण कर दिया। पूज्य गुरुदेव अपनी पुस्तक 'हमारी वसीयत और विरासत' में लिखते हैं कि- "प्रथम मिलन के दिन समर्पण सम्पन्न हुआ। दो बातें गुरुसत्ता द्वारा विशेष रूप से कही गई- संसारी लोग क्या करते हैं और क्या कहते हैं, उसकी ओर से मुँह मोड़कर निर्धारित लक्ष्य की ओर एकाकी साहस के बलबूते चलते रहना एवं दूसरा यह कि अपने को अधिक पवित्र और प्रखर बनाने की तपश्चर्या में जुट जाना- जौ की रोटी व छाछ पर निर्वाह कर आत्मानुशासन सीखना। इसी से वह सामर्थ्य विकसित होगी जो विशुद्धतः परमार्थ प्रयोजनों में नियोजित होगी। वसंत पर्व का यह दिन गुरु अनुशासन का अवधारण ही हमारे लिए नया जन्म बन गया। सद्गुरु की प्राप्ति हमारे जीवन का अनन्य एवं परम सौभाग्य रहा।"

राष्ट्र के परावलम्बी होने की पीड़ा भी उन्हें उतनी ही सताती थी जितनी कि गुरुसत्ता के आदेशानुसार तपकर सिद्धियों के उपार्जन की ललक उनके मन में थी। उनके इस असमंजस को गुरुसत्ता ने ताड़कर परावाणी से उनका मार्गदर्शन किया कि युगधर्म की महत्ता व समय की पुकार देख-सुनकर तुम्हें अन्य आवश्यक कार्यों को छोड़कर अग्निकाण्ड में पानी लेकर दौड़ पड़ने की तरह आवश्यक कार्य भी करने पड़ सकते हैं। इसमें स्वतंत्रता संग्राम सेनानी के नाते संघर्ष करने का भी संकेत था। १९२७ से १९३३ तक का समय उनका एक सक्रिय स्वयं सेवक-स्वतंत्रता सेनानी के रूप में बीता, जिसमें घरवालों के विरोध के बावजूद

पैदल लम्बा रास्ता पार कर वे आगरा के उस शिविर में पहुँचे, जहाँ शिक्षण दिया जा रहा था, अनेकानेक मित्रों-सखाओं-मार्गदर्शकों के साथ भूमिगत हो कार्य करते रहे तथा समय आने पर जेल भी गये। छह-छह माह की उन्हें कई बार जेल हुई। जेल में भी वे जेल के निरक्षर साथियों को शिक्षण देकर व स्वयं अँग्रेजी सीखकर लौटे। आसनसोल जेल में वे श्री जवाहरलाल नेहरू की माता श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू, श्री रफी अहमद किदवाई, महामना मदनमोहन मालवीय जी, देवदास गाँधी जैसी हस्तियों के साथ रहे व वहाँ से एक मूलमंत्र सीखा जो मालवीय जी ने दिया था कि जन-जन की साझेदारी बढ़ाने के लिए हर व्यक्ति के अंशदान से, मुट्ठी फण्ड से रचनात्मक प्रवृत्तियाँ चलाना। यही मंत्र आगे चलकर एक घण्टा समयदान, बीस पैसा नित्य या एक दिन की आय एक माह में तथा एक मुट्ठी अन्न रोज डालने के माध्यम से धर्मघट की स्थापना का स्वरूप लेकर लाखों-करोड़ों की भागीदारी वाला गायत्री परिवार बनाता चला गया, जिसका आधार था प्रत्येक व्यक्ति की यज्ञीय भावना का उसमें समावेश।

स्वतंत्रता की लड़ाई के दौरान कुछ उग्र दौर भी आये, जिनमें शहीद भगतसिंह को फाँसी दिये जाने पर फैले जनआक्रोश के समय श्री अरविन्द के किशोर काल की क्रान्तिकारी स्थिति की तरह उनसे भी वे कार्य किये, जिनसे आक्रान्ता शासकों के प्रति असहयोग जाहिर होता था। नमक आन्दोलन के दौरान वे आततायी शासकों के समक्ष झुके नहीं, वे मारते रहे परन्तु, समाधि स्थिति को प्राप्त राष्ट्र देवता के पुजारी को बेहोश होना स्वीकृत था पर आन्दोलन से पीठ दिखाकर भागना नहीं। बाद में फिरंगी सिपाहियों के जाने पर लोग उठाकर घर लेकर आये। जरारा आन्दोलन के दौरान उनसे झण्डा छोड़ा नहीं जबकि, फिरंगी उन्हें पीटते रहे, झण्डा झीनने का प्रयास करते रहे। उनसे मुँह से झण्डा पकड़ लिया, गिर पड़े, बेहोश हो गये पर झण्डे का टुकड़ा चिकित्सकों द्वारा दाँतों में भींचे गये टुकड़े के रूप में जब निकाला गया तब सब उनकी सहनशक्ति देखकर आश्चर्यचकित रह गये। उन्हें तब से ही आजादी के मतवाले उन्मत्त श्रीराम मत्त नाम मिला। अभी भी आगरा में उनके साथ रहे या उनसे कुछ सीख लिए अगणित व्यक्ति उन्हें मत्तजी नाम से ही जानते हैं। लगानबन्दी के आँकड़े एकत्र करने के लिए उनसे पूरे आगरा जिले का दौरा किया व उनके द्वारा प्रस्तुत वे आँकड़े तत्कालीन संयुक्त प्रान्त के मुख्यमंत्री श्रीगोविन्द वल्लभ पंत द्वारा गाँधीजी के समक्ष पेश किये गये। बापू ने अपनी प्रशस्ति के साथ वे प्रामाणिक आँकड़े ब्रिटिश पार्लियामेंट भेजे, इसी आधार पर पूरे संयुक्त प्रान्त के लगान माफी के आदेश प्रसारित हुए। कभी जिनने अपनी इस लड़ाई के बदले कुछ न चाहा उन्हें सरकार ने अपना प्रतिनिधि भेजकर पचास वर्ष बाद ताम्रपत्र देकर शांतिकुंज में सम्मानित किया। उसी सम्मान व स्वाभिमान के साथ सारी सुविधाएँ व पेंशन उनसे प्रधानमंत्री राहत फण्ड के नाम समर्पित कर दीं। वैरागी जीवन का सच्चे राष्ट्र संत होने का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है?

१९३५ के बाद उनके जीवन का नया दौर शुरू हुआ, जब गुरुसत्ता की प्रेरणा से वे श्री अरविन्द से मिलने पाण्डिचेरी, गुरुदेव ऋषिवर रवीन्द्रनाथ टैगोर से मिलने शांति निकेतन तथा बापू से मिलने साबरमती आश्रम, अहमदाबाद गये। सांस्कृतिक, आध्यात्मिक मोर्चे पर राष्ट्र को कैसे परतंत्रता की बेड़ियों से मुक्त किया जाय, यह निर्देश लेकर अपना अनुष्ठान यथावत् चलाते हुए उनसे पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रवेश किया, जब आगरा में 'सैनिक' समाचार पत्र के कार्यवाहक संपादक के रूप में श्रीकृष्णदत्तपालीवाल जी ने उन्हें अपना सहायक बनाया। बाबू गुलाब राय व पालीवाल जी से सीख लेते हुए सतत स्वाध्यायरत रहकर उनसे अखण्ड ज्योति नामक पत्रिका का पहला अंक १९३८ की वसंत पंचमी पर प्रकाशित किया। प्रयास पहला था, जानकारीयाँ कम थीं अतः पुनः सारी तैयारी के साथ विधिवत् १९४० की जनवरी से उनसे परिजनों के नाम पाती के साथ अपने हाथ से बने कागज से बने कागज पर पैर से चलने वाली मशीन से छापकर 'अखण्ड ज्योति' पत्रिका का शुभारंभ किया जो पहले तो दो सौ पचास पत्रिका के रूप में निकली, किन्तु क्रमशः उनके अध्यक्षता घर- घर पहुँचाने, मित्रों तक पहुँचाने वाले उनके हृदयस्पर्शी पत्रों द्वारा बढ़ती-बढ़ती नवयुग के मत्स्यावतार की तरह आज दस लाख से भी अधिक संख्या में विभिन्न भाषाओं में छपती व एक करोड़ से अधिक व्यक्तियों द्वारा पढ़ी जाती है।

पत्रिका के साथ-साथ 'मैं क्या हूँ' जैसी पुस्तकों का लेखन आरम्भ हुआ। स्थान बदला, आगरा से मथुरा आग गये, दो-तीन घर बदलकर धीयामण्डी में जहाँ आज अखण्ड ज्योति संस्थान है, आ बसे। पुस्तकों

का प्रकाशन व कठोर तपश्चर्या, ममत्व विस्तार तथा पत्रों द्वारा जन-जन के अंतःस्थल को छूने की प्रक्रिया चालू रही। साथ देने आ गयीं परमवंदनीया माताजी भगवती देवी शर्मा, जिन्हें भविष्य में अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका अपने आराध्य इष्ट गुरु के लिए निभानी थी। उनके मर्मस्पर्शी पत्रों ने, भाव भरे आतिथ्य, हर किसी को जो दुःखी था- पीड़ित था, दिये गये ममत्व भरे परामर्श ने गायत्री परिवार का आधार खड़ा किया, इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि विचारक्रान्ति में साहित्य ने मनोभूमि बनायी तो भावात्मक क्रान्ति में ऋषियुगल के असीम स्नेह ने ब्राह्मणत्व भरे जीवन ने शेष बची भूमिका निभायी।

‘अखण्ड ज्योति’ पत्रिका लोगों के मनों को प्रभावित करती रही, इसमें प्रकाशित ‘गायत्री चर्चा’ स्तम्भ से लोगों को गायत्री व यज्ञमय जीवन जीने का संदेश मिलता रहा, साथ ही एक आना से लेकर छह आना सीरज की अनेकानेक लोकोपयोगी पुस्तकें छपती चली गयीं। इस बीच हिमालय के बुलावे भी आये, अनुष्ठान भी चलता रहा जो पूरे विधि-विधान के साथ १९५३ में गायत्री तपोभूमि की स्थापना, १०८ कुण्डी यज्ञ व उनके द्वारा दी गयी प्रथम दीक्षा के साथ समाप्त हुआ। गायत्री तपोभूमि की स्थापना के निमित्त धन की आवश्यकता पड़ी तो परमवंदनीया माताजी ने जिनने हर कदम पर अपने आराध्य का साथ निभाया, अपने सारे जेवर बेच दिये, पूज्यवर ने जमींदारी के बाण्ड बेच दिये एवं जमीन लेकर अस्थायी स्थापना कर दी गयी। धीरे-धीरे उदारचेताओं के माध्यम से गायत्री तपोभूमि एक साधना पीठ बन गयी। २४०० तीर्थों के जल व रज की स्थापना वहाँ की गयी, २४०० करोड़ गायत्री मंत्र लेखन वहाँ स्थापित हुआ, अखण्ड अग्नि हिमालय के एक अति पवित्र स्थान से लाकर स्थापित की गयी जो अभी तक वहाँ यज्ञशाला में जल रही है। १९४१ से १९७१ तक का समय परमपूज्य गुरुदेव का गायत्री तपोभूमि, अखण्ड ज्योति संस्थान में सक्रिय रहने का समय है। १९५६ में नरमेध यज्ञ, १९५७ में सहस्रकुण्डी यज्ञ करके लाखों गायत्री साधकों को एकत्र कर उनसे गायत्री परिवार का बीजारोपण कर दिया। कार्तिक पूर्णिमा १९५८ में आयोजित इस कार्यक्रम में दस लाख व्यक्तियों ने भाग लिया, इन्हीं के माध्यम से देशभर में प्रगतिशील गायत्री परिवार की दस हजार से अधिक शाखाएँ स्थापित हो गयीं। संगठन का अधिकाधिक कार्यभार पूज्यवर परमवंदनीया माताजी पर सौंपते चले गये एवम् १९५९ में पत्रिका का संपादन उन्हें देकर पौने दो वर्ष के लिए हिमालय चले गये, जहाँ उन्हें गुरुसत्ता से मार्गदर्शन लेना था, तपोवन नंदनवन में ऋषियों से साक्षात्कार करना था तथा गंगोत्री में रहकर आर्ष ग्रन्थों का भाष्य करना था। तब तक वे गायत्री महाविद्या पर विश्वकोश स्तर की रचना गायत्री महाविज्ञान के तीन खण्ड लिख चुके थे, जिसके अब तक प्रायः पैंतीस संस्करण छप चुके हैं। हिमालय से लौटते ही उनसे महत्वपूर्ण निधि के रूप में वेद, उपनिषद्, स्मृति, आरण्यक, ब्राह्मण, योगवाशिष्ठ, मंत्र महाविज्ञान, तंत्र महाविज्ञान जैसे ग्रन्थों को प्रकाशित कर देव संस्कृति की मूलधाती को पुनर्जीवन दिया। परमवंदनीया माताजी ने उन्हीं वेदों को पूज्यवर की इच्छानुसार १९९१-९२ में विज्ञानसम्मत आधार देकर पुनर्मुद्रित कराया एवं वे आज घर-घर में स्थापित हैं।

युग निर्माण योजना व ‘युग निर्माण सत्संकल्प’ के रूप में मिशन का घोषणा पत्र १९६३ में प्रकाशित हुआ। तपोभूमि एक विश्वविद्यालय का रूप लेती चली गयी तथा अखण्ड ज्योति संस्थान एक तप-पूत की निवास स्थली बन गया, जहाँ रहकर उनसे अपनी शेष तप साधना पूरी की थी, जहाँ से गायत्री परिवार का बीज डाला गया था। तपोभूमि में विभिन्न शिविरों का आयोजन किया जाता रहा, पूज्यवर स्वयं छोटे-बड़े जन सम्मेलनों के द्वारा विचार क्रान्ति की पृष्ठभूमि बनाते रहे, पूरे देश में १९७०-७१ में पाँच १००८ कुण्डी यज्ञ आयोजित हुए। स्थायी रूप से विदाई लेते हुए एक विराट सम्मेलन (जून १९७१) में परिजनों को विशेष कार्य-भार सौंप परमवंदनीया माताजी को शांतिकुंज, हरिद्वार में अखण्ड दीप के समक्ष तप हेतु छोड़कर स्वयं हिमालय चले गये। एक वर्ष बाद वे गुरुसत्ता का संदेश लेकर लौटे एवं अपनी आगामी बीस वर्ष की क्रिया-पद्धति बतायी। ऋषि परम्परा का बीजारोपण, प्राण प्रत्यावर्तन, संजीवनी व कल्प साधना सत्रों का मार्गदर्शन जैसे कार्य उनसे शांतिकुंज में सम्पन्न किये।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थापना अपनी हिमालय की इस यात्रा से लौटने के बाद ब्रह्मवर्चस शोध संस्थान की थी, जहाँ विज्ञान और अध्यात्म के समन्वयात्मक प्रतिपादनों पर शोध कर एक नये धर्म वैज्ञानिक धर्म के मूलभूत आधार रखे जाने थे। इस सम्बन्ध में पूज्यवर ने विराट परिमाण में साहित्य लिखा, अदृश्य जगत् के

अनुसंधान से लेकर मानव की प्रसुप्त क्षमता के जागरण तक, साधना से सिद्धि एवं दर्शन-विज्ञान के तर्क, तथ्य, प्रमाण के आधार पर प्रस्तुतीकरण तक। इसके लिए एक विराट ग्रन्थागार बना व एक सुसज्जित प्रयोगशाला। वनौषधि उद्यान भी लगाया गया तथा जड़ी-बूटी, यज्ञ विज्ञान तथा मंत्र शक्ति पर प्रयोग हेतु साधकों पर परीक्षण प्रचुर परिमाण में किये गये। निष्कर्षों ने प्रमाणित किया कि ध्यान साधना, मंत्र चिकित्सा व यज्ञोपैथी एक विज्ञानसम्मत विधा है। गायत्री नगर क्रमशः एक तीर्थ, संजीवनी विद्या के प्रशिक्षण का, एकेडमी का रूप लेता चला गया एवं जहाँ, ९-९ दिन के साधना प्रधान, एक-एक माह के कार्यकर्ता निर्माण हेतु युगशिल्पी सत्र सम्पन्न होने लगे।

कार्यक्षेत्र में विस्तार हुआ। स्थान-स्थान पर शक्तिपीठों विनिर्मित हुईं, जिनके निर्धारित क्रियाकलाप थे- सुसंस्कारिता व आस्तिकता संवर्धन एवं जन-जाग्रति के केन्द्र बनना। ऐसे केन्द्र जो १९८० में बनना आरंभ हुए थे, प्रज्ञासंस्थान, शक्तिपीठ, प्रज्ञामण्डल, स्वाध्याय-मण्डल के रूप में पूरे देश व विश्व में फैलते चले गये। ७६ देशों में गायत्री परिवार की शाखाएँ फैल गयीं, ४६०० से अधिक भारत में निज के भवन वाले संस्थान विनिर्मित हो गये, वातावरण गायत्रीमय होता चला गया।

परमपूज्य गुरुदेव ने सूक्ष्मीकरण में प्रवेश कर १९८५ में ही पाँच वर्ष के अंदर अपने सारे क्रिया-कलापों को समेटने की घोषणा कर दी। इस बीच कठोर तपसाधना कर मिलना-जुलना कम कर दिया तथा क्रमशः क्रिया-कलाप परमवंदनीया माताजी को सौंप दिये। राष्ट्रीय एकता सम्मेलनों, विराट दीप यज्ञों के रूप में नूतन विधा को जन-जन को सौंप कर राष्ट्र देवता की कुण्डलिनी जगाने हेतु उनने अपने स्थूल शरीर छोड़ने व सूक्ष्म में समाने की, विराट से विराटतम होने की घोषणा कर गायत्री जयन्ती २ जून, १९९० को महाप्रयाण किया। सारी शक्ति वे परमवंदनीया माताजी के दे गये व अपने व माताजी के बाद संघशक्ति की प्रतीक लाल मशाल को ही इष्ट-आराध्य मानने का आदेश देकर ब्रह्मबीज से विकसित ब्रह्मकमल की सुवास को देवसंस्कृति दिग्विजय अभियान के रूप में आरंभ करने का माताजी को निर्देश दे गये।

एक विराट श्रद्धांजलि समारोह व शपथ समारोह जो हरिद्वार में सम्पन्न हुए, में लाखों व्यक्तियों ने अपना समय समाज के नवनिर्माण, मनुष्य में देवत्व के उदय व धरती पर स्वर्ग लाने का गुरुसत्ता का नारा साकार करने के निमित्त देने की घोषणा की। परमवंदनीया माताजी द्वारा भारतीय-संस्कृति को विश्वव्यापी बनाने, गायत्री रूपी संजीवनी घर-घर पहुँचाने के लिए पूज्यवर द्वारा आरम्भ किये गये युग संधि महापुरश्चरण की प्रथम व द्वितीय पूर्णाहुति तक विराट अश्वमेध महायज्ञों की घोषणा की गयी। वातावरण के परिशोधन, सूक्ष्मजगत के नवनिर्माण एवं सांस्कृतिक व वैचारिक क्रान्ति ने सारी विश्ववसुधा को गायत्री व यज्ञमय, वासंती उल्लास से भर दिया। स्वयं परमवंदनीया माताजी ने अपनी पूर्व घोषणानुसार चार वर्ष तक परिजनों का मार्गदर्शन कर सोलह यज्ञों का संचालन स्थूल शरीर से किया व फिर भाद्रपद पूर्णिमा १९ सितम्बर, १९९४ महालय श्राद्धारंभ वाली पुण्य वेला में अपने आराध्य के साथ एकाकार हो गयीं। उनके महाप्रयाण के बाद, दोनों ही सत्ताओं के सूक्ष्म में एकाकार होने के बाद मिशन की गतिविधियाँ कई गुना बढ़ती चली गयीं एवं जयपुर के प्रथम अश्वमेध यज्ञ (नवम्बर ९२) से छब्बीसवें अश्वमेध यज्ञ शिकागो (यू. एस. ए. जुलाई ९५) तक प्रज्ञावतार का प्रत्यक्ष रूप सबको दीखने लगा है।

गुरुसत्ता के आदेशानुसार सतयुग के आगमन तक १०८ महायज्ञ देवसंस्कृति को विश्वव्यापी बनाने हेतु सम्पन्न होने हैं। युग संधि महापुरश्चरण की अंतिम पूर्णाहुति उसी के बाद होगी। प्रथम पूर्णाहुति नवम्बर १९९४ में कार्तिक पूर्णिमा के अवसर पर युगपुरुष पूज्यवर की जन्मभूमि आँवलखेड़ा में मनायी गई। उनके द्वारा लिखे गये समग्र साहित्य के वाङ्मय का जो एक सौ आठ खण्डों में फैला है, विमोचन भी यहीं सम्पन्न हुआ। विनम्रता एवं ब्राह्मणत्व की कसौटी पर खरे उतरने वाले वरिष्ठ प्रज्ञापुत्र ही उनके उत्तराधिकारी कहे जाएँगे, यह गुरुसत्ता का उद्घोष था एवं इस क्षेत्र में बढ़-चढ़कर आदर्शवादी प्रतिस्पर्धा करने वाले अनेकानेक परिजन अब उनके स्वप्नों को साकार करने आगे आ रहे हैं। 'हम बदलेंगे-युग बदलेगा' का उद्घोष दिग-दिगन्त तक फैल रहा है एवं इक्कीसवीं सदी उज्ज्वल भविष्य, सतयुग की वापसी का स्वप्न साकार होता चला जा रहा है, यह स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

□□□

भूमिका

महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग आस्था संकट की इस वेला में कष्टदायी तपन के बीच जल की ठंडी बूदों के छोटों की तरह काम करते हैं। महापुरुषों के सत्संग की महिमा सभी ग्रन्थ एवं शास्त्रों में बतायी गई है। समयानुकूल कभी भी कोई शंका उत्पन्न हो तो उसका समाधान पाने के लिए विद्वान, संत, ज्ञानवान, चरित्रवान व्यक्तियों के सम्पर्क से उसे निर्मूल कर लेना चाहिए। आज की परिस्थितियाँ बदल गयी हैं, सत्संग योग्य उच्च कोटि के सत्यवादी, प्रखर एवं निस्पृह व्यक्तित्व के धनी बहुत ही कम देखने को मिलते हैं, जो तथाकथित धर्मोपदेशक शास्त्र-महिमा का गान करते दिखाई पड़ते हैं, उनके आचरण में वे गुण न उतर पाने के कारण कोई प्रभाव जनमानस पर पड़ता नहीं देखा जाता। सामान्य जनता के लिए आत्मिक प्रगति की ओर अग्रसर कराने वाला ज्ञान, व्यक्तित्व को ऊँचा उठाने का एकमात्र उपाय, महापुरुषों के संस्मरणों का स्वाध्याय ही माना जा सकता है। जब कभी जिज्ञासा या शंका मन में उठे तो उसकी पूर्ति तत्सम्बन्धी घटना प्रसंगों को पढ़कर की जा सकती है। छोटे-छोटे संस्मरण पढ़ने में भी सहज होते हैं और उनसे ली जाने वाली प्रेरणा हृदयगमन करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं आती। रोचकता से भरे इन संस्मरणों के स्वाध्याय से सभी का मन एकाग्रचित्त हो जाता है, साथ ही सदाचार, नीति, परोपकार, सेवा एवं उदारता जैसे सद्गुणों की शिक्षाएँ भी प्राप्त हो जाती हैं।

वाङ्मय के इस खण्ड में महापुरुषों के उन अविस्मरणीय जीवन प्रसंगों को लिया गया है, जिनसे अनेकों ने राह पायी है एवं जो आज भी प्रासंगिक हैं। भगवान परशुराम, महात्मा बुद्ध, कुमारजीव, सम्राट अशोक, ईसा, महावीर, संत सुकरात, कन्फ्यूशियस, महात्मा जयधुस्त्र, अरस्तु, महर्षि पाणिनी, चाणक्य, शंकराचार्य एवं रामकृष्ण परमहंस जैसे महापुरुषों के जीवन प्रसंगों द्वारा इस खण्ड में आचरण को ऊँचा उठाने और जीवन के रोजमर्रा की समस्याओं को सुलझाने वाले ऐसे प्रसंग वर्णित हैं जो प्रेरणादायी हैं और सही अर्थों में व्यक्ति की अन्तश्चेतना को दिशा देने वाले हैं, इनके विषय में कहा गया है कि 'देखन में छोटे लगें, घाव करें गम्भीर' अर्थात् ये मर्मस्थल को स्पर्श करते हुए जीवन की राह को बदल देते हैं। अगले अध्याय में धार्मिक चेतना के उन्नायक ऐसे सन्त-महात्माओं की जीवनियों के हृदयस्पर्शी प्रसंग वर्णित हैं, जो भारत में जन्मी हमारी संस्कृति के प्राणतत्त्व हैं। संत रैदास, तुकाराम, चैतन्य, नामदेव, ज्ञानेश्वर, स्वामी विवेकानन्द, पौहारी बाबा, मत्स्येन्द्रनाथ, श्रीअरविंद, महर्षि रमण, स्वामी रामतीर्थ, गुरुनानक एवं अन्य सभी सिक्ख धर्म के गुरु, संत कबीर, राघवेन्द्र स्वामी, स्वामी विरजानन्द, मलूकदास, रामानुजाचार्य, संत वसवेश्वर, द्रदू एवं एकनाथ जैसे भारतीय संस्कृति के मील के पत्थर कहे जाने वाले उच्चतम स्तर तक चेतना को पहुँचाकर जन-जन को ईश्वर प्राप्ति का राजमार्ग दिखाने वाले सन्त-महात्माओं के अविस्मरणीय प्रसंग इसमें हैं।

यों तो कईयों को लग सकता है कि ये घटनाएँ, जीवन प्रसंग सर्वज्ञात हैं, इनमें कौन-सी नयी बात है। फिर भी आज की नई पीढ़ी को, आदर्शों को जीवन में उतारने के लिए इससे श्रेष्ठ उदाहरण और कहीं नहीं मिल सकता। इसी क्रम में आगे विश्व मानवता के ऐसे संदेशवाहकों के भी जीवन प्रसंग इसमें वर्णित हैं। जिन्होंने अपनी परिधि 'स्व' से ऊँची उठाकर समस्त वसुधा रूपी कुटुम्ब के स्तर तक पहुँचा दी एवं मानव मात्र के लिए प्रेरणा के स्रोत बन गये। स्वामी सहजानन्द, साने गुरुजी, वीर हकीकत राय, संत इमर्सन, फादर दामियेन, पॉप पायस, श्री राबर्ट, ईसप, जे. कृष्णमूर्ति, गुरु गोरखनाथ, साधु वास्वानी, रविशंकर महाराज, स्वामी तुकड़ो जी महाराज, नारायण गुरु, जलाराम बापा, स्वामी भक्तिवेदान्त, संत फतह सिंह, दधीचि, महर्षि धौम्य, महात्मा भगवान दीन, गुरु गोलवलकर, स्वामी मुक्तानन्द एवं सर जॉन वुडरफ इत्यादि के जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रसंगों के साथ-साथ उनकी शिक्षाएँ एवं प्रेरणाएँ इस अध्याय में समाहित हैं।

चौथे अध्याय में ऐसे राष्ट्र मंदिर के कुशल शिल्पी-महापुरुषों की जीवन गाथाओं के प्रेरणाप्रद दृष्टान्त सन्निहित हैं, जिनके आधार पर एक विराट् चिन्तन वाले विश्व राष्ट्र की भूमिका बनी। इसमें ऋषि नागार्जुन, देवमित्र धर्मपाल, राजा राममोहन राय, चित्तरन्जनदास, ठक्कर बापा, महावीर प्रसाद द्विवेदी, लाला हरदयाल, राजा महेन्द्र प्रताप, लोकमान्य तिलक, महर्षि कर्वे, सरदार पटेल, दामोदर सातवलेकर, डॉ. अम्बेडकर, दादा भाई नौरोजी, लाल बहादुर शास्त्री एवं राघवदास जैसे नाम उल्लेखनीय हैं।

परमपूज्य गुरुदेव की लेखनी से इस खण्ड के अन्तिम अध्याय में पीड़ित मानवता के अनन्य सेवकों के रूप में ऐसे महापुरुषों को वर्णित किया गया है, जिनकी त्याग, निष्ठा, समर्पण, साधना के बलबूते ही विश्व वसुधा प्रगति को प्राप्त हो पायी एवं उनके प्रयासों के माध्यम से ही आज मानवता को हम जीवित पाते हैं। ऐसे महापुरुषों में वाल्टेयर, रोम्या रोला, प्रिन्स क्रोपाटकिन, मैक्सिम गोर्की, मार्टिन लूथर, संत विनोबा भावे, महात्मा बहा, महाप्रभु जगत् बन्धु, हेनरी दूना, लुई पाश्चर, सर गारफील्ड, न्यूटन, ओपेन हाइमर, मैक्स प्लांक, श्री रामानुजम्, मौलाना मजहूरलहक, डॉ. होमी भाभा, सीमान्त गाँधी इत्यादि के जीवन प्रसंगों के महत्त्वपूर्ण अंशों को वर्णित किया गया है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि वाङ्मय का यह खण्ड एक ऐसी जलती हुई मोमबत्ती के समान है, जो अज्ञान के अंधकार में भटक रहे हम सभी को मार्गदर्शन देने में सक्षम है। इस खण्ड का एक-एक शब्द उन महापुरुषों को समर्पित है जिनने परमार्थ के लिए, विश्व वसुधा के विकास के लिए, औरों की पीड़ा शमन करने के लिए तथा सांस्कृतिक चेतना को विश्व के कोने-कोने में पहुँचाने के लिए अपना सब कुछ होम कर दिया।



-ब्रह्मवर्चस

विषय-सूची

महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग

- धार्मिक क्रान्ति के प्रतीक—भगवान् परशुराम १.१
- महात्मा बुद्ध के अविस्मरणीय कथा प्रसंग १.२
- बुद्ध-जीवन के कुछ अन्य प्रेरक प्रसंग १.४
- भगवान् बुद्ध का सबसे अधिक नीरोग शिष्य—
वक्कुल १.५१
- महान् धर्म प्रचारक— कुमार जीव १.५२
- धर्म राज्य के प्रसारकर्ता— सम्राट अशोक १.५४
- उत्तराधिकार में जिन्होंने राज्य नहीं धर्म माँगा—
महाभिक्षु महेन्द्र १.५६
- धार्मिक-साम्य के प्रचारक— महात्मा ईसा १.५८
- जैन तीर्थंकर— भगवान् महावीर १.७०
- भगवान् महावीर— मर्मस्पर्शी कथा प्रसंग १.७२
- विचार-क्रान्ति के देवदूत— सन्त सुक्रात १.७५
- दार्शनिकता को सार्थक बनाने वाले कम्प्यूशियस १.७९
- सरल व सौम्य धर्म संस्थापक— कांगफ्यूत्सी १.८४
- फारस के तथागत— महात्मा जरथुस्त्र १.८५
- महान् शिक्षक— अरस्तू १.८८
- परिष्कृत संस्कृत के प्रणेता— महर्षि पाणिनि १.८९
- राजनीति पर धर्मतंत्र का अंकुश रखने वाले चाणक्य १.९१
- धर्म-संस्कृति के लिये समर्पित— फल्लहान १.९४
- वैदिक धर्म की रक्षार्थ जीवन दान करने वाले—
श्रीशंकराचार्यजी १.९५
- धर्मरक्षार्थ जीवन होमने वाले— श्री कुमारिल भट्ट १.९८
- सेवा योगी— स्वामी रामकृष्ण परमहंस १.९९

धार्मिक नवचेतना के उन्नायक प्रख्यात संत-महात्मा

- सन्त रैदास की साधना २.१
- अध्यात्म के सच्चे प्रतिनिधि— संत तुकाराम २.३
- संत तुकाराम के जीवन के कुछ अद्भुत प्रसंग २.७
- धार्मिक नवचेतना के प्रचारक— महाप्रभु चैतन्य २.८
- परम भागवत् सन्त नामदेव २.१२
- ज्ञान धारा बहाने वाले दक्षिण के भगीरथ—
संत ज्ञानेश्वर २.१५
- लोक-सेवी महात्मा— स्वामी विवेकानन्द २.१८
- स्वामी विवेकानन्द के प्रेरणावादी कथा प्रसंग २.२१
- तप द्वारा विश्वहित में संलग्न— पौहारी बाबा २.२३
- योग मार्ग के प्रबल प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ २.२५
- देश एवं धर्म साधना के साधक— महर्षि अरविन्द २.२६
- महर्षि रमण— आत्मान्वेषण ही जिन्हें इष्ट था २.२९
- वेदान्त को अपने जीवन माध्यम से समझाने वाले—
स्वामी रामतीर्थ २.३२
- सिख धर्म के गृहस्थ गुरु २.३७
- धार्मिक ऐक्य के प्रचारक— गुरु नानक २.३८

- तपोनिष्ठ महात्मा श्रीचन्द्र २.४३
- समर्पण के आदर्श प्रतीक— गुरु अंगद देव २.४५
- योग्य गुरु के योग्य शिष्य अमरदास और रामदास २.४६
- बलिदानी सन्त गुरु तेगबहादुर २.४७
- पुष्प से कोमल, वज्र से कठोर गुरु गोविन्दसिंह २.४८
- धार्मिक मतभेदों के समन्वयकारी— संत कबीर २.५२
- धर्मोद्धारक— राघवेन्द्र स्वामी २.५८
- धार्मिक क्रान्ति के स्वप्नदृष्टा— स्वामी विरजानन्द २.६०
- धर्म समन्वयकर्ता— सन्त मलूकदास २.६२
- धार्मिक समता के प्रचारक— श्री रामानुज २.६३
- धर्म का तत्त्वज्ञान समझाने वाले— सन्त वसवेश्वर २.६५
- ऋषि परम्परा निभाने वाले— महात्मा 'लिखित' २.६८
- क्षमाशील हो तो सन्त दादू जैसा २.६९
- ब्राह्मणत्व का पालन करने वाले— संत एकनाथ २.७०
- धर्म के लिये मर मिटने वाले— महात्मा पाल २.७३
- धर्म के लिये बलि हो जाने वाले— संत पीटर २.७३
- लोकाशाह— जिन्होंने धर्म-क्रान्ति का सूत्र संचालन
किया २.७५
- हजरत मोहम्मद— सहिष्णुता से हृदय जीता २.७६
- धर्म और जाति से परे— फकीर अजीजउद्दीन २.७८
- भक्ति-मार्ग के अविचल पथिक— सनम साहब २.७९
- अन्याय के विरोधी— हजरत इमाम हंबल २.८०
- धर्मगुरु और शासक हजरत उमर जिन्होंने जिम्मेदारी
निभायी २.८१
- सूफी सन्त 'सरमद' २.८२
- प्रेम और सेवा का अवतार— महात्मा फरशाद २.८३
- धर्म-सहिष्णु सुल्तान— जैनुल आब्दीन २.८३
- इब्ने सिना— ज्ञान ही जिनका अराध्य देवता था २.८५
- इब्राहीम बिन अदहम— सियाराम मय सब जग
जानी २.८८
- सच्चे साधु-महात्मा— आजर कैवाँ २.८९
- धर्मोद्धारक राजा— अर्दशीर बाबकान २.९०
- सत्य के प्रति अगाध— सैयद अब्दुल कादिर २.९१
- अनीति के जन्मजात विरोधी— मौलवी अहमदुल्ला २.९१
- मिर्जा अहतशामुद्दीन २.९३

विश्व मानवता के संदेशवाहक

- स्वामी सहजानन्द— जिन्होंने सन्यास को सार्थक
बनाया ३.१
- मातृ हृदय— मातृ उपासक— साने गुरुजी ३.२
- धर्मात्मा सुचारु नरेश की न्यायप्रियता ३.५
- साधुओं के लिये मार्गदर्शक— स्वामी सोमदत्त गिरि ३.६
- साधुवेश का गौरव बढ़ाने वाले— स्वामी शंकरदास ३.७

• भक्त हरिदास— जो कठिन से कठिन परीक्षा में भी उत्तीर्ण हुए	३.८	• जय कृष्ण प्रभुदास भणसाली का सार्थक तप	३.६९
• अभिनव समाज के रचनाकार हारीत मुनि	३.१०	• समाज-सुधार के शंखोच्चारक—	
• ईसा के सच्चे शिष्य और सच्चे प्रेम पुजारी—		महात्मा ज्योतिबा फुले	३.७१
वेरियर एल्विन	३.११	• भारतीय संस्कृति के अनन्य आराधक	
• बेसहारों का मसीहा— ओवेपियर	३.१३	पं. गोपीनाथ जी कविराज	३.७३
• जीवन यज्ञ के उद्गाता— संत एमर्सन	३.१४	• तैलंग स्वामी का अद्भुत योगबल	३.७५
• ईसाई धर्म के सच्चे अनुयायी— डॉ. क्रिश्चन	३.१५	• संत चतुर्भुज के संकल्प से हुआ कायाकल्प	३.७६
• कुंग फुत्ज— मनुष्य जो देवता की तरह पूजा गया	३.१६	• भक्त जलाराम— सत्कर्म कभी अधूरे नहीं रहते	३.७७
• करुणा तथा सेवा के पुण्य प्रतीक— जार्ज पियरे	३.१८	• संत तुकड़ो जी महाराज— मैं वैरागी कैसे बना ?	३.७९
• अन्ध-महाद्वीप के प्रदीप— डेविड लिविंगस्टन	३.१९	• नागेश का तप	३.८०
• कोढ़ियों में ईश्वर देखने वाले फ़ादर दामियेन	३.२१	• केरल के गाँधी— श्री नारायण गुरु	३.८१
• लोकनिर्माण के नैष्ठिक पथिक— संत पायर	३.२३	• साधु सन्तों के लिये आदर्श—	
• फ़ीजी द्वीपवासियों के सच्चे बन्धु— पादरी बर्टन	३.२४	श्री नारायणदास त्यागी	३.८२
• सच्चा धर्मनिष्ठ जुलाहे का बेटा पोप-पायस	३.२६	• समाज के लिए स्वयं के सुख छोड़ने वाले—	
• नोवास्कॉटिया के मसीह— फ़ादर जेम्स थापकिन्स	३.२८	नीलमणि फुकन	३.८३
• उपेक्षित किशोरों के मार्गदर्शक— फ़ादर जिम्मी	३.२९	• सेवाभावी सन्त-भक्त पुनीत महाराज	३.८५
• निराशा में आशा के सन्देशवाहक— बेन्ट्रे	३.३२	• प्राणिमात्र के सच्चे सेवक— पूजा बाबा	३.८७
• धर्म पर आस्था रखने वाले, दया न छोड़ने वाले—		• विश्वमानव के सच्चे पथ-प्रदर्शक—	
महात्मा रिचे	३.३४	स्वामी भक्ति वेदांत	३.८८
• धर्मशिक्षा को व्यावहारिक रूप देने वाले— श्री राबर्ट	३.३४	• स्वामी प्राणनाथ— जिन्होंने संन्यास का सच्चा	
• सार्त्र की जीवन दर्शन पाठशाला	३.३६	अर्थ समझा	३.८९
• यशस्वी गुलाम— ईसप महान	३.३७	• निष्ठावान धर्मसेवी— सन्त फतहसिंह	३.९०
• दक्षिण के विनोबा कुट्टी जी	३.३९	• पेशवाओं के पथ-प्रदर्शक— ब्रह्मेन्द्र स्वामी	३.९१
• अविनीतः धर्मो रक्षति रक्षितः	३.४०	• आजीवन ब्रह्मचारी— गोपाल कृष्ण	३.९४
• योग-विद्या के अन्वेषक— स्वामी कुवलयानन्द	३.४१	• देश, जाति और धर्म के पुजारी—	
• कर्मयोग का सन्देश देने वाले— केदारनाथ कुलकर्णी	३.४२	सूफी अम्बा प्रसाद	३.९५
• संन्यास जीवन के सार्थक प्रयोक्ता—		• निष्काम सेवा-परायण, संस्कृति के प्रेरक उन्नायक—	
स्वामी केशवानन्द	३.४४	अम्बुभाई पुराणी	३.९७
• जे. कृष्णमूर्ति— भगवान् जो इंसान बन गये	३.४६	• स्वामी आत्मानन्द— जिनकी शिक्षा सार्थक हुई	३.९८
• सन्त परम्परा सार्थक करने वाले— स्वामी कृष्णानन्द	३.४७	• आदिवासियों के अनन्य सेवक— आचार्य मिसे	३.१००
• श्रम के साधक बाबा गरीबदास	३.४८	• परोपकारी भीम	३.१०१
• महायोगी गोरखनाथ और उनका योग-मार्ग	३.४९	• स्वामी भवानी दयाल— साधुता जिन्हें पा कर धन्य	
• प्रेम धर्म के उपदेष्टा— महात्मा चरणदास	३.५१	हो गयी	३.१०२
• समाज व संस्कृति के सेवक— शंकर देव	३.५२	• संस्कृति को नव-जीवन देने वाले— पं. भगवद् दत्त	३.१०४
• धर्म व राष्ट्र के महान् सेवक— साधु वास्वानी	३.५४	• सेवाभावी— भोले बाबाजी	३.१०५
• गुजरात के गौरव— रविशंकर महाराज	३.५६	• महर्षि दधीचि का त्याग	३.१०७
• एक वीर हुतात्मा— स्वामी श्रद्धानन्द	३.५९	• महर्षि कणाद शिष्य धौप्य—	
• आधुनिक बोधिसत्व— डॉ. अल्वर्ट श्वाइत्जर	३.६२	सही साधनों का अनुसंधान	३.१०८
• भारतीयता के संरक्षक— महात्मा हंसराज	३.६४	• समाज सृष्टा— महात्मा भगवानदीन	३.१०९
• गोस्वामी गणेश दत्त— देश, जाति और संस्कृति		• महात्मा मुगुटरामजी की चमत्कारी साधना	३.१११
के गौरव प्रतिष्ठाता	३.६६	• एक विद्रोही सन्त— महाराज सिंह	३.११२
• मानवता के महान् उपासक संत श्री गाडगे बाबा	३.६८	• माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर की इष्ट साधना	३.११३
• जैन धर्म के प्रचारक— पं. गोपालदास बैरैया	३.६९	• ज्ञान और कर्म के प्रतीक— स्वामी मुक्तानन्द	३.११५
		• भारतीय विद्या के साधक— सर-जान बुडराफ	३.११६

राष्ट्र मंदिर के कुशल शिल्पी

- प्राचीन भारत का महान् वैज्ञानिक— सिद्ध नागार्जुन ४.१
- अटूट निष्ठा तथा अडिग विश्वास के धनी
श्री देवमित्र धर्मपाल ४.२
- हिन्दू-संस्कृति के सच्चे सेवक— राजा राममोहन राय ४.३
- ऐसे थे त्यागमूर्ति देशबन्धु चित्तरंजन दास ४.५
- करुणा और सेवा की साकार मूर्ति— ठक्कर बापा ४.६
- राष्ट्र-भाषा के अमर शिल्पी— महावीर प्रसाद द्विवेदी ४.७
- देश के लिये सर्वस्व अर्पण— ला. हरदयाल ४.९
- निस्पृह देशभक्त— राजा महेन्द्र प्रताप ४.११
- नारी-शिक्षा के साहसिक प्रवर्तक— महर्षि कर्वे ४.१२
- हिमालय सा विराट व्यक्ति पं. गोविन्द वल्लभ पंत ४.१४
- राष्ट्र मंदिर के कुशल शिल्पी सरदार पटेल ४.१६
- भारतीय जनता के सच्चे प्रतिनिधि लालबहादुर शास्त्री ४.१८
- समाज को दिशा देने वाले— सातवलेकर ४.२०
- सहृदय साधु पुरुष डॉ. कैलाश नाथ काटजू ४.२१
- एक महान् भारतीय— डॉ. अम्बेडकर ४.२३
- सामाजिक न्याय के लिये जो सतत् लड़ते रहे
दादा भाई नौरोजी ४.२५
- साधुता व समता के जीवन्त प्रतीक— बाबा रामदेव ४.२७
- साधु ऐसे चाहिए जैसे राघव दास ४.२९
- विश्व को गुरुमुख देखने वाले—
स्वामी राधारमण चरणदास ४.३१
- एक शताब्दी पूर्व अंग्रेजी शासन की नींव हिलाने वाले—
गुरु रामसिंह ४.३२
- आत्मनिर्माण के आचार्य— श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय ४.३४
- स्वामी विद्यानन्द— समाज की पीड़ा जिन्हें संन्यास से
खींच लाई ४.३६

पीड़ित मानवता के अनन्य सेवक

- मानवीय मूल्यों के संस्थापक— डॉ. किंग ५.१
- प्रिन्स क्रोपाटकिन— जो जीवन भर अन्याय से
लड़ते रहे ५.२
- अन्याय के विरुद्ध संघर्ष के प्रतीक— सीमांत गाँधी ५.४
- सत्य के लिए लड़ने वाले— बाल्टेयर ५.५
- विश्वशान्ति और मानवता के पुजारी रोमारेलां ५.८
- रूसी क्रान्ति के अग्रदूत— हर्जेन ५.९

- आजीवन संघर्षरत प्रजा-पुत्र— मैक्सिम गोर्की ५.११
- धार्मिक क्रान्ति के सूत्र संचालक— मार्टिन लूथर ५.१३
- पेरू के यातून पापा— डॉ. थियोडोर वाइडर ५.१५
- सेवा के मूर्तिमान प्रतीक— सन्त विनोबा भावे ५.१६
- अपने लिये निर्धन समाज के लिये समृद्ध—
हेनरी मेनकेन ५.२०
- प्रभु का शान्ति-दीप— शान्तिदास ५.२०
- नवयुग के सन्देश-वाहक— महात्मा बहा ५.२१
- कर्मयोगी संत— श्री सावेज ५.२३
- पिछड़ों को गले लगाने वाले— महाप्रभु जगदबन्धु ५.२४
- मानवता के पुजारी— जीन हेनरी दूना ५.२५
- महान् पुत्र के महान् पिता— एबरम गारफ़ील्ड ५.२६
- परोपकार धर्म के अनुयायी— महापुरुष एण्ड्रूज ५.२७
- आत्मवादी चिकित्सा पद्धति के जन्मदाता—
डॉ. हैनीमैन ५.३१
- एक लाख आँखों का दाता— हेनरी हालैण्ड ५.३२
- शान्ति और सच्चाई के साधक—
डॉ. लाइनस पाउलिंग ५.३३
- वनस्पति-विज्ञान के जन्मदाता— डॉ. बसु ५.३५
- भारत के वैज्ञानिक गौरव— डॉ. भाभा ५.३५
- नास्तिक नित्ये ५.३७
- श्रमिक जीवन को अतिशय प्यार करने वाला विद्वान्
ऐरिक हौफर ५.३८
- शान्ति के सराहनीय सेवक— श्री फ़ैडरिक पासो ५.४०
- चेचक का मसीहा— एडवर्ड जेनर ५.४१
- पागलों के मित्र— डॉ. फ़िलिप पिनेल ५.४३
- पीड़ित मानवता के पुजारी— फ़ोलेरू ५.४३
- मानवता का सच्चा सेवक— लुई पास्ट्यूर ५.४५
- महान् वैज्ञानिक और महान् मानव—
सर आइजक न्यूटन ५.४६
- मानवता-प्रेमी वैज्ञानिक— ओपेन हाइमर ५.४८
- अध्यात्मवादी वैज्ञानिक— श्री प्लांक ५.४९
- अनाथों को जोड़ने वाले कलाकार—
हरमैन जी पेस्टोला जी ५.५०
- एक अकालग्रसित प्रतिभा— श्री रामानुजम् ५.५१
- 'युक्ति ही सफलता' के सन्देश वाहक— हेनरी ट्राट ५.५३
- लोकसेवक— पालमारियो तिराबासी ५.५४

महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग

धार्मिक क्रान्ति के प्रतीक— भगवान् परशुराम

परशुराम उन दिनों शिवजी से शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। अपने शिष्यों की मनोभूमि परखने के लिए शिवजी समय-समय पर उनकी परीक्षा लिया करते थे। एक दिन गुरु ने कुछ अनैतिक काम करके छात्रों की प्रतिक्रिया जाननी चाही। अन्य छात्र तो संकोच में दब गए पर परशुराम से न रहा गया। वे गुरु के विरुद्ध लड़ने को खड़े हो गये और साधारण समझाने-बुझाने से काम न चला तो फरसे का प्रहार कर डाला।

चोट गहरी लगी। शिवजी का सिर फट गया। पर उन्होंने बुरा न माना। वरन् सन्तोष व्यक्त करते हुए गुरुकुल के समस्त छात्रों को सम्बोधित करते हुए कहा—अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करना प्रत्येक धर्म-शील व्यक्ति का मनुष्योचित कर्तव्य है। फिर अन्याय करने वाला चाहे कितनी ही ऊँची स्थिति का क्यों न हो। संसार से अधर्म इसी प्रकार मिट सकता है। यदि उसे सहन करते रहा जायेगा तो इससे अनीति बढ़ेगी और इस सुन्दर संसार में अशान्ति उत्पन्न होगी। परशुराम ने धर्म रक्षा के लिए जो दर्प प्रदर्शित किया उससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ।

शंकर जी ने अपने इस प्रिय शिष्य को उठाकर छाती से लगा लिया। उन्हें अव्यर्थ शस्त्र 'परशु' उपहार में दिया और आशा प्रकट की कि उनके द्वारा संसार में फैले हुए अधर्म का उन्मूलन करने की एक भारी लोक-सेवा बन पड़ेगी। शिवजी ने अपने शिष्यों को और भी कहा—बालको! केवल दान, धर्म, जप, तप, व्रत, उपवास ही धर्म के लक्षण नहीं हैं, अनीति से लड़ने का कठोर व्रत लेना भी धर्म साधना का एक अंग है। अधर्म का उन्मूलन और धर्म का संस्थापन एक ही रथ के दो पहिये होते हैं। दोनों का क्रमचक्र ठीक चलते रहने से सृष्टि का सन्तुलन ठीक रहता है इसलिए धर्म की रक्षा के लिए एक उपाय पर निर्भर न रहकर दोनों का ही अवलम्बन करना चाहिये। परशुराम की धर्म-संघर्ष-वृत्ति अनुचित तनिक भी नहीं। उसमें आदि से अन्त तक औचित्य ही भरा पड़ा है। परीक्षा के लिए ही मैंने अनुचित आचरण किया था और तुम सब पर उसकी प्रतिक्रिया देखनी चाही थी। परशुराम सफल हुआ। इसका मुझे गर्व है। इस गर्व को प्रख्यात करने के लिए परशु प्रहार के चिह्न को शिवजी ने सदा दीखते रहने वाला ही बनाये रखा। उनके सहस्र नामों में एक नाम 'खण्ड परशु'

अर्थात् 'फरसे से जिसका सिर फट गया हो'—भी विख्यात है। विष्णु ने भी भृगु की लात छाती पर खाई थी और औचित्य का अनुमोदन करने के रूप में उस चिह्न को सदा छाती पर बनाए रखा था।

उन दिनों हैहयवन्शीय क्षत्रिय राजमद से मदान्ध हो रहे थे। रावण, कंस, हिरण्यकश्यप की तरह उन्होंने स्वेच्छाचारिता अपना रखी थी। स्वार्थवश चाहे जिसके साथ जघन्य व्यवहार करने पर उतारू हो जाते। भृगुवंशी पुरोहितों ने ऐसा न करने के लिए उन्हें समझाया तो कुपित होकर उल्टे आक्रमणकारी बन गये। घर खोदकर फेंक दिये, स्त्रियों के गर्भ फाड़ डाले और जिन्होंने उन्हें समझाया था उनके सिर काट लिए। जो बच गये वह महिष्मती छोड़कर सरस्वती तट पर जा बसे।

इन्हीं विस्थापित पुरोहितों में एक बालक था—परशुराम। वह शिवजी से शिक्षा तो प्राप्त करता, पर साथ ही अत्याचारी के विरुद्ध उसके मन में निरन्तर आग जलती रहती। वह सोचता गुरु के द्वारा जो शक्ति उसे मिलेगी उसे अनाचार के विरुद्ध संघर्ष करने में प्रयुक्त करेगा। बालक की निष्ठा परखने को शिवजी ने वैसा प्रसंग उत्पन्न किया था। जब बालक ने गुरु का ही सिर फोड़ दिया तो उन्हें विश्वास हो गया कि बालक में लौह पुरुष के गुण मौजूद हैं और वह अधर्म के उन्मूलन की जन-आकांक्षा को पूरा करके रहेगा। शिवजी का आशीर्वाद पाकर उनकी शिक्षा और विभूतियों से सुसज्जित होकर परशुराम अनाचार विरोधी एक महान् अभियान की तैयारी करने लगे।

परशुराम के इरादों का उस समय के शासक कर्तवीर्य सहस्रार्जुन को पता लगा तो वह आग-बबूला हो गया और उन्हें पकड़ने आश्रम में सैन्य समेत जा पहुँचा। वे न मिले तो उनके पिता जमदग्नि का भाँति-भाँति से अपमान किया और उनके आश्रम तथा पुस्तकालय को नष्ट-भष्ट कर डाला। परशुराम जब घर आये और आश्रम की यह दुर्दशा देखी तो उनके क्षोभ का ठिकाना न रहा। वे अपना दुर्दान्त परशु लेकर अकेले ही महिष्मती पहुँचे और सहस्रार्जुन को धर दबाया। उसकी भुजायें फरसे से काट डालीं और सेना को धनुष-बाण से विचलित कर दिया। प्रतिशोध की आग और बढ़ी सहस्रार्जुन के वंशजों ने अन्य अनेक राजाओं को लेकर चढ़ाई कर दी और परशुराम के पिता जमदग्नि को २१ स्थानों से घायल करके उन्हें मार डाला।

कहने वालों ने कहा—एक साधु या ब्राह्मण के लिये इस प्रकार हिंसात्मक कार्य करना उचित नहीं। उन्होंने दृढ़ स्वर में उत्तर दिया कि अनीति ही वस्तुतः हिंसा है। उसका प्रतिकार करने के लिए जब

१.२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

अहिंसा समर्थ न हो तो हिंसा भी अपनाई जा सकती है। शास्त्र ने वैदिकी हिंसा को हिंसा नहीं माना है। क्रोध वह वर्जित है जो स्वार्थ या अहंकार की रक्षा के लिए किया जाय। अन्याय के विरुद्ध क्रुद्ध होना तो मानवता का चिह्न है। मानवता की मूलभूत आस्था को खोकर क्रोध-अक्रोध जैसे नीति-नियमों में उलझे रहना व्यर्थ है। मेरा क्रोध धर्मयुक्त है और मेरी हिंसा भी अनीति के प्रतिकार में प्रयुक्त होने के कारण उचित है। धर्म की स्थापना और अधर्म के विनाश के लिये सदा से यही क्रम अपनाया भी जाता रहा है। ऐसे तर्कयुक्त वचनों को सुनकर कहने-सुनने वाले चुप हो जाते। वे संघर्ष की आग सुलगाये हुए देश-देशान्तरों में भ्रमण करने लगे। जन-सहयोग से उन्होंने अत्याचारियों के विनाश में आशाजनक सफलता पाई। व्यक्तियों के पास कितनी ही बड़ी शक्ति क्यों न हो, जनता की संगठित सामर्थ्य से वह कम ही रहती है। परशुराम के नेतृत्व में भड़का हुआ विद्रोह एक नहीं इक्कीस बार नृशंस लोगों के अनाचारों का उन्मूलन करने तक चलता रहा और जब अवांछनीय तत्त्व समाप्त हो गए तभी वह शान्त हुआ।

अनाचार को समाप्त करने की उदात्त भावनाओं से प्रेरित होकर यद्यपि परशुराम जी को हिंसात्मक नीति अपनानी पड़ी, पर उन्होंने इसे कभी अनुचित न समझा। शान्ति की स्थापना के लिए प्रयुक्त हुई अशान्ति सराहनीय है और अहिंसा की परिस्थितियाँ उत्पन्न करने के लिए की गई हिंसा में पाप नहीं माना जाता। स्वार्थ और अन्याय के लिए ही आक्रमण वर्जित है पर यदि आत्म-रक्षा या अनाचार की रोकथाम के लिए प्रतिरोधात्मक उपाय के समय में हिंसा अपनायी पड़े तो न अनुचित माना जाता है और न हेय। परशुराम जी शास्त्र और धर्म के गूढ़ तत्त्वों को भली-भाँति समझते थे इसलिए आवश्यकता पड़ने पर काँटे से काँटा निकालने, विष से विष मारने की नीति के अनुसार ऋषि होते हुए भी उन्होंने धर्म रक्षा के लिए सशस्त्र अभियान आरम्भ करने में तनिक भी संकोच न किया।

जब प्रयोजन पूर्ण हो गया तो उन्होंने अनावश्यक रक्तपात को एक क्षण के लिए भी जारी रखना उचित न समझा। फरसे को उन्होंने समुद्र में फेंक दिया— जो राज्य छीने थे वह सारी भूमि महर्षि कश्यप को दान कर दी ताकि वे उन प्रदेशों में सुराज्य स्थापना की व्यवस्था कर सकें। पितरों ने प्रसन्न होकर उनके इस धर्म संघर्ष के लिये प्रसन्नता प्रकट की तो उन्होंने यही कहा— यदि आप लोग प्रसन्न हैं तो पहले की तरह मेरी तपस्या, स्वाध्याय और धर्म रक्षा के मार्ग में प्रीति उत्पन्न हो जाये।

जन-कल्याण के लिये परशुराम जी ज्ञान और विग्रह दोनों को ही आवश्यक मानते थे। नम्रता और ज्ञान से सज्जनों को और प्रतिरोध तथा दण्ड से दुष्टों को जीता जा सकता है, ऐसी उनकी निश्चित मान्यता थी। इसलिए वे उभयपक्षीय सन्तुलित नीति लेकर चलने से ही धर्म रक्षा की सम्भावना स्वीकार करते थे। उनकी मान्यता उनके शब्दों में ही इस प्रकार है—

**अग्रतश्चतुरो वेदाः पृष्ठतः शस्रं धनुः ।
इदं ब्राह्मं इदं क्षात्रं शास्त्रदपि शरादपि ॥**

अर्थात् — “मुख से चारों वेदों का प्रवचन करके और पीठ पर धनुष-बाण लेकर चला जाय। ब्रह्म-शक्ति और शस्त्र-शक्ति दोनों ही आवश्यक हैं। शास्त्र से भी और शस्त्र से भी धर्म का प्रयोजन सिद्ध करना चाहिये।

वैशाख सुदी ३ अक्षय तृतीया को परशुराम जी की जन्म जयन्ती मनाई जाती है। इन्हें भगवान् का अवतार माना जाता है और वे शरीर समेत अमर हैं ऐसा कहा जाता है। कोंकण और केरल में उनकी पूजा अधिक होती है। समुद्र तट पर कितने ही उनके मन्दिर बने हैं और वहाँ कितने ही मेले भी इसी पर्व पर लगते हैं।

सज्जनता और दुष्टता की अति कहीं भी नहीं होनी चाहिए। दोनों का ही समुचित प्रयोग किया जाना चाहिए। दुष्टों के साथ सज्जनता और सज्जनों के साथ दुष्टता को व्यर्थ ही नहीं अनुपयुक्त समझने की मान्यता परशुराम जी के जीवन और आदर्शों में कूट-कूट कर भरी थी। अहिंसा के इसी स्वरूप का वे प्रतिपादन करते रहे। हिंसा और अहिंसा का अदभुत समन्वय करने वाले परशुराम अभी भी हमारे विचार क्षेत्र में एक पहेली की तरह विद्यमान रहते हैं।

महात्मा बुद्ध के अविस्मरणीय कथा प्रसंग

ढाई हजार वर्ष पहले की बात है कि शाक्य नरेशों की राजधानी कपिल के राज-मार्ग पर एक जराजीर्ण वृद्ध चला जा रहा था। आयु की अधिकता ने उसकी कमर को झुका दिया था, नेत्रों की ज्योति को क्षीण कर दिया था, मुँह को पोपला और पैरों को लड़खड़ा देने वाला बना दिया था। वह पेट की आग को बुझाने के लिये रोटी का एक टुकड़ा माँग रहा था, पर कुछ शरारती लड़के रोटी के बदले उसे ढेले और कंकड़ों से मार रहे थे। इतने में एक राजकीय रथ चलते-चलते उसी स्थान पर रुक गया। उसमें बैठे हुए एक देवकान्ति पुरुष ने सारथी से पूछा कि यह कौन है ? उसे मालूम हुआ कि किसी समय यह भी एक हड्डा-कड्डा, सुन्दर पुरुष था, पर अब वृद्धावस्था के कारण उसकी यह दुर्दशा हो रही है। उसने फिर प्रश्न किया कि क्या प्रत्येक व्यक्ति की ऐसी ही दशा होगी ? उत्तर मिला— यह संसार का अनिवार्य नियम है, बहुत अधिक आयु हो जाने पर कोई भी इससे बच नहीं सकता।

यह प्रश्नकर्ता और कोई नहीं स्वयं कपिलवस्तु के राजकुमार गौतम थे। उनको अभी तक जान-बूझकर राजमहलों के ऐसे वातावरण में रखा गया था कि दुःख, रोग, शोक, बुढ़ापा, मृत्यु आदि क्या होते हैं इनका उन्हें कुछ पता ही न था। आज अकस्मात् इस जराग्रस्त वृद्ध को देख उनके हृदय में एक नवीन भाव का उदय हुआ और वे बिना किसी से कहे-सुने मानव-जीवन की समस्या पर गिचार करने लगे। अभी तक वे संसार में सब व्यक्तियों को अपनी ही तरह स्वस्थ, सुखी और आमोद-प्रमोद में मग्न समझते थे, पर आज उनको विदित हुआ कि सभी सांसारिक सुख क्षणस्थायी हैं और यहाँ सुख की बजाय दुःख का परिमाण अधिक है।

इस घटना के पश्चात् गौतम का जीवन-क्रम ही बदल गया। यद्यपि उनके पिता महाराज शुद्धोधन उनकी प्रवृत्ति को देखकर उन्हें राग-रंग और सुखोपभोग में भुलाये रखने की सब तरह से चेष्टा करते रहते थे, पर गौतम के चित्त में इस घटना के पश्चात् जो नया परिवर्तन हुआ वह दिन पर दिन सुदृढ़ होता गया और एक दिन आधी रात के समय वे राज-पाट, स्त्री-पुत्र सब कुछ त्याग कर संन्यासी बनकर निकल पड़े। उनका उद्देश्य था ऐसा मार्ग तलाश करना जिससे मनुष्यों को संसार के रोग-शोक से छुटकारा मिल सके।

आरम्भ में तो उन्होंने तपस्या के प्रचलित मार्ग को ही अपनाया। वे पाँच अन्य साथियों को लेकर बोर जंगल में चले गये और एकान्त आश्रम में रहकर कठोर तपस्या करने लगे। इसके फल से उनका शरीर दिन-पर-दिन दुर्बल होने लगा, पर फिर भी हृदय में किसी प्रकार के ज्ञान का प्रकाश न जान पड़ा, अन्त में जब शारीरिक शक्ति अत्यन्त क्षीण हो गई और चलना-फिरना भी कठिन हो गया, तब उनको समझ में आया कि केवल कष्ट सहन करने से यह समस्या हल नहीं हो सकती। इसके लिए आवश्यकता है संसार की स्थिति और जीवन की समस्याओं पर उदार भाव से विचार किया जाय और निवृत्ति तथा प्रवृत्ति में सामंजस्य स्थापित करके ऐसे मध्यम मार्ग पर चला जाय जिससे सांसारिक भोगों में आसक्ति न होकर सांसारिक कर्तव्यों का निष्पृहतापूर्वक पालन होता रहे। इस सिद्धान्त पर अच्छी तरह विचार करके उन्होंने अपने अनुयायियों के लिए यह उपदेश दिया—

(१) संसार में जो कुछ भी देख पड़ता है वह सब शीघ्र नष्ट हो जाने वाला है। (२) जो कुछ देख पड़ता है उसमें दुःख छिपा हुआ है। (३) जब सभी चीजें नष्ट होने वाली हैं, तब इनके फटने में क्यों फँसा जाय ? (४) तपस्या तथा उपवास द्वारा इनसे छुटकारा नहीं मिल सकता। छुटकारे की जड़ तो मन है।

इसलिए धर्म का सीधा और सरल रस्ता यही है कि शुद्ध मन से क्रम करना, शुद्ध हृदय से बोलना, शुद्ध चित्त रखना। इसके लिए आवश्यक है कि—

(१) किसी प्रकार की हिंसा न की जाय। (२) चोरी, दुरुचारा, झूठ, दूसरों की निन्दा से बचा जाय। (३) दूसरों के दोष ढूँढ़ना, अपवित्र भाषण करना, लालच करना, घृणा करना और अज्ञान से बचा जाय।

इस प्रकार उपयोगी ज्ञान को समझ जाने पर उनका नाम बुद्ध (ज्ञानी) हो गया। उन्होंने लोगों को समझाया कि जो व्यक्ति इन नियमों का पालन करते हुए सबसे प्रेम-भाव रखेगा, राग-द्वेष से दूर रहेगा वह अपने जीवन-काल में शरीरान्त होने पर भी समस्त अशुभ परिणामों से दूर रहेगा। इस बात की कोई आवश्यकता नहीं कि मनुष्य जंगल में जाकर तपस्या करे और भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदि का कष्ट सहन करे। मुख्य बात यह है कि अपने चित्त को सन्तुलित रख कर किसी से दुर्व्यवहार न किया जाय। सच्चा धार्मिक वही है जो हृदय से प्राणिमात्र के प्रति सद्भावना रखे और कल्याण-कामना करे। जो किसी से द्वेष न रखेगा, पीड़ितों और अभावग्रस्तों की सहायता से मुख नहीं मोड़ेगा, कुमार्ग से बचकर रहेगा उसे जीवन-मुक्त ही समझना चाहिए।

मगध में 'कस्सप' और 'नादिकस्सप' नाम के दो अत्यन्त प्रसिद्ध साधु रहते थे, इनमें से प्रत्येक के यहाँ पाँच सौ शिष्य रहते

थे। बुद्ध ने उनको बतलाया कि जो तपस्या किसी प्रकार के फल की इच्छा रखकर की जाती है, उससे कामना का नाश नहीं होता और बिना कामना के मिटे चित्त की निर्मलता प्राप्त न हो सकेगी। उन्होंने बुद्ध जी के उपदेश की सच्चाई को अनुभव किया और अपने एक हजार चेलों सहित उनके अनुयायी बन गये। वहाँ से आगे चलकर जब राजा विम्बसार की राजधानी 'राजगृह' में पहुँचे तो वहाँ भी उनका बड़े उत्साह से स्वागत किया गया। पर विम्बसार को इस बात पर विश्वास नहीं हुआ कि 'कस्सप' जैसे बुद्ध महात्मा नवयुवक बुद्ध जी के शिष्य हो गये। इसकी जाँच करने के लिए उसने अपना एक दूत उनके पास भेजा तो 'कस्सप' ने कहा—

निर्मल अक्षय अनादि ज्ञान जिसने है पाया।

उसी ज्योति-भगवान् बुद्ध को गुरु बनाया ॥

बुद्ध जी ने मनुष्यों को जिस स्वाभाविक धर्म का उपदेश दिया उसका आधार मुख्य रूप से मन की भावनाओं पर था। बाह्य आचरण को उन्होंने सदैव हीन कोटि का धर्म बतलाया, क्योंकि उसमें स्थिरता नहीं रहती और देश-काल के अनुसार वह बदलता रहता है। इसलिये वे किसी को शिष्य बनाने की दीक्षा देने में भी किसी प्रकार का आडम्बर नहीं करते थे। जब सारिपुत्र तथा मौद्गल्यायन जैसे प्रमुख भिक्षुओं ने उनसे प्रव्रजित करने की प्रार्थना की तो बुद्ध जी ने यही कहा—

आओ भिक्षुओ ! धर्म तो स्पष्ट और सरल होता है। जब मनुष्य अनेक प्रकार की कामनाओं और इच्छाओं को त्याग कर कल्याण भावनाओं से सीधी-सादी शिक्षाओं पर आचरण करने लगता है, तो उसे स्वयं ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है और वह भव-बन्धनों से छुटकारा पा जाता है।

जाति या कुल श्रेष्ठता का आधार नहीं

बाह्य धर्माचार के समान ही बुद्ध जी जाति या कुल को भी महत्त्व नहीं देते थे। एक बार जब भिक्षुओं के संघ में इस बात पर विवाद उत्पन्न हुआ कि प्रथम आसन, प्रथम भोजन का परोसा किसको दिया जाय तो किसी ने क्षत्रिय, किसी ने ब्राह्मण, किसी ने वैश्य कुल से भिक्षु बनने वालों को प्रथम स्थान देने का सुझाव दिया। पर बुद्ध जी ने इसको अनुचित मान कर कहा—

“भिक्षुओ ! जाति या कुल के आधार पर किसी को सम्मान नहीं दिया जाता। इसलिये जो जितना पहले प्रव्रजित हुआ है वह उतना ही मुख्य माना जायेगा, चाहे वह किसी भी जाति का हो।”

भगवान् बुद्ध के इन स्वाभाविक और न्याय पर आधारित नियमों के कारण बौद्ध भिक्षु संघ की शक्ति बहुत बढ़ गई और उनमें से ऐसे परमार्थी और त्यागी प्रचारक निकले जिन्होंने समस्त भारत ही नहीं दूर-दूर देशों में भी बौद्ध धर्म का डंका बजा दिया। आज भी उसका प्रभाव बहुत अंशों में दिखाई पड़ रहा है।

स्त्रियों के अधिकार

बुद्ध देव के समय में शूद्रों की तरह स्त्रियों को भी बहुत कम सामाजिक अधिकार प्राप्त थे। ब्राह्मणों ने तो 'शूद्रा स्त्री न धीयताम्' की उक्ति के आधार पर स्त्रियों को सब प्रकार के शास्त्रीय ज्ञान और

सामाजिक अधिकारों के अयोग्य ठहरा दिया था। बुद्ध ने इस स्थिति को समाज के लिए हानिकारक समझा और अपने संघ में स्त्रियों को भी पुरुषों की तरह सम्मिलित होने का अधिकार दिया।

एक बार भ्रमण करते हुए बुद्ध जी जब वैशाली नगरी में पहुँचे तो वहाँ की प्रसिद्ध वैश्या 'आम्रपाली' के बगीचे में ठहर गये। यह समाचार सुनकर वह भी बगीचे में पहुँची और बुद्ध जी का उपदेश सुन कर अगले दिन उनको अपने यहाँ आहार ग्रहण करने को निमन्त्रित किया। जब यह समाचार वैशाली के सरदारों ने सुना तो उन्होंने इसमें अपनी बड़ी बेइज्जती समझी और आम्रपाली को एक लाख रुपया लेकर भोजन कराने का अधिकार उनको देने का आग्रह किया। पर आम्रपाली ऐसे किसी प्रलोभन में न आई और उसने बुद्ध जी के संघ को भोजन कराके अपना बगीचा दान कर दिया और स्वयं उनकी शिष्या हो गई।

इस प्रकार बुद्ध जी ने पचास वर्ष तक देश के एक कोने से दूसरे कोने तक भ्रमण करके उस मानव-धर्म का प्रचार किया जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र या स्त्री, धर्म मार्ग पर समान अधिकार था। इस प्रकार की शिक्षा से भारतीय समाज के अनेक दोष, दुर्गुण दूर हो गये और उसने ऐसी प्रगति की जिसका उदाहरण हजारों वर्षों में न मिला था। पर कुछ सौ वर्ष बाद बौद्ध-संघों में भी स्वार्थी व्यक्तियों का प्राबल्य होने लगा और आज इस देश में उसका नाम ही शेष रह गया है।

इस बात की सच्चाई से कोई इनकार नहीं कर सकता कि धर्म एक ऐसा विषय है कि जिसमें भेद-भाव, छोटे-बड़े, समता-विषमता को स्थान देना अनुचित है। जो लोग धर्म के नाम पर इस प्रकार की प्रवृत्तियों का पोषण करते हैं वे न्यायशील लोगों की दृष्टि में निन्दा के पात्र होते हैं। महापुरुष बुद्ध ने इन दोनों के निराकरण के लिये अपना ही जीवन अर्पित नहीं कर दिया वरन् अपनी पत्नी, पुत्र, भाई को भी अपने साथ गृह-त्यागी बनाकर धर्म-प्रचार में लगा दिया। यदि उनके इस अभूतपूर्व त्याग के लिए लोगों ने उनको भगवान् की पदवी दी— नौवाँ अवतार मानकर पूजा की, तो यह उचित ही कहा जाएगा।

बुद्ध-जीवन के कुछ अन्य प्रेरक प्रसंग

बुद्ध शरण गच्छामि

कपिलवस्तु में भगवान् बुद्ध ने अपने भिक्षु संघ के साथ प्रवेश किया है, यह समाचार सुनकर शुद्धोधन का हृदय शोकविदग्ध हो गया। कैसा दुर्भाग्य है यह ? जिस पुत्र को चक्रवर्ती सम्राट बनकर इसी राजधानी में, इसी राज-सिंहासन पर आसीन होना था, जो मेरा एकमात्र पुत्र है और जिसे लेकर क्या-क्या स्वप्न नहीं सँजोये थे ? वही पुत्र आशा और कल्पना के विपरीत इसी नगरी में द्वार-द्वार जाकर भिक्षा माँग रहा है जबकि उसके नगर यात्रा पर निकलने पर लोग पलक-पाँवड़े बिछा देते, उसके अभिवादन में नतमस्तक हो उठते।

शुद्धोधन इन्हीं विचार, भावतरंगों में डूब-उतरा रहे थे कि किसी ने आकर सूचना दी, नियमानुसार अमिताभ गौतम राजभवन के द्वार पर भी भिक्षा के लिए आए हैं। दौड़ कर शुद्धोधन द्वार पर पहुँचे। देखा, उनका अपना सिद्धार्थ तापस वेश में सामने खड़ा है। उस वेश को देखकर पितृ हृदय चीत्कार उठा। शुद्धोधन ने कुछ उपालम्भ भरे स्वरों में भी कहा— “क्या यही हमारे कुल की परिपाटी है ? फिर कुछ रुक कर बोलें, अभी भी कुछ नहीं बिगाड़ा सिद्धार्थ, तुम इस वेश का परित्याग कर यह सिंहासन सम्हालो।”

धीर-गम्भीर वाणी में गौतम ने कहा, ‘राजन’ यह आपके कुल की नहीं, बुद्ध कुल की परम्परा है। मैं अब राज-परिवार का सदस्य नहीं हूँ, आत्म-कल्याण और लोक-मंगल की साधना में लगे भिक्षु संघ का परिजन हूँ।

वाणी में जो दृढ़ता थी, जो संकल्प था उसने शुद्धोधन को निरुत्तर कर दिया और जैसे इतने में ही सन्तोष मान रहे हों, वह बोले, “तो भिक्षु ! क्या तुम मेरा आतिथ्य स्वीकार करोगे ?”

“अवश्य राजन ! अपने संघ सहित मैं कल मध्याह्न समय पुनः आऊँगा” बुद्ध ने कहा और वे चले गये।

नियत समय पर बुद्ध देव आये। उन्होंने सभी परिजनों का अभिवादन स्वीकार किया, जैसे सर्वत्र करते थे और शांत भाव से धर्मदर्शना की। उधर पति के चिरवियोग से पीड़ित यशोधरा को तथागत के आगमन का समाचार मिला तो उसका हृदय प्रसन्नता से छल-छला उठा। पति समीप नहीं है तो क्या हुआ ? उनकी स्मृतियाँ तो मेरे साथ हैं। लोक-कल्याण के लिए उन्होंने भले ही मेरा परित्याग कर दिया हो ? अर्द्धांगिनी के रूप में भले मेरा उन पर कोई अधिकार न हो परन्तु एक मानवी के रूप में तो मैं उनकी प्रियपात्र हूँ ही।

यशोधरा इन्हीं विचारों में डूब-उतरा रही थी कि भगवान् पधारे। उन्होंने यशोधरा के त्याग की उपेक्षा नहीं की थी। वे उसके पास आये और पूछा यशोधरे ! कुशल से तो हो ?

“हाँ स्वामी” चिर-प्रतिष्ठित स्वर सुनकर यशोधरा का हृदय गदगद हो उठा।

“स्वामी नहीं भिक्षु कहो यशोधरे ! मैं अपना धर्म निभाने आया हूँ। बोलो तुम कुछ भिक्षा दे सकोगी ?”

यशोधरा विचारमग्न हो उठी। अब क्या बचा है देने के लिए ? अपने दाम्पत्य की स्मृतियों को छोड़कर और कुछ भी तो नहीं है, जो देने योग्य हो। कुछ क्षण तक विचार करते रहकर उसके चेहरे पर निश्चय के भाव उभरे और बोली, “भन्ते ! अपने पूर्व सम्बन्धों को ही दृष्टिगत रखकर क्या आप भी कुछ प्रतिदान कर सकोगे ?”

“भिक्षु धर्म की मर्यादा का उल्लंघन न होता होगा तो अवश्य करूँगा आर्य” बुद्ध ने उत्तर दिया।

यशोधरा ने अपने पुत्र राहुल को पुकारा और तथागत की ओर उन्मुख होकर बोली, “तो भगवन ! राहुल को भी अपनी पितृ परम्परा निभाने देकर उसे अपना अधिकार पाने दीजिए।”

और फिर राहुल से बोली, जाओ बेटा ! अपनी पितृ परम्परा का अनुकरण करो। बुद्ध की शरण में, धर्म की शरण में, संघ की शरण में जाओ।

राहुल के समवेत स्वर्णों में गूँज उठा, बुद्ध शरणं गच्छामि.....। उस महान् विदुषी ने अपने महात्याग का एक और परिचय दिया ।

जलती आग के ईंधन

नाम था उसका पट्टाचार, बहुत ही सुन्दर और चतुर । लड़की चन्द्रकलाओं की तरह बढ़ने लगी । किशोरवस्था पार भी न हो पाई थी कि वह पड़ोसी युवक के साथ में बँध गई । माता-पिता ने रोका, समझाया भी पर वह मानी नहीं । रात्रि में वे दोनों प्रेमी घर छोड़कर निकल पड़े और योजनाओं दूर जाकर किसी नगर में रहने लगे । युवक मजदूरी करता और वे दोनों सुखपूर्वक निर्वाह करते ।

इस तरह बहुत दिन बीत गये । पट्टाचार गर्भवती हुई उसने पति से कहा चलो पितृगृह चलें । प्रसव का प्रबन्ध वहीं ठीक तरह हो सकेगा । युवक ने सुझाया— वहाँ चलने पर क्रोध और अपमान सहना पड़ेगा सो पट्टाचार चुप हो गयी । पुत्र जन्मा— नाम रखा गया— रोहित । सुन्दर पुत्र को पाकर दोनों का सुख और भी बढ़ गया ।

रोहित दो वर्ष का हुआ था कि पट्टाचार फिर गर्भवती हो गई । अब की बार कठिनाई अधिक थी । बड़े बच्चे को पालना और नये का प्रसव दोनों कार्य किसी की सहायता चाहते थे । सो उसने फिर पितृगृह चलने की बात कही । अब की बार युवक भी सहमत हो गया । बात पुरानी पड़ जाने से क्रोध शान्त हो गया होगा । बहुत दिन से बिछुड़ने के बाद मिलने से सभी को सन्तोष होगा और बच्चे भी पल जायेंगे । पति-पत्नी बच्चे को लेकर अपनी जन्मभूमि चल दिये ।

रास्ता लम्बा था और घना बीहड़ । चलते-चलते पेड़ के नीचे सुस्ताने लगे तो पट्टाचार को प्रसव पीड़ा उठ खड़ी हुई । दूसरा पुत्र जन्मा । आग की आवश्यकता पड़ी तो युवक लकड़ियाँ बीन लाया । दुर्भाग्य ने सर्प बनकर उसे डस लिया । वापस लौटते-लौटते उसके ग्राण-पखेरू उड़ गये । असहाय पट्टाचार इस विपत्ति में किर्करतव्य-विमूढ़ हो गई । रोई भी बहुत । पर कुछ करना तो था ही । पति की लाश को उसी ने नदी में बहाया और घर चलने के लिये नदी पार करने की तैयारी करने लगी । उस समय वह बहुत अशक्त हो रही थी । दोनों बच्चों को एक साथ लेकर चलना कठिन था । सो सोचा एक-एक को लेकर नदी पार करे । छोटे बच्चे को लेकर पार गई उसे पत्तों से ढका और दूसरे को लेने के लिए लौटी । इतने में दुर्भाग्य दूरी विपत्ति लेकर फिर आ धमका । नवजात शिशु को पत्तों के नीचे से कुदेर कर शृंगाल ले भागा और बड़ा बच्चा माँ के पास आतुरता के साथ दौड़ा तो वह भी नदी में बह गया । दो घण्टों के भीतर उसका सोने का संसार उजड़ गया । पति मरा— दोनों बच्चे मरे— प्रसव कष्ट— बीहड़-वन— दूर की यात्रा— क्षुधा-निवृत्ति तक के साधनों का अभाव— एकाकीपन इन सब संकटों ने मिलकर आक्रमण किया तो बेचारी हतप्रभ हो गई । विक्षिप्त जैसी स्थिति में रोती-चिल्लाती अपने पितृगृह की ओर अहर्निश चलती रही और अन्ततः किसी प्रकार मरते-गिरते वहाँ तक जा पहुँची ।

पितृगृह पहुँचने पर पता चला कि उसके माता-पिता मर चुके थे । सास-श्वसुर बीमार पड़े थे । एक भाई बचा था सो भी पहुँचने के दिन ही मरा और उसकी चिता भर जलती पट्टाचार ने देखी । वहाँ भी सारे आश्रय समाप्त हो चुके थे । शोक का समुद्र ही हर दिशा में गरज रहा था । भोली लड़की इतना सहन न कर सकी और वह विलाप करते-करते पागल हो गई । भोजन-वस्त्र तक की उसे विस्मृति हो गई ।

श्रावस्ती के लोग उसे पकड़ कर भगवान् बुद्ध के पास ले पहुँचे । भगवान् ने उसे दुलार किया— सान्त्वना दी और भोजन, वस्त्र के अतिरिक्त समुचित विश्राम का प्रबन्ध किया ।

थोड़े दिन में उसे धीरज बँधा । तब तथागत ने उसे अपने पास बुलाया— और ज्ञान का अमृत बरसाते हुए कहा— शुभे, यह संसार जलती हुई आग की तरह है । हम सब ईंधन की तरह हैं जो जलने के लिए ही जन्ते हैं । मरण एक अविचल सत्य है, उससे बचा नहीं जा सकता । कोई कितना ही दुःखी क्यों न हो, मरण रुकता नहीं । अपने-अपने प्रारब्ध और समय के अनुसार सभी को आगे-पीछे मरना पड़ता है । सो कौन किसके लिए शोक करे ?

मरे, यहाँ कोई किसी का नहीं । एककी आगमन और एककी गमन के सत्य को समझो । राहगीरों के झुण्ड में क्षणिक मिलन का मोद तो मानो, पर बिछुड़ने के तथ्य को भी जानो । जीव को रोज ही मिलना-बिछुड़ना पड़ता है, सो सन्तुलन मत खोओ, जाने वालों को जाते देखकर अपने मरण की तैयारी में लगे । महासत्य को ढूँढ़ो और आत्मा के दुर्ग में प्रवेश करके सन्तापों से अपने को बचाओ ।

तथागत के अमृत वचन पट्टाचार के अन्तःकरण को बीधते चले गये । उसने शोक के परिधान उतार फेंके और महासत्य की शरण में जाने वाली चीवरधारी तपस्विनियों की पंक्ति में जा बैठी ।

महाभिक्षु पराभूतो

तथागत आज अपनी ही जन्मभूमि कपिलवस्तु पधारे हैं । शाक्यों का उत्साह उमड़ पड़ा, उन्होंने राजधानी को नव-वधू की तरह तोरण-वन्दनवारों, लता, बल्लरियों और पद्म-प्रसूनों से सजाया है । महाराज शुद्धोधन अत्यन्त कृश हो गये हैं, आयुष्य का प्रभाव उतना नहीं है जितना पुत्र-वियोग की पीड़ा ने थका दिया है, किन्तु आज उनकी जीर्ण-कथा में भी नव-जीवन संचरित हो उठा है, आँखों में यौवन की चमक आ गयी है । उन्होंने स्वयं ही सारी व्यवस्था का निरीक्षण किया । हर रचना में राजकुमार का किशोर रूप आँकता है तो महाराज की आँखें बरबस बरसने लगती हैं । फिर नया उल्लास जागता है आज वही मेरा राजकुमार तो आ रहा है फिर उनका भिक्षु रूप— उनसे भेंट— पुनः विदाई की नीरवता महाराजा को मन इसी तरह उद्वेलित हो रहा है ।

राजमाता की भी स्थिति ऐसी ही है । राजकुमार राहुल ने अभी तक कभी भी अपने पिता को नहीं देखा, प्यासे हरिण-शावक की तरह बार-बार उनकी दृष्टि राजपथ पर दौड़ती है और सिकता भ्रम की तरह भटक-भटक कर लौटती है । यदि राजमहल के किसी प्रकोष्ठ में शान्ति है, निश्चलता है, मौन है तो वह महारानी यशोधरा का अन्तःपुर है ।

१.६ यशोधरों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

शुभ श्वेत वेश-भूषा में आज वे साकार तपमूर्ति प्रतीत हो रही हैं—सभी जानते हैं इस सागर का अन्तर्मन्थन झंझावत खड़ा कर देने वाला है, अतएव उस निश्चल नीरवता को कोई भंग करने का साहस नहीं करता।

नियत समय पर भगवान् बुद्ध का पदार्पण हुआ। भिक्षु वेश में देखकर नगर निवासियों की आँखों के सरोवर फूट पड़े हैं, कोई किसी से कुछ कहता नहीं। सारी कपिलवस्तु शोक के अथाह सागर में डूब गई है।

राजभवन का सभा मण्डप धार्मिक प्रवचन की यहीं व्यवस्था की गई। एक ओर तथागत के लिए उन्नत मंच, उनके सम्मुख ही राजपरिवार के लिए आसन—एक ओर सम्प्रान्त दूसरी ओर प्रजाजन। सब निस्तब्ध, भगवान् के अमृत उपदेशों की तृषा—महाराज शुद्धोधन ने आकर अपना स्थान ग्रहण किया। महाप्रजापति गौतमी, राहुल और मन्त्रिपरिषद् एक-एक कर सभी विराज गये। किन्तु भगवान् बुद्ध जिसे खोज रहे हैं वह मूर्ति ? हाँ यशोधरा नहीं आई। उन्होंने निश्चय किया है यदि वे आयेगे तो उनकी पूजा करूँगी, किन्तु जाऊँगी नहीं, भारतीय नारी जिस तरह कोई अपराध नहीं कर सकती उसी तरह उसका स्वाभिमान भी अडिग रहता है।

भगवान् का धर्म-प्रवचन प्रारम्भ हुआ। ईश्वर, जीव और जगत के स्वरूप का वे धार्मिक विश्लेषण कर रहे हैं। ऐसा लगता है कि श्रद्धा ज्ञान के रूप में भक्ति वैराग्य के रूप में परिणत हो रही है, किन्तु बोधिसत्त्व आज अपने ही अन्तर्द्वन्द्व से पराभूत हो रहे हैं। यशोधरा का न आना उनकी स्मरणशक्ति को विवाह मण्डप में खींच ले जाता है और कहता है—संसार को धर्म का उपदेश करने वाले तथागत ! एक दिन तुमने अग्नि की साक्षी में वचन दिया था देवि ! मैं तुम्हें अद्भुतिगिनी के रूप में ग्रहण करता हूँ। सारा जीवन तुम्हारा भरण-पोषण और निर्वाह करूँगा ? क्या यही थी तुम्हारी प्रतिज्ञा जो तुम मुझे सोता हुआ छोड़कर भाग गये ?

उपदेश समाप्त हुआ। कोई नहीं जानता आगे क्या होगा ? तथागत अपने आसन से उठते हैं अन्तर्द्वन्द्व तभी शान्त होगा। जब वे स्वयं यशोधरा के द्वार पर जाकर क्षमा याचना करेंगे। राजभवन सिसकियों से भरा हुआ है। बोधिसत्त्व सीधे यशोधरा के पास पहुँचे। ऋणा और तपश्चर्या की मूर्ति यशोधरा ने प्रणिपात किया। मन की सम्पूर्ण वेदना सागर बनकर उमड़ पड़ी। तथागत के पैर धुल गये किन्तु पश्चाताप नहीं। वह तभी धुला जब उन्होंने स्वयं यशोधरा से क्षमा याचना की—देवि ! संसार के कल्याण के लिये यह आवश्यक था, तथापि आज मैं तुम्हारी तपश्चर्या के आगे पराभूत हूँ। तुम्हारी तपश्चर्या चिरकाल तक इस देश जाति और संस्कृति को जीवन देगी।

उसे खोजा होता

“वह इधर ही गयी होगी ! कुछ भी नहीं रहने दिया है उसने। सब अपने साथ समेट ले गयी है, किसी ने अत्यन्त उद्वेग भरे स्वर में चिन्ता प्रकट की।”

हम तो सर्वथा अकिंचन ही हो गये—दूसरा स्वर उभरा। साथ ही आश्वस्त भाव भी—“पर वह इस वनखंड से भाग कर जायेगी

कहाँ ? कितने अमूल्य थे हमारे रत्नाभूषण। हम उसके लिए उरुबल का कोना-कोना छान मारेंगे।

घटना उरुबल की है। कुछ लोग वन-विहार के लिए आये थे—साथ में रूपजीवा वेश्याओं को लेकर। रागरंग में आकंट डूबे, अपनी सुध-बुध भूलें घनादय पुरुषों को विलास मग्न देखकर कोई वेश्या उनके सब रत्नाभूषण चुराकर भाग निकली थी। सुध आने पर वे लोग उसी की खोज करने के लिए वन का पत्ता-पत्ता छानने के लिए निकल पड़े थे।

वन के उस भाग में प्रवेश करते ही उन्होंने विशेष शांति का अनुभव किया। कुछ दूर जाने पर उन पुरुषों ने एक दिव्य पुरुष को घने वृक्ष की छाँव में पद्यासन लगाये बैठे हुए देखा। यह दिव्यपुरुष और कोई नहीं भगवान् बुद्ध ही थे।

रत्नाभूषण चले जाने के क्षोभ से विक्षुब्ध पुरुष चोर कर्म करने वाली रूपजीवा को खोजते हुए भगवान् बुद्ध के समीप पहुँच गये थे। भगवान् बुद्ध के तेजोदीप्त दिव्य आभापूरित परमशान्त मुख-मण्डल को देखकर अनायास ही अभिभूत हो उठे और उन्होंने उस दिव्यमूर्ति की चरण धूलि अपने मस्तक से लगा ली। भगवान् के कृश शरीर की स्वर्णिम प्रदीप्ति से विमुग्ध हो गये थे।

आपने उसको इधर से जाते देखा है—“भद्रवर्गीय पुरुषों ने भगवान् बुद्ध से निवेदन किया।”

“मुझे अपने आपके सिवा दूसरा दीख ही नहीं रहा है मित्रो ! इतना ही सत्य है”—कहकर भगवान् मौन हो गये।

‘भन्ते हमारा आशय एक स्त्री से है। एक ने कहा।’

कैसी स्त्री ? भगवान् बुद्ध की परमपवित्र दृष्टि भद्रगणों पर टिक गयी। उनके दृष्टिपात से ही भद्रगण आहत हो उठे। लगा, वे अनुचित कर्म के करण पीड़ित हैं। वह कर्म और उसकी हानि भगवान् बुद्ध की दृष्टि से छिपी नहीं रह गयी है। एक ने कहा—वह वेश्या है भन्ते। हम लोग अपनी-अपनी पत्नियों के साथ वन-विहार के लिए आये थे। पत्नी के अभाव में एक मित्र के मनोरंजन के लिए यह वेश्या हमारे पास थी। विशेष राग-रंग में लिप्त देखकर वह हमारे रत्नालंकार लेकर इसी वन खण्ड में निकल कर छुप गयी है। हमें उसी की खोज है।

वन-विहार मनोरंजन किसलिए भद्र मंदस्थित मुस्कान के साथ भगवान् बुद्ध ने कहा। मुस्कान ने उन लोगों के मर्म बेध दिये। प्रतीत हुआ अपराध पकड़ा गया। सकुचाते हुए वे कुछ न कह सके। फिर भगवान् ने प्रथम ही कहा—आनन्द के लिए ही न !

तो भद्रो ! जगत के विषय-भोग और सुख तो नश्वर और क्षणिक हैं। उनसे नश्वर और क्षणिक का आनन्द ही मिलेगा। उनके पीछे उन्मत्त भाव से दौड़ने पर इसी प्रकार पश्चाताप, हानि तथा क्षोभ के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलने का।

“शाश्वत आनन्द तो शाश्वत सत्य से ही प्राप्त है। शाश्वत सत्य केवल आत्मा ही है। तुमने उसे खोजा होता तो रत्नालंकार का दुःख नहीं झेलना पड़ता”—भगवान् बुद्ध ने कहा।

भद्रवर्गीयों के धर्म चक्षु खुले। रत्नालंकार की चिन्ता छोड़कर उन्होंने कहा—“ठीक है भन्ते ! हमें स्त्री की आवश्यकता नहीं है आत्मा की खोज करनी है।”

और उन्होंने भगवान् से प्रव्रज्या उपसम्पदा की याचना की।

दान का मर्म

“प्रभु ! आज इस दीन का गृह श्रीचरणों से पवित्र हो।” वैशाली के दण्डनायक करबद्ध हो तथागत के सम्मुख उपस्थित थे। उन्होंने अपना रथ—उपवन के बाहर ही छोड़ दिया था। श्रद्धा से प्रातःकालीन प्रवचन समाप्त होने पर वे खड़े हो गए थे और भगवान् बुद्ध ने उनकी ओर दृष्टि उठाई, उनका कण्ठ गद्गद हो उठा। “भिक्षु संघ का स्वागत करने का सौभाग्य माँगने आया है यह जन आपके समीप।”

“भन्ते ! बुद्ध कृपण की भिक्षा स्वीकार नहीं करते। पहले कभी बुद्ध ने किसी से ऐसा नहीं किया है।” पता नहीं क्या बात हुई ? दण्डनायक के मुख पर दृष्टि पड़ते ही तथागत के नेत्रों में एक अद्भुत तेज आ गया। केवल चिरंजीव आनन्द ने लक्षित किया कि प्रभु आज कुछ असाधारण कह रहे हैं। तथागत का स्वर गम्भीर था। “दान करना चाहते हो तो दान का मर्म समझो और श्रेष्ठतम दान करो।”

कृपण की भिक्षा बुद्ध स्वीकार नहीं करते। उपस्थित गणनायकों तथा सामान्य नागरिकों ने एक-दूसरे की ओर देखा। भिक्षु वर्ग में भी सब गम्भीर नहीं थे। अनेक दृष्टियाँ उठी दण्डनायक की ओर। उनमें घृणा-तिरस्कार तथा अवहेलना के भाव उठे यह कृपण है।

दण्डनायक दो क्षण हतप्रभ रह गए। उनकी मुखकान्ति लुप्त हो गई। शरीर काँपने लगा। सबको भय लगा वैशाली का परम पण्डित उग्रतेजा दण्डनायक क्रुद्ध होगा। कुछ बखेड़ा उठेगा ! कुछ भी तो नहीं हुआ इस प्रकार। दो क्षण पश्चात् दण्डनायक का अत्यन्त हताश स्वर सुन पड़ा जैसी प्रभु की आज्ञा ! उनका मस्तक किंचित झुका वह शीघ्रता से मुड़कर उपवन के बाहर हो गए।

“प्रभु ! वह रो पड़ा।” चिरंजीव आनन्द प्रभु के पृष्ठभाग में खड़े थे। उनकी दृष्टि के ठीक सम्मुख थे दण्डनायक। अतः उसके नेत्रों में जो अत्यन्त प्रयत्नपूर्वक अवरोध करने पर भी बिन्दु झिलमिला उठे थे, आनन्द से वे छिपे नहीं थे। अब उन उदार का हृदय द्रवित हो उठा था और वे प्रभु से प्रार्थना कर रहे थे। आपकी अस्वीकृति ने उसे वेदना से झकझोर दिया है। प्रभु प्रातः उस पर कृपा कर सकते हैं।

एक दिन से अधिक का निमन्त्रण तथागत स्वीकार नहीं किया करते। भिक्षु कल और परसों का प्रबन्ध करने लगे इसे वे उनके त्यागव्रत से च्युत हो जाना मानते हैं। यह खूब जानते हुए आनन्द ने प्रार्थना की थी। वे इतना ही चाहते थे कि कोई ऐसा उत्तर मिले, जिससे उस संतप्त हृदय को आश्वासन प्राप्त हो जाय। यह तो निश्चित है कि दण्डनायक दान के मर्म को खोलेंगा, कृपणता के कलंक को धोने की चेष्टा करेगा पर कितनी ? प्रश्न अतल में खोने लगा।

“उसका सौभाग्य उसे यहाँ ले आया।” भगवान् अमिताभ के नेत्र अर्धोन्मीलित हो चुके थे। वे जैसे कहीं दूर से कुछ कह रहे हों “उसके आगत को न जानकर तुम दुःखी हो रहे हो।”

कुछ होने वाला है, निश्चित ही कुछ अद्भुत दान का मर्म अब उद्घाटित होगा। आनन्द अब शान्त हो गए, क्योंकि वे जानते थे कि भविष्य का स्पष्टीकरण तथागत का स्वभाव नहीं है, वे संकेत भी यदा-कदा ही देते हैं।

वैशाली का प्रचण्ड दण्डनायक—सम्मानित गणश्रेष्ठ भी उससे भय खाते हैं। वह नगर में जिस ओर से निकल जाय महान् श्रेष्ठी भी अपने आसनों से उठकर उसे अभिवादन करते हैं। उस उग्रतेजा दण्डनायक का अपमान ! गणनायकों, नागरिकों, श्रेष्ठियों, भिक्षुओं से भरी सभा में उसे कृपण का सम्बोधन ! गौतम के शत्रु इससे सन्तुष्ट हुए। उन्होंने सैनिकों के प्रधान को भड़काने का अवसर पा लिया था।

“स्वामी !” साथ के सैनिक स्वतः उत्तेजित थे। दण्डनायक के लौटते ही उनका नायक सम्मुख आया। उसके नेत्र अंगार हो रहे थे मुख अरुण हो गया “भिक्षु गौतम अब अत्यधिक घृष्ट हो गया है।”

“भद्रसेन ! तुम भगवान् को अपशब्द कहने की घृष्टता कर रहे हो।” दण्डनायक ने दृष्टि कठोर कर ली। “केवल इस बार तुम्हें क्षमा किया जाता है।”

“आपका अपमान किया उस.....”

“चुप रहो ! झिड़क दिया दण्डनायक ने। शूर को कुछ समझदार भी होना चाहिए। मैं अपनी बात स्वयं समझ सकता हूँ।” वह सोचता हुआ रथ पर जा बैठा। सैनिक मुँह बाएँ खड़े थे। घर पहुँचने पर चिन्तन की गति धीमी नहीं अविश्राम बढ़ती गई। दान सत्कर्म में सत्प्रयोजन के लिए स्वयं की शक्तियों का नियोजन यही न। विचारों का घुमड़न क्रिया में बदले नहीं रहता। चिन्तन की तीव्रता का मतलब है गतिशील कर्म। ऐश्वर्य लुटने लगा, पत्नी सहयोगिनी थी। दीन, दरिद्र, भिखारी, आर्त सभी कृतार्थ हो रहे थे। साधनों के बदले आशीर्ष बरस रही थीं। चतुर्दिग ख्याति फैल गई।

ख्याति के स्वर आनन्द के कानों तक पहुँचे। उनकी वाणी ने उसे बुद्ध तक पहुँचाया। वह सुनकर मुस्कराए—सम्पदा को लुटा फेंकने का नाम तो दान नहीं है। पात्र-कुपात्र का विचार किए बिना संचित साधनों को भावुकतावश फेंकने लगना, अर्जित पूँजी को अंधेरे कुँए में डालना है जिसके सत्परिणाम कम दुष्परिणाम अधिक देखने में आते हैं और समय आने पर सत्पात्र के आह्वान को अनसुना कर देना साँप की तरह कुण्डली बनाकर अर्जित साधनों पर बैठ रहना, पास आने वाले को काटने दौड़ना उससे कहीं अधिक घातक है। आनन्द मौन हो उनकी वाणी सुनते रहे। दान का मर्मोद्घाटन अभी बाकी था।

अगले दिन प्रातःकालीन प्रवचन की समाप्ति पर सबने देखा कि कल की भाँति दण्डनायक आज भी करबद्ध सम्मुख खड़े हैं।

“भन्ते ! बुद्ध कृपण की भिक्षा स्वीकार नहीं करते। पहले भी कभी किसी से बुद्ध ने ऐसा नहीं किया है। आज दण्डनायक को प्रार्थना करने का भी अवकाश नहीं दिया।” “तुम दान करो प्रथम। प्रथम कोटि का दान दे सकने का साहस जुटाओ।”

जैसी प्रभु की आज्ञा। बुद्ध की वाणी ने उपस्थित जन-समुदाय को इतना आश्चर्यचकित नहीं किया, जितना चकित किया दण्डनायक

१.८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

की शान्त स्वीकृति ने। दण्डनायक ने अपने सर्वस्वदान की चर्चा तक नहीं की। उन्होंने तो कल की भाँति मस्तक झुकवा और शीघ्रतापूर्वक लौट पड़े अपने रथ की ओर।

चिरंजीव आनन्द आज भी प्रभु के पृष्ठप्रान्त में थे। आज भी उनके सम्मुख ही थे दण्डनायक। आज उनकी दृष्टि बड़ी सावधानी से उनके मुख पर स्थिर थी। आज नेत्रों में आँसुओं की जगह अपार गाम्भीर्य था। गणनायक, सामान्य नागरिक, श्रेष्ठिवर्ग, भिक्षुगण—आज कोई उपहास या अवहेलनापूर्वक उनकी ओर नहीं देख सका। आज सबके नेत्र प्रभु की ओर उठ गए। प्रभु इन्हें कृपण कहते हैं? क्या रहस्य है? तथागत के इस अद्भुत व्यवहार का? वैशाली के दण्डनायक से और किस दान की उन्हें आशा है?

दूसरी ओर दण्डनायक के मन में मन्थन की गति अविश्राम थी। सत्कार्य में सत्प्रयोजन के लिए स्वयं की शक्तियों का नियोजन दान है। पर सत्कार्य और सत्प्रयोजन क्या है? इसका निर्धारण कौन करे? टिक्-टिक् करती चिन्तन की सुई यहाँ आकर अटक गई। यह निर्धारण तो युगावतार ही कर सकते हैं, युगदृष्टा से ही सम्भव है यह महान् निर्णय। उन्हें स्वयं की भूल समझ में आ रही थी। सच अभी तक तो दान के नाम पर तो सिर्फ अहं का पोषण रहा। नाम को फैलाने, यश को बढ़ाने की ओछी शुरुआत भर हुई। ओह! मन प्रायश्चित्त से भर उठा और स्वयं की शक्तियाँ क्या हैं? कहाँ हैं, इनका स्रोत? अन्तराल के किसी के उभरते इन सवालियों के साथ जवाब भी डालें, शक्तियों के मूल हैं भ्रम और समय। इनका स्रोत है स्वयं का व्यक्तित्व। तब तो श्रेष्ठतम दान है कुछ और सोचते हैं इतने में सहस्रमिणी भागती हुई आंखें। उत्साह और उत्साह के अतिरेक में वह हाँफ रही थी बड़ी मुश्किल से कह सकी, स्वयं प्रभु द्वार पर पधारें हैं।

कननों में जैसे संजीवनी का घोल पड़ा। वह धीरे-से उठे पत्नी का हाथ पकड़ा द्वार पर आए। चरणों में प्रणति निवेदन करते हुए बोले, “प्रभु सम्पत्ति आपकी, निवास आपका और हम दोनों आपके।”

महादान! का यह स्वरूप देख सभी आश्चर्य-चकित थे। किसी को कुछ समझ में नहीं आ रहा था। सभी के आश्चर्य के आवरण को तोड़ते हुए स्वयं युगावतार की वाणी गुँजी, सृष्टि के इतिहास में युगों बाद विरले क्षण आते हैं जब पराचेतना स्वयं मानव से दान की गुहार करती है। ऐसे में रंग-बिरंगा पत्थर धातुओं के टुकड़ों की अपेक्षा श्रेष्ठ होता है स्वयं के भ्रम और समय का दान और इससे भी कहीं श्रेष्ठतम है स्वयं का, स्वयं के व्यक्तित्व का दान। दान के ये तीन प्रकार श्रेष्ठ—श्रेष्ठतम हैं। उस दिन सायंकाल भिक्षु संघ में एक भिक्षु और एक भिक्षुणी बह गई—जिसे संघ ने महानाम और क्षेमा के नाम से जाना। भगवान् स्वयं उन्हें समझाते हुए कह रहे थे “धर्मचक्र प्रवर्तन के लिए समर्पित परिव्राजकों लोक-जीवन को अपना उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा है मानव! उठो दान के मर्म को समझो। जो कुछ है उसी से नहीं कुछ है तो स्वयं से ज्योति का सत्कार करो। नवयुग तुम्हारे द्वार तक जयघोष करता आ जाएगा।

शाश्वत-सनातन : आंतरिक सौन्दर्य

मगधराज बिम्बसार के लिये आज का दिन बड़े हर्ष और गौरव का दिन है। भगवान् बुद्ध लोक-यश को निस्सार बताते हैं वे चाहते हैं ऊँच-नीच और छोटे-बड़े का भेद संसार में न रहे, जीव मात्र परस्पर समता, ममता और शुचिता का जीवन-यापन करते हुए सुखपूर्वक रहें, वे छोटे बनकर रहना पसन्द करते हैं इसीलिए राजकीय अतिथि भवन में ठहरने की अपेक्षा उन्होंने बेलवन को अपना विश्राम-स्थल चुना है तथापि अतिथि वे सम्राट बिम्बसार के ही हैं।

एक सामान्य परिचारिका से लेकर मगध नरेश तक की, आज की सज-धज राज्याभिषेक पर्व को फ्रीका कर रही थी। समस्त स्वागत साज तैयार हैं किन्तु मगध साम्राज्ञी क्षेमा अब तक अन्यमनस्क हैं। अन्तःपुर के स्वाध्याय कक्ष में वे आचार्य धर्मपाल का जीवन-दर्शन पढ़ रही हैं। सागल नरेश भगवान् बुद्ध के परम निष्ठावान शिष्य थे उन्हीं की राज-कन्या क्षेमा के अन्तःकरण में तथागत के प्रति उपेक्षा का यह भाव खटकने वाला तो था ही। स्वयं नरेश उपस्थित हुये और पूछ—प्रियतमे! समस्त राज-प्रासाद तथागत की अगवानी के लिये तैयार है किन्तु आपने अभी तक अपने परिधान भी बदले नहीं। राज-कुल अतिथि की यह अवमानना अच्छी नहीं—उठो! और स्वागत हेतु शीघ्र तैयार हो जाओ।

करवट के साथ पुस्तक का प्रस्तुत पृष्ठ बदलते हुए साम्राज्ञी बोली—महाराज! जिस व्यक्ति के लिए संसार निस्सार हो, सौंदर्य निस्सार हो उस व्यक्ति के सम्मुख जाकर संसारी जीव क्या करे? वहाँ जाऊँगी तो उनका प्रवचन यही तो होगा—यह संसार भ्रम है, सांसारिक सुख मिथ्या है और मिथ्या है सौंदर्य जिनके आधार पर ही हम अपने जीवन को सजाते-सँवारते और सुख की कल्पना करते हैं?

‘आखिर गृही हो या विरक्त’—बिम्बसार बोले—जाना तो एक न एक दिन सब को ही पड़ेगा इसलिए पारलौकिक लक्ष्य की तैयारी जाने से पूर्व किया जाना ठीक है। यदि इस तरह का ज्ञान और मार्गदर्शन किसी योग्य पथ प्रदर्शक से मिलता है तो इसमें बुरा क्या? इसे तो अपना सौभाग्य मानना चाहिए प्रिये! साम्राज्ञी ने कोई उत्साह प्रदर्शित नहीं किया! इसी बीच तथागत वहाँ आ पहुँचे। समस्त राज-परिवार उनके स्वागत में दौड़ पड़ा। भगवान् बुद्ध ने क्षेमा जब कन्या ही थी तभी सागल में उसे देखा था। इन्होंने क्षेमा की कुशल-क्षेम पूछी और साथ ही समझ भी गये कि उसका सौंदर्य अहंकार ही उसे यहाँ आने में बाधक बना है।

इधर वे अन्य सब लोगों से बातचीत कर रहे थे उधर उनके योग प्रभाव से क्षेमा को योग निद्रा आ गई। उसने देखा एक अत्यन्त सौंदर्यवती अप्सरा भगवान् बुद्ध को चँवर डुला रही है। कुछ ही निमेष के स्वप्न में उन्होंने अप्सरा की बाल्यावस्था, यौवन और जरा तीनों अवस्थाएँ देखीं। उसका शिथिल-जर्जर गाल, पके बाल, धँसी आँखें देखते ही क्षेमा का अन्तर्मन व्याकुल हो उठा—कहाँ गया उसका यौवन, कहाँ गया वह सौंदर्य जो अंग-अंग से क्रम-भाव टपकर रहा था। नींद टूट गई और उसके साथ ही उनकी मोह निद्रा भी। मनुष्य

जीवन कितना निस्सार है, मनुष्य अपने आपको कितना सजाता संसारता है पर अंत में विनाश के अतिरिक्त हाथ कुछ नहीं आता—आज सारी भौतिकता बालू के ढेर की भाँति ढह गई। क्षेमा दूसरे क्षण तथागत के चरणों में पड़ी क्षमा माँग रही थी और पूछ रही थी 'आत्मोद्धार का मार्ग'।

तथागत मुस्कुराये और बोले—बेटी क्षेम ! आत्मोद्धार और आत्म-कल्याण का मार्ग मिलेगा अवश्य—तुम अपने बाह्य सौंदर्य को भूलकर भीतरी सौंदर्य की तलाश करो। तुम्हारी जिज्ञासा जितनी प्रबल होती जायेगी लक्ष्य उतनी ही तेजी से अपने आप आता चला जायेगा।

सत्य एक ही है, शाश्वत एवं सनातन है

“श्रावस्ती नरेश चन्द्रचूड़ आपको दर्शन करना चाहते हैं भगवन् ! सुना है, अनेक धर्म, अनेक सम्प्रदायों की परस्पर विरोधी मान्यताओं के कारण राजन् अत्यधिक विभ्रमित हैं। कल्याणप्रद धर्म को जानने की जिज्ञासा ही उन्हें आपके दर्शनार्थ खींचकर लाई है ! आर्य आदेश हो तो उन्हें आपके सम्मुख उपस्थित करूँ ?” एक भिक्षुक ने भगवान् बुद्ध से निवेदन किया।

तब वे श्रावस्ती के एक सघन एकान्त में बने संघाराम में विश्राम कर रहे थे।

तथागत मुस्कुराये और भिक्षुक की ओर एक खोजपूर्ण दृष्टि डालते हुए बोले “तात ! चन्द्रचूड़ महान् धर्मात्मा सम्राट हैं, उन्हें शीघ्र ही यहाँ लेकर आओ।”

भिक्षुक चला गया। थोड़ी ही देर में महाराज चन्द्रचूड़ तथागत भगवान् बुद्ध के समीप आ पहुँचे। देवमूर्ति को मंगल प्रणाम निवेदन कर वे एक सामान्य अभ्यागत की भाँति एक ओर बैठ गये। जिज्ञासु की उपयुक्त श्रद्धा ही साधक के अन्तःकरण में सत्य का प्रकाश लाती है। श्रद्धा अर्थात् समर्पण—अपने मन को कोरा कागज बनाकर प्रस्तुत करना ताकि सत्य का प्रतिबिम्ब उसमें यथावत् झॉक सके। भगवान् महाराज की विनम्रता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। पर उन्हें इस बात का हार्दिक दुःख भी हुआ कि व्यक्ति की श्रद्धा का तथाकथित स्वार्थ और सम्प्रदायवादी साधु-सन्त किस तरह शोषण करते हैं। श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है सन्देह नहीं, किन्तु बुद्धिहीन श्रद्धा—जहर मिले दूध की तरह अभिशाप भी है जो शिष्य और मार्गदर्शक दोनों का ही अहित करती है।

बात थोड़ी टेढ़ी थी। चन्द्रचूड़ का समाधान—सारी प्रजा का समाधान हो सकता था, इसलिए बात इस ढंग से समझानी आवश्यक थी जिससे चन्द्रचूड़ को मतमतान्तरों का वितण्डावाद फिर विभ्रमित नहीं कर पाता और उनकी श्रद्धा का विनाश भी बच जाता। दिग्भ्रान्त बुद्धि ही नास्तिकता है वे यह बात जानते थे। अतएव जिज्ञासु का समुचित समाधान आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी था।

तब तो उन्होंने महाराज के विश्राम की व्यवस्था कराई और सामान्य कुशल मंगल की चर्चा तक ही विचार-विमर्श सीमित रखा किन्तु जैसे ही प्रातःकाल हुआ संघाराम में निवास करने वाले स्नातक-

अभ्यागत यह देखकर आश्चर्यचकित रह गये कि—वहाँ प्रातःकाल से ही एक मोटा, बलवान हाथी खड़ा है और एक ओर श्रावस्ती के अनेक जन्मान्ध बैठे हुए कुछ चर्चा कर रहे हैं।

महाराज चन्द्रचूड़ को साथ लेकर तथागत वहाँ जा पहुँचे, उन्होंने अन्धों से प्रश्न किया—“बान्धव ! आप लोगों ने हाथी देखा है क्या ?” “नहीं भगवन्” —सबने करबद्ध एक स्वर से निवेदन किया। ठीक है कहकर बुद्ध ने एक-एक अन्धे को हाथी दिखाया। हाथ से टटोलते हुए किसी-किसी ने हाथी की पीठ, किसी ने सूँड़, किसी ने कान, दाँत तथा पाँव को देखकर ही उन्होंने उसी अंग को हाथी समझा तथा यह जानकर बड़े प्रसन्न हुये कि आज उनकी हाथी से पहचान हो गई।

अब तथागत ने प्रश्न किया—“बताइये हाथी कैसा होता है ?” एक ने उत्तर दिया खम्भे की तरह—उस बेचारे ने हाथी के पाँव स्पर्श किये थे—तो कान वाले ने हाथी की आकृति सूप जैसी बताई—पूँछ वाले ने उसे रज्जौयथा बताया—सिर वाले ने पत्थर के समान यह सब सुनते ही महाराज चन्द्रचूड़ हँस पड़े और बोले भगवन् ! यह सब तो हाथी के किसी अंग भर की जानकारी दे रहे हैं, हाथी तो इन सब जानकारीयों से मिली-जुली आकृति का होता है। भगवान् बुद्ध ने कहा—“तात ! धर्म का सनातन स्वरूप भी ऐसा ही है। मत-मतान्तर एक-एक अंग की समीक्षा, प्रशंसा और प्रचार करते हैं। उनसे षडङ्गने की आवश्यकता नहीं उन सबके समन्वय में ही धर्म का मर्म छिपा हुआ है। उठो ! अपनी विवेक बुद्धि से हर ग्रन्थ, हर पन्थ को टटोलो तो सत्य धर्म का स्वरूप अपने आप प्रकट हो जायेगा।”

सफलताएँ टिकी हैं, प्रचण्ड मनोबल पर

भिक्षु संघ के साथ विहार करते हुए भगवान् बुद्ध शाल्यवन में एक वट वृक्ष के नीचे बैठ गये। धर्म चर्चा के प्रसंग में एक शिष्य ने उनसे पूछा भगवन् ! कई लोग दुर्बल और साधनहीन होते हुए भी बड़े-बड़े कार्य कर दिखाते हैं, जबकि अच्छी स्थिति वाले साधन सम्पन्न लोग भी उन कार्यों को करने में असफल रहते हैं। इसका क्या कारण है ? क्या पूर्वजन्मों के पाप अवरोध बन कर खड़े हो जाते हैं ?

‘नहीं’ तथागत ने कहा और एक कथा सुनाने लगे—“विराट नगर के राजा सुकीर्ति के पास लौहमृग नामक एक हाथी था। राजा ने कई युद्धों में इस पर आरुढ़ होकर विजय प्राप्त की थी। शैशव से ही लौहमृग को इस तरह प्रशिक्षित किया था कि वह युद्ध कला में बड़ा प्रवीण हो गया था। सेना के आगे चलते हुए पर्वताकृति लौहमृग जब अपनी क्रुद्धावस्था में प्रचण्ड हुँकर भरता हुआ शत्रु सेनाओं में घुसता था तो देखते ही देखते विपक्षियों के पाँव उखड़ जाते थे।

लेकिन जन्म के बाद जिस प्रकार सभी प्राणियों को युवा और जरावस्था से गुजरना पड़ता है, उसी क्रम से लौहमृग भी वृद्ध होने लगा, उसकी चमड़ी झूल गई और युवावस्था वाला पराक्रम जाता रहा। अब वह हाथीशाला की शोभा मात्र बनकर रह गया। उपयोगिता और महत्त्व कम हो जाने के कारण उसकी ओर पहले जैसा ध्यान

१.१० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१

भी नहीं था। उसे मिलने वाले भोजन में कमी कर दी गई। एक बूढ़ा सेवक उसके भोजन पानी की व्यवस्था करता, वह भी कई बार चूक कर जाता और हाथी को भूखा-प्यासा ही रहना पड़ता।

बहुत प्यासा होने और कई दिनों से पानी न मिलने के कारण एक बार लौहगुंग हाथीशाला से निकल कर पुराने तालाब की ओर चल पड़ा, जहाँ उसे पहले कभी प्रायः ले जाया जाता था। उसने भरपेट पानी पीकर प्यास बुझाई और गहरे जल में स्नान के लिए चल पड़ा। उस तालाब में कीचड़ बहुत था दुर्भाग्य से वृद्ध हाथी उसमें फँस गया। जितना भी वह निकलने का प्रयास करता उतना ही फँसता जाता और आखिर गरदन तक कीचड़ में फँस गया।

यह समाचार राजा सुकीर्ति तक पहुँचा, तो वे बड़े दुःखी हुए। हाथी को निकलवाने के कई प्रयास किये गये पर सभी निष्फल। उसे इस दयनीय दुर्दशा के साथ मृत्यु मुख में जाते देखकर सभी खिन्न थे। जब सारे प्रयास असफल हो गये, तब एक चतुर सैनिक ने युक्ति सुझाई। इसके अनुसार हाथी को निकलाने वाले सभी प्रयत्न करने वालों को वापस बुला लिया गया और उन्हें युद्ध सैनिकों की वेशभूषा पहनाई गई। वे बाद्ययन्त्र बजाये गए जो युद्ध के अवसर पर उपयोग में लाए जाते थे।

हाथी के सामने युद्ध नगाड़े बजने लगे और सैनिक इस प्रकार कूच करने लगे जैसे वे शत्रुपक्ष की ओर से लौहगुंग की ओर बढ़ रहे हैं। यह दृश्य देखकर लौहगुंग में न जाने कैसे यौवन काल का जोश आ गया। उसने जोर से चिंघाड़ लगाई तथा शत्रु सैनिकों पर आक्रमण करने के लिए पूरी शक्ति से कण्ठ तक फँसे हुए कीचड़ को रेंदता हुआ तालाब के तट पर जा पहुँचा और शत्रु सैनिकों पर दूट पड़ने के लिए दौड़ने लगा। बड़ी मुश्किल से उसे नियन्त्रित किया गया।

यह कथा सुनाकर तथागत ने कहा— “भिक्षुओ ! संसार में मनोबल ही प्रथम है। वह जाग उठे तो असहाय और अवश प्राणी भी असंभव होने वाले काम कर दिखाते हैं तथा मनुष्य अप्रत्याशित सफलताएँ प्राप्त करते हैं।

निष्काम सेवा बुद्धि सर्वोपरि साधन

प्रथम धर्म-चक्र प्रवर्तन में कुछ जिज्ञासुओं को जीवन की सही दिशा में अभिप्रेरित कर तथागत ने आत्म-कल्याण के लिए सभी मुमुक्षु जनों को आह्वान किया और हजारों लोग ‘धर्म शरणं गच्छामि’ की प्रतिज्ञा कर आगे आये। इस आह्वान को घर-घर पहुँचाने के लिए जो उत्साही-जन कृतसंकल्प हुए, उन्होंने समस्त पारिवारिक और सांसारिक दायित्वों से उपराम होकर स्वयं को लोक-कल्याण के लिए समर्पित करने को आत्मदान किया।

इन्हीं लोक-सेवी उत्साही और संकीर्ण स्वार्थों से ऊपर उठकर लोक-मंगल का कार्य करने के लिए उद्धत मनस्वी साहसियों का एक संगठन बना— भिक्षु संघ और संघ के सदस्य भिक्षु कहे जाने लगे।

एक-एक भिक्षु का तथागत को ध्यान था और यह भी कि कौन-कैसा है ? एक बार उन्हें किसी भिक्षु का समाचार नहीं मिला और

न ही वह दिखाई दिया। अपने समीप खड़े भिक्षु भदन्त आनन्द से उन्होंने पूछा कि अमुक भिक्षु कहाँ है तो भदन्त-आनन्द ने उत्तर दिया— “वह अतिसार से पीड़ित है।”

सुनते ही तथागत बोले— “चलो उसे देख आये।”

भदन्त आनन्द और कुछ अन्य भिक्षु भी बुद्ध के साथ हो लिए। बुद्ध ने देखा रुग्ण भिक्षु अपनी कुटिया में अकेला बे-सुष पड़ा है। किसी के द्वारा परिचर्या न किये जाने के कारण वह कुटिया में ही मल-मूत्र से लिपटा सना पड़ा था। भगवान् ने उसे देख कर कहा— “भाई तुम्हें क्या कष्ट है।”

“मुझे अतिसार है भगवन्”— भिक्षु ने कहा।

“क्या ? कोई भी तुम्हारी परिचर्या को नहीं आया ?”

“नहीं आया भगवन्।”

“तो भिक्षु ऐसा क्यों हुआ कि भिक्षुभाल तुम्हारी देखभाल नहीं करते ?”

“भगवन् वे सब योगसाधनाओं में निरत रहते हैं मैंने यही सुना है। इसलिए उन्हें मेरी चिन्ता नहीं है, यह भी वे लोग कहते हैं।”

अपने पास खड़े भिक्षुओं से कुछ न कहते हुए तथागत ने भदन्त आनन्द से कहा— “जाओ आनन्द, जल ले आओ। हम इस भाई की सेवा करेंगे।”

“हाँ भगवन् !” आनन्द ने कहा और जल लेने को चल दिया। जब जल कलश आ पहुँचा तो भगवान् ने स्वयं जल डाला और अपने ही हाथों से भिक्षु का सारा शरीर धोया। तथागत को स्वयं परिचर्या करते देख वहाँ खड़े भिक्षुगण भी परिचर्या में हाथ बँटाने लगे। तथागत ने किसी से कुछ कहा नहीं।

संध्या होने को थी। संध्याकालीन प्रार्थना के लिए सभी भिक्षुगण एकत्र हो रहे थे। परिचर्या के उपरान्त तथागत बैठक में पहुँचे और उन्होंने बिना किसी भूमिका के भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए कहा— “भाइयो, क्या हममें से कोई एक भिक्षु रोगी है।”

“हाँ भगवन्, है तो।”

“उसे क्या कष्ट है।”

“भगवन् उस भाई को अतिसार है।”

“उसकी देख-भाल कौन कर रहा है ?”

“कोई नहीं।”

“क्यों ?”

सब चुप थे। थोड़ी देर सन्नाटा छाया रहा फिर बुद्ध ही बोले— मैं जानता हूँ। तुम सब को अपने आत्म-कल्याण की चिन्ता है, पर याद रखो योग-साधनाओं से वह सम्भव है या नहीं यह तो मुझे ज्ञात नहीं, पर जो सच्चे हृदय से दुःखी जनों की सेवा निष्काम भाव से करते हैं उनकी स्वर्ग मुक्ति, आत्म-कल्याण सर्वथा अक्षुण्ण है, उसे कोई भी उससे विचलित नहीं कर सकता।

आत्म एव सनातनो

आर्य पिता शुद्धोधन ने अनुमति दे दी है तात् ! राज-प्रासाद में धिर हुआ जीवन नीरस-सा प्रतीत होता है, राज्य भोग अब तृप्ति

नहीं दे पाते। प्रकृति-माता की गोद आकर्षित करती है उठो और स्वंदन (रथ) साजो, हम वन-विहार के लिये प्रस्थान करना चाहते हैं ? सिद्धार्थ ने सारथी को सम्बोधित करते हुये कहा।

“राजकुमार की आज्ञा शिरोधार्य !” कहकर सूतक ने उन्हें प्रणाम किया। अश्वशाला के श्रेष्ठतम चार चारु—कबुली हय निकले उसने राश बाँधी, अम्बारी डाली और चन्दन के बने रथ पर उन्हें जोत दिया। स्वर्ण-तार-जड़ित राजसी परिधान धारण कर राजकुमार राज-भवन से बाहर आये तो ऐसा लगा जैसे पूर्णमासी का चन्द्रमा छिटक कर निकल आया हो। सेवकों ने बढ़कर सहारा दिया। सिद्धार्थ रथारूढ़ हुये और अश्व-दल द्रुत-गति से आगे बढ़ चला।

राजधानी के गगनचुम्बी भवन पार कर रथ जनपथ पर मंद मंथर गति से बढ़ रहा था तभी एक महिला पथ पार करने की शीघ्रता में लड़खड़ा कर गिर गई। वैरागी राजकुमार के आदेश से रथ रुक गया। कुछ लोग आगे आये महिला को उठाते हुए उन्होंने अभ्यर्थना की—कुमार देव ! रथ के कारण नहीं महिला अभाव जन्य स्थिति के कारण गिर गई है। महाराज ! निर्धनता संसार का सबसे बड़ा अभिशाप है, चार पुत्र पहले हो चुके हैं उस पर भी मातृत्व बोझ, सूखी रेटियों पर पलने वाली इस अभागिन को दो दिन से अन्न भी नहीं मिला, इसी से अशक्त हो गई है यह। इसमें आपको क्या दोष ? आप वन-विहार के लिये जाइये, देव ! जाइये।

सूत-पुत्र ने रथ आगे बढ़ाया। सिद्धार्थ ने प्रश्न किया तात् ! अभाव किसे कहते हैं, यह महिला क्यों अभावग्रस्त है ? हम अभाव-ग्रस्त क्यों नहीं ? सूत ने सिर ऊपर आकाश की ओर उठाया और फिर अश्वों की राश ढीली करते हुये कहा—आर्य पुत्र ! जीवनयापन की सामान्य सुविधाओं का उपलब्ध न होना अभाव है। संसार के लोग इस स्थिति में इसलिए हैं कि कुछ लोग सम्पत्ति का परिग्रह करने को बड़प्पन मानते हैं। आप राज-पुत्र हैं महाराज ! सारी प्रजा के पश्चिम का लाभ आपको मिलता है तो आपको क्यों अभाव होगा—अभावग्रस्त तो प्रजा होती है जिसे मात्र शोषण की वस्तु मानकर सत्ताधारी लोग सताया करते हैं।

असमानता—संसार का एक दुःख है, रथ अब राजधानी पार कर चुका था तभी आगे से आता हुआ दिखाई दिया वृद्ध। जरा ने जीर्ण कर दिया था गात जिसका कमर झुक गई थी, दाँत टूट गये थे, आँखें धँस गई थीं। एक लकड़ी के सहारे चल रहे उस वृद्ध को देखकर सिद्धार्थ ने दूसरा प्रश्न किया—सारथी ! इन आर्य पुरुष को क्या हुआ है जो ये झुककर चलते हैं ? दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुये सारथी ने निवेदन किया तात् ! यह शरीर की चौथी अवस्था जरावस्था—सबको ही एक दिन वृद्ध होना पड़ता है। संसार का कोई भी व्यक्ति इससे बच नहीं पाता। इन्द्रियों की सामर्थ्य समाप्त हो जाती है तब चाहे वह मूर्ख हो या पंडित, गृहस्थ हो या विरक्त, रंक हो या राजा सबकी यही अवस्था होती है।

हम भी नहीं बच सकते तात् ! हमें तो कोई अभाव नहीं विधाता को हम जरा को दूर रखने के लिए स्वर्ण दे सकते हैं, मणि-मुक्ता दे सकते हैं—सिद्धार्थ कह रहे थे और सारथी समझा रहा था तात्, संसार के तुच्छ लोग लोभ और लालच में पड़कर नैतिकता का

नियमोल्लंघन कर सकते हैं, ईश्वरीय विधान तो पत्थर की चट्टान के समान अटल और अडिग होते हैं।

क्रम अभी चल ही रहा था कि सामने से कुछ ग्रामीण-जन आते दिखाई दिये। वंश खपाटिकाओं पर श्वेत वस्त्रवेष्टित कोई वस्तु चार व्यक्ति अपने कन्धों पर रखे चले आ रहे थे, उन्हें देखते ही सारथी ने रथ खड़ा कर दिया। रथ से उतर कर सारथी तीन पग आगे बढ़ा और भूमि प्रणाम कर प्रदक्षिणा की और फिर रथ में आ बैठा—हाँक दी अश्व फिर चल पड़े।

राजकुमार जो अभी चित्रवत् देख रहे थे बोले—सारथी, यह कौन लोग हैं ? इनके कन्धों पर क्या है ? तुम इन्हें देखकर रथ से क्यों उतरे ? तुमने किस देवता को प्रणाम किया ?

एक दिन एक बच्चा था तात् ? फिर वह बड़ा हुआ—सारथी समझा रहा था सिद्धार्थ को मानो वह कक्षा ‘अ’ वर्ग के नव-प्रविष्ट विद्यार्थी हों—उसने विवाह किया, संतानोत्पत्ति की। धन-ऐश्वर्य, भवन, पुत्र, कलम—न मालूम क्या-क्या अर्जित किया उसने पर मृत्यु के एक ही आक्रमण ने इसे धराशायी कर दिया—मृत्यु के मुख में गया वही बालक है। यह आर्य अब लोग इसे ले जायेंगे और अग्नि में भस्मसात् कर देंगे इसके पार्थिव शरीर को। मृत्यु का यह देवता बड़ा प्रबल है। इसे हर कोई प्रणाम करता है तात् ! इससे आप भी बच नहीं सकते।

सांसारिक विषमताएँ, जरा और मृत्यु—फिर संसार का सत्य क्या है ? सनातन क्या है ? सूत पुत्र ! राजकुमार का गला भर आया था, भावनायें—उमड़ने लगी थीं। सारथी ने समझाया—तात् ! ज्ञानी जन कहते हैं सत्य और सनातन तो यह आत्मा है जो उसे प्राप्त कर लेता है पार्थिव अभाव, अशक्ति, अज्ञान उसे दुःखी नहीं कर पाते।

ठीक है सूत पुत्र ! अब तुम रथ रोक दो, पग-पग पर परिवर्तनीय सांसारिक सुख और वैभव व्यर्थ है। आत्मा ही शाश्वत है तो फिर आत्मा को ही प्राप्त करना चाहिए और अब मैं उसे ही प्राप्त करने जाऊँगा—तुम यह रथ यह सन्देश लेकर लौट जाओ कि सिद्धार्थ अब कभी लौटकर नहीं आयेगा।

सूतक खड़ा-खड़ा निर्निमेष देख रहा था और तब तक खड़ा देखता रहा जब तक कि लक्ष्य-सिद्धि का साधक सिद्धार्थ पूरी तरह आँखों से ओझल नहीं हो गया।

साधना का मर्म

भगवान् बुद्ध का धर्मचक्र प्रवर्तन अभियान देशव्यापी हो रहा था। भाव-भरे अन्तःकरण प्रचण्ड वैचारिक क्रान्ति की लहरों से आन्दोलित हो रहे थे। एक-से बढ़कर एक प्रतिभाएँ इस युग अभियान में हिस्सा बँटाने के लिए सुख तथा ऐशो-आराम से भरे पूरे जीवन को तिलांजलि देकर आगे आ रही थीं। धर्मचक्र प्रवर्तन के लिए प्रव्रज्या ग्रहण करने वालों में से एक युवा राजकुमार भी था। उसका नाम था श्रोण।

‘श्रोण’ कभी अत्यन्त विलासी और भोगी था। वह कभी महल के बाहर नहीं निकलता था। आमोद-प्रमोद में ही उसका समय बीतता

था। खुले आसमान की कड़ी-धूप उसने कभी नहीं सही थी। जिस मार्ग से चलता उसमें फूल और मखमल की चट्टियाँ बिछायी जाती थीं। किशोर बालाएँ उसे नहलाती तथा शृंगार करती थीं। अत्यन्त रूपवती पत्नी थी। जो हर तरह से उसका मन बहलाती थी।

पर अब तो उसे सारे सुख निस्सार जान पड़ रहे थे। संन्यास ग्रहण करते ही श्रोण की कठोर साधना आरम्भ हुई। जो कभी मखमल पर पैर रखकर चलता था आज वह काँटों पर चल रहा था। दूसरे भिक्षु दिन में एक बार भोजन करते थे वह कई दिनों तक निराहार रहता था। परित्रज्या के लिए परिभ्रमण में अन्य भिक्षु कड़ी धूप से बचने के लिए वृक्षों की छाया में बैठते थे श्रोण जान-बूझ कर कड़ी धूप में खड़ा रहता। सर्दों से बचाव के लिए वह वस्त्रों का प्रयोग नहीं करता—गन पड़ा रहता था। सुकुमार कोमल-काया इस दबाव को सहन न कर सकी—सूखकर काली पड़ गई। पैरों में काँटे चुभने एवं छाले पड़ जाने के कारण खून और मवाद बहने लगा। ऐसा लगता था कि श्रोण ने तप के नाम पर शरीर का अस्तित्व ही समाप्त कर लेने का संकल्प कर रखा हो। शारीरिक वेदना के साथ साथ मन में व्यग्रता, असन्तोष और अशान्ति भी बढ़ती जा रही थी।

भगवान् बुद्ध को उसकी सूचना मिली। महाप्राज्ञ को यह समझते देर न लगी दिग्भ्रान्त है। श्रोण से उन्होंने पूछा “वत्स। तुम तो सितार बजाने में पारंगत हो।” स्वीकृति में श्रोण ने सिर हिलाया। बुद्ध ने दूसरा प्रश्न पूछा यदि वीणा के तार ढीले हों तो क्या संगीत पैदा होगा? “नहीं” श्रोण ने उत्तर दिया। और यदि अत्यधिक कसे हों तो बुद्ध ने कहा। “तो बजाने पर तार टूट जायेंगे” श्रोण का उत्तर था। भगवान् बुद्ध ने तीसरा प्रश्न पूछा “सुमधुर संगीत का क्या रहस्य है?” श्रोण ने कहा “वीणा के तार न तो ढीले हों और न ही अधिक कसे हुए।” बुद्ध मुस्कराये उन्होंने कहा “वत्स जीवन रूपी वीणा का भी यही नियम है। शान्ति, सन्तोष एवं आनन्द से युक्त संगीत की लहरें जीवन रूपी वीणा से तभी प्रस्फुटित होती हैं जब तार न तो अधिक शरीर की ओर कसे हों और न ही आत्मा की ओर ढीले। शरीर वह मन्दिर है जिसमें आत्मा निवास करती है। मन्दिर टूटा-फूटा जराजीर्ण होगा तो उसमें निवास करने वाले देवता भला कैसे प्रसन्न रह सकते हैं? वीणा के तारों की भाँति शरीर और मन को कसे। पर इतना नहीं कि वे टूट जायें और जीवन रूपी संगीत निकलने में असमर्थ हो जायें।”

श्रोण को अपनी त्रुटि का भान हुआ। साधना का मर्म समझते और उसके अनुरूप सन्तुलित मार्ग अपनाने से मन की व्यथा-वेदना तथा अशान्ति दूर हुई। शान्ति-सन्तोष और आनन्द की धाराएँ बह चलीं जिसमें अवगाहन कर श्रोण धर्म-चक्र प्रवर्तन में अग्रिम भूमिका निभाने चल पड़ा।

मद्यपान के दुष्परिणाम

राजा सर्वमित्र के शासन का समय था। महात्मा बुद्ध उस समय बोधिसत्त्व शरीर में थे। उनकी विनम्रता, श्रमशीलता, उदारता, सदाचार और दान की वृत्तियों ने उनको इन्द्र की पदवी पर पहुँचा दिया था। किन्तु उस पद को प्राप्त होने पर भी वे कभी भी उसके ऐश्वर्य

और विषय-सुख में आसक्त नहीं हुए। वे सदा ही अपने पद के उपयुक्त सेवा में ही तत्पर रहते। निरन्तर प्राणि-मात्र के कल्याण और हित में संलग्न रहते थे। संसार के लोगों को सदगुणों से सम्पन्न, सुख और शान्ति-मय जीवन व्यतीत करते देख उनके प्रसन्नता का अनुभव होता था।

जिनकी वृत्तियाँ सुधर चुकती हैं, सुसंस्कृत हो चुकती हैं, जिनको संसार के भोगों की निस्सारता एवं अस्थिरता का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो चुका है। उनको संसार ही नहीं, स्वर्ग में भी सर्व-सुलभ, इच्छा मात्र से ही प्राप्त होने वाले वैभव और भोगों का उपभोग करने की इच्छा नहीं होती। वे जीव उन स्वर्गवासी देवों से भी श्रेष्ठ हैं। ऐसे जीवों को स्वर्ग में पहुँचकर भोग भोगने से पुण्य क्षीण होने पर मृत्यु लोक में आने वाली उक्ति चरितार्थ नहीं होती। उनको तो भूलोक और स्वर्गलोक दोनों ही समान होते हैं।

राजाओं में राज-वैभव, अविवेक और इन्द्रिय भोगों की लिप्सा के कारण प्रायः जो दोष उत्पन्न हो जाते हैं वह राजा सर्वमित्र को प्रभावित किए हुए थे। उन्हें मदिरा पीने का व्यसन था। शराब का व्यसन साथी चाहता है। इसके व्यसनी को अपने साथ पीने के लिए अन्य साथियों की आवश्यकता होती है। वह स्वयं तो बिगड़ता ही है, दूसरों को भी ले डूबता है।

सर्वमित्र भी अपने साथ अपने मंत्री, सेनापति आदि राज-कर्मचारियों तथा राज्य के प्रतिष्ठित श्रेष्ठियों को भी पिलाता और विनोद करता था। इसका प्रभाव यह हुआ कि राज्य भर में अराजकता फैल गई। राज-कर्मचारी अपना काम ठीक नहीं करते थे। राजा का उनको भय नहीं था, इसलिए पूर्ण स्वच्छन्दता बरतते। प्रजा का बुरी तरह शोषण होने लगा। सभी जगह भ्रष्टाचार, दुराचार एवं पाप बुद्धि का बोलबाला हो गया। सत्यासत्य, न्यायान्याय, धर्माधर्म में लोगों की भेद बुद्धि समाप्त हो गई। राजा को इसका कुछ भी ज्ञान नहीं था। वह सदैव अपने रंग में मस्त पड़ा रहता था।

एक दिन राजा के कक्ष में विशेष तैयारियाँ की गईं। सभी अधिकारीगण व राज्य के गणमान्य व्यक्ति आमन्त्रित थे। मदिरा के बड़े-बड़े पात्र भर कर रखे गए। पीने के उपकरण भी यथास्थान सजाये गए। समय पर सब एकत्रित हो गए। थोड़ी-सी शिष्टाचार और विनोद की बातों के पश्चात् मदिरा-पान का क्रम चलने ही वाला था कि एक आगन्तुक को देखकर लोग चौंक उठे।

एक सुन्दर रत्न जड़ित स्वर्ण कलश, उसमें मुख तक मदिरा भरी हुई। कलश के ऊपर, मुख पर सुन्दर, सुगन्धित फूल भरे हुए। कलश हाथ में लिए, ताम्र वर्ण, गठीले सुडौल शरीर वाला, चमचमाते हुए नेत्र, उज्ज्वल स्वर्णिम जटाएँ, वल्कल एवं मृग चर्म धारण किए हुए एक ब्राह्मण ने कक्ष में प्रवेश किया। बेधड़क राजा के सिंहासन के पास पहुँच कर वहीं से वह बोलने लगा “इस सुन्दर पात्र में सुरा भरी हुई है। इस का मुख सुन्दर सुगन्धित पुष्पों से ढका हुआ है; इसे कौन खरीदेगा?”

ब्राह्मण के आते ही राजा और उसके साथियों को, अपने आनन्द में बाधा पड़ने के कारण उसका आना बहुत बुरा लगा, किन्तु उसकी

प्रतिमा और ओजस्वी मुख-मंडल को देखकर उसकी ओर आकर्षित हो गए और उसकी ओर देखने लगे ।

जहाँ एक दोष होता है वहाँ दूसरे दोष स्वयं ही बिना बुलाये आ जाते हैं । राजा के शराबी होने के कारण वह नीति के ज्ञान से शून्य हो गया था । अपने यहाँ आने पर ऐसे ओजस्वी ब्राह्मण का अभिवादन करने का भी उसे ज्ञान न रहा । ब्राह्मण ने इस बात पर कोई ध्यान न दिया और अपने काम में लगा रहा ।

वह बोलता ही गया— “यदि इस लोक और परलोक की चिन्ता न हो, नरक-यातना का भय न हो तो इसे खरीद कर इस का उपभोग करो ।”

जिस उद्देश्य से (बोधिसत्त्व) इन्द्रदेव ब्राह्मण के वेष में यह नाटक करने आये थे । उसकी क्रिया आरम्भ हो गई । राजा सर्वमित्र के मस्तिष्क में ब्राह्मण की उल्टी बातें प्रभाव करने लगीं । वह सोचने लगा “यह कैसा विचित्र व्यक्ति है जो अपनी वस्तु के दोषों का वर्णन कर रहा है तथा उसके द्वारा उत्पन्न दोषों का परिणाम भी बतला रहा है । इसमें अवश्य ही कोई रहस्य है ।”

इन्द्र के रूप में बोधिसत्त्व भी राजा सर्वमित्र के व्यसनी होने से उत्पन्न राज्य की अव्यवस्था तथा अराजकता के कारण दुःखी जनता को कष्टों से मुक्त करने के उपक्रमों में लगे थे । राजा को उसके व्यसन और उससे उत्पन्न होने वाले दोषों का परिचय करा के ऐसी अवस्था उत्पन्न कर देना चाहते थे कि उसके इस वस्तु से घृणा हो जाए और वह सदा के लिए उससे मुक्त हो जाय । उसके व्यसन छोड़ने से सारा नक्शा ही पलट जायेगा । सभी अधिकारी और नागरिक स्वयं ही राजा के भय से उसको छोड़ देंगे और इसके परिणामस्वरूप बुद्धि शुद्ध होने से, राज्य की व्यवस्था ठीक होने से राज्य में सुख-शान्ति का प्रसार हो सकेगा, जनता दुःखों से छुटकारा पा सकेगी ।

ब्राह्मण किसी के बोलने की प्रतीक्षा किए बिना ही कहता चला जा रहा था— “राजन् ! इस स्वर्ण पात्र में न तो अमृत है और न दूध या दही है और न गंगा जल या सुगन्धित पुष्पों का सुमधुर मधु ही है । इसमें विष तुल्य मदिरा है । जो भी पीता है वह अपने वश में नहीं रहता । उसे भक्ष्याभक्ष का ज्ञान नहीं रहता । शरीर का यह हाल होता है कि वह जहाँ-कहीं भी, राज-मार्ग पर लड़खड़ा कर गिर-गिर जाता है । कुत्ता मुँह चाट कर उसमें पेशाब कर देता है । ले लो, खरीद लो ऐसा, अवसर फिर न मिलेगा । अवसर से लाभ उठा लो । इसे पीकर नंगे होकर सड़क पर नाचोगे, पत्नी और युवती कन्या में तुम्हें अन्तर नहीं दिखायी पड़ेगा । इसका पान करके स्त्री अपने सुन्दर, स्वस्थ, धनी और पत्नीव्रत पति का भी तिरस्कार करती है । इसके प्रेम में बड़े-बड़े धनवान् दारिद्र्य हो जाते हैं । राजाओं, महाराजाओं के राज्य समाप्त हो जाते हैं । यह पाप की मूर्ति और कुकर्मों की जननी है, गौरव नरक में घसीट ले जाती है जहाँ सदैव ही अग्नि की ज्वालायें धधकती रहती हैं ।”

ब्राह्मण की वाणी सर्वमित्र के अन्तःकरण पर अपना प्रभाव डालती जा रही थी । उसका बोलना समाप्त करते-करते ही उस पर इतना प्रभाव पड़ा कि अब तक के किये पर उसे भारी पश्चाताप होने

लगा । उसे ऐसा प्रतीत होने लगा मानो अभी ही उसका शरीर नरक की ज्वालाओं से जलने लगा हो । वह ब्राह्मण के पैरों में गिर पड़ा और कहने लगा— महात्मन् ! आपने अपने सदुपदेश से मेरी आँखें खोल दीं । मुझे अज्ञान की अन्धेरी कोठरी से निकाल लिया । आपकी मैं किस प्रकार बड़ाई करूँ । वास्तव में आपने मुझे बहुत बड़े काल के गाल से छुड़ा कर नया जीवन दिया है । अब मेरा शरीर पश्चाताप की अग्नि से जल रहा है, यह कैसे शान्त हो इसका उपाय बतलाइये । मैं आपसे सत्य कहता हूँ, आपके चरणों की सौगंध लेकर कहता हूँ कि मैं जीवन में फिर कभी इस निन्द्यपेय का प्रयोग न करूँगा और न ही अपने राज्य में किसी को करने दूँगा ।

बोधिसत्त्व बोले— सर्वमित्र ! तुम्हारे किए का अब यही प्रायश्चित्त है कि विवेक बुद्धि और विचारशीलता के साथ राज्य की व्यवस्था ठीक करो । तुम्हारे व्यसन में मस्त रहने से राज्य में भारी अव्यवस्था व अराजकता फैल रही है, प्रजा का शोषण हो रहा है, जनता बहुत दुःखी है । राजन् ! कर्मों को तो भोगने से ही मुक्ति मिलती है । पिछले किये का फल तो किसी न किसी रूप में भुगतना ही पड़ेगा किन्तु तो भी यदि आप फिर से प्रजा के कष्टों को दूर करके, उनको हर प्रकार की सुख-सुविधा पहुँचा कर उनकी शुभकामनायें प्राप्त कर सकें तो इस यत्न से मुक्त हो सकेंगे ।

सर्वमित्र उनके पैर पकड़कर अभ्युत्थान बहाकर कहने लगा— “भगवन् मैं आपकी किस प्रकार सेवा करूँ ! आपने मुझे पुत्र और शिष्य की भाँति शिक्षा दी है, जो कोई नहीं कर सकता ।”

बोधिसत्त्व ने आशीर्वाद देकर कहा “मैं तुम्हारा सब विधि से कल्याण चाहता हूँ, तुम्हारे राज्य का कल्याण चाहता हूँ ।” इतना कहकर वे भवन के बाहर हो गए ।

नस्ति जीवन्ते सनातनाः

श्मशान घाट पर अनेक बार करुणाजनक चीत्कारें सुनी गई हैं, किन्तु यह दृश्य तो इतना हृदय विदारक था कि दर्शकों के नेत्र छलछलाये बिना नहीं रहते । अभी कुछ ही दिन तो हुए श्रावस्ती के अत्यन्त कुलीन वंश में जन्मी उब्बिरी का कौशल नरेश के साथ पाणिग्रहण हुआ था । उब्बिरी के सौन्दर्य के सम्मुख शची और रती ऐसी ही थीं जैसे पूर्णिमा के चन्द्रमा के समक्ष टिमकते खद्योत । न केवल कौशलपुर अपितु स्वयं अधिपति ने उब्बिरी को पाकर अपने पूर्व जन्मों के पुण्यों को सराहा था । आज वही उब्बिरी श्मशान घाट में जब अम्म जीवे ! अम्म जीवे !! ओ जीवन्ती तुम कहाँ हो ? ओ जीवन्ती तुम कहाँ हो ? की पुकार के साथ प्रलाप करती तो सारे वातावरण में हाहाकार छ जाता, मनुष्य तो मनुष्य जीव-जन्तु और वृक्ष-वनस्पति तक उब्बिरी के शोक में डूबे हुए थे । श्मशान घाट करुणा की साक्षात् मूर्ति बना हुआ था । दर्शन की समस्त परिभाषा इस परिवर्तन में ही तो सन्निहित है । नियति अपनी बलवत्ता, परमात्मा अपना अस्तित्व और प्रकृति अपनी महामाया, यदि यह परिवर्तन न होते तो, कैसे अभिव्यक्त कर पाते ?

उब्बिरी को अन्तःपुर में आये एक वर्ष ही हुआ था। उनका अपना अनिन्द्य सौन्दर्य, कौशल राज की अनन्त श्री और राज-प्रासाद के संस्कार लेकर उनकी कोख से एक कन्या ने जन्म लिया जो अप्रतिम सुन्दर और अद्भुत संस्कारवान थी। उसे पाकर कौशल नरेश फूले न समाये। उन्होंने उब्बिरी को राज-महिषी का पद प्रदान किया। उस दिन जो शोभायात्रा निकली गई वैसी प्रजाजनों ने पहले कभी नहीं देखी थी। मनुष्य अपने भाग्य पर इतराता है, पर उस महान् परिवर्तन चक्र को भूल जाता है; जो आज नहीं तो कल आने से मानता नहीं, यही तो जीवन की विडम्बना है। यदि लोग उन विभीषिकाओं का पूर्व स्मरण रखें तो आधे से अधिक औद्धत, अपकर्म और अवाञ्छनीयताएँ मात्र इस मान्यता से ही दूर हो जायें शेष आधी आध्यात्मिक आस्थाओं का प्रकाश दूर कर दे।

बालिका का नाम जीवन्ती रखा गया। बालिका ने अपनी सुन्दरता और चपलता से राज-दम्पति को पूरी तरह मोह लिया। यह आसक्ति, कितनी कठिन है कि मनुष्य को क्षणिक जीवन के क्रिया-व्यापार में तो लगाये रखती है, पर जीवन के सनातन उद्देश्य आत्म-कल्याण की ओर ध्यान भी नहीं बँटने देती। वह उब्बिरी के साथ भी हुआ। एक वर्ष ही कठिनाई से बीता था एक दिन हँसते-खेलते जीवन्ती ने अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी। राज-परिवार शोकसागर में डूब गया।

अम्म जीवे-जीवन्ती तुम कहाँ हो अम्म जीवे ? जीवन्ती तुम कहाँ हो ? की आर्त पुकार श्मशान घाट में गूँजते कई मास बीत गये। राजमहिषी ने अपनी स्मरणशक्ति खो दी बहुत प्रयत्न करने पर भी वे न तो राज-प्रासाद में टिकीं और न कहीं अन्यत्र। शोक विह्वल क्षत-विक्षत देह वे श्मशान में ही पड़ी चिल्लाती रहतीं।

आज तथागत का उधर ही आगमन हुआ है। उन्होंने भी उब्बिरी की दारुण गाथा सुनी। वे सीधे श्मशान घाट पहुँचे उनका अपूर्व तेजस देखते ही राजमहिषी स्तम्भित हो उठीं। तथागत ने उन्हें शान्त करते हुए पूछा—देवि ! इस श्मशान में अब तक कितने लोगों का दाह हुआ होगा तुम उनकी संख्या बता सकती हो ?

नहीं देव ! उब्बिरी ने सिर हिलाया।

यदि वह सभी लोग बिछुड़े हुआँ की याद में यों ही रुदन करें तो यह सृष्टि कितने दिन चलेगी ?

उब्बिरी मौन थी।

पुत्रे ! बिछुड़ो तो मनुष्य की आत्मा भी उसी से गई है, पर तुमने कभी उसे पाने के लिए इतना दुःख किया क्या ? क्या तुम अपने स्वरूप को पहचानती हो, यहाँ से चले गये जीवन्ती के आत्म तत्त्व को तुम ढूँढ़ सकती हो क्या ?

नहीं ! नहीं !! नहीं !!! देव ! मैं नहीं जानती वहाँ तक पहुँचने का मार्ग क्या है ?

तो उठो और उस सनातन गरिमा आत्म-तत्त्व को ढूँढ़ने का प्रयास करो जहाँ भूत, भविष्य और वर्तमान सभी कुछ एककर हैं।

उब्बिरी की आँखें खुल गईं, मोह-माया का परित्याग कर वे आत्म-साधना में निरत हुईं ती पूर्णता प्राप्त करके ही लौटीं।

अर्थवसुश्चपरिग्रह

‘तात् ! उल्लाने भरे स्वर में आयुष्मान विलाड ने पिता से कहा— “स्नातक मेरा उपहास करते हैं— कहते हैं तुम्हें कोई अर्थवसु का पुत्र कहेगा ? तुम्हारी वेषभूषा, तुम्हारा जीवन स्तर तो हम निर्धन वर्ग से किसी भी तरह ऊँचा नहीं— सच ही तो आपने आज तक कभी भी मेरी अभियाचनायें पूर्ण नहीं कीं। आर्य ! आखिर आप हमारी महत्वाकांक्षाओं का अनादर क्यों करते हैं ?’

तभी ज्येष्ठ पुत्र-वधू उधर आ पहुँची, कहने लगी— विलाड सच ही तो कहते हैं आर्य श्रेष्ठ— आज ग्राम्य-ललनाओं ने मुझे जो कहा उसे सुनकर तो मेरा अन्तःकरण ही कराह उठा है— वे कहती हैं तिर्यग ! तुम्हारे श्वसुर इतने धनाढ्य हैं वे चाहें तो तुम्हें नख-शिख से आभूषण धारण करा सकते हैं किन्तु आज वह सावित्री की अर्चना के समय भी तुम्हारे परिधान तक अति सामान्य गृहणी से अधिक सुन्दर नहीं आभूषणों की तो बात ही नहीं है।

ऐसे-ऐसे उपालम्भ अर्थवसु ने सहस्रों बार सुने हैं, झेले हैं किन्तु उन्होंने कभी कोई उत्तर नहीं दिया। एक क्षण के लिए अधर स्मित हुए हैं और दूसरे ही क्षण वे शीतकमल की अन्धकार आवेष्ट रजनी की तरह मौन हो गये हैं। यह ठीक है कि उन्होंने कभी किसी का प्रतिवाद नहीं किया, किन्तु सच यह भी है कि वणिक्-वृत्ति में व्यापक लाभ के अनन्तर भी कभी वैषव का जीवन न स्वयं जिया न अपने कुटुम्बीजनों को विलासी होने दिया। सलज्ज राजहंसिनी के प्रणय व्यापार की तरह किसी ने यह तक नहीं जाना कि अर्थवसु किसलिये संग्रह करते हैं, किसके लिए संग्रह करते हैं यदि इतने पर भी कुछ सच था तो यही कि उन्होंने परिजनों के पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा वेषभूषा के सामान्य नागरिक कर्तव्यों की कभी अवहेलना नहीं की, इसीलिये कभी किसी ने भी उनके असम्मानित करने का साहस नहीं जुटाया।

परिवर्तन और परिवर्तन प्रकृति का यह रथ-चक्र मानव जीवन को कभी सौरभसिक्त आनन्द के आँचल में सुला देता है तो कभी पीड़ा के गहन कंटों भरे कौतारखण्ड में ला खड़ा करता है। इस परिवर्तन का ही नाम सृष्टि है, गति है, जीवन है। काल के इन थपेड़ों से आज तक न बचा है कोई राव और न कोई रंक।

नियति का यह क्रम इस वर्ष अत्यन्त क्रूर बनकर आया। ज्येष्ठ की तपन से झुलसे हृदय बारम्बार अम्बर की ओर निहारते, बादलों की अभ्यर्थना करते किन्तु अषाढ़ सूखा निकल गया। चित्रा, अश्लेषा, पुनर्वस, स्वाति सारे ही नक्षत्र यों ही निकल गये धरती के कण्ठ में एक भी बूँद न गिरी तो फिर नहीं ही गिरी, राजगृह श्मशान की-सी भयंकरता में परिणत हो गया चारों ओर त्राहि-त्राहि मच गयी और लोग भूखों मरने लगे।

अब तक जिन अर्थवसु की आँखों में शून्य क्रीड़ा किया करता था अब वही दृग-द्वय मानवीय संवेदना से सिक्त हो उठे हैं, राजगृह के नागरिकों के लिए अर्थवसु ने अपने द्वार खोल दिये सारी सम्पत्ति गतिमान हो उठी जिन अर्थवसु को किसी ने एक कौड़ी खर्च करते

नहीं देखा था युग पीड़ा ने उनके हृदय कपाट पूरी तरह खोल दिये, उनका सर्वस्व स्वाहा हो गया किन्तु उनके हृदय ने कभी भी किसी को यह अनुभव नहीं होने दिया कि राजगृह असहाय है, अनाश्रित है।

भगवान् बुद्ध ने सुना तो वे गदगद हो उठे। जिनके दर्शनों के लिये जन-समुदाय सागर की तरह लहरा उठता वही आज स्वयं ही अर्धवसु के दर्शनों के लिये चल पड़े।

तिर्यग ने पुकारा ! आर्य श्रेष्ठ ! उठिये ! तथागत आज आपके द्वार पर आये हैं। अर्धवसु ने आँखें खोलीं उन्होंने इतना भर देखा कि दैदीप्यमान सूर्य उनके सम्मुख उपस्थित है और उनकी आत्मा उसमें समाती चली जा रही है—तथागत की आँखें भर आयीं— उनके मुँह से इतना ही निकला— अर्धवसु तुम सच्चे अर्थों में अपरिग्रही थे, तुम्हारे त्याग ने आज सारे राजगृह की रक्षा कर ली। इसी सन्तोष भरे आनन्द में अर्धवसु की आत्मा शून्य में विलीन हो गई।

प्राप्तः को भवता गुणः

कुछ लोग विभूतियाँ पाकर फलों से आच्छादित डाल के समान विनम्र होते हैं तो कुछ लोगों को वैभव ही उन्मत्त और मदान्ध बना देता है। बात उन दिनों की है जब बोधिसत्त्व वानराधिपति के रूप में उत्तराखण्ड के एक रम्य वन क्षेत्र में रह रहे थे और उत्तरांचल के सम्राट थे भूरिगा। सिंहासन पर आसीन होने के बाद से अब तक प्रजा के शोषण, उत्पीड़न, युद्ध और क्रम-पिपासा की तृप्ति के अतिरिक्त उन्होंने सृष्टि में कहीं सत्य, न्याय, विवेक, करुणा भी होती है, इसे जाना तक नहीं। समीपवर्ती सेवक वर्ग और अन्तःपुर तक उनसे धर-धर काँपता था। इस प्रकार भूरिगा उपर्युक्त दो वर्गों में से दूसरी कोटि के व्यक्ति थे।

शीतकाल प्रारम्भ हो चुका था। एक दिन भूरिगा मध्याह्न में हेमा नदी की धवल लहरों में अपनी रमणियों सहित जल-क्रीड़ा में व्यस्त थे। तभी जलप्रवाह के साथ बहता हुआ एक ऐसा न्यग्रोध फल आया, जिसकी मादक सुगन्ध ने सबको स्तम्भित कर दिया। कामिनीयों ने फल को पकड़ा तो उनकी स्थिति बीन की मधुर ध्वनि सुनकर सम्मोहित हुए सर्प जैसी हो गई। भूरिगा ने स्वयं आगे बढ़कर फल झपट लिया और तट पर आकर ही उसका रसास्वादन करने लगा। फल न केवल गन्ध से अपितु स्वाद में भी अप्रतिम था। वैसे फल चखने के लिए सम्राट बुरी तरह आतुर हो उठा।

देर तक जल में मड़े फल की गन्ध दूषित हो जाती है जबकि इस फल की गन्ध यह बताती थी कि वह कुछ ही दूर से बहकर आ रहा है। यह विचार आते ही भूरिगा ने सैन्य दल को प्रस्थान का आदेश देकर स्वयं भी उस वृक्ष को ढूँढ़ निकालने की उत्कण्ठा में चल पड़े। उनकी दृष्टि में यह फल चिरयौवन प्रदान करने वाला था। क्रमुक की आकांक्षा इसके अतिरिक्त और क्या हो सकती थी।

कुछ ही देर की यात्रा के बाद वृक्ष का ठिकाना मिल गया। हेम कल्प पर्वत की उपत्यिका में खड़े इस वृक्ष में पीत वर्ण के सुन्दर फल गुँथे हुए थे। यह दृश्य वैसे ही बड़ा मनोरम लगता था, उस

पर उसकी सुगन्ध से तो सम्पूर्ण वातावरण में ही मादकता फूटी पड़ रही थी। इससे भी बड़ा विस्मय यह था कि सारा वृक्ष वानरों से भी उसी तरह लदा था। कपिसमुदाय को अपनी तृष्णा-पूर्ति में बाधक देखकर भूरिगा क्रोध में जल गए, यह तृष्णा है ही ऐसी पिशाचिनी कि अपनों को ही शत्रु बना देती है फिर यह तो प्राणी ही और जाति के थे। राजा के मुँह से आज्ञा होने की देर थी सैन्य दल ने पत्थरों, बछ्छों और तीरों की मार की झड़ी लगा दी। वानर दल बुरी तरह क्षत-विक्षत हो चला।

एक ओर नदी, दूसरी ओर से सेना द्वारा बन्द किया आवागमन। वानराधीश ने तीसरी ओर पर्वतीय शिखर की ओर देखा तो वहाँ से छलांग लगाकर पार जाना मृत्यु के मुख में जाने के समान लगा। इधर बन्धु-बान्धवों का विनाश देखकर उनकी आँखें छलक उठीं। शरीर की समस्त शक्ति झोंककर कपीश ने पर्वत शिखर तो पा लिया, पर उनकी देह का समस्त अस्थि समुदाय चरमरा गया। उन्होंने बेंत की लम्बी शाखाएँ तोड़ीं, उन्हें अपने पैरों से मजबूती से पकड़ा और दूसरी छलांग लगाकर पुनः वृक्ष की डाली को जा पकड़ा। डाल हाथ में आते ही अपने वानर समुदाय को उन्होंने आज्ञा दी— सब लोग इस तरह बनाये बेंत के पुल को पकड़कर पर्वत शिखर की ओर कूद कर भागें और अपने प्राणों की रक्षा करें। वानरों ने ऐसा ही किया। बेंतों का बोझ, वानरों के पंजों से लथपत होती देह उधर नृप भूरिगा के सैनिकों द्वारा निरन्तर शस्त्र प्रहार से उनकी देह क्षत-विक्षत हो गई, किन्तु अपनी सम्पूर्ण प्रजा के बचकर निकल जाने तक उन्होंने मरणासन्न होकर भी डाल नहीं छोड़ी तो फिर नहीं ही छोड़ी।

प्रजा संकट से पार हो गई। वानराधिपति की चेतना विलुप्त हो चली, आहत शरीर वे भूमि पर आ गिरे। अब तक नृप भूरिगा अत्यधिक कौतूहलपूर्ण दृष्टि से सारा दृश्य देख रहे थे। अब वे वानरों के नृप के समीप जाकर बोले—

**परिभूयात्मनः सौख्यं परव्यसनपापतत् ।
इत्यात्मनि समारोप्य प्राप्तः को भवतागुणः ॥**

हे वानर ! अपने सुख की अवहेलना कर स्वजातियों पर आई विपत्ति अपने ऊपर लेकर तुमने कौन-सा लाभ प्राप्त कर लिया ? वानराधीश ने उत्तर दिया—

**एभिर्मदाज्ञा प्रतिपत्ति दक्षै रारोपितो—
पय्यधिपत्वभारः ।**

पुत्रेचिवैतेष्व व बद्धहार्दस्तं—

वोदुमेबाह्वयमिप्रपत्रः ॥

हे राजन् ! इन वानरों ने मुझे अपना अधिपति बनाया। वह दायित्व मुझ पर डाला और मेरी आज्ञापालन में तत्पर रहे। इस प्रकार ये मेरे पुत्रवत् हुए। उस पुत्रवत् स्नेह के कारण ही मैंने ऐसा आचरण किया। यानी अपने कर्तव्य का पालन कर पिता के समान इनकी रक्षा की।

राजा भूरिगा सम्राट था, शासक था। तर्क-निपुण तो वह था ही। उसने मूर्छित से हो चले महाकपि से तर्क किया—

“अधिपार्थिवमात्यादि, न तदर्थं महीपतिः ।
इति कस्मात्स्वभृत्यार्थमात्मानं त्यक्तवान् भवान् ।”

“हे वानर राज ! अमात्य एवं सभी अधीन लोग अधिपति के लिए हैं न कि अधिपति इन अधीनस्थों के लिए । तब भला अपने अधीन अनुचरों के लिए आपने स्वयं को ही क्यों न्योछावर कर दिया ?”

कानरयोनि धारी बोधिसत्त्व ने हँसकर कहा—

अकारि तेषां चिरमाधिपत्यं,
तेषां मयार्तिर्विनिवर्तितेति ।
ऐश्वर्यलब्धस्य सुख क्रमस्य,
सम्प्राप्तमानुष्यमिदं मयाह ॥

हे राजन् ! मैं चिरकाल तक जिनका अधिपति रहा, उनके सुख की वृद्धि और दुःख की समाप्ति का दायित्व भी अधिपति होने के नाते मुझ पर ही तो है । इसीलिए मैं उनके दुःख दूर करने के लिए अपने को न्योछावर करने को उद्यत हुआ ।

ये वानर सदा मेरे अधीन रहे । मेरा आदेश प्राणपण से पालन करते रहे । सदा मेरा मुँह जोहते रहे । मुझ पर भक्ति रखते रहे । इस प्रकार आदर, सत्कार, भक्ति और आज्ञा पालन द्वारा ये सदा मुझे सुख देते रहे । उस सुख का मुझ पर ऋण था । जिन्होंने इतना सुख दिया, सम्मान दिया, उनके प्रति अपने ऋण से मैं आज ही तो मुक्त हो सका हूँ ।

“युग्मं बलं जानपदानमात्यान्
पौराननाथाः प्रमृगणान् द्विजातीन् ।
सर्वान् सुखेन प्रयतेत् योक्तुं,
हितानुकूलेन व पिते राजा ।”

हे राजन् ! नृप अपनी प्रजा का, सैनिकों का, पशुओं का, देश के सभी नागरिकों का पिता होता है । वह श्रेष्ठ लोगों, साधु, ब्रमणों, अनाथों, असहायों एवं सर्व-साधारण को ऐसा सुख पहुँचावे, जो उनका कल्याण करने वाला हो, अकल्याणकारक नहीं । यह पिता जैसे अधिपति का कर्तव्य है । सन्तान जैसी प्रजा के ऊपर सदा करुणा, स्नेह एवं मंगल का भाव रखने वाला अधिपति ही श्री-सम्पन्न होता है ।”

वानराधिपति के ऐसे भावनापूर्ण तर्क-संगत उदारशय उत्तर से नृप भूरिगा की प्रसुप्त सन्वेदना जाग्रत हो उठी । उन्हें अधिपति के रूप में अपने गुरुतर दायित्वों का बोध हुआ । प्रजा के प्रति उन्हें करुणा, वात्सल्य की नयी दृष्टि मिली । उत्सर्ग का लाभ उन्हें समझ में आ गया । बोधिसत्त्व महाकवि प्रफुल्लित से वह क्षत-विक्षत शरीर छोड़कर स्वर्ग चले गये ।

करुणा ही सबसे बड़ी शक्ति है

श्रावस्ती में अनावृष्टि के कारण भीषण अकाल की छाया मँडरा रही थी । स्थान-स्थान पर सूखी देह वाले, क्षुधा से त्रस्त नर-ककाल

दुर्देव के ग्रास-बन रहे थे । लोग मरने लगे । भूख से तड़पते जर्जर नागरिकों में इतनी भी शक्ति नहीं रह पायी थी कि वे मृत देहों को उनके स्थान से हटा सकें, अन्त्येष्टि करवा सकें ।

भगवान् बुद्ध अपनी शिष्य मण्डली के साथ उन दिनों उसी क्षेत्र में विहार कर रहे थे । श्रावस्ती नगरी के समाचार सुनकर उन्होंने दुःखी और संतप्त मनुष्यों की सेवा सबसे बड़ा धर्म समझा और वहाँ गए ।

नगर के बड़े-बड़े धनपति कुबेरों ने तथागत के दर्शन और उपदेश श्रवण के पुण्य लाभ-लोभ से एक धर्म-सभा अयोजित की । भगवान् ने सुन रखा था कि इन घनाद्यों पर इस दुःस्थिति का तनिक भी असर नहीं हुआ है । भूख से तड़पती और बिलखती अपने ही समान अन्य दूसरी मानव आत्माओं की वेदना और पुकार से भी धनी पुरुषों का कठोर हृदय रंच मात्र भी नहीं पसीजा है ।

धर्म-सभा को सम्बोधित करते हुए बुद्ध ने यही निरूपित किया कि— मनुष्य की सेवा ही सबसे बड़ा आवश्यक धर्म तथा कर्तव्य है । पड़ोसी जब तक भूखा है तब तक हमारा कोई भी पुण्य आयोजन सफल और सार्थक नहीं हो सकता । भगवान् बुद्ध ने कुछ रुक-रुककर फिर कहा— क्या आप लोगों में ऐसे कोई साहसी व्यक्ति हैं जो इन भूखे व्यक्तियों के लिए भोजन जुटा सकें ।

उनकी मर्मस्थल को छूने वाली वाणी से दुःखी और संतप्त अकाल और क्षुधात्रस्त लोगों को आशा की एक किरण दीख पड़ी । लगा अब कोई उठेगा और अपना सर्वस्व दरिद्र नारायण के चरणों में न्योछावर कर देगा ।

उधर धनी और अभिजात कुल के लोगों में भी कुछ सेवा-सहायता की कसक पैदा हुई परन्तु धन और सम्पदा की अत्यधिक आसक्ति मानवीय आत्मा की प्रेरणा पर हावी हो रही थी । इतने में ही एक पराजित व्यक्ति ने उठकर कहा— महाराज मेरे पास पैसा तो है परन्तु पैसे से क्या होगा जब कि हमें दुर्भाग्य का अनावृष्टि के रूप में सामना करना पड़ रहा है । आपकी प्रेरणा ने हमारे अन्तर्मन को जगा दिया है । परन्तु हम लोग कुछ भी कर सकने से विवश हैं ।

दूसरे धनपति ने उठकर कहा— इस वर्ष तो पानी ही नहीं बरसा, इसीलिए तो खेतों से इतनी उपज भी नहीं हुई कि राज्य का भूमिकर चुका सकूँ ।

एक सेठ ने उठकर कहा— ‘इतने व्यक्तियों को खिलाने की व्यवस्था की जाये तो मेरी सम्पत्ति कम पड़ेगी ।

भगवान् बुद्ध को बड़ा आश्चर्य हुआ । सभी ने अपनी सम्पत्ति का उचित सदुपयोग करने से बचाने का कोई न कोई बहाना ढूँढ़ निकाला था । इस प्रकार साधन-सम्पन्न व्यक्ति ही अपनी कुत्रिम असमर्थता व्यक्त करने लगे तो समस्या का कोई निदान नहीं निकाला जा सकता । वह गम्भीर विचारमुद्रा में लीन हो गये ।

वहीं एक भिखारी की कन्या सुप्रिया बैठी हुई थी । वह उठ खड़ी हुई बोली— ‘भगवन् ! अपनी शक्ति के अनुसार भूखे लोगों को भोजन देने का उत्तरदायित्व मैं लेती हूँ ।’

सब लोग आश्चर्य दृष्टि से उस जीर्णवसना भिखारिन की ओर देखने लगे । पूछा— ‘सुप्रिया ! इस गुरुतर कर्तव्य का निर्वाह कैसे कर सकोगी ?’

‘मेरी सम्पत्ति और धन-धान्य का भण्डार समृद्ध और श्री-सम्पन्न लोगों के घरों में है। इनसे ही माँगकर लाऊँगी और अकाल पीड़ितों को खिलाऊँगी।’—सुप्रिया का उत्तर था।

भगवान् बुद्ध ने सजल नेत्रों से सुप्रिया की ओर देखते हुए कहा—गण श्रेष्ठो। करुणा ही सबसे बड़ी शक्ति है। करुणा और प्रेम से आप्लावित हृदय वाले मनस्वी शूरों के लिए परिस्थितियाँ या सामर्थ्यहीनता से सेवा साधना में कोई बाधा नहीं बन सकती।

सिद्धिश्च सोपानः

घर-बार और राज-परिवार छोड़कर सिद्धार्थ ने सत्य की खोज में स्वयं को समर्पित किया तो स्वाभाविक ही था कि अनेकों कष्ट, कठिनाइयों से मुक्तबला पड़ा हो। राजसी सुविधाओं के अभ्यस्त सिद्धार्थ के लिए अरण्यवास वैसे ही असुविधाजनक रहा था और फिर ऊपर से कठिन तितिक्षा, साधनायें और कठोर व्रत-उपवास। भोजन की मात्रा घटाते-घटाते एकदम निराहार रहने लगे, वस्त्र इतने कम हो गये कि दिशायें ही वस्त्र बन गयीं फिर भी प्रातःकाल दूर ही रहा। तो लगा कि मन की शान्ति ही मृगतृष्णा है। संसार असार तो है ही परन्तु सत्य भी यही है। जिस धैर्य का सम्बल पकड़ कर वे साधना समर में उतरे थे वह जवाब देने लगा और इस भ्रम से स्वयं को निकालने के लिए उठने लगे बुद्ध। घर वापस लौटने की तैयारी करने लगे।

जब वे घर की ओर लौट रहे थे तो रास्ते में एक ठण्डे जल की झील आयी। ‘झील’ के किनारे खड़े होकर वे उसे देखने लगे। उनकी दृष्टि एक गिलहरी पर पड़ी जो बार-बार झील में डुबकी लगाती, बाहर आती, रेत में लोटती और पुनः झील में डुबकी लगाने के लिए दौड़ पड़ती। बुद्ध को बड़ा आश्चर्य हुआ। देर तक वे उसे देखते रहे जब गिलहरी की क्रिया में कोई अन्तर नहीं आया तो आखिर वे पूछ ही बैठे—‘नहीं गिलहरी यह क्या कर रही हो तुम।’

‘इस झील ने मेरे बच्चों को खा लिया है अब मैं इसे खाली करके ही रहूँगी।’

हँसी आ गयी सिद्धार्थ को—‘तो क्या तुम सोचती हो कि तुम्हारी पूँछ को पानी में डुबोने से इतनी बड़ी झील खाली हो जायेगी।’

‘यह तो मैं नहीं सोचती परन्तु जब तक झील खाली न हो जाये तब तक ऐसा ही करती रहूँगी।’

‘भला बताओ तो अनुमानतः यह कितने समय में हो सकेगा।’

‘इसका अनुमान लगाने का मेरे पास समय नहीं है।’

‘इस जन्म में तो सम्भव नहीं है।’

‘मले ही न हो। मेरा सारा जीवन ही इसमें लग जाय परन्तु इतना तो निश्चित है कि इस प्रकार चुल्लू-चुल्लू भर पानी निकालकर मैं अपना काम तो पूरा करने की ओर बढ़ती ही रहूँगी।’ और गिलहरी यह कहकर अपने काम में पुनः लग गयी कि—‘मेरे पास बातें करने का समय नहीं है, मुझे काम करने दो।’

गिलहरी की इन बातों को सिद्धार्थ ने कानों से तो कम हृदय से ही अधिक सुना और उनका खोया हुआ आत्म-विश्वास पुनः लौट आया। उनकी अन्तःचेतना से यह आवाज आयी कि—यह नहीं-

सी गिलहरी भी अपनी सामर्थ्य, समय और क्षमता का विचार किये बिना आजीवन इस बोझिल कार्य को पूरा करने के लिए सन्नद्ध है तो मैं ही क्यों इतनी जल्दी हार मान लूँ जबकि मेरा लक्ष्य तो सुनिश्चित है और उसके पथ पर भी काफ़ी हद तक बढ़ चुका हूँ। उन्होंने बीच में ही अपना इरादा बदल दिया और खोया हुआ धैर्य पुनः जुटाकर तपःस्थली की ओर लौट गये।

बुद्ध यह निश्चय कर लौटे कि—जब तक मैं अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं कर लूँगा तब तक कोई बात मन में नहीं लाऊँगा, नहीं कोई निर्णय लूँगा, अपने मार्ग के सम्बन्ध में। इस गिलहरी ने मेरे जीवन का एक नया अध्याय खोल दिया है। यह मेरी गुरु है और सफलता के लिए अन्तिम साँस तक प्रयत्न करूँगा।

सिद्धार्थ फिर ध्यानावस्थित हो गये और उस समय तक साधना में लगे रहे जब तक उन्हें निर्वाण प्राप्त नहीं हो गया।

चमत्कार अध्यात्म नहीं है

एक राजा को बड़े-चढ़े सिद्ध पुरुष की खोज थी। उसके मिल जाने पर वह उसका शिष्य बन जाता और सिद्ध की क्रामाती से—प्रकरणान्तर से—अनेकों लाभ उठाते रहने की उसकी योजना थी। सिद्ध की पहचान कैसे हो? इसके लिए चमत्कार प्रदर्शन कर सकना ही आम लोगों की कसौटी है। राजा ने भी परख का वही माध्यम अपनाया।

एक बहुत ऊँचा बाँस मैदान में गाड़ा गया। उसके ऊपर एक सोने का कमण्डल लटकवाया गया। घोषणा की गई कि जो कोई इस बाँस पर चढ़कर स्वर्ण का कमण्डल उतार लायेगा, उसे कमण्डल के अतिरिक्त और भी बड़ा पुरस्कार मिलेगा। राजा उसका शिष्य बनेगा। प्रजा भी राजगुरु को ही अपना गुरु मानेगी। सिद्ध पुरुष को राजघराने में ही महल मिलेगा और उसकी सारी आवश्यकताएँ राज-कोष से ही पूरी होती रहेंगी।

लालच बढ़ा था, पर परीक्षा भी कठिन थी। अनेक सन्त, विद्वान् आये। पर इतनी कठिन परीक्षा में उत्तीर्ण होने का कोई साहस न कर सका।

बहुत दिन बाद एक दुर्बल-सा बौद्ध भिक्षु आया। उसने चुनौती स्वीकार कर ली। खुले मैदान में राज-दरबार लगा। हजारों की संख्या में दर्शक उपस्थित हुए।

भिक्षु आसानी से बाँस पर चढ़ता चला गया। उसने ऊपर पहुँचकर आसानी से बाँधा कमण्डल खोला और उसी क्रम से नीचे वापस आया। राजा समेत सभी दर्शकों ने जय-जयकार किया। राजगुरु के रूप में उसका वरण किया गया। सारी प्रजा भी उसकी शिष्य बन गयी।

यह सब प्राप्त करने के उपरान्त भिक्षु का मन आया कि भगवान् बुद्ध के पास जैतवन चलना चाहिए। तथागत को तथा अपने सभी गुरु भाइयों को अपनी विशिष्टता का परिचय देना चाहिए—सभी को अपनी महिमा से परिचित करा दिया जाय। राजा ने सवारी और शैवकों का प्रबन्ध कर दिया। रास्ता पार करते हुए वह अपने गुरुधाम जा पहुँचा।

तथागत ने समाचार सुना तो वे बड़े सोच में पड़ गये। दूसरे दिन सभी भिक्षुओं को गोष्ठी में एकत्रित किया। तथागत ने उस राजगुरु भिक्षु का उदास मन से विवरण सुनाया। साथ ही यह भी कहा “वह भिक्षु बनने से पहले नट था। बाँस पर चढ़ने की कला इसे पहले से ही आती थी। इसने इसी आधार पर बाँस पर चढ़कर सिद्धाई जताई। यदि ऐसा ही होता रहा तो सभी नट, बाजीगर सिद्ध पुरुष बन जायेंगे और अपनी धूर्तता से धर्म के नाम पर स्वार्थ साधन करेंगे।”

उन्होंने सभी शिष्यों को आगाह किया कि उनमें से कोई ऐसी प्रवचना न करे। छल-माध्यम अपनाकर धर्म प्रचार का आडम्बर न करे।

स्वर्ण कमण्डल को सबके सामने तोड़ा गया और उन टुकड़ों को नदी में बहा देने का आदेश दिया गया। साथ ही यह भी कहा गया कि बुद्ध संघ का कोई सदस्य न तो चमत्कार दिखाये, न सिद्ध बन कर किसी की मनोकामना पूर्ण करे। उसका कर्तव्य तो धर्म-चक्र प्रवर्तन भर है जो आत्म-शुद्धि के लिए की गई तप-साधना से ही बन पड़ता है।

अन्तिम उपदेश

“भिक्षु प्रवर ! मैं भगवान् बुद्ध से अपनी शंकराओं के समाधान हेतु सुप्पारक तीर्थ से पैदल चलकर आ रहा हूँ। क्या आप बता सकेंगे कि उनके दर्शन मुझे कहाँ होंगे ?” — वाहिय ने जैतवन पहुँच कर एक भिक्षु से पूछा।

भगवन् ! भिक्षा प्राप्ति हेतु जनपद में पधारे हैं। उनके लौटने तक आप विग्राम करें। दूर से पैदल चल कर आये हैं, थक भी गये होंगे।” भिक्षु ने कहा।

वाहिय सुप्पारक क्षेत्र के घनी और सम्मान प्राप्त व्यक्ति थे। त्याग, संयम और अपरिग्रह जैसे गुण उनकी साधना के प्रमुख आधार थे। वहाँ की साधना के पश्चात् उनका अन्तःकरण निर्मल और पवित्र हो चुका था। आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना उनके रोम-रोम में व्याप्त थी। वह दूसरे के दुःख को अपना दुःख मानकर उसे दूर करने का यथाशक्ति प्रयास करते रहते थे।

वाहिय की तीव्रतम जिज्ञासा ने उन्हें वहाँ विग्राम न करने दिया। वह धके-माँदे तथागत के दर्शन हेतु गाँव की ओर चल पड़े। उन्होंने गाँव में जाकर देखा भगवान् बुद्ध एक साधारण परिवार के दरवाजे पर भिक्षा पात्र लिए हुये खड़े हैं। शायद गृहणी अन्दर से भिक्षा देने हेतु खाद्य सामग्री लेकर आ रही है। बस इतनी-सी देर थी। तब तक वाहिय उनके पास पहुँच गये और उनकी चरण वन्दना कर हाथ जोड़ एक ओर खड़े हो गये। ‘भगवन् ! आप मुझे ऐसा उपदेश दीजिये जिससे अक्षय सुख के मार्ग पर आगे बढ़ सकूँ।’

“यह समय उपदेश का नहीं। मैं अभी भिक्षा लेकर जैतवन चल रहा हूँ। वहीं तुम्हारी जिज्ञासा का समाधान करूँगा।”

पर भगवन् ! जीवन कितना क्षणभंगुर है। कदली-पत्र पर अटके जलबिन्दु के समान यह हवा के तीव्र झोंके से कब झर पड़े। कौन कंठ सकता है। गई हुई साँस पुनः लौटेगी ही— इसका निश्चय नहीं

है। वाहिय ने बड़ी नम्रता के साथ आग्रहपूर्वक कहा ‘अतः इसी क्षण को उपदेश के उपयुक्त मानकर मुझ पर कृपा कीजिए।’

तथागत ने अपनी बात को दुहराया— तुम देख नहीं रहे। मैं भिक्षा की आशा में गृहस्थ के द्वार पर खड़ा हूँ। यह समय और स्थान उपदेश के उपयुक्त नहीं है।

वाहिय के लिए यह विलम्ब असह्य था। अपने जीवन का एक-एक क्षण मूल्यवान् सम्पदा की तरह व्यय करने वाला जिज्ञासु बेचैन हो उठा। उसने बड़े कातर स्वर में अपनी बात कही— भगवन् ! मेरा तो विश्वास यह है कि जिज्ञासु के मन में जिस क्षण जिज्ञासा हो, उसके समाधान का वही उपयुक्त समय है। संसार के अन्य कार्य तो सहज रूप से चलते ही रहते हैं।

तथागत वाहिय की जिज्ञासा को टटोल रहे थे। वह पात्रत्व की परख कर रहे थे। वह सोचने लगे कृपण की तरह अपने जीवन के एक-एक क्षण का लोक-मंगल के लिए उपयोग करने वाले वाहिय के समय को नष्ट करना उचित नहीं। उन्होंने कहा— ‘तुम ठीक कहते हो।’ और तथागत ने अक्षय सुख की प्राप्ति का उपदेश उसी क्षण वाहिय को देकर विदा किया।

भगवान् बुद्ध भी भिक्षा प्राप्त कर जैतवन की ओर लौट पड़े। थोड़ी ही दूर चले होंगे कि एक भिक्षु ने दौड़ते हुये आकर समाचार दिया— ‘भगवन् ! जो जिज्ञासु अभी-अभी आपसे उपदेश लेकर गया था। उसे एक साँड़ ने सींगों पर उठाकर ऐसा फेंका कि जीवन-लीला ही समाप्त हो गयी। उसका शरीर निष्पाण पड़ा है।’

‘यह तुम्हारा गुरु भाई है, पूर्ण सम्मान के साथ इसका अन्तिम संस्कार करो। यदि मैं भिक्षा के समय ही इसकी जिज्ञासा का समाधान न करता तो वह अपूर्ण इच्छा इसके साथ ही चली जाती।’

सौ प्यारे को सौ दुःख

भगवान् बुद्ध ने आमन्त्रण स्वीकार कर लिया था। श्रावस्ती की विशाखा मृगार माता के लिये यह बड़े हर्ष की बात थी। उसके पास धन-सम्पत्ति, वैभव-विलास का कोई अभाव था नहीं। पुत्र-पौत्र भी खूब फल-फूल रहे थे तथागत के स्वागत के लिये उसने अपने पूर्वाराम प्रासाद को खूब अच्छी तरह सजाया और भगवान् को उसी में विग्राम दिया।

परमात्मा की रचना बड़ी विलक्षण है। वह कब क्या कर दे— कुछ ठिकाना नहीं। भगवान् बुद्ध जिस दिन श्रावस्ती पधारे उसी रात विशाखा के पौत्र धीरज का देहांत हो गया। पौत्र के निधन से विशाखा इस तरह व्याकुल होकर रुदन करने लगी जैसे मरुस्थल में डाल दी गई मत्स्या।

प्रातःकाल हुआ। शिशु का शव दाह कर दिया गया। अब तक बह रहा आवेग शोक-निर्झर अब पर्वतीय अंचल से उतर कर मैदान में बहने वाली नदी की तरह धीरे, शांत और गम्भीर हो चला था। विशाखा उस समय भी अस्त-व्यस्त शरीर, वस्त्र और बाल भिगोये उस सभा-भवन में जा बैठी जहाँ भगवान् बुद्ध दर्शनार्थियों को आत्म-कल्याण का उपदेश कर रहे थे।

इस मुद्रा और वेष-भूषा में देखकर भगवान् बुद्ध ने पूछा— “विशाखे ! मध्याह्न हो चुका, अब तक तूने वस्त्र और बाल भी नहीं सुखाये ।”

आहत स्वर में विशाखा ने उत्तर दिया— “हाँ भगवन् ! मेरे पौत्र का निधन हो गया है । वह वेदना मेरे हृदय का उच्छेदन कर रही है ।” कहकर वह फिर सुबक-सुबक कर रुदन करने लगी ।

भगवान् बुद्ध ने बहुत धीरज दिया, फिर भी वह चुप न हुई । तब उन्होंने कहा— “अच्छ विशाखा ! बोल यदि तेरा नाती तुझे मिल जाये तो तू खुश हो जायेगी ।”

“हाँ ! हाँ !! भगवान् तब तो मेरी प्रसन्नता का पारावार ही नहीं रहेगा ।” विशाखा ने विस्मय के साथ उत्तर दिया ।

“अच्छ तो तुझे कितने पौत्र चाहिए ? एक, दो, दस, सौ या जितनी श्रावस्ती की जनसंख्या है ।” भगवान् बुद्ध ने किञ्चित् विनोदपूर्वक प्रश्न किया ।

उसका उत्तर देते हुए मृगारमाता ने कहा— “भगवन् ! जितने अधिक दे सकते हों दें, मेरी प्रसन्नता उतनी ही बढ़ेगी ।”

तब फिर बुद्ध भगवान् ने प्रश्न किया— “अच्छ, यह मान ले कि इस नगर के सभी लोग तेरे ही पुत्र-पौत्र हैं । अब यह बता यहाँ प्रतिदिन कितने लोग मरते होंगे ?”

“निश्चित तो नहीं, पर कभी दस भी मरते हैं कभी चार-छः, तीन और दो भी । कोई महामारी आ जाती है तो सौ-दो सौ भी मर जाते हैं— यह मृगारमाता का उत्तर था ।

अब तू ही बता विशाखा ! भगवान् बुद्ध ने हँसते हुए पूछा— “एक पौत्र के निधन से तो तू इतनी दुःखी है यदि तेरे हजार पौत्र हो जायें तो प्रतिदिन कितने मरेंगे और तब तू कितनी दुःखी होगी । यह तो उनकी मृत्यु का ही दुःख होगा । उनके पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा में कितना कष्ट उठाना पड़ेगा । सेवा का ही सुख चाहिए तो सारा संसार पड़ा है सबकी सेवा कर, आसक्ति से तो दुःख ही बढ़ेगा ?”

मृगारमाता की समझ में बात आ गई । उसने अपना दुःख भुला दिया और संसार की सेवा में जुट गई ।

कर्मयोगी—अनासक्ति

जिन दिनों भगवान् बुद्ध श्रावस्ती के जैतवन में विचरण कर रहे थे, उन्ही दिनों सुप्पारक तीर्थ में साधु वाहिय दारूचीरिय पर लोगों की श्रद्धा और सम्मान के सुमन चढ़ रहे थे । दारूचीरिय वासना पर विजय पा चुके थे । धन से कोई मोह नहीं रहा था, पर सम्मान को पचा सकना उन्हें भी कठिन हो गया । लोकेषणा को प्रबलतम ऐषणा मानना वस्तुतः शास्त्रकारों की सूक्ष्म-दृष्टि का ही परिचायक है । मान और अपमान में समान भाव रख पाना सचमुच बहुत दुष्कर है, उसे कोई विरला योगी ही सिद्ध कर सकता है ।

दारूचीरिय जहाँ भी जाते, लोग उनके चरणों पर धन, सम्पत्ति, वस्त्र, उपादानों के ढेर लगा देते । यह देखकर उनके मन में वितर्क उठा— अब मेरा योग सिद्ध हो गया और मैं स्वर्ग एवं मुक्ति का अधिकारी हो गया ।

इस प्रकार का अहंकार लिये जब वह आश्रम लौटे, वृद्ध गुरु के तीक्ष्ण-वीक्षण से उनका यह अहंभाव छिपा नहीं रह सका । दारूचीरिय को पास बुलाकर उन्होंने कहा— वत्स ! जाओ, समिधायें ले आओ । प्रातःकाल के यज्ञ की तैयारी कर दें ।

दारूचीरिय ने उपेक्षा की और कहा— भगवन्, अब मुझे कर्म करने की आवश्यकता नहीं रही । मैं अर्हत् मार्ग पर आरूढ़ हो चुका हूँ ।

यह तो बड़ी प्रसन्नता की बात है— गुरु ने स्नेहमीलित स्वर में कहा और पूछा— तात ! आप गौतम बुद्ध को तो जानते हैं ?

हाँ-हाँ महात्मन् ! मैं उन्हें अच्छी तरह जानता हूँ । वे इन दिनों जैतवन में परिव्राजक हैं । उन्होंने भी अर्हत् मार्ग सिद्ध कर लिया है । मुझे इस बात का पता है ।

‘तब तो आप एक बार उनके दर्शन अवश्य कर आयें’ तपस्वी ने धीरे से कहा— सम्भव है उनके सामीप्य से आपके ज्ञान-चक्षु कोई नवीन प्रकाश प्राप्त कर लें ।

दारूचीरिय सुप्पारक से चल पड़े और थोड़े ही समय में श्रावस्ती जा पहुँचे । अनाथपिण्डक के जैतवन में पहुँचने पर बुद्ध तो नहीं मिले, पर वहाँ उनके अनेक शिष्य भिक्षुगण विचरण कर रहे थे । दारूचीरिय ने पूछा— आप लोग बता सकते हैं कि भगवान् बुद्ध कहाँ हैं ? इस पर एक भिक्षु ने बताया— महानुभाव ! वे भिक्षाटन के लिये श्रावस्ती गये हुए हैं । तृतीय पहर तक लौटेंगे । आप यहीं किन्नम करें ।

दारूचीरिय आश्चर्यचकित रह गया । इतने भिक्षुओं के होते हुए भी भगवान् बुद्ध को भिक्षाटन की क्या आवश्यकता पड़ी ? अभी चलकर देखता हूँ, बात क्या है ? यह सोचकर वे श्रावस्ती की ओर चल पड़े । एक सद्गृहस्थ के घर भीख माँगते हुए उनकी भेंट भगवान् बुद्ध से हो गई । दारूचीरिय ने देखा— उनके मन में न किसी प्रकार का हर्ष है, न शोक । विशुद्ध शांत मन से बैठे भगवान् बुद्ध को उन्होंने प्रणाम किया और कहा— भगवन् मुझे बन्धन-मुक्ति का उपदेश करें ।

बुद्ध बोले— अवुस ! यह उचित समय नहीं है । तुम जैतवन चलो, वहीं आकर बातचीत करेंगे ।

किन्तु दारूचीरिय ने वही बात फिर दुहराई— भगवन्, मुझे अनासक्ति का तत्त्वज्ञान समझायें । जब तक आप ऐसा नहीं करेंगे, मैं यहाँ से नहीं जाऊँगा ।

तब भगवान् बुद्ध बोले— तात ! जो एक बार में केवल एक ही कर्म में इतना तल्लीन हो जाता है कि उसकी दूसरी इन्द्रियों का भाव ही शेष नहीं रह जाता, ऐसा कर्मयोगी ही सच्चा अनासक्ति और अर्हत्-आरूढ़ है । जिसकी चित्तवृत्तियाँ एक ही समय में चारों ओर दौड़ती हैं, वही आसक्ति है एवं वही संसार के दुःखों में भ्रमण करता है ।

दारूचीरिय को तब अपनी भूल का पता चल गया । वे वहाँ से लौट पड़े । उनकी यह भाँति जाती रही और कर्म को पूर्ण तन्मयता तथा आत्म-साधना मानकर करने की शिक्षा लेकर लौटे । यही तो बन्धन-मुक्ति का राज-मार्ग था, सो उन्हें बुद्ध के क्रिया-योग का दर्शन कर स्वयमेव मिल गया ।

साधना की सफलता का सही मापदण्ड

तथागत उन दिनों श्रावस्ती विहार में थे। जैतवन की व्यवस्था अनाथ पिण्डक सम्भालते थे। दक्षिण क्षेत्र की प्रव्रज्या से लौटे दारुचीरिय वापस लौटे और बड़े विहार जैतवन में जा पहुँचे।

दारुचीरिय की भाव-भंगिमा और विधि-व्यवस्था वैसी नहीं रह गई थी, जैसी कि जाते समय उन्हें अभ्यास कराया गया था। वे जहाँ भी गये बुद्ध की गरिमा और उनकी प्रतिभा का सम्मिश्रण चमत्कार दिखाता रहा, सम्मान बरसा, धन बरसा, प्रशंसा हुई, आतिथ्य की कमी न रही।

पा लेना सरल है, पचा लेना कठिन। प्रतिष्ठा सबसे अधिक दुष्पाच्य है। उसे गरिष्ठ भोजन और विपुल वैभव की तुलना में आत्मसात् कर लेना और भी अधिक कठिन है। दारुचीरिय की स्थिति भी ऐसी ही हो रही थी। अपच उनकी मुखाकृति पर छाया हुआ था।

अनाथ पिण्डक ने पहले दिन तो आतिथ्य किया और दूसरे दिन हाथ में कुल्हाड़ी थमा दी—जंगल से ईधन काट लाने के लिए। सभी आश्रमवासियों को दैनिक जीवन को कठोर श्रम से संजोना पड़ता था। अपवाद या छूट मात्र रोगी या असमर्थ ही हो सकते थे।

दारुचीरिय इतना सम्मान पाकर लौटे थे। वे अपने को दूसरे अर्हन्त के रूप में प्रसिद्ध करते थे। कुल्हाड़ी उन्होंने एक कोने में रख दी। मुँह लटककर बैठ गये। श्रमिकों जैसा काम करना अब उन्हें भारी पड़ रहा था। यों आरम्भ के साधना काल में यह अनुशासन उन्हें कूट-कूट कर सिखाया गया था।

अनाथ पिण्डक उस दिन तो चुप रहे। दूसरे दिन कहा—अर्हन्त को तथागत के पास रहना चाहिए। यहाँ तो हम सभी श्रवण मात्र हैं।

दारुचीरिय चल पड़े और श्रावस्ती पहुँचे। विहार में तथागत उपस्थित न थे। वे भिक्षाटन के लिए स्वयं गये हुए थे। तीसरे प्रहर लौटने की बात सुनकर उनके अधीरता भी हुई और आश्चर्य भी। इतने बड़े संघ के अधिपति द्वार-द्वार भटकें और भिक्षाटन से मान घटावें। यह उचित कैसे समझा जाय ?

बेचैनी ने उन्हें प्रतीक्षा न करने दी और वहाँ पहुँचे जहाँ तथागत भिक्षाटन कर रहे थे। साथ ही मार्ग में पड़े उपले भी दूसरी झोली में रख रहे थे। ताकि आश्रम के चूल्हे में उनका उपयोग हो सके।

अभिवादन उपचार पूरा भी न हो पाया था कि मन की जानने वाले बुद्ध ने दारुचीरिय से कहा—अर्हन्त ही बनना हो तो प्रथम अहन्ता गलानी और छोटे श्रम में भी गरिमा प्रदान करनी चाहिए। इसके बिना पाखण्ड बढ़ेगा और सत्य पाने का मध्यान्तर बढ़ेगा।

दारुचीरिय का समाधान हो गया। अहन्ता गली और श्रवण व्रत फिर से निखर आया। तथागत ने इस प्रसंग को शाम को सत्संग में दुहराते हुए विहार में उपस्थित भिक्षुओं एवं अन्य भक्तों को बताया कि लोक-सेवी की वरिष्ठता की कसौटी विनम्रता पर निर्भर है। आप-वृक्ष जितना अधिक फलों से लदा होगा, उतना ही झुकेगा। विभूतियाँ पाकर साधक को भी झुकाना, स्वयं सेवी स्तर विकसित करना सीखना

चाहिए। इसके अभाव में तो प्राप्त सिद्धि भी दुष्पाच्य आहार के रूप में सड़े मल की भाँति निकलती एवं वातावरण दूषित करती, स्वास्थ्य बिगाड़ती है। समाज निर्माण मात्र विनम्र साधक ही कर सकते हैं। यदि लोकसेवी ही अहन्ता के मद में चूर बने रहे तो वे विषेयात्मक प्रगति तो दूर, अपने साथ सारे समुदाय को ले डूबेंगे। दारुचीरिय के साथ ही सबने इस तत्त्वदर्शन को समझा व लोक-सेवा के मर्म को—साधना के सही स्वरूप को—हृदयंगम किया।

विरक्ति विवेक पर आधारित हो

पक्षी चहक उठे, रथ के पहियों की गड़-गड़ाहट सुनकर वन के मोर चौक उठे। समूचे वन प्रान्त की भंग होती निस्तब्धता में ऐसा कुछ समाने लगा जो अनजाना था—अपरिचित था—सर्वथा नया था। आगे-पीछे अनुशासनबद्ध घुड़सवार सैनिकों से घिरी मगध की साम्राज्ञी महारानी क्षेमा पधारी थीं। भगवान् तथागत के चैत्य-विहार में महारानी का इस प्रकार अचानक आना ? आस-पास विचरण कर रहे जनों के मन इस प्रश्न का हल ढूँढ़ निकलने में खोने लगे।

पर महारानी जैसे इस फुस-फुसाहट-तरंगित वातावरण से अविचलित-सी थीं। वह धीरे-धीरे रथ से उतरिं। सैनिकों ने उनके सम्मान में गर्दनें झुका लीं। उन्होंने एक तीव्र किन्तु गम्भीर दृष्टि निक्षेप उन पर किया और बोलीं “अब तुम लोग जा सकते हो।” स्वर नेपथ्य से आता लगा। रथों की गड़गड़ाहट थोड़ी ही देर में दूर-दूर बहुत दूर क्षितिज में जाकर विलीन हो गई।

सान्ध्य वेला में क्षेमा ने तथागत के निजी आवास गृह में प्रवेश किया। वैराग्य से अभिभूत महारानी की मुखाकृति पर सात्विक आभा की चमक स्पष्ट थी। बुद्ध के चरणों में झुकते हुए उन्होंने कहा—“भगवन् ! अब तक मैं अन्धकार में भटकती रही। मुझे पता होता ईश्वरीय नियमों के सम्मुख राजा और प्रजा दोनों ही समान हैं। मृत्यु और आधिभौतिक कष्टों, परेशानियों के जाल-जंजाल से कोई भी नहीं बचता तो मेरा इतना जीवन व्यर्थ न गया होता। अब तक आत्मकल्याण के कई चरण पूरे कर लिए होते। प्रभु ! अब मुझे शिष्या बनाकर मेरे आत्मकल्याण का मार्ग प्रदर्शित करें।

भगवान् बुद्ध ने गम्भीर दृष्टि से क्षेमा की ओर देखा। एक क्षण कुछ अध्ययन किया। फिर कहा “भद्रे ! आत्मकल्याण के लिए साधना करने और गृह परित्याग से पहले यह जरूरी है कि जिन लोगों के प्रति अपने कर्तव्य हैं, उनकी पूर्ण स्वीकृति और सहमति प्राप्त की जाये। जब तक आप महाराज बिम्बसार से आज्ञा नहीं प्राप्त कर लेतीं, दीक्षा का अधिकार आपको नहीं है।”

क्षेमा पुनः एक बार मगध लौटीं। वे सीधे बिम्बसार के पास पहुँचीं। आभूषण रहित वेश और खुले हुए केश देखकर महाराज पहले ही समझ गए क्षेमा के मन में तीव्र आन्दोलन है। उन्होंने उठी हुई जिज्ञासा को रोकना उचित न समझा। महारानी के आग्रह पर उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी। वह पुनः भगवान् बुद्ध के पास लौट आयीं।

महारानी का धर्म पन्थ में प्रवेश राज्य की प्रजा के लिए कौतूहल और श्रद्धा का विषय बन गया था। हजारों की संख्या में नर-नारी एकत्रित होकर आश्रम पहुँचने और आत्मकल्याण की दीक्षा का आग्रह करने लगे। जब आश्रम में यह कोलाहल बढ़ता जा रहा था, तभी महारानी क्षेमा ने वहाँ प्रवेश किया।

भीड़ की ओर इशारा करते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा—क्षेमा ! देखो कितनी भीड़ तुम्हारा अनुकरण कर रही है जानती हो क्यों ? सामान्य जन के पास भी ऐसी ही भक्ति होती है, जैसी तुम्हारे हृदय में उमड़ रही है। किन्तु इनके पास न विचार होता है, न विवेक। इसलिए इनका वैराग्य दृढ़ नहीं। प्रबुद्ध व्यक्तियों के पद-चिह्नों का अनुसरण करने का नियम संसार में सभी जगह है। आज तक तुम्हारा वैभव विलास का जीवन रहा, उसका अनुकरण यह लोग करते रहे। खान-पान, रहन-सहन, व्यवहार-बर्ताव में इन्होंने वह सब बुराइयाँ पाल ली हैं, जो राजघरानों में होती हैं। इस स्थिति में इन्हें छोड़कर अकेले तुम्हें दीक्षा दी जा सकती है क्या ?”

“नहीं भगवन् !” क्षेमा ने संक्षिप्त उत्तर दिया। “तो फिर यह भी आवश्यक है कि इन सबमें भी उसी तरह का विचार-विवेक और वैराग्य जाग्रत हो, जिस तरह से तुम्हारे अन्तःकरण में उदित हुआ है। इसके लिए तुम्हें कुछ दिन इनके बीच रहकर इनके विकास की साधना करनी पड़ेगी। जब तुम यह दूसरा चरण भी पूरा कर लोगी, तब दीक्षा की पात्र बनोगी।”

क्षेमा उस दिन से जन-जन में ज्ञान-दान वितरण में जुट गई। कई वर्षों की समाज सेवा से जब उनका वैराग्य दृढ़ हो गया तब भगवान् बुद्ध ने दीक्षा दी और आत्मकल्याण की साधना में प्रवेश कराया।

तोड़ना आसान जोड़ना कठिन

निर्जन और सुनसान राह पर भगवान् बुद्ध सौम्य और शान्त मुद्रा में कदम-कदम आगे बढ़ रहे थे। मन्थर गति से गम्भीर और सौम्य शान्ति की दीप्ति बिखेरते हुए तथागत के साथ उनके अन्य शिष्य भी थे और सभी शिष्य उनके पीछे पंक्तिबद्ध होकर चल रहे थे। लक्ष्य था राजगृह। वहाँ पहुँचकर वहाँ के निवासियों को धर्म का उपदेश देना था। तभी राह में भेड़ों का एक झुण्ड निकला। झुण्ड के पीछे भेड़ों का मालिक गड़रिया चल रहा था।

गड़रिये के कन्धे पर एक भेड़ का बच्चा था जिसे वह उठाकर ले जा रहा था। शायद उसके शरीर में कोई पीड़ा रही होगी जिसके कारण वह चलने में असमर्थ है। यह सोचकर तथागत ने गड़रिये को रोका और पूछा उससे कि—तुम इस मेमने को कन्धे पर क्यों उठाये हुए हो।

गड़रिये ने साधु वेष में एक तेजस्वी पुरुष को अपने सामने देखा तो वह अनायास ही श्रद्धा से नत-मस्तक हो उठा और बोला—भगवन्, मेमने के पैर में चोट है। इसलिए इसे कन्धे पर रखना पड़ा है।

बुद्ध कातर हो उठे और उन्होंने मेमने के उस अंग पर हाथ रखा जहाँ कि गड़रिये ने चोट बतायी थी। करुणा और दया की प्रतिमूर्ति तथागत का स्पर्श पाकर उस मूक पशु को जैसे राहत मिली हो। उसने

आँखें मूँद लीं और चुपचाप मूँदी पलकों से दो-चार आँसू टपका दिये। भगवान् बुद्ध मेमने की यह स्थिति देखकर और भी दयादर्द्र हो गये।

तभी गड़रिये ने पूछा—भन्ते ! आपको इस अकेले मेमने के पैर की चोट से इतनी व्यथा है तो फिर थोड़ी देर बाद जब इन भेड़ों को एक साथ अग्नि में समर्पित किया जायेगा तो कितनी व्यथा होगी।

‘क्या कहा’—सदैव शान्त रहने वाले बुद्ध के मुख-मण्डल पर व्यग्रता आ गयी—‘क्या ये सब भेड़ें बलि चढ़ाने के लिए ही ले जायी जा रही हैं। कौन है वह अभागा जो इन निरीह निरपराध भेड़ों को बलि चढ़ाकर स्वर्ग प्राप्ति का सौभाग्य लूटना चाहता है।’

राजगृह का अधिपति अजातशत्रु। कहते हैं उसने अपने पिता का वध किया था। उसी पाप के प्रायश्चित्त स्वरूप वह यज्ञ रचाकर एक हजार पशुओं की बलि चढ़ाने जा रहा है—और जल्दी के कारण वह वहाँ से चल दिया।

भगवान् बुद्ध जब राज-भवन पहुँचे तो पाया कि गड़रिये ने जो कहा था वह सच है। राज-भवन के आँगन में स्त्री-पुरुषों की भीड़ लगी हुई थी। यज्ञ वेदी के चारों ओर बैठकर ब्राह्मण पुरोहित मन्त्रोच्चार कर रहे थे और अजातशत्रु पीत वस्त्र धारण कर यजमान के वेश में बैठे हुए थे। चारों ओर पशुओं की लम्बी कतारें लगी हुई थीं तथा उनके पास ही हाथ में गंगी तलवारें लिए वधिक खड़े थे।

तभी आयोजन स्थल पर तथागत ने पदार्पण किया। सारे सभास्थल में खलबली मच गयी। अजातशत्रु भी भगवान् की अभ्यर्थना हेतु अपने आसन से उठ खड़ा हुआ और बिना पूछे ही इस समारोह के सम्बन्ध में बताने लगा। सारी बातें सुनकर भगवान् बुद्ध ने भेड़ों के सामने रखी हुई वनस्पतियों में से घास का एक तिनका उठाया और बोले—राजन् ! इस तिनके को तोड़कर चीरना तो जरा।

जिन लोगों ने इस विचित्र बात को सुना वे आश्चर्य में पड़ गये। अजातशत्रु ने भी आश्चर्यपूर्वक तथागत का कहना मानकर वह तिनका तोड़ा और अगले आदेश की प्रतीक्षा करने लगा तब भगवान् ने कहा—राजन् अब इस टूटे हुए तिनके को जोड़ो तो सही।

राजा चुप हो गया। तब भगवान् ने कहा—“राजन् ! मैं तुमसे यही बात इस समारोह के सम्बन्ध में भी कहना चाहता था। पिता के वध का जो पाप हुआ है उसे किसी भी प्रयत्न द्वारा मिटाया नहीं जा सकता जैसे इस टूटे तिनके को नहीं जोड़ा जा सकता।” तथागत से यह कथन सुनकर अजातशत्रु ने वह आयोजन निरस्त कर दिया।

अपने भीतर सुख की खोज

उस समय भगवान् बुद्ध श्रावस्ती की मृगारमाता के पूर्णाराम प्रासाद में विभ्राम कर रहे थे। प्रवास और परिव्राजन के नैरन्तर्य के कारण उन्हें थकावट अनुभव हो रही थी। मृगारमाता ने उनकी देख-रेख और सेवा का पूरा प्रबन्ध कर दिया था।

मृगारमाता विशाखा का किसी उद्योग से सम्बन्धित कोई काम कौशलराज प्रसेनजित के यहाँ अटक हुआ था। उसके कारण उन्हें चैन नहीं मिल रहा था। सोचा यह था कि तथागत की उपस्थिति में वह कुछ धर्म-चर्चा लाभ लेगी। पर वह तो बना नहीं, वह दूसरे ही दिन प्रसेनजित के पास पहुँची।

प्रसेनजित ने इस बार भी टाल-मटोल कर दी। विशाखा वहाँ से निराश लौटी। दोपहर की चिलचिलाती धूप में वैसे ही विशाखा सीधे भगवान् बुद्ध के पास पहुँची और उन्हें प्रणाम कर खिन्न बदन एक ओर बैठ गई।

अन्तर्यामी तथागत हँसे और बोले—विशाखा ! इसीलिये कहता हूँ कि अपनी इच्छायें बढ़ानी नहीं, कम करनी चाहिये। इच्छाओं की पूर्ति में जो पराधीनता है, वही दुःख है।

विशाखा ने कहा—तो फिर भगवन् ! ऐसा भी कोई उपाय है, जिससे अपनी इच्छायें कम की जा सकें।

बुद्ध ने उत्तर दिया—हाँ भन्ते ! अवश्य है, यदि हम सुख की खोज अपने भीतर करने लगे तो इच्छाओं की निस्सारता आप प्रकट होने लगती है।

योग्यता की परख

युवक अंकमाल भगवान् बुद्ध के सामने उपस्थित हुआ और बोला—भगवन् ! मेरी इच्छा है कि मैं संसार की कुछ सेवा करूँ, आप मुझे जहाँ भी भेजना चाहें भेज दें ताकि मैं लोगों को धर्म का रास्ता दिखाऊँ ?

बुद्ध हँसे और बोले—तात् ! संसार को कुछ देने के पहले अपने पास कुछ होना आवश्यक है, जाओ पहले अपनी योग्यता बढ़ाओ फिर संसार की भी सेवा करना।

अंकमाल वहाँ से चल पड़ा और कलाओं के अभ्यास में जुट गया। वाण बनाने से लेकर चित्रकला तक मल्लविद्या से लेकर मल्लाहकारी तक उसने जितनी भी कलायें हो सकती हैं उन सबका १० वर्ष तक कठोर अभ्यास किया। अंकमाल की कला-विशारद के रूप में सारे देश में ख्याति फैल गई।

अपनी प्रशंसा से आप प्रसन्न होकर अंकमाल अभिमानपूर्वक लौटा और तथागत की सेवा में जा उपस्थित हुआ। अपनी योग्यता का बखान करते हुये उसने कहा—भगवन् ! अब मैं संसार के प्रत्येक व्यक्ति को कुछ न कुछ सिखा सकता हूँ। अब मैं २४ कलाओं का पण्डित हूँ। भगवान् बुद्ध मुस्कराये और बोले अभी तो तुम कलायें सीख कर आये हो परीक्षा दे लो तब उन पर अभिमान करना।

अगले दिन भगवान् बुद्ध एक साधारण नागरिक का वेष बदल कर अंकमाल के पास गये और उसे अकारण खरी-खोटी सुनाने लगे। अंकमाल क्रुद्ध होकर मारने दौड़ा तो बुद्ध वहाँ से मुस्कराते हुये वापस लौट पड़े।

उसी दिन मध्याह्न दो बौद्ध श्रमण वेष बदल कर अंकमाल के समीप जाकर बोले—आचार्य आपको सम्राट् हर्ष ने मन्त्रिपद देने की इच्छा की है क्या आप उसे स्वीकार करेंगे ? अंकमाल को लोभ आ गया उसने कहा—हाँ-हाँ अभी चलो। दोनों श्रमण भी मुस्करा दिये और चुपचाप लौट आये। अंकमाल हैरान था—बात क्या है ?

थोड़ी देर पीछे भगवान् बुद्ध पुनः उपस्थित हुये। उनके साथ आम्रपाली थीं। अंकमाल, जितनी देर तथागत वहाँ रहे आम्रपाली

की ही ओर बार-बार देखता रहा। बात समाप्त कर तथागत आश्रम लौटे।

सायंकाल अंकमाल को बुद्ध देव ने पुनः बुलाया और पूछा—वत्स ! क्या तुमने क्रोध, काम और लोभ पर विजय की विद्या भी सीखी है। अंकमाल को दिनभर की सब घटनायें याद हो आईं। उसने लज्जा से अपना सिर झुका लिया और उस दिन से आत्म-विजय की साधना में संलग्न हो गया।

सर्वोपरि शक्ति क्या है ?

पत्थर की एक बड़ी चट्टान को देखकर शिष्य ने बुद्ध से पूछा भगवन् ! क्या इस चट्टान पर किसी का शासन सम्भव है ?

‘पत्थर से कई गुनी शक्ति लोहे में होती है। इसीलिए लोहा पत्थर को तोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर देता है।’ भगवान् बुद्ध ने शिष्य की जिज्ञासा को शान्त करते हुए उत्तर दिया। तो फिर लोहे से भी कोई वस्तु श्रेष्ठ होगी ? शिष्य ने प्रश्न किया—‘क्यों नहीं ? अग्नि है। जो लोहे के अहं को गलाकर द्रव्य रूप में बना देती है।’

‘अग्नि की विकराल लपटों के सम्मुख किसी की क्या चल सकती होगी ?’

‘केवल जल है जो उसकी उष्णता को शीतल कर देता है’ जल से टकराने की फिर किसमें ताकत होगी। प्रतिवर्ष बाढ़ तथा अति वृष्टि द्वारा जन और धन की अपार हानि होती है।’

‘ऐसा क्यों सोचते हो वत्स ! इस संसार में एक से एक शक्तिशाली पड़े हैं। वायु का प्रवाह जलधारा की दिशा बदल देता है। संसार का प्रत्येक प्राणी वायु के महत्त्व को जानता है क्योंकि इसके बिना उसके जीवन का महत्त्व ही क्या है ?’

‘जब वायु ही जीवन है, फिर इससे अधिक महत्त्वपूर्ण वस्तु के होने का प्रश्न ही नहीं उठता।’

अब भगवान् बुद्ध को हँसी आ गई उन्होंने कहा—‘मनुष्य की संकल्पशक्ति द्वारा वायु भी वश में हो जाती है। मानव की यह शक्ति ही सबसे बड़ी है।’

धर्माचरण का मर्म

इन्द्रप्रस्थ के राजा धनंजय के घर अति प्राचीनकाल में बोधिसत्त्व ने एक बार पुत्र रूप में जन्म लिया था। पिता के मरने पर वे सिंहासनारूढ़ हुए। उनकी न्याय-निष्ठा और दानशीलता की ख्याति समस्त जम्बू द्वीप में फैल गई। प्रजा धर्मशील थी और सुखी थी।

कलिंग देश में उन्हीं दिनों अनावृष्टि के कारण दुर्भिक्ष पड़ा। प्रजा क्षुधित और रुग्ण होकर मरने लगी, जिनसे बन पड़ा वे देश छोड़कर भाग गये।

प्रजा के दुःख को देखकर कलिंगराज बहुत दुःखी हुए और देश के विज्रजनों को बुलाकर दुर्भिक्ष निवारण का उपाय पूछने लगे।

एक वयोवृद्ध ने कहा—दुर्भिक्ष के समय पुराने राजा अपना समस्त राजकोष दान कर देते थे और एक महीने तक घास पर सोते थे और व्रत रखते थे। ऐसा करने से वर्षा हो जाया करती थी। राजा

ने तुरन्त वही कर डाला। दान, तप और भूमिशयन की क्रिया सही रूप से पूरी हो जाने पर भी वर्षा नहीं हुई।

दूसरी सभा बुलाई गई। एक ज्योतिषी ने कहा— कुरु देश के राजा के पास अंजन वसभ नामक मांगलिक हाथी है वह किसी प्रकार अपने देश में आ जाय तो दुर्भिक्ष दूर हो जायेगा। कलिंग नरेश ने उस हाथी की याचना के लिए दूत भेजे। उदार कुरूराज ने वह प्रार्थना स्वीकार कर ली और तत्काल हाथी दान में दे दिया। मंगल गज आ तो गया पर वर्षा इससे भी न हुई।

तीसरी सभा बुलाई गई। उसमें बहुत विवेचना के पश्चात् निष्कर्ष निकला कि इन्द्रप्रस्थ में कभी दुर्भिक्ष नहीं पड़ता वहाँ की प्रजा धर्माचरण करती है और सदा सर्व सुखी रहती है। हमारे देश में अधर्माचरण बढ़ गया है अस्तु दुर्भिक्ष पड़ा। हमें इन्द्रप्रस्थ नरेश से धर्माचरण के नियम पूछने चाहिए, उन्हें स्वर्ण पटल पर लिखाकर मँगाना चाहिए और प्रजाजनों को उन्हें पालन करने के लिए बाधित करना चाहिए तभी वर्षा होगी।

कलिंग नरेश ने आठ ब्राह्मणों का दल इन्द्रप्रस्थ भेजा, नरेश ने लिखवाया— “निष्ठुर मत बनो। बिना पश्चिम का धन मत लो। छल और दम्भ मत करो। स्नेह सौजन्य बरतो। संयम बरतो और प्रसन्न रहो।” इतना लिखा देने पर राजा को सन्देह हुआ कि यह नियम अपूर्ण हो सकते हैं। धर्म तत्त्व को निर्देशक नहीं उसके प्रयोक्ता ही जानते हैं। सो उन्होंने ब्राह्मणों को अपनी धर्मनिष्ठ माता के पास भेजा कि जो इसमें कमी हो उसे उनसे पूरी कराएँ।

ब्राह्मण मण्डली राजामाता के पास पहुँची। राजामाता ने कहा— धर्माचरण के लिए सतत प्रयत्नशील रहने पर भी मुझे भूल होती है सो आप लोग उपराज के पास जायें वे मुझसे अधिक जागरूक हैं। उपराज ने भी अपने प्रयत्नशीलता की बात तो कही पर साथ ही यह भी माना कि अभी उन्हें बहुत कुछ सुधरना शेष है। इसलिए धर्म तत्त्व का विवेचन अधिकारी कर्तव्यनिष्ठों से कराया जाय। इसके लिए मैं नहीं विद्वध आमात्य के पास वे पधारें।

ब्राह्मण आमात्य के पास पहुँचे। आमात्य डंडे में रस्सी बाँधकर खेतों की लम्बाई-चौड़ाई नाप रहे थे। इस प्रयास में उनके पैरों से एक मेढ़क कुचल कर मर गया। वे खिन्न बैठे। ब्राह्मण दल ने उनसे अपना अभिप्राय व्यक्त किया। आमात्य बोले आप देखते नहीं मैंने कर्तव्य-पालन के साथ-साथ बरती जाने वाली सतर्कता में चूक कर दी। प्रमादी तो अधार्मिक होता है। मैं धर्म-शिक्षा का अधिकारी कहाँ रहा? आप सुधार सारथी के पास जाइये वह बिना प्रमाद के धर्माचरण करने में प्रख्यात हैं।

सारथी ने अपनी भूलें बताते हुए कहा— सही चाल से चलने पर भी मैंने एक बार घोड़ों को द्रुतगति से दौड़ाने के लिए चानुक् बरसाये थे और यह ध्यान में नहीं रखा था कि इससे उन्हें कितना अनावश्यक कष्ट होगा। जिसकी सहानुभूति में न्यूनता है वह धर्मोपदेश क्या करे? आप अनाभ श्रेष्ठि के पास जायें वे माने हुए धर्मात्मा हैं। अनाभ ने ताजी घटना सुनाई जिसमें उन्होंने राज्य का कर भाग चुकाये बिना खेत से खुद कच्चा अन्न भूनकर खा लिया था। खाते समय यह

ध्यान नहीं रखा था कि कर चुकाने के बाद ही खाना चाहिए। फिर भला मैं धर्म-शिक्षा कैसे दूँ। उपदेश तो वह करे जो आचरण में खरा हो। आप द्विरोजन आमात्य के पास जायें वे इसके अधिकारी हैं।

महामात्य मुंह लटकते बैठे थे। उनके जिम्मे किसानों के उपार्जन का छठा अंश राज्य कर के रूप में नापना था। कल एक किसान के अनाज की ढेरी उन्होंने नापी थी। विभाजन की मध्य रेखा बनाने के लिए उन्होंने थोड़ा-सा अनाज चिह्न प्रतीक के रूप में रख दिया था। नाप पूरी होते-होते वर्षा आ गई। महामात्य ने वह चिह्न प्रतीक वाला अन्न जल्दी में उठाकर राज्य भाग में डाल दिया और वह राज्यक्षेत्र में जमा हो गया। वे सोच रहे थे इस भूल से राजा को अनुचित लाभ मिला और किसान के साथ अन्याय हुआ। जब मुझे न्याय के लिए भेजा गया था उसमें पूर्ण सतर्कता बरतनी चाहिए थी। ब्राह्मणों को उन्होंने अपनी भूल बता दी और कहा आप सुधीर द्वारपाल के पास जायें।

द्वारपाल ने ब्राह्मणों की बात सुनी और एक घटना सुनाई। राजदरबार में एक युवक अपनी बहन को लेकर किसी न्याय प्रयोजन के लिए आया था। वे हँसते-हँसते जा रहे थे। मैंने उन्हें व्यभिचारी समझा और कटु शब्दों में डाँटा। जब उन लोगों ने अपने सम्बन्ध बताये तो मुझे दुःख हुआ कि बिना पूरी बात जाने मैंने केवल सन्देह के आधार पर क्यों खोटी मान्यता बना ली? आप ही बतायें कि जिसका आचरण संदिग्ध हो वह शिक्षा कैसे दे? आप चन्द्रवती वेश्या के पास जायें।

वेश्या ब्राह्मणों की बात सुनकर रूँआसी हो गई। उसने सुनाया एक परदेशी युवक ने सहस्र मुद्रा देकर मुझे एक वर्ष प्रणय क्रीड़ा के लिए अनुबंधित कर लिया। अचानक उसे स्वदेश लौटना पड़ा। तीन वर्ष तक मैंने उसकी प्रतीक्षा की जब कुछ पता न चला और भूखी मरने लगी तो दूसरे युवक का अनुबंध स्वीकार कर लिया। अब इस सोच में पड़ी हूँ कि कहीं प्रथम युवक के साथ मैं विश्वासघात तो नहीं कर बैठी? मेरा धर्माचरण नष्ट तो नहीं हो गया? ऐसी असमंजसयुक्त मनःस्थिति में किस प्रकार आपको कुछ परामर्श दूँ।

ब्राह्मण इन सबके कथन का सार अपने मन में जमाकर राजा के द्वार लिखाये गये निर्देशों वाले स्वर्ण पटल समेत कलिंग देश चल पड़े। राज्य सभा में उन्होंने समस्त विवरण सुनाया और कहा धर्माचरण की मोटी मर्यादा तो इस पटल पर लिखी है। उनका मर्म रहस्य यह है कि “हर व्यक्ति अपने आचरण की गहरी समीक्षा करे, सुधार के लिए सचेष्ट रहे। विनम्र बने और अपनी अपेक्षा दूसरों को श्रेष्ठ माने।”

कलिंगराज ने स्वर्ण पटल पर लिखी मर्यादाओं के साथ-साथ ब्राह्मणों द्वारा परखे गये धर्म रहस्य भी जोड़ दिये और उन्हें पालन करने के लिए प्रजा को मनाया।

जैसे ही धर्माचरण का पालन आरम्भ हुआ वैसे ही विपुल वर्षा होने लगी और दुर्भिक्ष मिट गया, सतयुगी सुव्यवस्था का आधार बन गया।

निर्भयता—त्रेयस की जननी

वारणसी के जंगलों में एक खरगोश रहता था। जितना छोटा था उसका शरीर अन्य जीव-जन्तुओं की तुलना में, उससे भी छोटी थी उसकी बुद्धि। एक दिन मध्याह्न समय बेल-पादप की छाया में वह विश्राम कर रहा था। भोजन से पेट भर था और इसलिए उसे नींद भी आ गयी और निद्रावस्था में उसने एक भयंकर स्वप्न देखा। स्वप्न में शायद वह किसी भवन के नीचे सोया था और वह देख रहा था कि भवन की छत फट पड़ी है और उसके मलवे तले वह दबता जा रहा है।

यह स्वप्न देखकर भयभीत हो जाग उठा। उसका मुँह आकाश की ओर तो था ही सीधी दृष्टि आकाश पर गयी और उसने सोचा कभी यह आकाश फट पड़े। तो स्वप्न की तन्त्रा में तो वह था ही और हृदय भी भय-ग्रस्त, सो सचमुच ही लगने लगा कि आकाश फट पड़ा है तभी भयानक तेज हवा चली और बेल के वृक्ष से एक फल टूटकर जमीन पर गिरा। उसकी जो आवाज हुई उसने खरगोश की इस आशंका की पुष्टि कर दी कि आकाश फट पड़ा है। वस्तुस्थिति को जानने के लिए न तो उसने अपनी आजू-बाजू देखा और न कुछ विचार ही किया। एक दम से भाग खड़ा हुआ। आत्मरक्षा के लिए वह किसी ऐसे स्थान पर जा छुपने की कोशिश में था कि जहाँ उसके प्राण बच जायें और वह सुरक्षित भी रह जाए वह इस प्रकार डरकर भाग रहा था कि पीछे तो क्या अगल-बगल में अपना सुरक्षित स्थान देखने की भी हिम्मत नहीं जुट पा रही थी।

इस प्रकार बेतहाशा भागते हुए देखकर उसके कुछ साथियों को भी बड़ा आश्चर्य हुआ। कुछ ने रोक कर पूछना चाहा कि क्या बात है परन्तु खरगोश के पास रुकने का समय कहाँ था। भागते-भागते ही उसने कहा— अरे मूर्खों! रुकने की बात कह रहे हो अभी पता चल जायेगा कि क्या हुआ। पीछे आसमान फट पड़ा है, अभी सब दबकर मर जाओगे। मैं तो किसी सुरक्षित स्थान की तलाश कर रहा हूँ ताकि अपने प्राण बचा सकूँ।

इतना सुनना था कि उसके साथियों ने भी बिना कोई सोच-विचार किये उस खरगोश के पीछे भागना शुरू किया। थोड़ी दूर बाद मिला हरिणों का झुण्ड। हरिणों ने पूछा— भाइयों आप सब लोग इस तरह घबराकर क्यों भाग रहे हो।

घबराकर नहीं मित्रो, अपनी जाति और अपने प्राणों की रक्षा के लिए भाग रहे हैं— भागते हुए खरगोशों में से एक ने कहा— पीछे आसमान फट पड़ा है और सारी पृथ्वी के प्राणियों पर विपत्ति आ पड़ी है।

हरिण भी भागने लगे नदी के किनारे पहुँचे तो हाथियों ने भी उसी प्रकार पूछा जिस प्रकार अन्य खरगोशों तथा हरिणों ने पूछा था और वे भी वस्तुस्थिति पर कोई विचार किये बिना ही भागने वालों के उस झुण्ड में जा मिले। इसी प्रकार धीरे-धीरे बारहसिंघे, लोमड़ी, गैदें, नीलगायें, चीते और भेड़िये भी इन भागने वालों के कफिले में शरीक हो गये।

भागते-भागते जब यह मण्डली एक पहाड़ की घाटी में पहुँची तो उस घाटी की एक गुफा में विश्राम कर रहे वनराज सिंह की आँखें खुल गयीं। सिंह ने भागते हुए प्राणियों को रोका और पूछा तो कारण का पता चलने पर वनराज की हँसी छूट पड़ी। आकाश की ओर देखते हुए कहा— देखो आकाश तो अपनी जगह पर खड़ा हुआ है।

घटना के मूल कारण का पता चला तो सभी जीवों को बड़ी आत्म-ग्लानि हुई। यह कथा सुनाकर भगवान् बुद्ध ने अपने भिक्षुओं से कहा— भिक्षुओ! अब तुम समझ गये होंगे कि भय से मनुष्य के सोचने-विचारने की शक्ति भी समाप्त हो जाती है। इससे पूर्व कि जब भय के कारण उपस्थित हों तभी विचारपूर्वक उन्हें जान लिया जाय तो तनिक भी अनिष्ट न होगा। लौकिक जगत में नहीं आत्मिक जगत में प्रवेश और सफलता के लिए भी निर्भयता एक द्वार है और जो उस द्वार से प्रवेश करते हैं वे ही त्रेयस् को प्राप्त कर सकते हैं।

प्रकाश की एक किरण का प्रभाव

गाँव में गौतम बुद्ध का दूसरी बार आगमन हो रहा था। राजा और धनवान व्यक्ति उनके स्वागत की तैयारी में लगे थे। पर छोटे तबके के व्यक्तियों को अपने गोरख-घन्धे से ही समय नहीं मिल पाता जो ऐसे कार्यक्रमों में भाग ले सकें।

उसी गाँव में एक मोची रहता था दिन भर मेहनत-मजदूरी करता, शाम पड़े घर लौटकर आता, खाना खा-पीकर थोड़ी देर बच्चों के साथ मनोरंजन करता और थका-माँदा गहरी नींद में सो जाता। उसे पता ही नहीं चलता कि गाँव में कब और कौन-सी गतिविधि होने वाली है।

एक दिन वह सुबह उठा। घर के पीछे के छोटे से गन्दे तालाब में उसे कमल का फूल खिला दिखाई दिया। बेमौसम के उस फूल ने मोची का ध्यान बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लिया। वह घुटनों तक के गन्दे पानी में घुस कर उस फूल को तोड़ लाया। सोचा इसका रुपया दो रुपया मिल जायेगा तो घर का काम चलेगा। फूल लेकर वह शहर की ओर दौड़ा।

रास्ते में नगर सेठ अपने रथ पर बैठे आ रहे थे उन्होंने मोची को फूल ले जाते देखा तो उसे रोककर सारथी से कहा इसे पाँच रुपये निकाल कर दे दो। आज नगर में बुद्ध का आगमन है उनके चरणों में अर्पित करने के क्रम आ जायेगा यह फूल। मोची भीचक हो गया सोचने लगा रुपये दो रुपये की चीज के यह तो पाँच रुपये दे रहा है। सौदा निबट भी नहीं पाया था कि उसी मार्ग पर आते ही अश्वारोही राजमन्त्री ने कहा 'इस फूल का सौदा हो गया। तुम बेचना मत। जितना पैसा यह धनी दे रहा होगा उसके पाँच गुने मैं दूँगा।' एकदम ५ रुपये से २५ रुपये हो गये। जरूर इस फूल में कुछ कमाल है तभी एकदम पाँच गुनी कीमत बढ़ रही है।

तभी राजा की सवारी उसी मार्ग से निकलते हुए उसी विवाद-स्थल पर आ रुकी। राजा ने रथ में से झाँककर कहा— "इस फूल को बेचने की आवश्यकता नहीं। मैं राज्य कोष से मुँह-माँगा दाम दूँगा। तुझे अब चमड़े के घन्धे से भी मुक्ति मिल जायेगी। तेरे परिवार की स्थिति सुधर जायेगी। मेहनत, मजदूरी के चक्कर में न पड़ना

होगा। पूरा परिवार आसानी से खुशी-खुशी अपने दिन व्यतीत कर सकेगा।”

नगण्य से फूल की कीमत हजारों रुपये हो गई। मोची चक्कर में पड़ गया। उसकी आँखें राजा की ओर फटी-सी रह गई। ऐसा इस फूल में क्या हीरे-पन्ने जड़े हुये हैं जो इसकी कीमत हजारों रुपये हो गई। आखिर बात क्या है? सम्राट! यह मोल-भाव इतना बढ़-चढ़कर क्यों हो रहा है।

‘तू बड़ा भोला है। तुझे शायद पता नहीं कि अपने गाँव में भगवान् बुद्ध का शुभागमन होने वाला है। हमें भी उनके स्वागत के लिए जाना है। बेमौसम का यह फूल उनके चरणों में चढ़ायेगे तो उन्हें भी आश्चर्य होगा कि यह कहाँ से आ गया और हमें भी अद्भुत वस्तु चढ़ाने में गौरव का अनुभव होगा।’

नगर सेठ ने राजा की बात सुनकर मोची से कहा ‘मैया! यह न होगा यह फूल मैंने पहले देखा था। मोल-भाव पहले मैं कर रहा था। अतः इस वस्तु पर पहला दावा मेरा है नियमानुसार मुझे ही मिलना चाहिए।’

मोची ने कहा— ‘अच्छ! यह बात है। तो आप सभी लोग मुझे क्षमा कीजिये। जब भगवान् के चरण अपने ही गाँव को पवित्र करने वाले हैं तो मैं ही उनके चरणों में यह पुष्प चढ़ा दूँगा। मैं फूल बेचना नहीं चाहता। इसकी उपयोगिता मुझे आप सबके द्वारा मालूम पड़ गई है।’

शाम को व्यक्तिगत चर्चा के समय बुद्ध को नगर सेठ, मन्त्री तथा राजा ने दिन में घटी वह घटना सुनाई। “एक निर्धन मोची, जिसे दो समय भरपेट खाने को भोजन नहीं मिलता, लाखों रुपये पर ठेकर मारकर फूल बेचने से इन्कार कर देता है।”

बुद्ध को सारी घटना समझने में देर न लगी। तब तक वह मोची भी दर्शनार्थियों की भीड़ में दिखाई दिया। आगे बढ़कर उसने पुष्प चढ़ाया, चरणों में माथा झुककर हाथ जोड़े दूर एक ओर खड़ा हो गया।

बुद्ध ने कहा आज इस फूल के तरे पास कई ग्राहक थे और मुँह-मांगा दाम देने को तैयार थे। फिर तो यह फूल बेच देना चाहिए था।

“भगवन्! संसार में धन-सम्पत्ति ही सब कुछ नहीं है। इससे भी बढ़कर कुछ और है जो आपके दर्शन तथा सत्संग से अभी मिल गया। यह लाभ सम्पत्ति के द्वारा तो प्राप्त नहीं किया जा सकता।”

बुद्ध ने सम्बोधन करते हुये कहा— “भिक्षुओ! देखो इस साधारण से चमार को। जिसके पास सुबह खाने को जुट जाये तो शाम को खाना मिल सकेगा इसका भी भरोसा नहीं रहता। उस व्यक्ति में परमात्मा के प्रकाश की किरणें कितना परिवर्तन कर सकती हैं। कितना प्रेम और श्रद्धा उत्पन्न हो सकती है। मैं तो कितने ही वर्षों से गाँव-गाँव, नगर-नगर विहार कर रहा हूँ पर इस जैसा प्रेमी और श्रद्धालु व्यक्ति अभी तक नहीं मिल सका। कौन व्यक्ति छोटा है, और कौन बड़ा? इसका निर्णय करना भी आसान कार्य नहीं। बाहर से देखने में सभी बीज एक-से लगते हैं पर कौन-सा बीज बड़ा फल देगा, फूल देगा? इसे कोई नहीं जानता सिवाय ईश्वर के।”

देने में ही महानता है

“मेरे धन और वस्तुओं के चोरी चले जाने से मुझे कुछ भी दुःख नहीं है। धन तो धूप-छाँव की तरह है। भला जाना तो उसका स्वभाव है। मुझे न इसके आने में विशेष हर्ष होता है न इसके जाने में दुःख। मेरी इससे कोई ममता और आसक्ति नहीं है। यही मनुष्य के दुःख का कारण बनती है।” भगवान् बुद्ध के अपने एक पहले जन्म में जब उन्होंने एक समुद्र धरने में जन्म लिया था और उनके यहाँ चोरी हो गई तो वे अपने मन में यह बातें सोच ही रहे थे कि उनके एक मित्र आ गये और उन्होंने पूछा—

“आपके घर में हुई चोरी के बारे में सुना है। मन बहुत ही व्यथित हो रहा है। ये चोर भी क्या अनधिकार चेष्टा करते हैं। किसी व्यक्ति के वर्षों के पश्रिम से कमाया हुआ धन वह कुछ ही क्षणों में ले जाते हैं। किसी को दुःखी करके वह उस धन से सुखी कैसे रह सकते हैं। दुःखी मन से जो आह निकलती है वह शाप का-सा प्रभाव रखती है, इसलिए वह भी कभी सुख-चैन से नहीं रह सकते।”

“भाई! मेरा मन इसलिए चिन्तित नहीं हो रहा है कि मेरा धन चला गया है और अब मैं क्या करूँगा? धनवान होने से मेरी कुछ शान बनी हुई थी और अब धनहीन होकर मिट्टी में मिल जाएगी। मैं अपने परिवार का कैसे निर्वाह करूँगा? या पहले जो खाने-पीने और पहनने की वस्तुएँ मुझे उपलब्ध थीं। वे अब नहीं मिल पायेंगी” भगवान् बुद्ध ने गंभीरतापूर्वक उत्तर दिया।

“तो और क्या बात है मित्र! मैंने तो यही सोचा था क्योंकि हम जैसे साधारण व्यक्तियों को तो ऐसी बातें सोचना स्वाभाविक ही है। एक घर में उनकी सभी वस्तुएँ चोरी चली जायें तो इस प्रकार का सोचना उचित ही है।” मित्र ने जिज्ञासापूर्वक पूछा।

“मैं तो यह सोच कर दुःखी हो रहा था कि पीड़ितों और असहायों की आवश्यकता पूर्ति के लिए मैं नित्य-प्रति कुछ न कुछ दान किया करता हूँ। यह वृत्ति मेरा स्वभाव ही बन गई है। जब तक कुछ दान न कर लूँ तब तक खाना-पीना कुछ भी अच्छा नहीं लगता। मेरी प्रसन्नता का आधार यही है। जब मैं लोगों को दुःखी देखता हूँ तो उनके दुःख समझने लगता हूँ। मनुष्य जैसे अपने व अपने परिवार के दुःख को दूर करने के लिए अपनी सारी शक्ति लगा देता है, उसी प्रकार किसी भी दुःखी को मैं अपने परिवार का सदस्य मानता हूँ। उसके दुःख-दर्द को दूर करने के लिए अपना सर्वस्व लगाने के लिए तैयार हो जाता हूँ।” भगवान् बुद्ध के नेत्रों में आँसू आ रहे थे। वह अपने हृदय उद्गारों को उड़ेलकर अपने मन को हलका कर रहे थे। वह कहते जा रहे थे—

“अब चूँकि मेरे पास कुछ नहीं रहे मया है। यदि अब कोई पूछा आ जाये तो उसे क्या खिलाऊँगा? कोई जरूरतमन्द आ जाये तो उसे क्या दूँगा? अब तक मेरे घर से कोई भी व्यक्ति खाली हाथ नहीं लौटा है। जिनको मेरी सहायता की आवश्यकता पड़ती है, उनकी पूर्ति यथाशक्ति करता ही था। शरीर के लिये जैसे भोजन आवश्यक है और इसके बिना जैसे थोड़े दिनों में मृत्यु दरवाजा खटखटाने लगती

१.२६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१

है, उससे अधिक मेरे लिए दुःखियों की सेवा करना आवश्यक है। यही मेरा जीवन है।”

वह मित्र भगवान् बुद्ध से बहुत प्रभावित हुये कहने लगे “मेरी धन और सम्पत्ति भी तो आपकी ही है। आप उसका उचित उपयोग कर सकते हैं। वह मैं आपके चरणों में समर्पित करता हूँ।”

“आपके पश्चिम से कमाये हुए धन को मैं कैसे दान रूप में किसी को दे सकता हूँ। उस पर तो आपका ही अधिकार है।” वह यह बात कर ही रहे थे कि उनकी नजर एक हंसुआ और रस्सी की गेंडुल पर पड़ी। उनका चेहरा खिल उठा मानो उन्हें कोई सहारा मिल गया हो। डूबते को तिनके का सहारा भी काफी होता है। वह बोले—

“परमात्मा ने हाथ-पैर काम करने के लिए बनाए हैं। आलसी बन कर उनसे काम न लेना पहले दर्जे की नास्तिकता है। मैं इसी हंसुआ के द्वारा घोर पश्चिम करूँगा और धनोपार्जन करके अपनी और दूसरों की आवश्यकता पूरी करूँगा। जिस व्यक्ति को अपने बाहुबल का भरोसा होता है वह किसी और के मुँह की ओर नहीं ताकता।”

भगवान् बुद्ध दिन भर हंसुआ से घास काटते थे और शाम को सिर पर गेंडुल रख कर घास की गठरी लाद कर बाजार में बेचते थे। जो भी इससे मिल जाता उसमें से कम से कम अपने लिए रख कर शेष असहायों को दे देते थे। जिनका स्वभाव ही देना बन चुका हो वह इससे कैसे रुक सकते हैं।

एक दिन बुद्ध घास की गठरी लिए बाजार को जा रहे थे कि एक और मित्र ने उन्हें रोक कर कहा “तुम्हारे वर्तमान जीवन पर मुझे बड़ी दया आती है। कहाँ तो तुम्हारे घर में, दास-दासियाँ काम करती थीं, अपने हाथ से कोई थोड़े-से पश्चिम का काम नहीं करना पड़ता था और कहाँ अब तुम मजदूरों की तरह इतने छोटे काम कर रहे हो।”

“पश्चिम से जी चुराना मनुष्य की बहुत बड़ी कमजोरी है। जो मनुष्य पश्चिम नहीं करना चाहता, उसके जीवन का किसी भी क्षेत्र में विकास होना असंभव है। यही वह सिद्धि है जो व्यक्ति को उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करती है। इसके बिना न कोई बना है न बन सकता है” बुद्धदेव ने गठरी नीचे रख कर मित्र को उत्तर दिया।

मित्र ने अब बात बदल ली और कहने लगा “पश्चिम के ऊपर तो मनुष्य का जीवन टिका हुआ है, यह मैं मानता हूँ परन्तु उसे अपना घर तो दूसरों के लिए लुटा नहीं देना चाहिये। अपना अपने परिवार का भी कुछ ध्यान रखना चाहिये। अपनी कमाई में से कुछ न कुछ जोड़ कर रखना भी तो आवश्यक है ताकि वह आड़े वक्त में काम आये। मेरा तो यह विचार है कि तुम्हारी चोरी नहीं हुई है। तुम्हारी आवश्यकता से अधिक उदारता व दानशीलता ने तुम्हें इस दशा तक पहुँचा दिया है। अब भी समझ जाओ और जो कुछ कमाते हो उसमें से बचा कर रख दिया करो। बूँद-बूँद से तो समुद्र हो जाता है, थोड़ा-थोड़ा जोड़ने से पर्याप्त धन एकत्रित हो जायेगा।”

“मित्र ! इस सहानुभूति के लिए तुम्हें धन्यवाद देता हूँ। परन्तु दुखियों के दुःख को दूर करने के बजाय यदि मैं उस धन को केवल अपने स्वार्थ के लिए जोड़ कर रखता हूँ तो समाज के साथ एक प्रकार की चोरी है। संग्रह का अर्थ है कहीं से उस वस्तु का अभाव होना।

अभाव ही तो दुःख का कारण है। एक स्थान पर खड़ा हुआ पानी तो सड़ जाता है परन्तु चलता हुआ पानी स्वच्छ व स्फूर्तिदायक होता है। मुझे कंजूस बनकर चोर की संज्ञा में नहीं आना है। मैं तो समाज को अपना शरीर मानता हूँ। अपने शरीर के लिये तो हर कोई कष्ट उठाता ही है। यदि मैं अपने शरीर के लिये कुछ करता हूँ तो यह कोई विशेषता की बात नहीं है।” बुद्ध ने अपनी जीवन नीति प्रकट की।

मित्र अब क्या उत्तर देता। उनकी प्रशंसा करते हुए चल दिया।

सत्य के तीन पहलू

भगवान् बुद्ध के पास एक व्यक्ति पहुँचा। बिहार के श्रावस्ती नगर में उन दिनों उनका उपदेश चल रहा था। शंकर-समाधान के लिए— उचित मार्ग-दर्शन के लिए लोगों की भीड़ उनके पास प्रतिदिन लगी रहती थी।

आगन्तुक ने पूछा— क्या ईश्वर है ? बुद्ध ने एकटक उस युवक को देखा— बोले, “नहीं है।” थोड़ी देर बाद एक दूसरा व्यक्ति पहुँचा। उसने भी उसी प्रश्न को दुहराया— क्या ईश्वर है ? इस बार भगवान् बुद्ध का उत्तर भिन्न था। उन्होंने बड़ी दृढ़ता के साथ कहा— “हाँ ईश्वर है।” संयोग से उसी दिन एक तीसरे आदमी ने भी आकर प्रश्न किया— क्या ईश्वर है ? बुद्ध मुस्कराये और चुप रहे— कुछ भी नहीं बोले। अन्य दोनों की तरह तीसरा भी जिस रास्ते आया था उसी मार्ग से वापस चला गया।

आनन्द उस दिन भगवान् बुद्ध के साथ ही था। संयोग से तीनों ही व्यक्तियों के प्रश्न एवं बुद्ध द्वारा दिए गये उत्तर को वह सुन चुका था। एक ही प्रश्न के तीन उत्तर और तीनों ही सर्वथा एक-दूसरे से भिन्न, यह बात उसके गले नहीं उतरी। बुद्ध के प्रति उसकी अगाध श्रद्धा— अविचल निष्ठा थी पर तार्किक बुद्धि ने अपना राग अलापना शुरू किया, आशंका बढ़ी। सोचा, व्यर्थ आशंका-कुशंका करने की अपेक्षा तो पूछ लेना अधिक उचित है।

आनन्द ने पूछा— “भगवन् ! धृष्टता के लिए क्षमा करें। मेरी अल्प बुद्धि बारम्बार यह प्रश्न कर रही है कि एक ही प्रश्न के तीन व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न उत्तर क्यों ? क्या इससे सत्य के ऊपर आँच नहीं आती ?”

बुद्ध बोले— “आनन्द ! महत्त्व प्रश्न का नहीं है और न ही सत्य का सम्बन्ध शब्दों की अभिव्यक्तियों से है। महत्त्वपूर्ण वह मनःस्थिति है जिससे प्रश्न पैदा होते हैं। उसे ध्यान में न रखा गया— आत्मिक प्रगति के लिए क्या उपयुक्त है, इस बात की उपेक्षा की गयी तो सचमुच ही सत्य के प्रति अन्याय होगा। पूछने वाला और भी भ्रमित हुआ तो इससे उसकी प्रगति में बाधा उत्पन्न होगी।

उस सत्य को और भी स्पष्ट करते हुए भगवान् बुद्ध बोले— प्रातःकाल सर्वप्रथम जो व्यक्ति आया था, वह था तो आस्तिक पर उसकी निष्ठा कमजोर थी। आस्तिकता उसके आचरण में नहीं, बातों तक सीमित थी। वह मात्र अपने कमजोर विश्वास का समर्थन मुझसे चाहता था। अनुभूतियों की गहराई में उतरने का साहस उसमें न था।

उसको हिलाना आवश्यक था ताकि ईश्वर को जानने की सचमुच ही उसमें कोई जिज्ञासा है तो उसे वह मजबूत कर सके इसलिए उसे कहना पड़ा— “ईश्वर नहीं है ।”

दूसरा व्यक्ति नास्तिक था । नास्तिकता एक प्रकार की छूत की बीमारी है जिसका उपचार न किया गया तो दूसरों को भी संक्रमित करेगी । उसे अपनी मान्यता पर अहंकार और थोड़ा अधिक ही विश्वास था । उसे भी समय पर तोड़ना जरूरी था । इसलिए कहना पड़ा— “ईश्वर है ।” इस उत्तर से उसके भीतर आस्तिकता के भावों का जागरण होगा । परमात्मा की खोज के लिए आस्था उत्पन्न होगी । उसकी निष्ठा प्रगाढ़ है । अतः उसे दिया गया उत्तर उसके आत्मविकास में सहायक ही होगा ।

तीसरा व्यक्ति सीधा-साधा, भोला था । उसके निर्मल मन पर किसी मत को थोपना उसके ऊपर अन्याय होता । मेरा मौन रहना ही उसके लिए उचित था । मेरा आचरण ही उसकी सत्य की खोज के लिए प्रेरित करेगा तथा सत्य तक पहुँचायेगा ।”

आनन्द का असमंजस दूर हुआ । साथ ही इस सत्य का अनावरण भी कि महापुरुषों द्वारा एक ही प्रश्न का उत्तर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न क्यों होता है ? साथ ही यह भी ज्ञात हुआ कि सत्य को शब्दों में बाँधने की भूल कभी भी नहीं की जानी चाहिए ।

मोटा बटेर और दुबला कौआ

जातक कथाओं में एक रोचक तथा ज्ञानवर्द्धक कथा आती है— पुरातन काल में एक बार भगवान् का जन्म बटेर की योनि में हुआ । उनकी काया बहुत परिपुष्ट थी । आकर में छोटे होते हुए और तिनके खाते हुए भी बड़े प्रसन्न लगते थे और उस उपवन के पेड़ों पर क्रीड़ा कल्लोल करते रहते थे ।

उन्के पड़ोस में कौआ रहता था । श्मशान भूमि में जो कक बलि दी जाती थी उसके खीर समेत माल-पुए उसे खाने को मिलते थे । फिर इधर-उधर चक्कर काटकर मरे हाथियों, ऊँटों और बैलों का माँस तलाश करता रहता था, सो भी उसे आसानी से मिल जाता । पेट उसका कभी खाली रहता ही न था । इस पर भी उसका मन चिन्तातुर रहता था । जब देखो तभी भयभीत दिखाई पड़ता था । रक्त की कमी से उसका स्वाभाविक काला रंग, हलका सिलहटी जैसा हो गया था । क्षण भर चैन न ले पाता, इधर-उधर ताकता रहता और जब भी खटक दीखता तभी वह क्षण भर रुके बिना, सिर पर पैर रखकर भागता ।

एक दिन बरसाती बूँद पड़ने लगीं । पक्षियों के लिए घोंसले से बाहर जाने का अवसर न रहा । बटेर से बात करने के लिए कौआ का मन इच्छुक तो बहुत दिनों से था, पर आज अनायास ही अवसर मिल गया । सो वह बहुत प्रसन्न हुआ । घोंसले से चोंच बाहर निकालकर कौआ ने बटेर का अभिवादन किया और अपनी एक जिज्ञासा का समाधान करने के लिए अनुरोध किया ।

बटेर ने सिर झुकाकर कहा— आप बड़े हैं, हर दृष्टि से सौभाग्यशाली भी । आप जैसे अच्छे पड़ोसी के साथ रहते हुए मुझे बहुत प्रसन्नता रहती है । कोई बात पूछनी हो तो निःशंक होकर पूछें ।

कौआ ने कहा— “आपकी काया छोटी है । घास फूस-भर खाते हैं । इतने पर भी कितने प्रसन्न, परिपुष्ट और प्रसन्न रहते हैं । एक मैं हूँ जो दुबला हुआ जा रहा हूँ । चिन्ता के बिना एक क्षण भी नहीं बीतता । इसका कारण समझाकर कहिए ।”

बटेर ने कहा— “जो मिल जाता है उससे सन्तुष्ट रहता हूँ । तिनकों को रसायन मानकर सेवन करता हूँ । भगवान् की कृपा को सराहता रहता हूँ । मेरी पुष्टाई का कारण बस इतना ही है । आप अब अपनी दुर्बलता का कारण बतायें ।”

कौआ ने कहा— श्मशान घाट पर जो श्राद्ध बलि मिलती है, उसका बड़ा भाग पाने की चेष्टा करता हूँ तो, साथियों में से सभी प्रतिद्वन्द्विता करते हैं । न ले जाने के लिए आक्रमण करते हैं और मेरे पंख उखाड़ लेते हैं । मरे हाथी-ऊँट आदि का माँस देखता हूँ तो शृगाल, कुत्ते और गिद्ध पहले से ही पहुँचे मिलते हैं । मुझे भाग नहीं लेने देते और झपट्टा मारकर भगा देते हैं । सो मल भक्षण ही हाथ लगता है । जिनसे प्रतिद्वन्द्विता चलती है सो शत्रुता पालते हैं । किसी का आक्रमण न हो जाय सो चिन्तित रहकर समय काटना पड़ता है । आत्म-रक्षा के लिए चारों ओर झाँकता हूँ । चिड़ियों के अण्डे चुरा लेता हूँ सो भय रहता है कि समूह बनाकर वे बदला लेने के लिए टूट न पड़ें । यही कारण है कि खाया अंग नहीं लगता । चैन से सो नहीं पाता और दिन-दिन कृश हुआ जाता हूँ ।

बटेर वेशधारी बोधिसत्व बोले— हे बड़भागी ! अपने बड़प्पन की ओर देखो । इस उपवन में हम सब की रखवाली किया करो, और अपना प्रेम तथा विश्वास दिया करो ।

फिर जो कुछ भी आहार मिले उसे पहले दूसरों को खिलाकर पीछे आप भी खा लिया करो । इस प्रकार रसायन आहार से आप का मन प्रसन्न रहा करेगा और असमय वृद्धता वार्धक्य ने जो आक्रमण किया है, सो छूट जायेगा ।

कौआ ने कहा— “आपके अमृत वचन ज्ञान और प्रेम से भरे हैं । पर क्या करूँ । जन्म भर संग्रह हुए कुसंस्कार बदलने में कठिनाई दीखती है ।”

बटेर ने कहा हिम्मत न हारिए, प्रयत्न कीजिए । स्वभाव जितना भी बदल सकेंगे, उतने ही आप प्रसन्न रहेंगे, परिपुष्ट होंगे और सम्मान के भाजन बनेंगे ।

अपनी कोंतरों में बैठे अन्य पक्षियों ने भी सुना और उस पर आचरण करने का व्रत लिया ।

“क्षण भंगुर जीवन का दुरुपयोग न हो”

कई जन्मों पूर्व बोधिसत्व का जन्म काशी नरेश ब्रह्म भद्र के यहाँ छोटे पुत्र के रूप में हुआ । वे राष्ट्राध्यक्ष बनना चाहते थे । कनिष्ठ पुत्र होने के नाते वैसा अवसर उन्हें मिलने वाला न था । उन्होंने तांत्रिक, महासिद्ध प्रत्यंग से अपनी मनोकामना की पूर्ति का उपाय पूछा । महासिद्ध ने बताया कि आगामी मास में तक्षशिला का सिंहासन रिक्त होने वाला है । यदि वे तुरन्त चल पड़ें तो अभीष्ट प्राप्ति में सफल हो सकते हैं । पूर्णिमा के दिन प्रभातकाल में राजद्वार पर खड़े व्यक्ति को ही सिंहासन मिलेगा, यह नियति की व्यवस्था है ।

आकांक्षा तीव्र होने के कारण वे चल पड़े। उनके पाँच घनिष्ठ मित्र भी साथ चलने पर तुल गए। चलते समय वे महासिद्ध प्रत्यंग का आशीष लेने पहुँचे सो उन्होंने सफलता का आशीर्वाद तो दिया, साथ ही यह भी बता दिया कि मार्ग में यक्ष वन पड़ता है। उसमें रूपसी यक्षिणियों का ही अधिकार है। वे रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श जैसे साधनों से ही राहगीरों को लुभाती, भोगती और अन्त में मारकर खा जाती हैं। इस विपत्ति से बचकर चलने में ही तुम्हारी भलाई है।''

बोधिसत्त्व साधियों सहित चल पड़े। जल्दी की आतुरतावश विराम पर कम और यात्रा पर अधिक ध्यान था। समय पर यक्ष वन आया। राजकुमार तो सतर्क थे, पर साथी उन कसौटियों पर खरे न उतरे। एक ने पैर की मोच का बहाना लिया व एक रूपसी के यहाँ विराम हेतु रुक गया। दूसरे दिन दूसरा शब्द जाल में बँधा, तीसरे-चौथे-पाँचवें मित्र भी एक-एक करके इन क्षणिक आकर्षणों में मोहित हो बँधते चले गए। एक दिन छूँछ होकर प्राण गँवा बैठे।

धुन के धनी बोधिसत्त्व किसी प्रलोभन में रूके नहीं, आगे बढ़ते ही चले गए। यक्ष समुदाय के लिये यह प्रतिष्ठा का प्रश्न था कि कोई उनके जाल में फँसे बिना निकल जाए। एक चतुर यक्षिणी उनके पीछे लगा दी गई। उपेक्षा करते हुए बोधिसत्त्व बढ़ते रहे, वह पीछे चलती रही। राहगीरों के पूछने पर वह बताती—“ये मेरे जीवन प्राण हैं। उपेक्षित होने पर भी छाया की तरह साथ चलूँगी।” राहगीरों के समझाने पर राजकुमार वस्तु-स्थिति बताते तो भी कोई उनका विश्वास न करता। यक्षिणी जब स्वयं को गर्भिणी, असहाय कहती विलाप करती तो उसका पक्ष और भी प्रबल हो जाता।

ज्यों-त्यों करके बोधिसत्त्व तक्षशिला समय पर पहुँच गए एवं मुहूर्त की प्रतीक्षा में एक कुंज में निवास करने लगे। किन्तु उस सुन्दरी की चर्चा सर्वत्र दावानल की तरह फैल गयी। ऐसा सौन्दर्य किसी ने देखा न था। खबर राजमहल तक पहुँची। राजा ने देखा तो होशो-हवास गँवा बैठे। यक्षिणी को पटरानी बनाने का प्रस्ताव रखा एवं उसकी यह शर्त भी मानली कि महल के भीतर रहने वाली सभी अन्तःवासियों पर उसका अधिकार होगा।

अब यक्षिणी ने बोधिसत्त्व को भुला दिया और नए अधिकार क्षेत्र में अभीष्ट लाभ उठाने में जुट गई। उसने यक्ष वन में अपने सभी सहेलियों को बुलावा भेज दिया। सभी एक-एक करके महल के घरों में रहने वालों के साथ लग गई व एक-एक करके सभी को छूँछ बनाती चलती गई एवं अन्ततः उदरस्थ कर गई। नियत मुहूर्त से एक दिन पहले ही राजमहल का घेरा अस्थि पिंजरों से भर गया। राजा-प्रजा में से कोई न बचा। बाहर स्थित नगरवासियों द्वारा जब किले का फाटक तोड़ने और भीतर की स्थिति देखने की तैयारी हुई तो वहाँ बोधिसत्त्व खड़े हुए थे। उन्होंने स्तम्भित प्रजा-जनों को आदि से अन्त तक सारी कथा कह सुनाई।

नगर को यक्षिणी के त्रास से मुक्ति दिला सकने योग्य बोधिसत्त्व ही लगे सो उन्हें राज-सिंहासन पर आरूढ़ कर दिया गया। प्रचण्ड पुरुषार्थ—मनोबल सम्पन्न राजा के कारण यक्षिणियों की मण्डली को भी पलायन करना पड़ा।

सिंहासनारूढ़ बोधिसत्त्व ने कुछ समय उपरान्त प्रबुद्ध प्रजाजनों की एक संसद बुलाई और कहा—शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श की पाँच यक्षिणियाँ इन्द्रिय लिप्साओं के रूप में जहाँ भी आधिपत्य करेंगी, वहाँ के नागरिकों का सर्वनाश होकर रहेगा। जो भी इतना मनोबल जुटाले कि इन दुष्प्रवृत्तियों से जूझ सके, वह जीवन संग्राम में निश्चित ही विजय पाता है।''

उपलब्धियाँ नहीं आधार आवश्यक

श्रावस्ती के विशाल वेलुवन में भगवान् बुद्ध का धर्म दीक्षा समारोह आयोजित किया गया। नगरवासी प्रतिदिन उनके धार्मिक प्रवचन में भाग लेते और अमृतवाणी का दिव्य लाभ प्राप्त करते। धर्म जीवन के लिये क्यों आवश्यक है? अभिमुख होने से मनुष्य अपने यथार्थ स्वरूप को कैसे पहचानता है? इन पर तथागत की सूक्ष्म मीमांसायें और मार्गदर्शन लोगों के हृदय में नई प्रेरणायें भरते। श्रावस्ती में इस तरह धर्म साकार हो उठा।

स्वार्थ की संकीर्णता और पूर्वाग्रह में ग्रस्त व्यक्ति के पास भगवान् भी पहुँच जायें तो भी उसकी जड़ता में अन्तर नहीं आता। वक्कलि था तो ब्राह्मण किन्तु गुण, कर्म, स्वभाव में ऐसी एक भी बात नहीं थी जिसमें उसका ब्राह्मणत्व झलकता। कई दिनों तक तो वह भगवान् बुद्ध के प्रवचन तो क्या दर्शनों तक के लिये नहीं गया, किन्तु जहाँ सारा नगर उमड़ रहा हो, जनसागर सम्पूर्णतः श्रद्धा से आविर्भूत हो रहा हो, वक्कलि की जिज्ञासा उसे शान्त कैसे बैठने देती? एक दिन नगरवासियों ने वक्कलि को भी वेलुवन समारोह में पाया।

वक्कलि ने भगवान् बुद्ध के प्रथम दर्शन किये। उनके रूप लावण्य, उनकी अद्वितीय तेजस्विता, सुगठित देह यष्टि तथा मुख से प्रकट होने वाली सौम्यता ने वक्कलि का मन मोह लिया। उसका हृदय तथागत के चरणों में लोटने लगा। उसने अनुभव किया यही तो वह मणियाँ थीं, जिनकी उसे खोज थी, उसने किंचित विलम्ब नहीं किया, उसी दिन बौद्ध धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली।

भगवान् बुद्ध ने दीक्षा तो दे दी किन्तु यह बात उनसे छिपी नहीं रह सकी कि वक्कलि ने दीक्षा भले ही ली हो धर्म का एक भी नियम उसने जीवन में धारण नहीं किया। वह नियमित उपासना नहीं करता, आत्मनिरीक्षण तथा आत्मसुधार की आवश्यकता और उपयोगिता भी उसने नहीं समझी। उसकी परमार्थ परायणता सक्रिय तो क्या होती अब तक भी स्वार्थ के बन्दीगृह से मुक्त नहीं हो पाई थी। यदि कुछ था तो बस इतना ही कि वह नियमित संघ गोष्ठी में सम्मिलित अवश्य होता। वहाँ भी उसकी सांसारिक बुद्धि ही मुखर रहती। भगवान् बुद्ध के प्रवचनों में भी उसकी अभिरुचि नहीं थी, वहाँ भी वह बुद्धदेव के सौन्दर्य की ही चर्चा करता रहता।

समय पाकर एक दिन उसने तथागत से पूछ ही लिया भगवान् मुझे भी ऐसी योग साधना बताइये जिससे मैं भी आप जितना ही सुन्दर हो जाऊँ, ऐसी ही तेजस्विता मुझ में भी आ जाये, आप जैसा नवयौवन मुझमें भी फूट पड़े, जिस दिन यह हो जायेगा, उस दिन मैं आपके

धर्म का संसार भर में प्रचार करूँगा, जब तक मेरे पास उक्त आकर्षण नहीं लोग मेरी बात क्यों कर सुनेंगे ?

तथागत मुस्कुराये और बोले—तुम्हारा कथन सत्य है वक्कलि ! तुम्हें शरीर को सुदौल बनाने वाले योग-आसन बताये जा सकते हैं, लावण्य जिस प्राण का प्रस्फुटन है, उसके विकास के प्राणायाम भी बताये जा सकते हैं किन्तु वक्कलि यह सब भी क्षणभंगुर और नाशवान् है। आत्मोत्कर्ष का स्थायी आधार तो धर्म-धारण है। यदि तुम्हें जीवन का एक मर्म समझ में आ जाये कि धर्म ही हमारे प्रगति और प्रसन्नता का मूल आधार है तो फिर तेजस्विता का वरदान तुम्हें स्वतः मिल जायेगा। धार्मिक आचरण की उपेक्षा करके तुम यदि उसे पा भी जाओ तो देर तक स्थिर न रख सकोगे।

वक्कलि को अपनी भूल का पता चल गया उस दिन से उसने आत्म-निरीक्षण और आत्म-सुधार का यथार्थ क्रम अपनाया तो एक दिन वह महान् भिक्षु बना।

आत्मनिर्माण के अधिकारी

श्रावस्ती परम्परावादियों का गढ़ है आर्य-श्रेष्ठ ! आनन्द ने परामर्श दिया—“वहाँ जाने की अपेक्षा यदि राजगृह की परिव्रजा की जाये तो यह उत्तम रहेगा। अभी संघ का संक्रान्ति काल है जब तक जड़ें सुदृढ़ नहीं हो जातीं, संघ-शक्ति समर्थ नहीं हो जाती तब तक संघर्ष की नीति उचित नहीं है।”

तात् ! तुम्हारा कथन ठीक है, तथागत ने समाधान किया—किन्तु युग प्रवर्तक के लिए परिस्थितियों से समझौता करने की नीति भी अनुचित है। सिद्धांत के प्रति अटूट निष्ठा व्यक्त किये बिना प्रामाणिकता सिद्ध नहीं की जा सकती। अस्तु, विवाद की चिन्ता किये बिना श्रावस्ती में ही आयोजन रखा जाना ठीक है।

तथागत श्रावस्ती पधार रहे हैं यह सम्वाद सर्वत्र फैलते देर न लगी। प्रतिक्रियावादी तत्त्वों ने यह सुना तो उन्होंने अपना नया मोर्चा खड़ा कर दिया। अश्वलायन के नेतृत्व में कट्टरपंथी ब्राह्मणों ने बुद्ध से शास्त्रार्थ की रूपरेखा बनाई और नियत समय पर वे तथागत के समक्ष आ धमके और उनकी भर्त्सना करते हुए पूछा—“भन्ते ! आप चारों वर्णों के उद्धार की बात किस आधार पर करते हैं, क्या ब्राह्मणों के अतिरिक्त धर्म दीक्षा का अधिकार और भी किसी को है।”

तथागत मुस्कुराये—उन्होंने स्नेहपूर्वक प्रश्न किया—तात् ! क्या आप बता सकते हैं कि ब्राह्मणों की सर्वोपरिता का आधार क्या है ?

अश्वलायन ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया—उनका ज्ञान, तप, साधना, ब्रह्मवर्चस और निर्लोभ निरहंकरिता।

आप सच कह रहे हैं आचार्य प्रवर ! भगवान् बुद्ध ने अब और अधिक गम्भीरता धारण करते हुए प्रश्न किया—“क्या आप इस बात की पुष्टि करेंगे कि ब्राह्मण चोरी नहीं करते, झूठ नहीं बोलते, व्यभिचार और दूसरी सामाजिक बुराइयाँ वे नहीं करते ?”

मेरा यह तात्पर्य नहीं है भन्ते ! यह अवगुण तो ब्राह्मण में भी होते हैं, किन्तु उनमें धार्मिक संस्कारों की बहुलता रहती है इसलिए

वे श्रेष्ठ हैं—अश्वलायन ने अपने प्रतिपादन में दृढ़ रहने की चेष्टा की।

किन्तु-तभी तथागत ने तूणीर से दूसरा वाण निकाला और यों सन्धान किया—तब फिर आपका कथन यह होना चाहिए कि उक्त अपराध करने पर ब्राह्मण नरक नहीं जायेंगे अर्थात् पतित नहीं होंगे जब कि दुष्कर्म करने के कारण अन्य वर्ग पतित समझे जाते हैं।

गौतम बुद्ध ने हँसते हुए कहा—“ब्राह्मण श्रेष्ठ अश्वलायन ! जिस तरह दुष्कर्म का दण्ड भुगतने के लिए हर प्राणी प्रकृति का दास है, उसी तरह सत्कर्म के पारितोषिक का भी अधिकार हर प्राणी को है फिर वह चाहे किसी भी वर्ण का हो। न तो उपनयन धारण करने से कोई संत और सज्जन हो सकता है, न अग्निहोत्र से—यदि मन स्वच्छ है, अन्तःकरण पवित्र है तो ही व्यक्ति संत, सज्जन, त्यागी, तपस्वी और उदार हो सकता है। यह उत्तराधिकार नहीं साधना है अश्वलायन। इसलिए आत्मोन्नति का अधिकार हर प्राणी को है। इसीलिए हम मानव मात्र को आत्मोत्कर्ष, आत्म-शुद्धि की प्रेरणा और अवसर प्रदान करते हैं। सोचो यदि थोड़े-से संत-ब्राह्मण धरती को स्वर्ग बना सकते हैं तो हर व्यक्ति के अन्तःकरण में मुखरित ब्राह्मण सृष्टि को सुन्दर बना सकता है। यही तो ब्राह्मण के लिए अभीष्ट है अतएव यदि ब्राह्मण इन पुण्य प्रयत्नों में बाधा डालते हैं तो यह उनकी प्रतिगामिता नहीं हुई क्या ?

अब अश्वलायन के पास कोई उत्तर न था, उन्होंने तथागत के आदर्श को न केवल मान्यता प्रदान की अपितु स्वयं धर्म-चक्र प्रवर्तन के महान् कार्य के सहायक बन गये।

कर्तव्य धर्म की साधना

अपनी सहज सकरुण दृष्टि डालते हुए तथागत भगवान् बुद्ध ने पूछा—“अशोक ! स्वस्थ तो हैं न ? प्रजा को कोई कष्ट तो नहीं ? पाटलिपुत्र पर भगवती गंगा का प्रकोप बढ़ रहा था, वह रुक गया या नहीं ?”

और अशोक तब तक मौन थे, जब तक उन्होंने तथागत को प्रणिपात नहीं कर लिया। चरण धूलि मस्तक पर लगाकर वे भगवान् बुद्ध के समीप ही एक ओर बैठ गये। बैठते हुए तथागत के प्रश्नों का उत्तर भी दे डाला—“भगवन् ! आपकी चरण रज जिस मस्तक पर कृपा बरसाये उसके अमंगल की क्रमना तो भगवान् इन्द्र भी नहीं कर सकते। हम स्वस्थ हैं, प्रजा सुखी है, बाढ़ का जल राजधानी की सीमा रेखाओं का स्पर्श छोड़कर पीछे लौट गया है। सब ठीक है किन्तु।” उससे आगे कुछ कहते-कहते वे एकएक रुक गये। सम्भवतः उन्हें अपनी बात सर्वसाधारण के समक्ष व्यक्त करने में संकोच हो रहा था।

कहो, कहो अशोक तुम्हारी व्यग्रता का कारण क्या है ? कौनसी समस्या है, जिसने पाटलि-नरेश को विस्मय में डाला है ? कहो ! कहो ! कुछ संकोच हो रहा हो तो एकांत की व्यवस्था की जाये ?

उपस्थित भिक्षु-भिक्षुणियों एवं सुदूर गणराज्यों से पधारे धर्म-तत्त्व जिज्ञासुओं पर अपनी दृष्टि दौड़ाते हुए पाटलि-नरेश महाराज अशोक

ने अपनी सम्पूर्ण दृष्टि भगवान् बुद्ध पर डाली और विनीत भाव से कहने लगे “नहीं देव ! ऐसी तो कोई बात नहीं पर जो कुछ हुआ, वह ऐसा भी नहीं जिस पर विचार न किया जाये । भगवन् ! पाटलिपुत्र ! अपने नागरिकों की चरित्रनिष्ठा के लिये दूर-दूर तक विख्यात है । यहाँ की कुल वधुयें अपने शील वैभव की सब प्रकार से रक्षा करती हैं । इस देश में उच्छृंखलता का कहीं भी नाम-निशान तक नहीं है, त्यागी और तपस्वियों, विद्वानों और तत्त्वदर्शी सिद्ध पुरुषों का अभाव भी नहीं है पर जो कार्य किसी महान् धर्मनिष्ठ को पूरा करना चाहिये था, उसे शील, सदाचार से सर्वथा रहित कोई नगर वधू को इस विस्मय का समाधान नहीं हो पाता । इसी कारण आज आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ ।

अभी तुम्हारी पूरी बात समझ में नहीं आई अशोक ! हुआ क्या है वह विस्तार से कहो— भगवान् बुद्ध ने उन्हें आश्चर्य करतें हुये पूछा ।

अशोक कहने लगे— “भगवन् ! तीन दिन पूर्व भगवती भारीरथी ने अपना प्रचण्ड रूप धारण किया, नगरकोट की रक्षण दीवारें ही नहीं प्रधान दुर्ग का अस्तित्व भी संकट में पड़ गया । ऐसा लगता था वे इस बार सम्पूर्ण पाटलिपुत्र को अपने जल आक्रोश में डुबो कर ही छोड़ेंगी । घरों में पानी भरने लगा । गायों, बछड़ों के लिए सूखा स्थान नहीं रहा, विकट परिस्थिति की आशंका से सभी लोग कांप गये ।

तब राष्ट्राध्यक्ष के नाते मेरा यह कर्तव्य था कि उस संकट से बचाने का कुछ उपाय करूँ । मैंने सभा-सचिवों से विचार-विमर्श किया । पाटलिपुत्र में जो भी धर्मनिष्ठ एवं विचारशील लोग थे, सब की गोष्ठी बुलाई । लोगों ने बाढ़ के प्रकोप से बचने के लिये अपनी-अपनी तरह के सुझाव दिये । यज्ञ, जप, तप साधन, व्रत और उपवास भी किये गये पर जलराशि सुरसा के शरीर की तरह बढ़ती ही गई । कोई उपाय कारगर न हुआ ।

महान् आश्चर्य— महाभाग कि उस संकट की घड़ी में जब कोई उपाय पाटलिपुत्र की रक्षा करने में समर्थ न हुये तो एक अनिष्ट सुन्दरी नगर-वधू वहाँ आ पहुँची । सुन्दर-सा नाम है उसका, लोग बिन्दुमती के नाम से पुकारते हैं । नगर के धन-सम्पन्न क्रम-लोलुप व्यक्तियों की वासना तृष्णा की पूर्ति ही उसकी आजीविका का माध्यम है । उसने जीवन में कभी तप नहीं किया । माला नहीं फेरी यहाँ तक कि उसने चरित्रनिष्ठा, शील और सदाचार का महत्त्व भी नहीं समझा पर उसने तो धर्म-तत्त्ववेत्ताओं के सम्पूर्ण ऐश्वर्य पर पानी फेर दिया । भगवती गंगा के सम्मुख खड़ी होकर उसने अनन्त जलराशि की आरती उतारी, मैंने उसे एक क्षण के लिये ही ध्यान-मुद्रा में देखा, इसके बाद जो कुछ हुआ, मुख पर लाते हुए भी लज्जा आती है, देव !

हजारों लोगों की भीड़ के सामने उसने भगवान् सूर्यदेव और आकाश को साक्षी बनाया और अश्रुपूरित गद्-गद् गिरा में बोली— “भगवती गंगे ! यदि मैंने सम्पूर्ण जीवन अपने कर्तव्य का पालन निष्ठाभाव से किया हो तो अब अपनी जलराशि समेट लो और मेरे देशवासियों को चैन की साँस लेने दो ।”

एक बूँद, दो बूँद, तीन बूँद— की अविरल झड़ी लग गई । उसकी आँखें बरसती रहीं, उस खारे जल ने मन्दाकिनी की पवित्र जलधारा का स्पर्श मात्र किया था कि इनका प्रकोप अपने आप घट चला । देखते ही देखते भगवती गंगा ने अनाधिकृत प्रदेश से अपना अम्बु-आलोड़ खींच लिया और अपनी चिर-धारा में वेगवती हो उठीं । योगी-सिद्धों और धर्म-तत्त्ववेत्ताओं की यह असमर्थता और शीलरहित नगर वधू की विजय— ऐसा लगता है देव ! कहीं प्रजा भ्रम में न पड़ जाये । लोग धार्मिक मर्यादाओं की अवहेलना न करने लगे । यही मेरी चिन्ता का कारण है ।

भगवान् बुद्ध मुस्कराये, उन्होंने कोई उत्तर या समाधान नहीं दिया । प्रिय शिष्य आनन्द को समीप बुलाकर कान में कुछ कहा और उस दिन की धर्म सभा विसर्जित कर दी । महाराज अशोक के आतिथ्य की सम्पूर्ण व्यवस्था करने के उपरान्त आनन्द कुछ भिक्षुओं के साथ पाटलिपुत्र की ओर जाते दिखाई दिये ।

भगवान् बुद्ध इस समस्या का क्या उत्तर देते हैं, यह जानने की सभी में प्रबल जिज्ञासा थी । इसलिये रात सभी ने बेचैनी और प्रतीक्षा में व्यतीत की । प्रातःकाल हुआ, देवी ऊषा का आगमन होते ही कई चौंवरधारी भिक्षु आश्रम की व्यवस्था में जुट गये । ऐसा लगता था, जैसे आज कोई बड़े धर्मोत्सव की तैयारी की जा रही हो । सभी अपनी दैनिक उपासनायें कर सभा-कक्ष में जुड़ने लगे । थोड़ी देर में सभा-भवन पूरी तरह भर गया । सम्राट अशोक भगवान् बुद्ध के समीप बैठे ।

एक भिक्षु ने सूचना दी भगवान् आनन्द पाटलिपुत्र से आ गये हैं, नगर-वधू बिन्दुमती उनके साथ ही हैं । अशोक चौंके पर इससे पूर्व वे कुछ पूछें, भिक्षु भगवान् बुद्ध का संकेत पाकर बाहर निकल गया । थोड़ी ही देर में शिष्य आनन्द के साथ बिन्दुमती ने उस सभा मण्डप में प्रवेश किया । उसका सौन्दर्य उतना आकर्षक नहीं था, जितना स्वाभिमान । जीवन भर लोगों की वासना की पूर्ति करने वाली नारी के मुख-मण्डल पर भी इस प्रकार का सन्तोष और बरबस आकृष्ट कर लेने वाली गम्भीरता भिक्षुओं और अन्य सभासदों की गम्भीरता से कम न थी । भगवान् बुद्ध ने उसका स्वागत ठीक उसी तरह किया, जिस तरह श्वसुरालय से लौटी हुई पुत्री का स्वागत एक पिता भरे हुए हृदय से करता है । तथागत की आज्ञा से बिन्दुमती उनके पास ही बैठी । सारी सभा में सन्नाटा छाया हुआ था ।

भगवान् बुद्ध ने एक बार सारे सभासदों की ओर अध्ययन दृष्टि से देखा और फिर अत्यन्त करुणा भरी दृष्टि से बिन्दुमती की ओर देखते हुए कहा— “पुत्री ! पाटलिपुत्र के नागरिक और स्वयं सम्राट अशोक को विस्मय है कि तू भ्रष्ट, वासना-लोलुप और दूसरों का धन हरण करने वाली वेश्या है । तुझमें वह कौन-सी शक्ति थी, जिसने भगवती गंगा को भी अपनी बाढ़ समेटने को विवश कर दिया ?”

बिन्दुमती ने एक बार तथागत के चरणों पर दृष्टिपात किया और एक शक्ति-सी अनुभव करती हुई बोली— “वह मेरी नहीं कर्तव्य-निष्ठा की शक्ति थी ।”

अशोक ने पूछा कर्तव्यनिष्ठा की शक्ति तुझमें कैसे सम्भव है ? बिन्दुमती बोली— “महाराज ! मैंने आजीविका के लिये अपने शरीर का व्यापार किया है, वासना के लिये नहीं और अपने कर्तव्य का पालन पूर्णनिष्ठा के साथ किया । धनी, निर्धन, ब्राह्मण, शूद्र का भेदभाव किये बिना मैंने प्रत्येक ग्राहक को सन्तुष्ट किया है । जिसका धन लिया उसके साथ विश्वासघात नहीं किया, वरन् उसकी इच्छा से कुछ अधिक ही सन्तोष उसे प्रदान किया । यही मेरी सत्यनिष्ठा है । जिसने गंगा जी को भी प्रभावित किया ।”

और इससे पूर्व कि भगवान् बुद्ध कुछ कहें नृपति अशोक स्वयं उसके चरणों पर जा गिरे और बोले— “भद्रे ! तुम्हारा कथन सत्य है । निश्चय ही अपने कर्तव्य का निष्ठापूर्वक पालन करने से बड़ा और कोई धर्म नहीं है ।

अपमान और युक्ति का अन्तर

राजगृह के एक चरवाहे की पत्नी बड़ी कला-कुशल थी । नृत्य और संगीत विद्या में उसे ऐसी निपुणता प्राप्त हुई थी कि कुलीन घरानों की कन्यायें भी उससे ईर्ष्या करती थीं । सच है साधना और अभ्यास से छोटे व्यक्ति सम्पन्न व्यक्तियों के समकक्ष योग्य और श्रद्धास्पद हो जाते हैं । चरवाहे की पत्नी को इस कला-निपुणता के कारण राज-दरबार तक में आमंत्रित किया जाता था ।

राजगृह में एक बड़े उत्सव की तैयारी हुई । उसमें नृत्य के लिये इसी ग्वाले की पत्नी को कहा गया । स्त्री उन दिनों गर्भवती थी, उसने बहुत मना किया पर सामंतों ने एक न सुनी । उसे अपमानित और विवश किया गया कि वह नृत्य करे ।

नृत्य तो किया उसने पर इस अपमान से उसके हृदय में प्रतिशोध भड़क उठा । यह प्रतिशोध का भाव मृत्युपर्यन्त उसके मन से नहीं गया । दूसरे जन्म में वह यही संस्कार लेकर यक्षिणी होकर राजगृह में ही जन्मी ।

जहाँ उसमें इस प्रतिशोध और दुर्भावना के संस्कार थे वहाँ पूर्व जन्मों की कला और ज्ञान का संचित कोष भी उसे संस्कार रूप में मिला । इसी कारण वह अपने पिता के स्थान पर नगर देवता की पुजारिन भी नियुक्त की गई ।

जहाँ श्रेष्ठ कर्म और साधना ने उसे इस जीवन में सुखद परिस्थितियाँ दीं, वहाँ पूर्वजन्म का प्रतिशोध पाप की प्रेरणा बनकर फूटा । यक्षिणी जिसका नाम हारीति था, नगर के बच्चे चुरा-चुराकर मारने और उनका भक्षण करने लगी । पुण्य की आड़ में पल रहे इस पाप को लोगों ने बहुत दिन बाद जाना । जब राजगृह नरेश को उसका पता चला तो उन्होंने हारीति को बन्दी बनाकर कारागृह में डाल दिया ।

सामान्य व्यक्ति असामान्य घटनाओं को भी सामान्य दृष्टि से देखते हैं पर महापुरुषों की पैनी दृष्टि जब तक दूर तक विचार नहीं कर लेती, कोई तत्काल निर्णय नहीं देती । भगवान् बुद्ध ने जब सुना कि हारीति को अनेक बालकों के वध के अभियोग में बन्दी बना लिया गया है, तब उनके मस्तिष्क में एक हलचल उठ खड़ी हुई कि ऐसे

कुत्सित संस्कार इस विदुषी और कला-निष्णात बालिका में आये कहा से ? अन्तर्दृष्टि से उन्होंने देखा यह सब पूर्व जन्मों के कर्म और उसके साथ हुए दुर्व्यवहार का परिणाम है, उसके लिये सर्वथा उसे ही दोषी नहीं ठहराया जा सकता ।

राजगृह नरेश से कहकर इधर तो उसे कारावास से मुक्त करा दिया, उधर उसके बच्चे की चोरी करा ली । पुत्र के खो जाने से उसे मर्मान्तक पीड़ा हुई । उसकी करुणा, उसका वात्सल्य भाव तीव्र रूप में जाग्रत हो उठा, तब उसने अनुभव किया कि ऐसा ही कष्ट उन माताओं को भी हुआ होगा, जिनके बच्चे चुराकर उसने भक्षण का लिये हैं ।

पुत्र-वियोग से दुःखी हारीति का मन पश्चाताप से भर गया । वह भगवान् बुद्ध के पास गई और बोली— “भगवन् ! मेरे कर्मों का फल तो मुझे मिल गया पर अब यह बतायें कि उस पाप से मुक्ति कैसे मिले ।”

बुद्ध ने कहा— “अब तक तुम ने शिशुओं का भक्षण किया है, अब तुम शिशुओं की रक्षा और विकास में जुट जाओ । उसी से तुम्हें शांति मिलेगी । समाज के साथ की हुई छोटी-सी भूल भी तब तक नहीं धुलती, जब तक सेवा के साबुन से उसे धोकर साफ न कर दिया जाय ।”

हारीति आजीवन बच्चों की रक्षा और उन्हें भगवान् मानकर सेवा करती रही, जिससे अन्तिम समय उसे शांति मिली और दूसरे जन्म में वह शांति यक्ष की पुत्री अभिरति हुई । उसका विवाह कुबेर के साथ हुआ ।

उन्नति का श्रेष्ठ मार्ग—त्याग

भगवान् गौतम बुद्ध के समय में बिहार में महातीर्थ नाम का एक स्थान था । वहाँ कपिल नाम का एक बहुत धनवान ब्राह्मण निवास करता था, जिसका एकमात्र पुत्र पिप्पली नाम का बड़ा ही सच्चरित्र और धर्मात्मा था । जब वह बड़ा हुआ तो माता-पिता ने उसका विवाह करने का विचार किया । इसका हाल मालूम होने पर पिप्पली ने माता से कहा— “आप मेरे विवाह का प्रबन्ध न करें ।”

माता— तुम यह कैसी बात कहते हो ? विवाह का प्रबन्ध क्यों न करें । अब तुम गृहस्थी का बोझ सँभालने लायक हो चुके हो । इस अवस्था में विवाह न करने से भलाई के बजाय बुराई ही मानी जाती है । इसके सिवाय बहू के घर में आने से मुझे भी घर के भार से कुछ अवकाश मिलेगा और मैं धर्म साधन की तरफ ध्यान दे सकूँगी ।

पिप्पली— पर माताजी मैं किस काम के लिये हूँ ? आप दोनों की सेवा करना ही तो मेरा सबसे बड़ा धर्म है । इसलिये आप जिस प्रकार चाहें जीवन व्यतीत कर सकते हैं, मैं आपकी सब प्रकार से सेवा करता रहूँगा । आपके बाद मैं संन्यासी हो जाऊँगा ।

माता— तुम्हारा विचार उचित नहीं है । अगर बिना विवाह किये तुम संन्यासी बन जाओगे तो वंश-क्रम कैसे स्थिर रहेगा और बिना सन्तान के पूर्वजों को पिण्डदान कौन करेगा ? इसलिये तुम्हारा कर्तव्य

१.३२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

यही है कि पहले विवाह करके नियमानुसार ग्रहस्थ धर्म का पालन करो और फिर समय आने पर संन्यास ग्रहण करो ।

पिप्पली ने जब देखा कि माता इस बात के लिये कभी राजी न होगी तो उन्होंने एक दूसरा बहाना ढूँढ़ा । उन्होंने एक बहुत ही सुन्दर सोने की स्त्री की मूर्ति बनवाई थी । उसे वस्त्रों से खूब सजाकर कहा माताजी, जो लड़की इतनी सुन्दर होगी, उसी के साथ मैं विवाह करूँगा ।

माता ने इस बात को मान लिया और कई ब्राह्मण उस मूर्ति को लेकर देश-विदेश में वैसी कन्या ढूँढ़ने चले । ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वे सागल नामक गाँव में पहुँचे और मूर्ति को नदी के घाट पर रखकर वृक्ष की छाया में किन्नरों के लिये बैठ गये । उसी समय गाँव के एक प्रतिष्ठित पुरुष की दाई वहाँ स्नान को आई । उसे वह मूर्ति अपने मालिक की पुत्री के समान जान पड़ी । उसके अकेले नदी पर आने का विचार करके वह क्रोधित हुई और पास जाकर उसकी पीठ में एक थप्पड़ मारा । ब्राह्मणों ने यह तमाशा देखकर दाई से पूछा कि तुमने हमारी मूर्ति को थप्पड़ क्यों मारा ? दाई ने क्षमा प्रार्थना करते हुये कहा कि यह मूर्ति दूर से मुझे अपने स्वामी की पुत्री भद्र कपिलिनी जैसी दिखलाई पड़ी और उसी भ्रम में मैंने इसे मार दिया ।

ब्राह्मण— ऐसी बात क्यों कहती हो ? भला कोई स्त्री इस मूर्ति के समान सुन्दर हो सकती है ।

दाई— क्यों नहीं हो सकती ? भद्र कपिलिनी अद्वितीय रूपवती है । वह अँधेरे घर में खड़ी हो जाय तो उसके रूप से ही प्रकाश जान पड़ता है ।

यह सुनकर ब्राह्मण भद्र कपिलिनी के पिता कौशिक ब्राह्मण के यहाँ गये और उन्होंने देखा कि वास्तव में उनकी कन्या मूर्ति के समान ही सुन्दरता की खान है । उन्होंने पिप्पली के सब समाचार कौशिक को सुनाये और दोनों का विवाह सम्बन्ध तय करके महातीर्थ चले आये ।

विवाह सम्बन्ध हो जाने का समाचार जब पिप्पली को मालूम हुआ तो वह बड़ा चिन्तित हुआ । वह किसी तरह सांसारिक बन्धन में पड़ना नहीं चाहता था । अब उसने एक और उपाय सोचा और एक पत्र में वास्तविक बात लिखकर उसे एक अन्य ब्राह्मण के हाथ भद्र कपिलिनी के पास भेजा । पत्र के अन्त में यह लिखा था कि “मेरा विचार, अवसर मिलते ही संन्यास ग्रहण करने का है, अतएव तुम अपने पिता को यह बात बतलाकर अन्य वर से विवाह की व्यवस्था करो तो अच्छा है ।”

उधर भद्र कपिलिनी भी ऐसे ही विचारों की थी और देश में उसने सभ्रान्त महिलाओं को बौद्ध भिक्षुणी के रूप में भ्रमण करते देख कर वैसा ही जीवन व्यतीत करना चाह रही थी । उसने भी पिप्पली के नाम एक पत्र भेजा जिसमें अपनी यह इच्छा व्यक्त की थी । संयोगवश दोनों पत्र ले जाने वाले ब्राह्मण मार्ग में मिल गये । जब वर कन्या दोनों के मनोभाव एक से ही प्रकट हुये तो उन लोगों ने सलाह करके एक नई योजना की । उन्होंने दोनों असली पत्र तो पढ़कर फेंक दिये और दो नये पत्र लिखे जिसमें दोनों तरफ से विवाह की स्वीकृति की

बात लिखी थी । इस प्रकार यह चाल चल गई और उन दोनों का विवाह हो गया ।

कुछ समय बाद जब पिप्पली के माता-पिता मर गये तो गृहस्थी का भार उसके सँभालना पड़ा । उस समय हिसाब लगाने से जान पड़ा कि उसके पिता कई करोड़ रुपया और बत्तीस गाँव उसके लिये छोड़ मरे हैं । पर पिप्पली जमीन-जायदाद की व्यवस्था में बहुत कम ध्यान देता था । एक दिन संयोगवश वह एक खेत पर पहुँच गया जिसे मजदूर लोग जोत रहे थे । उसने देखा कि मिट्टी के साथ केंचुए आदि जीव ऊपर आ जाते हैं और कौये उनको खा रहे हैं । इस पर पिप्पली ने पूछा—

“भाइयो, ये पक्षी क्या खा रहे हैं ?”

नौकर— स्वामी, ये केंचुए हल चलाने से ऊपर आ जाते हैं, उन्हीं को कौए खा जाते हैं ?

पिप्पली— तो इनको मिट्टी में ही दबा दो जिससे कौए उनको देख न सकें ।

नौकर— ऐसे खेत नहीं जोता जा सकता एक-एक केंचुए को कहाँ तक दबाया जा सकता है ? बहुत-से केंचुए तो हल के लोहे से पृथ्वी के भीतर ही मर जाते हैं । यह तो ऐसा ही कार्य है ।

पिप्पली— आखिर इसमें जीव की हिंसा तो होती ही है, इसका उत्तरदाता कौन होगा ?

नौकर— जो खेत जुतवाता है वही होगा ।

पिप्पली— मुझे क्या चाहिये ? आधा सेर आटे के लिये मैं इतना पाप अपने सिर पर क्यों लूँ ? मैं आज ही समस्त सम्पत्ति भद्र कपिलिनी को देकर संन्यास ग्रहण कर लूँगा ।

उधर भद्र कपिलिनी के साथ भी ऐसी ही घटना हुई । उसने पुराना अचार निकलवाकर धूप में सुखाने को फैलवाया तो देखा कि उसमें कीड़े पड़ गये हैं और कई तरह की चिड़ियाँ उनको चुन-चुन कर खा रही हैं ।

भद्र कपिलिनी— यह अचार सुखाना भी एक बड़ी हत्या है । आखिर इसका पाप किसको लगेगा ?

दासी— अगर यह हत्या है तो इसका पाप उसी को लगेगा जिसका यह अचार है ।

भद्र कपिलिनी मुझे ऐसी गृहस्थी की क्या आवश्यकता है ? दो गज कपड़ा और दो मुट्ठी अनाज मैं तो मेरा निर्वाह हो जाता है । मैं आज ही इस समस्त भार को त्याग कर भिक्षुणी बन जाती हूँ ।

उस दिन दोपहर के समय जब वे भोजन करने को बैठे तो पिप्पली ने अपना निश्चय पत्नी को बतलाया । पत्नी पहले से ही तैयार बैठी थी । बस, दोनों ने विचार किया कि कल प्रातःकाल ही इस घर-बार, सम्पत्ति और जायदाद को ज्यों का त्यों छोड़कर जंगल में निकल जायें ।

दूसरे दिन सुबह ही वे गेरू का वस्त्र पहन कर कमंडल हाथ में लेकर घर से निकल पड़े । जिन नौकरों और गाँव के लोगों ने उनको पहिचान लिया वे उनके पीछे-पीछे चले और प्रार्थना करने लगे कि हमको अनाथ करके मत चले जाइये ।

पिप्पली ने कहा कि मैं न तो किसी को बन्धन में रखना चाहता हूँ और न किसी प्रकार की सम्पत्ति की मुझे आवश्यकता है। इसलिये आज से तुम्हीं अपने खेतों के मालिक हो गये।

जब वे नगर से दूर पहुँचे तो पिप्पली के मन में विचार आया कि संन्यास ले लेने पर भी अगर वे दोनों साथ-साथ रहेंगे तो लोग उनके पाखंडी समझेंगे। यद्यपि इससे हमारी तो कोई हानि नहीं होगी, पर लोगों में पाप-भावना की वृद्धि होगी। जब यह बात भद्र कपिलनी ने सुनी तो उसने भी इसे उचित बतलाया और वह पिप्पली की तीन बार परिक्रमा करके हाथ जोड़ कर बोली—“स्वामी, कितने ही जन्मों का हमारा जो सम्बन्ध था वह आज टूट रहा है, आप बड़े हैं, इसलिये सीधे मार्ग पर चलते जाइये। मैं छोटी हूँ इसलिए इस बाई ओर के मार्ग को ग्रहण करती हूँ। इस प्रकार ये धर्मात्मा पति-पत्नी, जिन्होंने विवाह करने पर भी संयम का पूर्णतया पालन किया था और एक-दूसरे के संस्पर्श से सदैव बचे रहे थे, दूसरों को पाप से बचाने के लिये अलग हो गये।

कहते हैं कि उनके महान् त्याग से पृथ्वी हिलने लगी और उसका हिलना भगवान् गौतम बुद्ध ने अनुभव किया। वे उसी समय आसन पर से उठ कर आकाश मार्ग से उनका स्वागत करने को शीघ्र ही मौके पर जा पहुँचे। वे रास्ते में एक पेड़ के नीचे बैठ गये। जब पिप्पली वहाँ आये तो उन्होंने देखा कि भगवान् की देह से एक अत्यन्त रमणीय देवीय ज्योति प्रकट हो रही है।

पिप्पली— भगवान् मैं आप जैसे ही किसी गुरु की खोज में था, मुझे शरण में लीजिये।

भगवान् बुद्ध— प्यारे कश्यप, आओ! मैं तुम्हें लेने को ही यहाँ आया हूँ।

आज से पिप्पली का नाम कश्यप हो गया। वे भगवान् के महात्यागी और प्रिय शिष्य हुये। किसी समय भगवान् के साथ रहने में भी उनके कष्ट समझ कर हिमालय में तप करने चले गये। वहाँ से वे उसी समय लौटे जब भगवान् बुद्ध का देहावसान हुआ। उस अवसर पर बुद्ध धर्म की व्यवस्था करने के लिये पाँच सौ मुख्य भिक्षुओं की जो सभा की गई उसके प्रधान कश्यप ही नियत किये गये।

संकल्पवान बनने की प्रेरणा

महानगरी तक्षशिला को नई दुल्हन की तरह सजाया गया था। अभिजात गौतम और उनके नवदीक्षित शिष्य अंगुलिमाल के स्वागत हेतु राज-प्रासाद में एक महोत्सव मनाया जा रहा था। जगह-जगह वन्दन-द्वार तथा तोरण बाँधे गये थे। व्यापारियों ने उन द्वारों पर अपनी वस्तुएँ लटकवायीं तथा अभिनन्दनीय विशिष्ट व्यक्तियों के वन्दन-द्वार से नीचे गुजरते ही पुष्प वर्षा होने की व्यवस्था की थी।

आज मध्याह्न के समय भगवान् बुद्ध अपने शिष्यों के साथ दुर्दम्य दस्यु अंगुलिमाल से त्रस्त मार्गों का विहार कर रहे थे कि उस दस्यु ने उन्हें रोक लिया। घुटे हुए सिर और शान्त, संन्यास के आत्म तेज से दीप्त मुख-मण्डल को देखकर अंगुलिमाल ठिठक गया।

तत्क्षण ही उसके भीतर का दस्यु जाग उठा और बोला—“अंगुलिमाल विचार क्या कर रहा है। अपनी योजना को पूरा कर।”

“ऐ भिक्षु! अंगुलिमाल कड़ककर बोला—“अपने परमेश्वर को याद कर ले। तेरी मृत्यु निकट है।”

“तुम कौन हो वत्स—” बुद्ध ने प्रश्न किया।

“मुझे सारी दुनिया जानती है फिर भी तुम्हारे लिए मेरा परिचय आवश्यक है तो जान लो मैं अंगुलिमाल हूँ। मैंने एक हजार लोगों की अंगुलियाँ काटकर उनकी माला पहनने का निश्चय लिया है। इसी कारण तुम्हें भी मृत्यु का वरण करना पड़ेगा।”

“अंगुलियों की ही माला बनानी है न—” गौतम ने कहा—“तो काट लो अंगुलियाँ उसके लिए मेरी हत्या का अपराध क्यों अपने सिर लेते हो।”

नीरव वातावरण में एक अट्टहास गुँजा और दस्यु ने उपहासास्पद शब्दों में कहा—“कायर! मौत से डरते हो। मुझे हत्या करने में रस आता है। तुम मौत से डरते हो तो प्रतिवाद करो याचना नहीं।”

“वत्स—” भगवान् बुद्ध ने कहा—“मैंने मृत्यु भय को जीत लिया है और मेरा जीवन लोक-हित के लिए अर्पित है। इसलिए असमय मृत्यु को पाना नहीं चाहता। मेरी मृत्यु से यदि तुम्हारा हित हो सके तो मैं प्रसन्नता से तैयार हूँ परन्तु जब तुम्हारा संकल्प मात्र सहस्र व्यक्तियों की अंगुलिमाला का है तो उस संकल्प को ही पूरा करूँगा।”

अंगुलिमाल ने गौतम को मारने के लिए अपना खड्ग उठाया ही था कि शान्त, धीर और नम्र शैली में बुद्ध के उपरोक्त वचनों ने उसके अन्तराल में एक द्वन्द्व मचा दिया। अपनी मूर्खता पर उसे पश्चाताप होने लगा और वह बुद्ध के चरणों में नतमस्तक हो गया।

“मैं गलती पर था भगवन्! मुझे क्षमा करो। मेरे उद्धार का रास्ता बताओ।”

गौतम ने अंगुलिमाल को उठाकर छाती से लगा लिया और उसे अपने भिक्षु संघ में सम्मिलित होकर पापों को हलका करने की प्रेरणा दी। जिस अनुपात में ईश्वरीय विधान का उल्लंघन हुआ है उसी अनुपात में सत्प्रवृत्तियों के अभिवर्द्धन की चेष्टा करना सच्चा प्रायश्चित्त है। भगवान् बुद्ध की ऐसी मान्यता थी।

तक्षशिला में इस हृदय परिवर्तन की चतुर्दिक् चर्चा थी। एक भयानक नर पशु को नर नारायण में परिणति का उल्लास था।

राज-प्रासाद में अभिजात गौतम के प्रवेशोपरान्त उत्सव का शुभारम्भ हुआ। लोगों ने गुरु शिष्य का पूरे मन से स्वागत किया अन्त में भगवान् बुद्ध ने जन-समुदाय को सम्बोधित करते हुए कहा—“भिक्षुओं और गणप्रेष्ठो! अंगुलिमाल ने स्वयं को विजय किया परन्तु पूर्व ही जीवनचर्या में भी वह व्रतहीन मनुजों से श्रेष्ठ था। जो लोग व्रतहीन होते हैं वे अपने जीवन का कोई मूल्यांकन नहीं करते। एक सहस्र नर-अंगुलियों की माला निर्मित करने का संकल्प अमानवीय भले ही हो पर अव्रती जीवन से श्रेष्ठ था।

जो संकल्प करते ही नहीं उन्हें आत्म तुष्टि से भी वंचित होना पड़ता है और आत्म तृप्ति से भी ।

“अंगुलिमाल की व्रत निष्ठा मैं सद और असद के अन्तर्द्वन्द्व में सत्प्रेरणाओं की विजय हुई परन्तु प्रेरणाहीन मनःभूमि अंगुलिमाल के पूर्व जीवन से भी ज्यादा पतित है इसलिए तुम भी संकल्पवान् होओ । व्रतधारी बनो और निर्धारित लक्ष्य की ओर चल पड़ो ।”

कोई किसी का नहीं

महारानी उम्बरा बहुत बीमार थीं । रत्न जटित रेशमी गद्दों पर भी उसे एक क्षण के लिए चैन नहीं मिल रहा था । पल-पल पर करवटें बदलती और ईश्वर से शीघ्र ही प्राण हर लेने अथवा स्वस्थ कर देने की प्रार्थना, न केवल वह स्वयं ही कर रही थी, अपितु परिचर्या करने वाले तथा दर्शकगण भी यही इच्छा कर रहे थे ।

प्रार्थना में बड़ा प्रभाव होता है । सब की सामूहिक प्रार्थना भगवान् ने सुन ली और उन्होंने यमराज को आज्ञा देकर महारानी को अपने यहाँ परम सुखमय एवं शांतिदायक लोक में बुला लिया । रानी के प्राणान्त से सारे राजमहल और पोतली नगर में शोक छा गया । राजधानी से राज्य में खबर फूट निकली और कश्मी राज्य भर में लोग रानी की मृत्यु का शोक करने लगे ।

सारे राज्य और राजधानी का यह हाल था तो महाराज अस्सक का क्या पूछना । उम्बरा उनको प्राणों से भी प्यारी थी । उसके न रहने से वह तो बेसुध पड़े हुए थे । जब कभी होश में आते तो रानी के रूप-लावण्य, बुद्धि तथा गुणों का वर्णन करते-करते फिर मूर्छित हो जाते । कभी-कभी मूर्छित अवस्था में भी प्रलाप कर उठते और जीवन के महत्त्वपूर्ण अवसरों पर उसकी बुद्धि की विलक्षणता तथा व्यवहार कुशलता के विषय में बड़बड़ाने लगते ।

जब अनेकों प्रयत्न करने पर राजा को चेत न हुआ तो मन्त्रियों ने रानी को तेल की नाव में रखवा दिया क्योंकि राजा को चेत नहीं हो रहा था । तो उसका दाह-संस्कार कौन करता ? यदि किसी प्रकार संस्कार भी कर देते तो राजा के मस्तिष्क में विकृति आने का भय था ।

कई दिन बीत गए । राजा न उठता न बैठता । दिन-रात रोता, चिल्लाता, विलाप करता रहता । भाई, बहन, नाते-रिश्तेदार, मित्र, अमात्य, आचार्य, पुरोहित, कुलगुरु सबने इस शरीर की अनित्यता और संस्कारोंवश आत्मा के आवागमन की बात समझाते किन्तु उसकी समझ में न आती और वह विलाप करने लगते ।

रानी उम्बरा वास्तव में बहुत ही सुन्दरी, गुणवती और व्यवहार कुशल थी । वह राजा को एक कुशल मंत्री का काम देती थी । पत्नी को पति की गृह-मन्त्राणी कहते हैं किन्तु वह राजा के राज्य कार्य में भी बड़े विवेक और बुद्धि कौशल से सहायता देती थी । अतः राजा का शोक व विलाप करना भौतिक व सांसारिक दृष्टि से ठीक ही था ।

रोते-पीटते कई दिन बीत गए । राजा न कुछ खाता-पीता और न ही सोता लोगों को बहुत चिन्ता हुई ।

उस समय बोधिसत्त्व पाँच अभिज्जा और आठ सभापतियाँ लेकर हिमालय पर तपस्वी की भाँति विचरा करते थे । जम्बूद्वीप का दिव्य चक्षु से निरीक्षण करते समय राजा को इस स्थिति में पड़ा देख उन्हें दया आ गई । उन्होंने उसकी सहायता करने का निश्चय किया । उनके योगबल से ऋद्धिसिद्धियाँ प्राप्त थीं ही, तुरन्त आकाश में उड़कर राजा के बाग में उतरे और एक पत्थर की शिला पर बैठ गए । उनके मुख-मुण्डल से तेज प्रकाशित हो रहा था । दूर से ही देखने वाले को उनके तेज से दिव्य-आत्मा होने का आभास होने लगा ।

माणवक नामक एक पोतली निवासी ब्राह्मण किसी कार्यवश उद्यान में गया । बोधिसत्त्व के तेज को देखकर स्तम्भित रह गया । फिर प्रणाम करके प्रयोजन न होते हुए भी दिव्य-पुरुष जान उनके पास पहुँचा । बोधिसत्त्व ने तो अपने योगबल से उसे बात करने के लिए, अपना काम निकालने के लिए बुलाया ही था, जो माणवक नहीं जानता था । बोधिसत्त्व ने माणवक से पूछा— यहाँ का राजा कौन है ? राजधानी में इस प्रकार शोक और निस्तब्धता क्यों छा रही है ?

माणवक— “भन्ते ! यहाँ का राजा अस्सक है । अपनी पटरानी की मृत्यु के शोक में विकल, शोकग्रस्त, विलाप करता हुआ पड़ा है । खाना, पीना, सोना सभी छोड़कर अपने भी प्राण गँवाने की तैयारी कर रहा है । उसी के शोक से इस नगर में भी स्तब्धता और शोक का वातावरण छाया हुआ है ।”

बोधिसत्त्व— क्या राजा धार्मिक है ? उसका प्रजा के प्रति व्यवहार पुत्रवत् है ? प्रजा की रक्षा व भलाई के लिए सदैव तत्पर रहता है ?

माणवक— हाँ भगवन् ! राजा महान् धार्मिक है किन्तु अपनी पत्नी की मृत्यु के कारण उसके शरीर को तेल की नाव में रखे रोता पीटता है । आज सात दिन से उसने अन्न-जल ग्रहण नहीं किया है । आप महापुरुष, महान् आत्मा हैं । हमारे राजा को इस कष्ट से क्यों दूर नहीं करते ? आपके होते हुए राजा अज्ञानी की भाँति इस प्रकार सांसारिक कष्ट सहे यह उचित नहीं है । आप अवश्य ही उनको ज्ञान का उपदेश करके दुःख से छुड़ाइये ।

बोधिसत्त्व— हे ब्राह्मण ! मैं राजा को नहीं जानता और न ही मैं राज-प्रासादों में जाता हूँ । यदि वह आकर हम से मिले और पूछे तो हम उसकी भार्या के जन्म ग्रहण करने का स्थान बतला कर उससे बात-चीत करा देंगे ।

माणवक— भन्ते ! तो जब तक मैं अपने राजा को समझा-बुझा कर यहाँ लेकर आऊँ, तब तक आपको यहीं कष्ट करना होगा ।

बोधिसत्त्व— अवश्य ! आप राजा को लाइये, मैं यहीं किन्नाम करता हूँ ।

बोधिसत्त्व से वचन लेकर माणवक राजा के पास गया । सारा वृत्तान्त सुना कर राजा से उसने प्रार्थना की— ऐसे महात्मा जिसे दिव्य-दृष्टि प्राप्त है, अपने योग बल से आपको रानी से मिलाकर बात करा सकता है । ऐसे व्यक्ति से मिलकर इस अवसर से अवश्य लाभ उठाना चाहिए ।

राजा, माणवक की बात सुन कर बहुत प्रसन्न हुआ और महात्मा के योगबल एवं प्रतिभा की बात सुनकर पैदल ही उनके पास जाने को तैयार हो गया किन्तु इतने दिन से शोकतुर पड़े रहने के कारण, बिना अन्न-जल के रहने से अत्यन्त निर्बल हो गया था। अतः सबने समझा-बुझाकर सवारी पर जाने को तैयार कर लिया।

पालकी में सवार हो राजा माणवक और अमात्यों के साथ उद्यान में पहुँचा जहाँ बोधिसत्त्व बैठे उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे।

राजा ने पहुँचते ही बोधिसत्त्व को प्रणाम किया और आतुरता से निवेदन किया— भगवन् ! क्या आप सचमुच यह बात जानते हैं कि देवी उम्बरा कहाँ है ? उसने कहाँ जन्म लिया है ?

बोधिसत्त्व— हाँ महाराज ! यही नहीं, मैं उसकी आप से बात भी करवा दूँगा। आपको उससे मिलवा भी दूँगा।

राजा विचारों के उतार-चढ़ाव में बहने लगे। उम्बरा के प्रेम में अतीत की बातों का स्मरण करके उससे मिलने के लिए आतुर होकर बोले— महात्मन् ! बतलाइये कि वह कहाँ पैदा हुई है ?

बोधिसत्त्व— राजन् ! वह अपने रूप-लावण्य और यौवन के मद में रहने के कारण प्रमादवश तथा कुछ पूर्वजन्म के अवशिष्ट कुसंस्कारों के कारण अपने जीवन में कुछ अच्छे कार्य नहीं कर पाई है, थोड़े ही समय में अपनी जीवन-यात्रा समाप्त करके चल बसी है। उसने इसी उद्यान में गोबर के कीड़े की योनि में जन्म लिया है।

बोधिसत्त्व— तुम्हें विश्वास नहीं हो सकता, यह स्वाभाविक ही है। कोई भी व्यक्ति अपने प्रियजनों के लिए अशुभ या अमंगल कामना नहीं करता और न ही उसके अमंगल की बात पर तुरन्त विश्वास ही करता है। अच्छा ! तुझे दिखाकर उस से बातचीत करवाता हूँ, तब तेरी समझ में आ जायेगा कि बात सही है।

बोधिसत्त्व ने अपने योगबल का प्रयोग किया। दो गोबर के पिण्ड लुङ्कते-लुङ्कते आकर्षित हुए उनके पास आकर रुक गए। बोधिसत्त्व ने राजा को दिखाया— महाराज ! देखो, यह तुम्हारी उम्बरा तुम्हें छोड़ गुबरीले के पीछे दौड़ रही है।

राजा— भन्ते ! मुझे विश्वास नहीं होता। कैसे उम्बरा ने गोबर के कीड़े की योनि पाई है ?

“तो सुनो !” बोधिसत्त्व ने अपने योगबल से ही गुबरी को बुलाते ही पूछा— उम्बरा !

हाँ भन्ते ! क्या आज्ञा है ? तू पूर्वजन्म में कहाँ थी, तेरा क्या नाम था ?

भन्ते ! मैं अस्सक राजा की पटरानी उम्बरा। इस समय तुझे राजा अस्सक प्रिय है या यह गुबरीला ?

भन्ते ! पूर्व जन्म में वह मेरा-पति परमेश्वर था। उसके साथ इसी बाग में रस, रूप, गन्ध और स्पर्श का आनन्द लेती हुई विहार करती हुई, प्रेमोन्मत्त हो जाती थी। अब यह हमारा नया जन्म है। इस जन्म में उससे हमें क्या सम्बन्ध ? अब तो हम को यह गुबरीला ही प्रिय है जिसके ऊपर ऐसे अनेकों राजा अस्सक निछावर होते हैं।

राजा अस्सक सुनकर सन्न रह गया। उनका मोहान्धकर दूर हो गया।

बोधिसत्त्व ने भी उसे ज्ञान का उपदेश किया। उन्होंने समझाया— राजन् ! इस संसार में कोई किसी का नहीं है। यह सब जितने प्राणी दिखाई दे रहे हैं, अपने-अपने संस्कारवश जन्म धारण करके नाटक पात्रों की भाँति कार्य कर रहे हैं। समय पूरा होते सभी अपनी कथा को पुराने वस्त्र की भाँति छोड़कर अपने कर्मों के अनुसार नई योनि को, नए वस्त्र की भाँति प्राप्त होते हैं। यह शरीर अनित्य है। इससे मोह करना व्यर्थ है। आत्मा अजर है, अमर है। उसका शरीर से तभी तक संबंध है जब तक वह उस देह में है। जिस प्रकार पात्र जिस समय राजा का लिवास पहन लेता है वह राजा बन जाता है और थोड़ी देर में विदूषक के कपड़े पहन कर आपको हँसी से लोट पोट कर देता है। यदि कोई भी व्यक्ति चाहता है कि उसे उम्बरा की भाँति गोबर का कीड़ा न बनना पड़े तो इन्द्रिय भोगों में ही न पड़े रह कर, इस देह भान सुखों में लिप्त न रहकर, आत्मा को पहचानें। प्राणी मात्र में ईश्वर का दर्शन करके प्रेम, सेवा, दया, न्याय, परोपकार आदि में मन लगाकर कार्य करें और जीवन सफल बनायें।

राजा अस्सक को अब ज्ञान हो गया था। बोधिसत्त्व को प्रणाम करके राज-महल आकर रानी की देह को निकाल कर मिट्टी की भाँति उसका संस्कार किया और अनासक्त भाव से राज्य करने लगा।

आज जियेंगे तो कल सुनेंगे

धर्म प्रचार के लिए भगवान् बुद्ध ने अपने प्रिय शिष्य कलम्भन को भेजते समय आशीर्वाद देकर कहा— “वत्स ! संसार बड़ा दुःखी है, लोग अज्ञानवश कुरीतियों में जकड़े पड़े हैं, जाओ उन्हें जाग्रति का सन्देश दो, इससे बढ़कर और कोई पुण्य नहीं कि तुम उन्हें आत्म-कल्याण का मार्ग दिखाओ।”

कलम्भन ने तत्प्रागत की चरण धूलि मस्तक से लगाई और वहाँ से विदा हो लिया। दिन छिपने में अभी देर थी। कलम्भन एक गाँव पहुँचे। उसमें अनेक लोग कृशकाय बीमार पड़े थे। वहाँ की स्त्रियाँ मलिन वेष में पुरुषों के काम कर रही थीं। बच्चों के शरीर सूखे हुए थे। लगता था, इनको न भरपेट अन्न मिलता है और न बीमारियों से लड़ने को औषधियाँ। शिक्षा की दृष्टि से उनमें कोई चेतना दिखाई नहीं दे रही थी। सब म्लान, मलिन और दुःखी दिखाई दे रहे थे।

कलम्भन को अपनी सेवा का स्थान मिल गया। एक झोंपड़ी के सहारे अपना सामान टिकाकर वह विग्राम की मुद्रा में बैठ गये और सारे गाँव में यह समाचार फैला दिया— “भगवान् बुद्ध के शिष्य कलम्भन तुम लोगों के दुःख दूर करने आये हैं, तुम लोगों को मुक्ति का मार्ग बताने पधारे हैं।”

बिच्छू का विष शरीर में जिस गति से फैलता है, उसी शीघ्रता से यह बात सारे गाँव में फैल गई। ग्रामीणों के हर्ष का ठिकना न रहा। सबने कलम्भन के लिये विग्राम के लिए सुन्दर स्थान की व्यवस्था कर दी। रात बड़ी शान्ति और प्रसन्नता में बीती।

प्रातःकाल बौद्ध-भिक्षु जब तक ध्यान, पूजन समाप्त करें, तब तक द्वार ग्रामवासियों की भीड़ से भर गया। कलम्भन बाहर निकले, वह रुद्धिग्रस्त, अशिक्षा और दारिद्र्य से ग्रसित चेहरे देखते ही उनके

मन में घृणा फैल गई पर उन्होंने उसकी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। आखिर धर्मोपदेश के लिये आये थे। इतनी सहिष्णुता भी न होती तो कौन उन्हें इस महान् कार्य के लिये भेजता।

सबको सामने बैठकर कलम्भन ने उपदेश प्रारम्भ किया—
“धर्म शरणं गच्छामि, बुद्धं शरणं गच्छामि, संघ शरणं गच्छामि।” ग्रामीण-जनों की समझ में न तो धर्म आया न बुद्ध और न ही संघ। जैसे आये थे, बेचारे वैसे ही घरों को लौट गये।

कलम्भन ने एक नहीं शत-शत सभायें आयोजित कीं किन्तु ग्रामीण-जनों की निराशा दूर हुई न दारिद्र्य। बेचारे धर्म को समझने की स्थिति में होते तो अपनी स्थिति आप न समझ लेते।

कलम्भन हताश तथागत के पास लौटकर बोले— “निष्फल भगवन् ! हमारा उपदेश कुछ क्रम नहीं आया। ग्रामीण-जनों ने एक भी बात तो नहीं सुनी।” भगवान् बड़ी देर तक सोचते रहे। फिर उन्होंने आचार्य जीवन और शिष्य सनातन को बुलाकर कहा— “देखो तुम उस ग्राम में जाओ, औषधि और शिक्षा का प्रबन्ध करो।”

तथागत की आज्ञा मानकर शिष्य सनातन और आचार्य जीवन वहाँ से चल पड़े। तब कलम्भन ने प्रश्न किया— भगवन् ! आपने इन्हें तो धर्म उपदेश के लिये कहा ही नहीं। तथागत गम्भीर हो गये और बोले— समाज की प्राथमिक आवश्यकताओं और सुधार की मूल-प्रक्रिया को अपनाये बिना धर्मोपदेश सम्भव नहीं। आज की आवश्यकता शिक्षा है, स्वास्थ्य है, कुरीतियों के जंजाल से मुक्ति है। अभी उन्हें जीवन की आशा चाहिये। आज जियेंगे तो कल सुनेंगे भी।

कलम्भन यह सुनकर बड़ा सन्तुष्ट हुआ और धर्मोपदेश के स्थान पर समाज सेवा के कार्यों में जुट गया।

बुराई का बुरा अन्त

गौतम बुद्ध श्रावस्ती में विहार कर रहे थे। नित्य ही संन्यास समग्र जेतवन में तथागत का उपदेश होता था और नगर के समस्त नर-नारी उनकी अमृतमयी वाणी से लाभान्वित होने जाया करते थे। उन्हीं दिनों महापाल नामक व्यापारी भी अपने व्यापारिक कार्य से श्रावस्ती आया तो उसे भी भगवान् के दर्शन करने और प्रवचन सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ। उनके उपदेशों को सुनकर महापाल ने अपने को धन्य माना।

महापाल उन पल्ला-झाड़ श्रोताओं में से नहीं था जिन पर महापुरुषों की बात का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह तो जितने दिन वहाँ रहा नियमित रूप से निश्चित समय चला जाता और भगवान् तथागत की एक-एक बात को बड़े ध्यान से सुना करता था।

उसे संसार निस्सार प्रतीत होने लगा। उसने सोचा मानव जीवन बार-बार नहीं मिलता, फिर इसे धन कमाने और बेईमानी करने में लगाने से लाभ भी क्या है ? इस मूल्यवान् हीरे का उपयोग भी महत्त्वपूर्ण कार्यों के लिये ही करना चाहिए। उसका विवेक जाग उठा। भगवान् का शिष्य बनने की इच्छा बलवती हो उठी। वह अपने घर लौट गया वहाँ व्यापार का सारा कारोबार अपने छोटे भाई को समझाकर और सारा धन उसके देकर वह पुनः श्रावस्ती वापस आ गया।

तथागत ने उसकी भावना का सम्मान किया। वह शिष्य बन गया। वर्षा काल निकट था अतः साधना सम्बन्धी सारे निर्देश लेकर वह एक गाँव में चला गया। वहाँ उचित स्थान का चयन कर वह तपस्या में लीन हो गया। उसने लेटकर सोना बन्द कर दिया। बैठे-बैठे ही साधना करते-करते वह ध्यान मग्न हो जाता था। आखिर जब नेत्रों को पूर्ण विश्राम न मिल सका तो उनमें पीड़ा होने लगी। गाँव वालों ने देखा तो वे बड़े चिंतित हुये उन्होंने दूसरे गाँव से एक वैद्य बुलाकर उस भिक्षुक से आग्रहपूर्वक नेत्र परीक्षण के लिए निवेदन किया।

वैद्य बहुत चतुर था, उसे वस्तुस्थिति समझने में देर न लगी उसने कहा औषधि के साथ निद्रा की भी आवश्यकता है। अकेली औषधि अपना कोई कार्य न कर सकेगी। क्योंकि प्राकृतिक नियमों को तोड़ने पर प्रकृति अपना दण्ड दिये बिना नहीं मानती। निद्रा अपूर्ण रहने के कारण ही यह स्थिति आई है।

वैद्यराज चले गये। अकेली दवा क्या करती। भिक्षु नेत्रहीन हो गया। छोटे भाई को सूचना मिली तो वह भी दौड़ा-दौड़ा आया। चातुर्मास समाप्त होने के बाद जेतवन विहार में ही एक कुटिया बना दी गई जिसमें महापाल को ठहराया गया, अब महापाल चक्षुपाल नाम से पुकारे जाने लगे।

एक बार बरसात में उनकी कुटिया के आस-पास छोटे-छोटे लाल रंग के अनेक कीड़े निकल आये। चक्षुपाल को तो कुछ दिखता ही न था अतः उनके चलने-फिरने से कुछ कीड़े पैरों से दबकर मर भी जाते थे। अन्य भिक्षुओं ने देखा तो चक्षुपाल की सीधे जाकर तथागत से शिकार कर दी।

तथागत जानते थे कि चक्षुपाल की क्रियाएँ पाप रहित होती हैं, वह तो अहंत है। उन्होंने अन्य भिक्षुओं की शंका समाधान कर विदा कर दिया पर एक भिक्षु तथागत से पूछ बैठे “भगवन् ! यदि चक्षुपाल का जीवन शुद्ध और पवित्र है तो उसके नेत्र कैसे खराब हो गये। अवश्य किन्हीं पापों का फल उसे मिला होगा।

हाँ वत्स ! बात ऐसी ही है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने अच्छे और बुरे कार्यों का फल मिला करता है। कभी-कभी यह फल उसे अपने दूसरे जीवन में भी भुगतने पड़ते हैं और चक्षुपाल के साथ कुछ ऐसा ही हुआ है।

पूर्व जन्म में चक्षुपाल वैद्य था। उसके पास एक महिला आई। उसके नेत्रों में रोग था उसने दवा के लिये याचना की और यह कहा कि यदि उसे नेत्र रोग से मुक्ति मिल गई तो वह आजीवन दासी बनना स्वीकार कर लेगी। कुछ दिनों के उपचार के बाद वह महिला स्वस्थ हो गई। आँखों की पीड़ा जाती रही और उसकी नेत्र ज्योति भी बढ़ गई।

अब उसे अपने पुराने वचन की याद आई उसने सोचा झूठ बोलकर काम चलाया जा सकता है। उसने वैद्य से कह दिया, इतने दिन के उपचार के बाद भी आपकी औषधि से कोई लाभ नहीं हुआ।

वैद्य भी कम न था उसने महिला को दण्ड देने की इच्छा से अन्धे करने की दवा देकर कहा यह दवा एक बार के प्रयोग करने से ही

आँखें ठीक हो जायेंगी और मेरे पास दूसरी बार आने की तकलीफ न करनी पड़ेगी।

वैद्य के मन में पाप था। इस भावना से ही उसने दूसरी बार औषधि दी थी। उसकी दोनों आँखें फूट गईं।

‘प्यारे शिष्यो ! जो पूर्वजन्म में दूसरे को अन्धा बना चुका हो फिर इस जन्म में यदि उसे भी उसी प्रकार का दण्ड मिल गया हो तो उसमें आश्चर्य करने की बात ही क्या है ? दूसरे का बुरा करने पर स्वयं भी उसका बुरा फल भुगतना ही पड़ता है। अतः सुख और शांति चाहने वाले व्यक्तियों को मन, वचन और कर्म से दूसरों का हित ही करना चाहिए।’

भर गया उस दिन भिक्षा पात्र

भगवान् बुद्ध वेलुवन पधारने वाले हैं। धर्मदीक्षा का विशाल आयोजन कुशी संघाराम में रखा गया है। बौद्ध विहार की इस सामयिक व्यवस्था के लिए कौशल, कौशाम्बी, मगध, पंचनद, जैतवन विहारों के परिव्राजकों को समय से पूर्व पहुँच जाने का निर्देश हुआ। इन परिव्राजकों में संथाली भी हैं। संथाली एक समय इसी नगर में निवास किया करते। उनके पिता यहाँ के प्रधान श्रेणिक थे। उनके विशाल भवन को देखकर राज-प्रासाद होने का भ्रम होता था। ऐसा कोई वैभव शायद ही रहा होगा जो इसमें विद्यमान न रहा हो, पर आज तो वह सर्वथा वीरान दिखाई देता है।

संघाराम की मर्यादा के अनुसार संथाली और परिव्राजक वलैशी को भिक्षा के लिए भेजा गया। शेष भिक्षुओं को दूसरे कार्य सौंपे गये हैं। दिन भर की परिव्राजा से थके संथाली जिस क्षण इस विशाल भवन के मुख्य द्वार पर पहुँचे जो कभी उनके सांसारिक सुखों के रंगीन स्वप्नों में खोया हुआ रहता था उनके हृदय की गति में ज्वार उमड़ पड़ा, साँसें तेज हो उठीं, गला रुँध गया। अतीत के सैकड़ों दृश्य, सहस्रों स्मृतियाँ उनके मानस पटल पर एक साथ घूम गईं। “भवति भिक्षां देहि जननी” के चार शब्द उनके मुख से इस पीड़ा के साथ निकले जैसे कोई पंख-कटा पक्षी किसी दृश्य भय से कातर होकर अपने घोंसले से भागता है। द्वार पर कौन आता है जलती हुई जिज्ञासा से उनके नेत्र यह देखने के लिए मुख्य द्वार में अपलक टिक गये।

“भवति भिक्षां देहि” का यह स्वर अन्य दिनों के स्वर से भिन्न था उसके प्रस्फुटित होते ही तन्द्रित प्राचीरों में विद्युत् दौड़ गई। जिस किसी के कान में स्वर पड़ा—उसके मुख से पहला स्वर यही फूटा संथाली। संथाली आया है, संथाली आये हैं ? माँ तात् संथाली पधारे हैं, सहोदर संथाली पिता-माता, पत्नी, शिशु, भाई सब के मुँह से एक ही शब्द। सभी द्वार की ओर भागे अपने उस संथाली को देखने के लिए जिसने पाँच वर्ष पूर्व ही सांसारिक वैभव को त्याग कर बुद्ध धर्म की शरण ली थी अपने देश की आध्यात्मिक धार्मिक चेतना में नये प्राण फूँकने के लिए, जातीय जीवन को दुःखद सामाजिक परम्पराओं की निरशा से उबारने के लिए, व्यक्ति के चरित्र को अधःपतन के प्रवाह से बचाकर ऊर्ध्वगति प्रदान करने के लिए। इस अवधि में ही संथाली के त्याग, तप, सेवा, साधना की कहानियाँ घर-

घर पहुँच चुकी हैं। यह स्वाभाविक ही था कि अपने प्रिय सपूत को देखने के लिए नगर का घर-परिवार का हर परिजन पुलकित हो उठा। बाहर आते प्रत्येक परिजन की गति इस तथ्य का स्पष्ट साक्ष्य थी। गैरिक चीवर और उत्तरीय, पाहन विहीन पद, मुंडित केश, हाथ में भिक्षापात्र, तपश्चर्या की साक्षात् प्रतिकृति को सम्मुख खड़ा देखकर कर जननी जनक दोनों की आँखों से अश्रुधारा फूटी तो फिर फूट ही पड़ी अविराम बहती ही चली गई।

तात् ! करुणामय वातावरण की निस्तब्धता भंग करते हुए संथाली ने पूछा आपके दुःखी होने का अर्थ तो यही हो सकता है। आर्य—मेरी साधना अभी तक अधूरी है अन्यथा आपको हर्षित होना चाहिए था।

अबुस ऐसा न कहो। तुम इस देश के आदर्श हो तुम्हारा इतिहास कोटि-कोटि, प्राणों को तप, त्याग और सेवा की प्रेरणा देगा। ये आँसू तो पश्चाताप के आँसू हैं वत्स ! सोचते हैं यदि हम मोह में न फँसे होते, माया में ग्रस्त न हुए होते तो आज यह स्थिति क्यों होती। जो कार्य हमें करना चाहिए था, वह तुम्हें करना पड़ रहा है।

संथाली की आत्म-ग्लानि धुल गई उसने वलैशी की ओर दृष्टि डाली, भिक्षा ग्रहण की ओर विहार की ओर चल पड़े और दिन की अपेक्षा आज उनका भिक्षा पात्र कहीं अधिक भर हुआ था।

अपने लिए नहीं औरों के लिए

कौशल नरेश राज्य के समस्त पाँच सौ कर्मचारियों की पत्नियों के लिये पाँच सौ वस्त्र दान किया करते थे। यह नियम उन्होंने राजमाता की आज्ञानुसार बनाया था।

एक बार शीत ऋतु का आगमन होने को था। कौशल नरेश वस्त्र बाँट चुके थे, तभी बौद्ध भिक्षु आनन्द ने कौशल में प्रवेश किया। उस दिन राजधानी में ही उनका प्रवचन रखा गया। दान के महत्त्व पर बोलते हुए भिक्षु ने कहा—“अपनी आवश्यकता से अधिक द्रव्य या वस्तुयें लोकहित में दान करते रहना चाहिये, इससे समाज में विषमता पैदा नहीं होती।”

राज कर्मचारियों को लगा जैसे राज्य से प्राप्त होने वाले वस्त्र में उनका लोभ और अपश्चिन्न भी जुड़ा हुआ है, वे सब धर्मेनिष्ठ, देश-भक्त और सामाजिक मर्यादाओं का पालन करने वाले थे, सो सबने अपने-अपने वस्त्र लाकर आनन्द को दान कर दिये।

अगले दिन यह चर्चा महाराज के कानों पर पड़ी। भगवान् बुद्ध के उपदेशों का उन्होंने अच्छी तरह स्वाध्याय किया था। भिक्षुओं के लिये निर्धारित आचार संहिता—शास्ता के भी वे अच्छे ज्ञाता थे। उन्हें मालूम था कि भिक्षु को अपने पास तीन चीवर से अधिक रखने का अधिकार नहीं है। उन्हें ऐसा लगा कि अपरिग्रह का उपदेश करने वाले आनन्द ने स्वयं ही शास्ता-मर्यादा तोड़ दी है, सो उनकी नाराजी और भी बढ़ गई। अगले दिन वे स्वयं ही बौद्ध स्थिष्वर आ उपस्थित हुए।

आनन्द अभी सन्ध्योपासन से निवृत्त होकर बैठे ही थे कि उन्हें महाराज के आगमन की सूचना दी गई। आनन्द द्वार तक स्वयं आये

और महाराज को सादर परामर्श कक्ष तक ले आये। महाराज उद्विग्न थे, सो जाते ही पूछ लिया— भंते ! आप भिक्षु हैं। शास्ता के अनुसार आप अधिक से अधिक तीन चीवर ही ग्रहण करने के अधिकारी हैं, फिर आपने पाँच सौ वस्त्र कैसे ग्रहण कर लिये ?

आनन्द उठे और संघ विप्रामागार की ओर प्रस्थान करते हुये बोले— महाराज ? आपका कथन सत्य है। वह समस्त चीवर यहाँ के अन्य भिक्षुओं को बाँट दिये गये हैं, अपने लिये तो एक ही चीवर— पर्याप्त था सो लिया भी एक ही है। भिक्षुओं के चीवर फट चुके थे, सो उनके लिये ही यह वस्त्र स्वीकार करने पड़े। अनावश्यक कुछ नहीं लिया।

महाराज ने पूछा— पर इस तरह इन भिक्षुओं के पास अब तक जो चीवर थे, क्या उनका अपव्यय नहीं हुआ ? क्या आपके पूर्ण उपयोग की बात यहाँ असत्य न हो गई ? आनन्द ने कहा— नहीं महाराज ! हम शास्ता की मर्यादा का कभी भी उल्लंघन नहीं करेंगे। भिक्षुओं के पुराने चीवर उत्तरीय वस्त्र, उत्तरीय वस्त्र अन्तर-वासक और अन्तर-वासक बिछौने के काम में उपयोग कर लिये गये हैं, महाराज इन सबके बिछावन फट चुके थे।

महाराज को अपने अविश्वास पर बड़ी आत्म-ग्लानि हुई। क्षमा माँगते हुए उन्होंने कहा— “भंते ! अपनी भूल के लिए हार्दिक पश्चाताप है।” इस पर आनन्द ने कहा— नहीं महाराज ! ऐसा न कहें। दान पाने वाले को ही नहीं, देने वाले को भी सन्तुष्ट होना चाहिये कि उसका सही उपयोग हो रहा है, इसके लिये यदि दान-दाता निरीक्षण करना चाहता है तो वह भी पुण्य ही है।

महाराज सन्तुष्ट होकर लौट आये।

विवेक ने खोले—अन्तर्चक्षु

राजगृह का विशाल समारोह कक्ष श्रोताओं से खचाखच भरा था। तीर्थंकर महावीर का प्रवचन चल रहा था। वाणी से अमृत की वर्षा हो रही थी। मंत्र-मुग्ध सभी उसका पान कर रहे थे। विशाल परिसर में सम्राट त्रेणिक, महामन्त्री अभयकुमार आदि मूर्धन्य भी भगवान् महावीर का धर्म उपदेश सुनने में मग्न थे। वातावरण में तीर्थंकर के उद्बोधन से ज्ञान एवं वैराग्य की धारा बह चली।

वातावरण की शान्ति एवं गम्भीरता भंग हुई, एक वृद्ध के आने से। लाठी टेकता हुआ वह समारोह भवन में प्रविष्ट हुआ। उसकी कमर अत्यन्त झुकी हुई थी। कपड़े तार-तार हो रहे थे। शरीर में कुष्ठ रोग के कारण मवाद की दुर्गन्ध फैल रही थी। बिना किसी की परवाह किये वह सभा को चीरते हुए सम्राट त्रेणिक के सामने पहुँचा। धर्म उपदेश बन्द हो चुका था। सबकी निगाहें उस जर्जर शरीर वृद्ध पर टिकी थीं।

सम्राट की ओर अभिमुख होकर वह बोला— “आयुष्मान् ! आप जीते रहें।” मन ही मन सभी सोचने लगे कैसा असम्य और ढीठ है यह जो भगवान् महावीर की उपेक्षा करके बिना अभिवादन किये राजा के निकट पहुँच आशीष दे रहा है।

कुछ ही क्षणों में वह भगवान् महावीर के सामने जा पहुँचा और उसी स्वर में बोला— “आप शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त करें।” सम्राट

त्रेणिक की भौहें तन गयीं। उसकी अशिष्टता हर किसी को अखरी। मन से आक्रोश फूटने लगा। पर वह तीर्थंकर की धर्म सभा थी, जहाँ हर किसी को अपनी बात कहने का अधिकार था। मर्यादावादी कोई कुछ नहीं बोल सका।

तब तक अपनी लाठी टेकते हुए वह महामन्त्री के पास पहुँच चुका था। क्रोध मिश्रित भाव से सभी उस वृद्ध की ओर घूर रहे थे। वृद्ध ने महामन्त्री की ओर मुस्कराकर देखते हुए कहा— “महामन्त्री ! तुम चाहे जीओ, चाहे मरो।”

मन ही मन सब सोचने लगे— सम्भवतः वृद्ध का मानसिक सन्तुलन ठीक नहीं है। इतने में वह राजगृह के क्रूर कसाई काल शौकरिक के पास जा पहुँचा तथा उसे सम्बोधित करते हुए बोला— “शौकरिक ! तुम न मरो न जीओ।” यह कहकर वह देखते ही देखते सभी के नेत्रों के सामने से ओझल हो गया। इस घटनाक्रम से सारी सभा स्तब्ध थी। हर व्यक्ति अब सोचने लगा कुछ न कुछ विशेष रहस्य की बात है।

“कौन था वह वृद्ध ? उसके कथनों का क्या अभिप्राय है ? हर किसी के मन में ये प्रश्न बारम्बार उठ रहे थे। सम्राट से रहा न गया, तीर्थंकर से पूछ पड़े— “देव ! यह विचित्र व्यक्ति कौन था ? उसके कथनों का क्या रहस्य है ? हम सबके असमंजस को दूर करने की कृपा करें।”

तत्त्वदर्शी महावीर मुस्कराये तथा बोले— “राजन् ! वह साधारण मनुष्य नहीं स्वयं महाधिदेव विवेक थे, जो हर किसी को सत्य का विशेष संकेत देकर चलते बने।”

रहस्य को स्पष्ट करते हुए तीर्थंकर ने कहा— राजन्। वृद्ध ने तुमसे कहा— “जीते रहो।” संकेत यह है कि तुम्हारे सामने भौतिक ऐश्वर्य का अम्बार प्रस्तुत है। जिसका तुम उपभोग कर रहे हो। मरने के बाद तुम्हारे सामने दुःख ही दुःख है। वर्तमान के कर्मफल दुःखों के रूपों में कल प्रस्तुत होने वाले हैं। इसलिए तुम्हारे लिए जीना ही श्रेष्ठ है।

वृद्ध के दूसरे कथन का आशय स्पष्ट करते हुए महावीर ने कहा— पूर्व जन्म के कर्मफल स्वरूप मुझे जीवन धारण करना पड़ा। साधना के द्वारा शुद्ध, बुद्ध की स्थिति बनी है। वृद्ध मेरे शरीर को बन्धन मानता है तथा मरण को सदा के लिए मुक्ति। इसीलिए उसने कहा— “मर जाओ।”

मन्त्री अभय कुमार की ओर उन्मुख होकर भगवान् बोले— “मन्त्री का जीवन भोग एवं योग से सन्तुलित है। निष्काम भाव से वह कर्म कर रहा है। इसीलिए उनका वर्तमान जीवन भी सुखी है तथा अगला जीवन भी श्रेष्ठ होगा।”

वृद्ध के चौथे कथन का भाव स्पष्ट करते हुए महावीर ने सम्राट त्रेणिक से कहा— “राजन् ! काल शौकरिक का वर्तमान जीवन दुःख शोक से, पापकर्मों, हिंसा एवं क्रूरता से भरा है। अगले जीवन में भी उसे सुख-शान्ति नहीं मिल सकती इसलिए उसका न जीना अच्छा है और न ही मरना।” सम्राट की आँखें खुलीं और उपस्थित जनसमुदाय को नयी जीवन दृष्टि मिली।

तीसरा संस्करण

एक बौद्ध भिक्षु चिन्तामग्न बैठे थे। आस-पास घेरे बैठे कुछ लोगों में से एक ने पूछा “भगवन्। आप इतने अन्यमनस्क क्यों हैं?”

“मैंने भारत में भगवान् तथागत के कुछ दुर्लभ उपदेश मूल पाली भाषा में प्राप्त किए थे।”

“तो खो गए?” पूछने वाले ने चिन्ता का अनुमान लगाया।

“नहीं वे मेरे पास हैं और मैंने उन सबको यहाँ की जापानी भाषा में अनूदित भी कर लिया है।” “यह तो प्रसन्नता की बात है फिर चिन्ता क्यों?”

“चिन्ता प्रकाशन की है जो बिना धन संग्रह के सम्भव नहीं।”

“यह कार्य तो यहाँ के धनपतियों को प्रभावित कर सहज ही किया जा सकता है।”

“फिर आप ही कुछ सुझाएँ, “क्यों न हम सब मजदूरी करें?”

“मजदूरी और भिक्षु यह कैसे सम्भव होगा?” सभी के चेहरों पर आश्चर्य के भाव थे।

साधन भी कार्य की गरिमा के अनुरूप होना चाहिए। त्रमशीलों के बीच में अपनी प्रामाणिकता साबित करने का यही माध्यम है। प्रामाणिक हुए बिना लोक-सेवा सम्भव नहीं।

भिक्षुओं ने मजदूरी करना शुरू किया। लोग आते और पूछते? ऐसी क्या जरूरत आ पड़ी? आने वालों को उद्देश्य से तथागत के उपदेशों से अनुप्राणित किया जाता। सुनने वालों ने सहायता का क्रम शुरू किया।

यह क्रम चल ही रहा था कि तब तक जापान के एक इलाके में दुर्भिक्ष पड़ा। भिक्षु का मन बेचैन हो उठा। उसने पीड़ितों की आँखों में सेवा की प्यास देखी। संग्रहीत धन को अकाल पीड़ितों की सहायता में लगा देने का निश्चय किया।

शिष्यों ने एक बार पुनः विरोध प्रकट किया। “इतने परिश्रम से इकट्ठे धन को यों ही खर्च कर देना?”

विरोध को शान्त करते हुए भिक्षु का उत्तर था स्वयं को भूलो मत। हमारा धन विभूति एक ही है—अंतः सम्वेदनाएँ। जब तक यह है, हम कंगाल नहीं हो सकते। यह न रहें तो हम सभी निष्पाण हो जायेंगे। “हमारा उद्देश्य जन-सेवा है धनोपार्जन नहीं।”

“पर पुस्तक प्रकाशन?”

जन जीवित रहा तो पुस्तक भी छपेगी। भूखों को भोजन देने, वस्त्रहीनों को कपड़े बाँटने में सारी राशि समाप्त हो गई।

दूसरे वर्ष पुनः वर्षा हुई। क्षेत्र से अकाल के बादल छटे। भिक्षु पुनः धन संग्रह में लग गए। इस बार अपेक्षाकृत कम समय में अधिक धन संग्रह हुआ। भिक्षु को सन्तोष था इस कारण नहीं कि धन जल्दी इकट्ठा हो गया बल्कि इस कारण कि वह प्रामाणिक साबित हो गया। अब कहीं अधिक उत्तम रीति से वह अपना काम कर सकेगा।

लेकिन इस बार दूसरे क्षेत्र में अतिवृष्टि हुई। नदियों में बाढ़ आ गई। सारे इलाके की फसल को बड़ी क्षति हुई। इस बार भी महाभिक्षु ने सारा धन बाढ़ पीड़ितों की सहायता के लिए लगा दिया।

इस बार कुछ शिष्य तो हताश होने लगे थे पर भिक्षु ने उसी उत्साह के साथ धन संग्रह करना शुरू किया। अब की बार अपेक्षाकृत और कम समय लगा। संयोग से इस बार कोई प्राकृतिक प्रकोप नहीं हुआ। फलस्वरूप पुस्तक प्रकाशित हो गई।

इस अनुवाद को अनेकों ने पढ़ा और महाभिक्षु के प्रयत्नों की सराहना की! मुख पृष्ठ पर संस्करण के सामने लिखा था तीसरा संस्करण। लोगों ने पूछा यह तो पहली बार छपी है इसके पूर्व के दो संस्करण कब और कहाँ प्रकाशित हुए?

“पहले दो संस्करण उन्हीं लोगों को दिखाई देंगे जिनके पास सेवा और संवेदना की दो आँखें हैं महाभिक्षु भोग्गालि पुस्तक का उत्तर था। उन्होंने अपने जीवन में इन्हीं आँखों से देखा और अन्त तक सक्रिय रहे।”

नया जन्म, नयी यात्रा

लोगों के आश्चर्य और कौतूहल का ठिकाना न रहा। परम अभिमाननी समझी जाने वाली नगर वधू वैशाली की गलियों में इस तरह अकेली चले किसके मन की सामर्थ्य थी जो यह सोच ले। सोचे भी कैसे? जिससे मिलने के लिए स्वयं गणपति को भी प्रतीक्षा करनी पड़ जाय, जिसके एक दर्शन के लिए दूसरे राज्याध्यक्षों को महीनों का इन्तजार करना पड़े। वही आज इस तरह किन्तु सब कुछ आँखों के समक्ष था। अविश्वसनीय, अकल्पनीय लगते हुए भी प्रत्यक्ष। वह शांत भाव से एकान्ती चली जा रही थी। उसका प्रत्येक पग आश्चर्य के मस्तक पर पड़ती जा रही सिलवटों में एक की संख्या और बढ़ देता।

इस शांति के पीछे कितनी वेदना छुपी थी किसे मालूम? बर्फ-सी श्वेत भस्म के भीतर छुपे अंगारे की घघकती जलन को कौन महसूस करे? उसके पहनावे में सिर्फ एक स्वच्छ साड़ी थी। आभूषण के नाम पर केवल एक हाथ में एक सोने की चूड़ी और गले में केवल एक सूत्र का हेमहार। पैर भी उसके नंगे ही थे। ऐसा जान पड़ता था कि शोभा ने वैराग्य धारण किया है, क्रान्ति ने व्रतोद्यापन किया है, चन्द्रमा की स्निग्ध ज्योत्सना धरती पर उतर आयी है। घरों की खिड़कियाँ खुल गईं। सभी झाँकने लगे। बच्चों का एक दल पीछे-पीछे दौड़ पड़ा। वृद्धों ने कौतुक भरी नजर से एक-दूसरे की ओर देखकर कहा बात क्या है? फुसफुसाहटें हुईं। “सुना है अब पूजा-पाठ करने लगी है, कहते हैं किसी भिक्षु का प्रभाव है।” अपने को समझदार समझने वालों में कुछ धीरे से बोले “देखते रहो, जन्म की विलासिनी कर्म की मायाविनी गणिका अगर पूजा-पाठ करने लगे, तो मानना होगा कि बबूल में भी कमल के फूल खिलते हैं, पनाले में भी सुगंधि फूटती है, सर्पिणी भी पुजारिन बन सकती है।”

धीमे स्वरों में हो रही इस वार्ता के कुछ शब्द उसके कानों में पड़े बिना न रहे शब्द सिर्फ आड़े-तिरछे अक्षरों का समूह भर तो नहीं और न ध्वनि उत्पादक कण्ठ सामर्थ्य। यह तो भाव की अभिव्यक्ति है सम्प्रेषण की समर्थ विधा। इसमें समाई तीक्ष्णता, कोमलता, कटुता मधुरता की अनुभूति हुए बिना नहीं रहती। सुनकर उसे लगा किसी ने उसके अस्तित्व पर ढेरों अंगारे उछाल दिए हों। किसने? विकट

प्रश्न चिह्न उसके चिन्तन की राह पर तन कर खड़ा हो गया था। उत्पत्ति से लेकर वर्तमान पल तक अनेक घटनाक्रम कुम्हार के चाक की तरह घूम गए। छलक पड़े विषाद को पीने की कोशिश में उसने होठों का एक सिरा दाँतों से दबाया।

मनुष्य और समाज प्रशिक्षु और पाठशाला-प्रशिक्षक के रूप में समझदार कहे-सुने-समझे जाने वाले लोग। बड़ा जटिल है इस त्रिवर्गीय समीकरण का गणित लेकिन उतना ही सहज भी। मनुष्य सुगढ़-अनगढ़ कैसा भी हो, वह अपने विकास की अगली कक्षा में प्रवेश पाने के लिए इस पाठशाला में आता है और यदि पाठशाला ही टूट-फूटकर तहस-नहस हो गई हो, तब दोषी कौन? ये समझदार-लगभग चबाते हुए उसने ये शब्द कहे, विरक्तिपूर्वक होठों को सिकोड़ा।

जन्मतः क्या अन्तर था उसमें और औरों में? वह बालिक थी, अपेक्षाकृत कुछ अधिक ही रूपवान और गुणवान। किसने बनाया उसे हेय, किसने डाला उसे कलुषित मार्ग पर? प्रश्न के उत्तर में अनेक चेहरे चमके। नगर वधू के चुनाव के समय का सभागार आँखों के सामने घूम गया। पुरोहित, शासक, व्यापारी, विचारक वे सभी जो समाज के व्यवस्थापक होने का दम्प करते हैं। यदि व्यवस्थापक स्वयं अव्यवस्था के पक्षधर हो जायें। व्यवस्था के नाम पर उन रीतियों मान्यताओं के पोषक बन जायें जो मानव जाति के पैरों पर कुल्हाड़े चलाती है। तब भी क्या ये व्यवस्थापक हैं?

मन ही मन वह हँसी पर एक ही पल में संभल गई। राजोद्यान के बहिर्द्वार पर आकर वह ठिठक विचारों की नाव में बैठी कब कैसे इतनी जल्दी आ पहुँची, पता ही न चला। उसके रुकने से लगा जैसे स्रोतस्विनी के सामने अचानक शिला-खण्ड आ गया हो। चकित मृगशावक की भाँति भयभीत नयनों से चारों ओर देखा। क्या करे, क्या न करे? सोच नहीं पा रही थी। भिक्षु संघ के अधिष्ठाता और नगर वधू इन दो किनारों के बीच की दूरी का अनुमान लगाना सहज है, किन्तु तथागत की करुणा का सबल सेतु भी सामने था।

तभी उसकी दृष्टि बाहर निकल रहे एक भिक्षु पर पड़ी। ये आनन्द थे अपने शास्ता की करुणा के सर्वोत्तम अधिकारी। उसने विनम्रता से कहा “मैं महात्मा बुद्ध के दर्शनों के लिए आयी हूँ।” इतना कहना पर्याप्त था उनके लिये। वे उलटे पैरों लौट पड़े। बुद्ध को सन्देश दिया। नगर वधू का इस तरह आना सभी के लिए आश्चर्यजनक था। अनेक दृष्टियों में आश्चर्य को देखकर तथागत मुस्कराए। तब आप्रपाली पहुँच चुकी थी।

“आओ देवि!” उन्होंने खड़े होकर स्वागत किया। उनकी सम्मोहक दृष्टि में वात्सल्य था। आँखों से झर रही करुणा से आप्रपाली का समूचा अस्तित्व भीग गया। ‘प्रभु’! उसकी आँखों से अश्रुधारा फूट पड़ी। फफक कर बोली “मैं अपने पाप जीवन से ऊब गई हूँ। इस नरक से मेरा कभी उद्धार भी होगा।” उसने दीर्घ निश्वास लिया।

“न न पाप जीवन और नरक की बात मत सोचो। तुम्हारे भीतर देवता का निवास है। तुम जिस पाप जीवन की बात कर रही हो

वह मनुष्य की बनाई हुई विकृत समाज-व्यवस्था की देन है। चिन्ता न करो देवि, इससे उद्धार हो सकता है। तुम्हारा देवता तुम्हारे भीतर बैठा हुआ अवसर की प्रतीक्षा कर रहा है। कोई बाहरी शक्ति किसी का उद्धार नहीं करती। वह अन्तर्यामी देवता ही उद्धार कर सकता है।”

आप्रपाली आँखें फाड़े उनकी ओर देखती रह गई। उसे इन बातों का अर्थ स्पष्ट नहीं हो रहा था। पर बिना अर्थ समझे भी जैसे मधुर संगीत चित्त को अभिभूत कर लेता है कुछ इसी तरह की अनुभूति उसे हुई।

तथागत उसे उत्साहित करते हुए बोले “देवता न बड़ा होता है छोटा न शक्तिशाली होता है न अशक्त। वह उतना ही बड़ा होता है जितना बड़ा उसे उपासक बनाना चाहता है। तुम्हारा देवता भी तुम्हारे मन की विशालता और उज्ज्वलता के अनुपात में विशाल और उज्ज्वल होगा। लोगों के कथन की चिन्ता छोड़ो। अपने अन्तर्यामी को प्रमाण मानो।”

उसे यह नया सुनने को मिला। बाल मृगी जिस तरह बरसते मेघ के रिमझिम संगीत को सुनती है। उसी तरह वह सुनती रही चकित उल्लसित, उत्सुक। आश्चर्य हो रहा था उसे, उसके भीतर भी देवता है चिर उपेक्षित, चिर पिपासित, चिर अपूजित! उसकी बड़ी-बड़ी आँखें धरती की ओर जो झुकीं सो मानो चिपक ही गयीं। वह दाहिने पैर के नाखून से धरती कुदेदती खड़ी रही। नाना भाव-तरंगों के आघात-प्रत्याघात से वह जड़ प्रतिमा की भाँति निश्चेष्ट हो गई।

कुछ पलों के बाद वह प्रकृतिस्थ हुई। उसे स्वयं नवीन बल का अनुभव हो रहा था। ऐसा लगने लगा लम्बे समय से सोये देवता ने अँगड़ाई ले जीवन व्यवस्था संभाल ली हो। ‘प्रभु—मैं’ अटकते हुए कहे गए इन शब्दों में छुपे भाव को पहचानते हुए तथागत बोले “देवि! जाग्रत जन ही समाज को नई व्यवस्था देते हैं। जिस कलुषित अस्त-व्यस्तता ने तुम और तुम्हारे जैसे अनेकानेक जीवनों को नष्ट किया है उसे बदल डालना नई प्रणाली की रचना करना ही इस धर्म-चक्र प्रवर्तन का उद्देश्य है। जाग्रत जीवन की अजस्र शक्तियों का नियोजन यहीं करो।”

यही तो राह में सोचती हुई आयी थी। भावों को पढ़ने में कुशल बुद्ध ने समाधान सुझा दिया। जीवन में जाग्रति आये इसकी एक ही पहचान है, एक ही कसौटी, व्यक्तित्व की समस्त सामर्थ्य भागवत प्रयोजन को पूरा करने के लिए उमड़े बिना नहीं रहती। आप्रपाली इस नूतन तथ्य की अनुभूति कर रही थी। अगला पल अडिग निश्चय का पल था। धर्म-चक्र के प्रवर्तक के चरणों में सर्व-समर्पण का तात्पर्य खोना नहीं मिटना नहीं। खोती और मिटती तो तुच्छता और क्षुद्रता है। समर्पण तो महानतम और सर्वस्व की प्राप्ति का उत्सव है और वह उत्सव मना रही थी। अपने अन्दर देवता की खोज पूरी हुई। नया जन्म, नया जीवन, नयी यात्रा। एक अभिनव कथाकल्प कभी की नगर वधू अब नई व्यवस्था की कुशल रचनाकार बन गई। परिवर्तन का उल्लास भरा पर्व, नियामक शक्ति वर्तमान क्षणों में भी संचालित कर रही है। इन क्षणों में ऐसे ही कथाकल्प की अनुभूतियाँ अपेक्षाकृत कहीं प्रखर रूप से अनुभव की जा सकती हैं।

सुख की साधना

उत्पलवर्णा, श्रावस्ती के कोषाध्यक्ष की अनुपम सुन्दरी कन्या षोडश वर्ष पार कर चुकी है। यौवन का निखार अपने आप ही आकर्षक होता है फिर उत्पलवर्णा तो अनुपम कान्ति वाली अद्वितीय सौन्दर्यवती भी थी। रंग उसके अंग-प्रत्यंग से फूट रहा था। अधरों में गुलाब का परिमल, रतनारे नयन, सुन्दर ग्रीवा, कल-कंठ ऐसा लगता था उसके सौन्दर्य के साथ स्वयं ब्रह्म ही व्यक्त हो उठा है।

यही कारण था कि अनेक श्रेष्ठ-सामन्तों तथा राजकुमारों की ओर से स्वयं ही विवाह के लिए प्रार्थनाएँ आने लगीं। शमा प्रकाश के लिए जलाई जाती है, किन्तु शलभ उसे बुझाने लग जायें तो जलाने वाले का क्या दोष? सौन्दर्य सत्य का राजदूत है पर यदि उसे वासना का माध्यम मान लिया जाये तो रचनाकार का क्या दोष? कोषाध्यक्ष के समक्ष उत्पलवर्णा का सौन्दर्य आज समस्या बन गया था। उसका हाथ किसे दें, किसे न दें इसका निर्णय करना भी कठिन हो रहा था।

इसी चिन्ता में डूबे हुए पिता को देखकर उत्पलवर्णा स्वयं पिता के पास जाकर बोली— तातु ! आपसे एक बात पूछूँ ? पिता ने दृष्टि ऊपर उठाई और पुत्री के शीश पर हाथ फेरते हुये कहा— कछो क्या कहना चाहती हो उत्पल ?

उसी गम्भीरता से उत्पलवर्णा ने कहना प्रारम्भ किया तातु ! आपने नहीं सुना क्या गंगातीर वासी ने पहले विवाह किया। अपनी तृष्णायें शान्त करने के लिये उसने भार्या के जीवन तत्त्व को निचोड़ा फिर उसने एक अन्य स्त्री को रख लिया, उसके गर्भ से कन्या उत्पन्न हुई उसे भी उसने सहगामिनी बनाया— जिस काल में सामाजिक व्यवस्थायें और मर्यादायें इस तरह तिनके का ढेर हो जावें नीति कहती है उस समय विचारशील लोगों को अपने लौकिक हितों का परित्याग कर देना चाहिये और व्यक्ति तथा समाज के जीवन में नया प्रकाश लाने का प्रयास करना चाहिए। आपकी चिन्ता एक योग्य वर तलाश करने की है और मेरे सौन्दर्य के झूठे आकर्षण से बचने की। विवाह का प्रस्ताव लेकर आये किसी भी कुमार में मुझे आदर्श जीवन का स्थायित्व नहीं दीखता यह सब तो रूप के प्यासे कीट-पतंगे हैं इनसे दूर ही रहना अच्छा। आप आज्ञा दें तो मैं आजीवन अविवाहित रह जाऊँ और अपने पथ-प्रष्ट समाज को अपनी शक्ति व साधना द्वारा सीधे सच्चे मार्ग पर लाने का प्रयास करूँ।

आर्य पिता ने अपनी कन्या के संस्कार व स्वाभिमान से दमकते मुख-मण्डल की ओर देखा उसमें पूर्ण निश्चित दृढ़ता झलक रही थी। मोरे स्नेह के उसे हृदय से लगाते हुये कहा— “उत्पल ! तुम धन्य हो। अपने सुख का ध्यान न देकर तुमने साधना व समाज सेवा को महत्त्व दिया तुम्हारा यह आदर्श युगों-युगों तक भारतीय नारी और उसके पुत्रों को अन्तर्वर्ती जीवन की प्रेरणायें और प्रकाश देता रहेगा।”

उत्पलवर्णा ने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। भगवान् बुद्ध ने अपना पितृ तुल्य स्नेह, अपनी साधना की शक्ति, अपना ज्ञान देकर उसे आत्म-दर्शन की—स्थिति तक पहुँचाया। सिद्धावस्था प्राप्त उत्पलवर्णा ने धर्मोद्धार के कार्य में तथागत का हाथ बँटाया और कुंठा ग्रस्त भारतीय समाज को ऊँचा उठाने का महान् यश अर्जित किया।

आत्म साक्षात्कार

सुजाता ने खीर दी, बुद्ध ने उसे ग्रहण कर परम सन्तोष का अनुभव किया। उस दिन उनकी जो समाधि लगी तो फिर सातवें दिन जाकर टूटी। जब वे उठे, उन्हें आत्म-साक्षात्कार हो चुका था।

नेरञ्जरा नदी के तट पर प्रसन्न मुख आसीन भगवान् बुद्ध को देखने गई सुजाता बड़ी विस्मित हो रही थी कि यह सात दिन तक एक ही आसन पर कैसे बैठे रहे? तभी सामने से एक शव लिये जाते हुए कुछ व्यक्ति दिखाई दिये। उस शव को देखते ही भगवान् बुद्ध हँसने लगे।

सुजाता ने प्रश्न किया— योगिराज ! कल तक तो आप शव देखकर दुःखी हो जाते थे, आज वह दुःख कहाँ चला गया?

भगवान् बुद्ध ने कहा— बालिके ! सुख-दुःख मनुष्य की कल्पना मात्र है। कल तक जड़ वस्तुओं में आसक्ति होने के कारण यह भय था कि कहीं यह न छूट जाय, वह न बिछुड़ जाये। यह भय ही दुःख का कारण था, आज मैंने जान लिया कि जो जड़ है, उसका तो गुण ही परिवर्तन है, पर जिसके लिये दुःख करते हैं, वह तो न परिवर्तनशील है न नाशवान्। अब तू ही बता जो सनातन वस्तु पा ले, उसे नाशवान् वस्तुओं का क्या दुःख?

सुजाता यह उत्तर सुनकर प्रसन्न हुई और स्वयं भी आत्म-चिन्तन में लग गई।

धर्म की जीत

मगध-सम्राट अजातशत्रु की गिद्ध-दृष्टि लिच्छवि-गणतन्त्र पर केन्द्रित थी। वज्जियों की वैशाली अजातशत्रु के विजय-रथ के लिए दुर्धर्ष शिला-खण्ड बनी गौरव से मस्तक ऊँचा किए हुए थी। भगवान् बुद्ध अन्तिम बार राजगृह के बहिर्वर्ती गृध्रकूट में पधारे तो अजातशत्रु ने मगध-महामात्य वस्सकर को उनकी सेवा में भेज कर निवेदन किया— “भगवन्, हम वैशाली को पराभूत करना चाहते हैं। कोई उपाय बतायें।”

भगवान् ने यह सुना तो निकट बैठे आनन्द से पूछा, “भन्ते, क्या वज्जियों के सन्निपात (संसद-अंधिवेशन) बार-बार होते हैं?”

“हाँ, भगवन् !”

“क्यों आनन्द, क्या वज्जि संघबद्ध हो उद्यम करते हैं, वज्जीकरणीयों (राष्ट्रीय कर्तव्यों) को करते; सभा द्वारा नियमपूर्वक स्वीकृत हुए बिना कोई आदेश तो नहीं प्रचारित करते; स्वीकृत विधि-संहिता का उल्लंघन तो नहीं करते; वज्जीधम्म (राष्ट्रीय विधान एवं संस्थाओं) के अनुसार समवेत होकर चलते हैं; वज्जियों में वृद्धजनों का आदर करते हैं; उनके मान्य वचनों को मानते हैं; अपनी कुल वधुओं एवं कुमारियों का आदर करते हैं, चैत्यों का सम्मान करते हैं; अर्हतों की सेवा और रक्षा करते हैं?”

“हाँ, भगवन्, लिच्छवि इन सभी धर्मों का तत्परता से पालन करते हैं,” आनन्द ने उत्तर दिया। भगवान् की मुख-मुद्रा गंभीर हो गयी। उन्होंने अमात्य वस्सकर की ओर देखते हुए शिष्य से कहा,

“तो आनन्द, ये धर्म गणतन्त्र के प्राण-तत्त्व हैं। जब तक लिच्छवि इनका पालन करते हैं, वे अविजेय हैं।”

मारने वाला नहीं बचाने वाला बड़ा होता है

राजकुमार सिद्धार्थ और मंत्री पुत्र देवदत्त दोनों साथ-साथ बाग में घूमने जा रहे थे। सहसा सिद्धार्थ ने देखा दो सुन्दर राजहंस आकाश में उड़ते जा रहे हैं। उन्हें देखकर वह प्रसन्न हो उठा, “देवदत्त ! देखो ये कितने सुन्दर पक्षी जा रहे हैं।” देवदत्त ने ऊपर देखा और अपना धनुष-बाण उठाया एक पक्षी को मार गिराया।

सिद्धार्थ की प्रसन्नता शोक और व्याकुलता में परिणित हो उठी। सिद्धार्थ दौड़े और रक्त से सने राजहंस को गोदी में उठा लिया और सीने से लगाकर रोने लगे।

“इस पक्षी पर मेरा अधिकार है सिद्धार्थ। देखते नहीं हो। इसे मैंने अपने बाण से मारा है।” देवदत्त ने कहा।

सिद्धार्थ बिना कुछ कहे-सुने पक्षी को लेकर चले गये अपने भवन में और वहाँ उसकी सेवा सुश्रूषा करने लगे।

देवदत्त ने उस समय राजकुमार समझ कर कुछ झगड़ा नहीं किया किन्तु पक्षी के बारे में उसकी लालसा मिटी नहीं। उसने फिर सिद्धार्थ से पक्षी माँगा किन्तु जवाब इन्कारों में ही मिला। सिद्धार्थ बड़े प्यार से उसकी सेवा करने लगे।

देवदत्त ने न्याय प्राप्ति के लिए महाराज के पास जाकर शिक्रयत की। महाराज ने दोनों को राज-दरबार में उपस्थित होने की आज्ञा दी। एक ओर देवदत्त खड़े थे दूसरी ओर सिद्धार्थ अपनी गोद में पक्षी को लिए हुए। देवदत्त ने अपना तर्क प्रस्तुत किया— “महाराज मैंने पक्षी को बाण मारा, इसलिए इस पर मेरा अधिकार है।”

“किन्तु मैंने इसे बचाया है। मारने वाला नहीं बचाने वाला बड़ा होता है इसलिए उसका ही अधिकार होना चाहिए।” सिद्धार्थ ने बिना पूछे कहा। महाराज ने पक्षी को दोनों के बीच में छुड़वा दिया और वह स्वयं बुद्ध के पास चला गया।

हृदय परिवर्तन

राजा था दयालु और धर्म की राह पर चलने वाला, जनता के कष्टों को दूर करने का सदैव प्रयत्न करता रहता और राजकुमार का स्वभाव राजा से बिल्कुल विपरीत था। उसे निरपराध नागरिकों को को यातना देने में आनन्द आता था। स्वभाव से दुष्ट और निर्दयी, बोलने में भी कर्कश। बात-बात में उसे क्रोध आ जाता था।

राजा अपने पुत्र की इन हरकतों से बहुत खिन्न था। उसने स्वयं सुधारने का प्रयास किया। रानी ने भी नीति के मार्ग पर चलाना चाहा। किन्तु ही अध्यापकों की नियुक्ति की गई पर सबने हार मानली। जितने प्रयत्न सम्भव थे उतने किये गये। राज्य की जनता में विरोध बढ़ता जा रहा था और उधर उम्र के साथ उत्पात बढ़ रहे थे। सभी लोग किसी न किसी तरह उससे मुक्त होना चाहते थे। भगवान् बुद्ध तक बात जा पहुँची उन्होंने उसे भलाई की राह पर चलाने का निश्चय

किया। उन्होंने राजकुमार को अपने पास नहीं बुलाया वरन स्वयं उसके पास गये।

भगवान् बुद्ध अपनी बात कहने में बड़े व्यवहारकुशल थे वह रोग के अनुकूल निदान ढूँढ़ने में सिद्ध-हस्त थे। उन्होंने राजकुमार को धर्म का कोई पाठ नहीं पढ़ाया और न लम्बा-चौड़ा व्याख्यान दिया। नरक की यातनाओं का भय दिखाने की भी उन्होंने कोशिश न की। वह घूमते हुए उसे एक छोटे नीम के वृक्ष के पास ले गये और कहा ‘राजकुमार। इस वृक्ष का पत्ता तो तोड़ कर देखो कैसा है?’

राजकुमार ने वैसा ही किया एक पत्ते को मुँह में डाला तो सारा मुँह कड़वाहट से भर गया। इतनी बात में ही वह आपे से बाहर हो गया। भगवान् बुद्ध से तो उसने कुछ नहीं कहा पर अपने नौकर को आदेश देकर उस वृक्ष को जड़ से कटवा दिया।

‘अरे राजकुमार तुमने यह क्या किया।’

‘इस पौधे के लिए तो यही किया जाना चाहिए था। अभी से जब यह इतना कड़वा है तो बढ़ने पर इसकी क्या स्थिति होगी? मैं समझता हूँ साक्षात् विष ही हो जायेगा। अतः मैंने उचित ही किया जो अभी से उखाड़ फेंका।’ राजकुमार ने उत्तर दिया।

भगवान् बुद्ध इसी अवसर की प्रतीक्षा में थे। उन्होंने गम्भीरता-पूर्वक कहा ‘राजकुमार यदि तुम्हारे दुर्व्यवहार और अत्याचारों से परेशान होकर यदि जनता तुम्हारे से वही व्यवहार करने को विवश हो जाये जो तुमने नीम के पौधे के साथ किया, तो तुम क्या करोगे? वह दिन था कि भगवान् बुद्ध द्वारा दिखाई राह पर वह राजकुमार चल पड़ा और फिर कभी बुगई की राह पर न गया।

महान् विभूतियाँ कभी-कभी ही आती हैं

बुद्ध का जन्म हुआ। सभी देखने आए। एक महात्मा हिमालय से आए। पिता ने बालक बुद्ध को महात्मा के चरणों पर रखते हुए कहा— “महात्मन् ! आशीर्वाद दें प्रभु से मंगल क्रमना करें ताकि बालक दीर्घायु हो, यशस्वी हो, प्रतापी हो।” किन्तु महात्मा कुछ उद्गार व्यक्त करने के पूर्व ही रोने लगे। राजा डर गए। पूछ कोई अपशकुन है? कुछ अशुभ है क्या?

महात्मा कुछ क्षणों बाद बोले— “नहीं राजन् ! ऐसा कुछ नहीं। जिसे खोजते-खोजते सारी उम्र बीत गयी, वह प्रभु का भेजा संदेशवाहक अब मिला। कर्णनावतार आया तो सही पर मेरे लिए तो अब देरी हो गयी। उनकी लीला देखने का सुयोग मुझे तो मिल ही नहीं सकेगा। उनके चरणों में बैठने का अवसर मुझे न मिल सकेगा, बस यही सोचकर आँखें भर आईं। राजन् ! आप धन्य हैं। ऐसी विभूतियाँ तो कभी-कभी हजारों-लाखों वर्षों बाद अवतरित होती हैं।”

आत्मबोध

वैराग्य होने के पश्चात् गौतम बुद्ध ने कई वर्ष तक जंगल में रहकर बड़ा कठोर तप किया। वहाँ उनका आहार लगभग बन्द ही

हो गया था ! इससे शरीर सूखकर अस्थि-चर्म मात्र ही रह गया था । पर इतने पर भी आत्मज्ञान नहीं हुआ और इससे उनका चित्त भ्रमित रहता था ।

एक दिन गौतम के तपस्या स्थान के पास होकर नगर की कुछ गायिकायें निकलीं । वे मार्ग में एक गीत गाती हुई चली जा रही थीं जिसका आशय यह था कि— “वीणा के तारों को ढीला मत छोड़ो, अन्यथा उनसे मधुर स्वर नहीं निकलेगा । पर उनके इतना खींचो भी मत कि वे टूट जायें ।”

इस गीत की ध्वनि गौतम के कान में पड़ी तो अकस्मात् उनके अपनी भूल का पता लग गया । सुफल प्राप्त करने के लिए अत्यधिक कष्ट पूर्ण तपस्या उचित नहीं वरन् संयमित आहार, विग्राम, निद्रा आदि का जीवनयापन करने से ही साधना का पूरा हो सकना संभव है । चाहे सांसारिक लक्ष्य हो और चाहे आध्यात्मिक, सफलता के लिये मध्यम मार्ग का अनुसरण करना उचित है ।

बाहर भीतर वाले को

आत्मबोध होने के बाद गौतम बुद्ध ने परिव्रज्या आरंभ की । विग्राम का नाम भी नहीं । सतत् चलते रहना व लोगों को जीवनमुक्ति का पाठ पढ़ाना । शिष्य आनन्द उनसे बोला— “प्रभु ! आप इतना चले, न थके-न उकताएँ ।” बुद्ध बोले । “थके वह जो चले । मैं चलता ही नहीं तो थकूँ क्यों ।” आनन्द का कथन था “मैंने तो नित्य आपको अपनी इन आँखों से चलते देखा है, मैं भी आपको ही साथ चला हूँ ।”

बुद्ध बोले “मैं तुम्हारी आँखों पर भरोसा करूँ या अपनी आँखों पर । भीतर देखता हूँ तो पाता हूँ वहाँ कोई चलता ही नहीं । तुम मुझे बाहर से ही देख पाते हो । बाहर जो चलता है, वह तो शरीर है । आत्मा की छाया मात्र है । जो नहीं चलता, वह मेरी आत्मा है । छाया के चलने से भी कोई थकता है ?”

मात्र सुख

एक बार गौतम बुद्ध राजपथ को छोड़कर कँटीली पगडण्डी पर चल रहे थे । लोगों को यह देखकर आश्चर्य हुआ । कारण पूछने पर भगवान् बुद्ध ने बताया—

‘मनुष्यो ! इस पगडण्डी में सुख दुःख दोनों ही भोगने पड़ते हैं । अतएव यह प्रेरणा देती है कि सुखों में अधिक आशक्ति रखने और दुःखों में अधिक उद्दिग्न होने से जीवन यात्रा बड़ी दूभर हो जाती है । सुख-दुःख दोनों में समभाव रखने से जीवन यात्रा सुगम बनती है । अतएव मैं मात्र सुखों वाले राजपथ पर न बढ़कर पगडण्डी पर चल रहा हूँ ।’

धर्म प्रचारक की कसौटी

तथागत का परमप्रिय शिष्य था आनन्द । उस दिन सभी शिष्यों को उनकी इच्छानुसार क्षेत्रों में बसने और धर्मप्रचार करने के लिए भेजा जा रहा था । सभी ने अपने परिचित एवं सुविधापूर्ण स्थान चुन लिए ।

आनन्द ने सुनापरान्त नामक गाँव चुना । वह दुष्ट-दुर्जनो के लिए प्रख्यात था । वहाँ कोई साधु पैर जमा ही नहीं सका था । सभी ने आश्चर्य से पूछा— ऐसी विपरीत परिस्थितियों वाले स्थान को अपना कार्यक्षेत्र आप क्यों चुनते हैं ?

आनन्द ने कहा— चिकित्सक को वहाँ जाना चाहिए जहाँ भयंकर महामारी फैली हो । अपनी सुविधा और सुरक्षा की बात सोचने पर चिकित्सक और साधु दोनों ही हेय बनते हैं । दोनों के स्तर की परीक्षा तो कठिन परिस्थितियों में ही होती है ।

अमरता की फसल

भगवान् बुद्ध काशी के एक सम्पन्न किसान के पास गए । उससे भिक्षा माँगी । किसान ने भिक्षा पात्र लिए भिक्षु प्रवर की ओर देखा और व्यंग-भाव से कहा, “मैं पश्चिम से खेत जोतता-बोता हूँ, तब तो फसल उपलब्ध होती है उसी से उदर-पूर्ति करता हूँ, किन्तु आप बिना खेती किए भोजन पाना चाहते हैं ।”

“मैं भी तो किसान हूँ । खेती करता हूँ” बुद्ध ने प्रशान्त स्वर में उत्तर दिया ।

“खेती !” किसान ने काषाय वस्त्रधारी भिक्षु की ओर अचरज से देखा । “हाँ, वत्स ! तथागत ने कहा— “मैं आत्मा की खेती करता हूँ । ज्ञान के हल से ब्रह्मा के बीज बोता हूँ । तपस्या के जल से सींचता हूँ । विनय मेरे हल की हरिस, विचारशीलता फल और मन नरैली है । सतत् प्रयास का यान मुझे उस गन्तव्य की ओर ले जा रहा है जहाँ न दुःख है न संताप । मेरी इस खेती से अमरता की फसल लहलहाती है, वत्स !”

मनुष्य का चिरन्तन अस्तित्व आत्मा के रूप में ही रहता है । राजपुत्र गौतम को उसी प्रेरणा ने भगवान् बुद्ध बना दिया । यह पथ प्रत्येक आत्मदर्शी के लिए खुला है ।

ज्ञान की निरन्तर खोज

भगवान् बुद्ध एक बार आनन्द के साथ सघन वन से होकर गुजर रहे थे । रास्ते में बातचीत भी चल रही थी ।

आनन्द ने पूछा देव ! आप तो ज्ञान के भण्डार हैं । आपने जो जाना, क्या उसे हमें बता दिया ?

बुद्ध ने उलटे पूछा— इस जंगल में भूमि पर कितने सूखे पत्ते पड़े होंगे ? फिर हम जिस वृक्ष के नीचे खड़े हैं उस पर चिपके सूखे पत्तों की संख्या कितनी होगी ? इसके बाद अपने पैरों तले जो अभी पड़े हैं वे कितने हो सकते हैं ?

आनन्द इन प्रश्नों का उत्तर देने की स्थिति में नहीं थे । मौन तोड़ते हुए तथागत ने स्वयं ही कहा ज्ञान का विस्तार इतना है, जितना इस वन प्रदेश में बिछे हुए सूखे पत्तों की संख्या । मैंने उतना जाना जितना ऊपर वाले वृक्ष का पतझड़ । इसमें भी तुम लोगों को उतना ही बताया जा सका जितना कि अपने पैरों के नीचे कुछेक पत्तों का समूह पड़ा है ।

ज्ञान की अनन्तता को समझते हुए उसे निरन्तर खोजते और जितना मिल सके उतना समेटते रहने में ही बुद्धिमत्ता है।

समाज सेवी की योग्यता

धर्म दीक्षा का शिविर समाप्त हुआ। सारे भिक्षु अपनी-अपनी रुचि की दिशा में परित्रज्या के लिये निकल गये। देववर्धन नामक भिक्षु भी गौतम बुद्ध के सामने उपस्थित हुआ और प्रार्थना की— “भगवन् मेरी इच्छा है कि मैं कलिंग जाकर संघ का प्रचार करूँ।” कलिंग का नाम सुनकर बुद्ध ने आँखें उठाई, देववर्धन को पास बिठाया। स्नेह से शीश पर आशीर्वाद का हाथ फेरते हुए बोले “वत्स ! वहाँ के लोग बड़े अधर्मी और ईर्ष्यालु हैं, वे मिथ्या दोष लगाकर तुम्हें सतायेंगे, गालियाँ देंगे, इसलिए वहाँ जाने का इरादा बदल डालो।”

भिक्षु ने उसी विनय के साथ कहा— भगवन् गालियाँ देंगे तो क्या हुआ, मारेंगे तो नहीं, तथागत कहने लगे— “तात् इसमें भी संदेह नहीं वे आततायी भी हैं। तुम्हें मार भी सकते हैं।” देववर्धन फिर भी दृढ़ रहा। उसने कहा— “देव ! थोड़े दण्ड से इस शरीर का बिगड़ता क्या है, मारेंगे तो भी बुरा नहीं, वे मेरे प्राण तो नहीं लेंगे ?”

“पर वे तुम्हें जान से मार देंगे देववर्धन, मैंने उनकी निर्दयता देखी है,” बुद्ध ने कहा— “तो क्या हुआ भगवन् आपने ही तो कहा— यह शरीर धर्म कार्य में लग जाय तो पुण्य ही होता है, इस तरह तो वे लोग मेरे साथ उपकार ही करेंगे।” तथागत भगवान् बुद्ध शिष्य के उत्तर से संतुष्ट हुये। उन्होंने आशीर्वाद दिया और विदा करते हुये बोले— “वत्स ! समाज सेवी की सच्ची योग्यता है तुम में, तुम निश्चय ही वहाँ धर्म-प्रचार कर सकोगे।”

समाजसेवी की योग्यता है— सहिष्णुता, क्षमा और निष्ठा।

मन की पवित्रता

भगवान् बुद्ध प्यासे थे। शिष्य आनन्द को समीप के झरने से पानी लेने भेजा। उधर छोड़ी देर पहले ही कुछ पशु नहाये थे जिससे पानी गन्दा हो गया था। आनन्द लौट आये स्थिति बताते हुए कहा— नदी से पानी ले आता हूँ।

बुद्ध ने फिर उसी झरने पर पानी लेने भेजा किन्तु पानी गन्दला ही था। तीन बार भेजने और वापस आने के बाद चौथी बार जब आनन्द गये तो क्रीचड़ साफ हो गई थी। आनन्द स्वच्छ जल लेकर तथागत के पास आये।

पानी हाथ में लेते हुए— भगवान् बुद्ध ने कहा— आनन्द, हमारे जीवन का जल भी कुविचारों के पशु लोटने से प्रायः गन्दा होता रहता है और हम भाग खड़े होते हैं। यदि हम भागें नहीं— मन के शान्त होने की प्रतीक्षा करें तो सब कुछ साफ हो जायेगा, झरने के पानी की तरह।

परमार्थ परायणता का महत्त्व

महाविहार में भिक्षुओं की स्थिति का निरीक्षण करते हुए भगवान् बुद्ध एक कुटिया में पहुँचे तो उसमें रहने वाला साधक रुग्ण अवस्था में मल-मूत्र से सना पड़ा मिला।

पूछने पर मालूम हुआ कि उसे अतिसार है। कोई दूसरा उसकी सहायता करने नहीं आता।

तथागत ने आनन्द से जल माँग कर उसे स्वच्छ किया, उठाकर बिस्तर पर सुलाया और चिकित्सा की व्यवस्था की। साथ ही निकटवर्ती कुटियाओं में रहने वाले भिक्षुओं को बुलाकर पूछा— कोई उस रोगी की सहायता क्यों नहीं करता।

उत्तर में सभी ने एक ही बात कही— वह किसी के काम नहीं आता, सदा अकेला रहता और उपेक्षा भाव बरतता है। फिर कोई क्यों उसकी सहायता करे ?

तथागत ने कहा— अज्ञान का बदला ज्ञान से और संकुचित वृत्ति का सुधार उदारता से होता है क्या तुम इतना भी नहीं जानते। क्या तुमने नहीं सुना कि परमार्थ बदले के लिए नहीं अपनी ही करुणा को विकसित करने के लिए किया जाता है।

लोकसेवी का आचरण

महात्मा बुद्ध अपने शिष्यों के साथ संध्या को एक उद्यान में घूम रहे थे। उद्यान में ही स्थित एक सुन्दर सरोवर में खिल रहे कमल पुष्पों को देख बुद्ध आनन्दमग्न हो गये, इसी बीच एक शिष्य ने सरोवर के पास जा एक पुष्प तोड़ लिया व भगवान् को भेंट किया बुद्ध ने कहा— “वत्स यह तुमने ठीक नहीं किया, किन्हीं अन्य व्यक्तियों द्वारा किये पश्चिम से लगाये गये इन पुष्पों को तोड़ने का तुम्हें क्या अधिकार ? यह पाप है।” शिष्य ने अपनी त्रुटि स्वीकार कर क्षमायाचना की।

दूसरे ही क्षण एक व्यक्ति आया वह निर्दयतापूर्वक पुष्पों को तोड़कर फेंकने लगा, भगवान् ने उस व्यक्ति से कुछ नहीं कहा, वे शान्त बने रहे। शिष्य ने पूछा, “भगवन् आपको अर्पित करने के उद्देश्य से एक फूल तोड़ने पर तो आपने रोका और यह निर्दयी व्यक्ति अनेकों पुष्पों को तोड़कर सरोवर की शोभा बिगाड़ रहा है, उससे आप कुछ नहीं कहते ?” बुद्ध ने कहा— “वासना तृष्णा में डूबे व्यक्ति कोई अनुचित कार्य करते हैं तो यह उनका अज्ञान है, परन्तु धर्म परायण, विवेकशील व लोकशिक्षण के द्रती यदि ऐसा कार्य करें तो यह पाप ही है। लोकसेवी का आचरण अपने स्वयं के लिए व समाज के लिए श्रेष्ठ व ज्ञानसम्पत्त रहना अनिवार्य है।”

दिशा ज्ञान

राजगृह पथ पर जा रहे गौतम बुद्ध ने देखा, एक गृहस्थ भीगे वस्त्र पहने सभी दिशाओं को नमस्कार कर रहा था।

बुद्ध ने पूछा— “महाशय ! इस छः दिशाओं की पूजा का क्या अर्थ है ? यह पूजा क्यों करनी चाहिए ?”

गृहस्थ बोला— “यह तो मैं नहीं जानता ।”

बुद्ध ने कहा— “बिना जाने पूजा से क्या लाभ होगा ।”

गृहस्थ ने कहा— “भन्ते ! आप ही कृपाकर बतलायें कि दिशाओं की पूजा क्यों करनी चाहिए ?”

तथागत बोले— “पूजा करने की दिशाएँ भिन्न हैं । माता-पिता और गृहपति पूर्व दिशा है, आचार्य दक्षिण, स्त्री, पुत्र पश्चिम और मित्र आदि उत्तर दिशा हैं । सेवक नीची तथा भ्रमण ब्राह्मण ऊँची दिशा है । इनकी पूजा से लाभ होता है । गृहस्थ बोला— “और तो ठीक, भन्ते ! परन्तु सेवकों की पूजा कैसे ? वे तो स्वयं मेरी पूजा करते हैं ?”

बुद्ध ने समझाया— “पूजा का अर्थ हाथ जोड़ना, सिर झुकाना नहीं । सेवकों की सेवा के बदले उनके प्रति स्नेह-वात्सल्य ही उनकी पूजा है ।” गृहस्थ ने कहा— “आज आपने मुझे सही दिशा ज्ञान कराया ।”

कुल गोत्र की अहंता

बौद्ध भिक्षु होने पर अपना नाम बदलना अनिवार्य था । उसका उद्देश्य यह था कि वर्ज, गोत्र, जाति का आभास न हो व सब शिष्यगण अहंकार को विस्मृत कर दें ।

एक बार शिष्यों में चर्चा चली कि दीक्षित होने पर भी शरीर तो छूट नहीं जाते फिर गोत्र, जाति, वर्ण कैसे छूट जायेंगे । बात भगवान् के कानों तक पहुँची उन्होंने सबको एकत्र कर कहा, “वत्स, तुमने साँपों की केंचुली देखी है ?” “हाँ भगवन् देखी है” “तो कोई बतावे यह क्या है ?” “भगवन् केंचुली जब आती है तो साँप अन्धा हो जाता है ।”

“एवं जब केंचुली छूट जाय तब ”

“तब साँप को पुनः दीखने लगता है ।”

तथागत ने समझाया, “हमारे गोत्र, वर्ण व जातियाँ भी साँप की केंचुली के समान ही हैं जब तक शरीर पर यह रहती है, मनुष्य अहंकार में अन्धा बना रहता है, परन्तु जब यह केंचुली छूट जाती है तो उसे सर्वव्यापी विराट सत्ता की अनुभूति होने लगती है । इसीलिए नाम, पद, यश और कुलगोत्र की अहंता से विमुक्त होना आवश्यक है ।

शिष्य वस्तुस्थिति समझकर सन्तुष्ट हो गये ।

मृत्यु जीवन का यथार्थ

गौतमी का इकलौता पुत्र मर गया । शोक से विह्वल होकर वह लाश को लिये हुए भगवान् बुद्ध के पास पहुँची । उसे आशा थी कि तथागत बालक को पुनः जीवित कर देंगे ।

बुद्ध ने गौतमी को सान्त्वना देते हुए कहा— किसी ऐसे घर से थोड़ा जल माँग लाओ, जिसके घर में कभी कोई मृत्यु न हुई हो । उस जल को अभितंत्रित करके तुम्हारे पुत्र का अभिसिंचन करूँगा और वह पुनः जीवित हो उठेगा ।

गौतमी जल प्राप्त करने के लिए द्वार-द्वार पर घूमने लगी, पर कोई घर ऐसा न मिला— जहाँ किसी की मृत्यु न हुई हो । निराश वह वापस लौट आई ।

तथागत ने कहा— भद्रे तुमने देखा, इस संसार में कोई घर ऐसा नहीं जिसमें किसी की मृत्यु न हुई हो । इसी प्रकार कोई व्यक्ति ऐसा नहीं जिसे मरना न पड़े । आज या कल, सभी अपने-अपने समय पर मरते हैं फिर उस अन्तिम पन्न प्रकृति फन्द में फँसे हुए हम लोगों में क्यों किसी के लिए शोक करना चाहिए ।

गौतमी का बोध जाग पड़ा । वह मृत पुत्र का संस्कार करके घर लौट गई । शोक को उसने विवेक द्वारा शान्त कर दिया ।

महापिशाचिनी तृष्णा

रजा श्रोणिक सदा अशान्त रहते थे । निद्रा की न्यूनता, चेहरे की उदास, अतृप्ति और आशंका उन्हें हर घड़ी हैरान किये रहती थी । कारण और समाधान पूछने वे भगवान् बुद्ध के पास गये ।

प्रवचन चल रहा था, सभी भिक्षु अति प्रसन्न मुद्रा में उसे श्रवण कर रहे थे । चेहरे पर तेजस्विता और आनन्द की पुलकन से सभी दिव्य लग रहे थे ।

रजा की जिज्ञासा को समझते हुए तथागत ने उसी प्रवचन में यह तथ्य जोड़ दिया कि मनुष्य क्लान्त और उल्लसित क्यों रहता है । उन्होंने कहा— तृष्णाएँ ही मनुष्य को खाती हैं । उनसे बचा जा सके तो रजा-रंक सभी समान रूप से सुखी रह सकते हैं ।

जाति से नहीं गुण, कर्म, स्वभाव से ब्राह्मणत्व की पहिचान

भगवान् बुद्ध अनाथ पिण्डक के जैतवन में ग्रामवासियों को उपदेश कर रहे थे । शिष्य अनाथ पिण्डक भी समीप ही बैठा, धर्मचर्चा का लाभ ले रहा था ।

तभी सामने से महाकश्यप मौद्गल्यायन, सारिपुत्र, चुन्द और देवदत्त आदि आते हुए दिखाई दिये । उन्हें देखते ही बुद्ध ने कहा— वत्स ! उठो, यह ब्राह्मण मण्डली आ रही है, उसके लिये योग्य आसन का प्रबन्ध करो ।

अनाथ पिण्डक ने आयुष्मानों की ओर दृष्टि दौड़ाई, फिर साश्चर्य कहा— भगवन् ! आप सम्भवतः इन्हें जानते नहीं । ब्राह्मण तो इनमें कोई एक ही है, शेष कोई क्षत्रिय, कोई वैश्य और कोई अस्पृश्य भी हैं ।

गौतम बुद्ध अनाथ पिण्डक के वचन सुनकर हँसे और बोले— तात् ! जाति जन्म से नहीं गुण, कर्म और स्वभाव से पहचानी जाती है । श्रेष्ठ रागरहित, धर्मपरायण, संयमी और सेवाभावी होने के कारण ही इन्हें मैंने ब्राह्मण कहा है । ऐसे पुरुष को तू निश्चय ही ब्राह्मण मान— जन्म से तो सभी जीव शूद्र होते हैं ।

बुद्ध के पास आकर एक व्यक्ति ने उनके शिष्य की प्रशंसा की— कितनी अद्भुत बात है कि आपका अमुक शिष्य इतना ज्ञानी है ! कितना जानता है ! कितना प्रकण्ड विद्वान् है ! धन्य है आप ऐसे शिष्य को पाकर ।

बुद्ध बोले— बस उसमें यही तो कमी है कि वह इतना सब कुछ जानता है, पर जीवोद्देश्य को न जान सका, मनुष्य जीवन को न

समझ सका। यदि इतना वह और जान लेता कि जीव का उद्देश्य स्वार्थी नहीं, परमार्थी बनना है— ज्ञानी नहीं, ज्ञान की राह पर चलना है, तो वह सचमुच धन्य बन जाता और मुझे उस पर गर्व भी होता।

भाव-निष्ठा का भूखा परमात्मा

शौरपुच्छ नामक बनिक् ने एक बार भगवान् बुद्ध से कहा— भगवन् मेरी सेवा स्वीकार करें, मेरे पास १ लाख स्वर्ण मुद्रायें हैं वह सब आपके काम आयें। बुद्ध कुछ न बोले चुपचाप चले गये।

कुछ दिन बाद वह पुनः तथागत की सेवा में उपस्थित हुआ और कहने लगा— देव ! यह आभूषण और वस्त्र लें दुःखियों के काम आयेंगे मेरे पास अभी बहुत-सा द्रव्य शेष है। बुद्ध बिना कुछ कहे वहाँ से उठ गये। शौरपुच्छ बड़ा दुःखी था कि वह गुरुदेव को किस तरह प्रसन्न करे।

वैशाली में उस दिन महान् धर्म सम्मेलन था। हजारों व्यक्ति आयें थे। बड़ी व्यवस्था जुटानी थी। सैकड़ों शिष्य और भिक्षु काम में लगे थे। आज शौर पुच्छ ने किसी से कुछ न पूछा काम में जुट गया, रात बीत गई सब लोग चले गये पर शौरपुच्छ बेसुध कार्य-निमग्न रहा। बुद्ध उसके पास पहुँचे और बोले शौरपुच्छ ! तुमने प्रसाद पाया या नहीं ? शौरपुच्छ का गला रुँध गया। भाव-विभोर होकर उसने तथागत को साष्टांग प्रणाम किया। बुद्ध ने कहा— वत्स परमात्मा किसी से धन और सम्पत्ति नहीं चाहता वह तो निष्ठा का भूखा है। लोगों की निष्ठाओं में ही वह रमण किया करता है। आज तुमने स्वयं यह जान लिया।

छल कपट देर तक टिकता नहीं

बुद्ध आस्वान राज्य के किसी नगर से गुजर रहे थे। यह स्थान उनके विरोधियों का गढ़ था। जब विरोधियों को बुद्ध के नगर में होने का पता चला तो उन्होंने एक चाल चली। एक कुलटा स्त्री के पेट में बहुत-सा कपड़ा बाँधकर भेजा गया। वह स्त्री जहाँ बुद्ध थे वहाँ पहुँची और जोर-जोर से चिल्लाकर कहने लगी— “देखो यह पाप इसी महात्मा का है। यहाँ ढोंग रचाये घूमता है और अब मुझे स्वीकार भी नहीं करता।” सभा में खलबली मच गई। उनके शिष्य आनन्द बहुत चिन्तित हो उठे और पूछा— भगवन् ! अब क्या होगा ?”

बुद्ध हँसे और बोले— “तुम चिन्ता मत करो कपट देर तक नहीं चलता। चिरस्थायी फलने-फूलने की शक्ति केवल सत्य में ही है।” इसी बीच उस स्त्री की करधनी खिसक गई और सारे कपड़े जमीन पर खिसक पड़े। पोल खुल गई। स्त्री अपने कृत्य पर बहुत लज्जित हुई। लोग उसे मारने दौड़े पर बुद्ध ने यह कहकर सुरक्षित लौटा दिया— जिनकी आत्मा मर गई हो, वह मरें से अधिक हैं, उन्हें शारीरिक दण्ड देने से क्या लाभ ?”

मोक्ष का महामन्त्र

“आत्म-शोध है” भिक्षुओ ! इसके लिये तुम्हें जंगल-जंगल भटकने की आवश्यकता नहीं। परम-पद तुम्हारे बिल्कुल समीप।

एक स्त्री दर्पण के सामने बैठी अपना चेहरा देख रही थी और बड़ी तत्परता से उसे सुन्दर और निर्मल बनाने का प्रयत्न कर रही थी। मैंने देखा— वह बड़े ध्यान से चेहरे में लगी गन्दगी को ढूँढ़ती है और उसे साफ करती है। आत्म-परीक्षण के सम्बन्ध में भी यही बात है। अपनी चेतना के दर्पण में अपने आपको देखो और ढूँढ़ो कहीं क्रम, क्रोध, भय, उद्विग्नता, असन्तोष, असंतुलन तो नहीं छिपा हुआ है ? तुम्हारे विचार गन्दे तो नहीं हैं ? इन्द्रियों पर तुम्हारा नियन्त्रण है या नहीं ?

यदि इनका सही उत्तर न मिले तो उन बुराइयों को मिटाने में लग जाओ, उस स्त्री की तरह जब तुम्हें अपने आन्तरिक चेहरे की निर्मलता पर सन्तोष हो जायेगा, उसी दिन तुम मोक्ष, परम-पद, पा आत्म-कल्याण की स्थिति प्राप्त कर लोगे।

तन नहीं, मन की स्वच्छता भी अनिवार्य

भगवान् बुद्ध अपने ज्ञान का प्रकाश संसार को दे रहे थे। अनेक लोगों का आत्मिक कार्याकल्प हो चुका था।

एक दिन तथागत घूमते हुए एक सेठ के यहाँ पहुँचे। भिक्षा हेतु अपना कमंडल उसके सामने रख दिया। वह तथागत के ज्ञान और प्रभाव की प्रशंसा सुन चुका था। उसे आशा थी कि उनका आशीर्वाद पाकर मेरी मुक्ति हो जायेगी। बड़े प्रेम से खीर बनवाई और लाकर कमंडल में देने लगे। उसने आश्चर्यपूर्वक देखा कि कमंडल में गोबर भरा हुआ है। इतनी सुन्दर खीर उस कमंडल में कैसे रखी जाय, जिसमें कि गन्दगी भरी हुई है।

उसने कमंडल उठाया उसको अच्छी तरह साफ किया। तत्पश्चात् उसमें खीर रखी और तथागत से बोला— “भगवन् ! कहीं भिक्षा हेतु पधार करें अपना पात्र साफ करके ही लाया करें। गन्दगी भरे पात्र से तो आहार की पवित्रता नष्ट हो जायेगी।”

तथागत शांत-भाव से बोले— “वत्स ! भविष्य में जब कभी भी आऊँगा, कमंडल साफ करके ही लाया करूँगा पर तुम भी तो अपना कमंडल साफ रखा करो।” सेठ ने आश्चर्य भरे शब्दों में पूछा “भगवन् ! कौन-सा कमंडल।” तथागत बोले “यह तन रूपी कमंडल। मन में मलीनता भरी रहने से यह जीवन भी कलुषित हो जाता है और भगवान् की कृपा उसमें ठीक प्रभाव नहीं करती।” बात समझ में आ गई। उस दिन से सेठ अपनी आन्तरिक सफाई में लग गया।

झूठ तो झूठ है

एक समय भगवान् राजगृह के वेणुवन में थे। राहुल अम्बलट्टिका में थे। एक दिन शाम को भगवान् राहुल के यहाँ पहुँचे। राहुल ने देखकर आसन बिछाया और पैर धोने के लिए लोटे में पानी लाकर रखा। पैर धोकर भगवान् आसन पर आ बैठे। उन्होंने राहुल से कहा—

“राहुल ! लोटे में बचे थोड़े से पानी को देखता है न ?”
“हाँ, भन्ते !”

“रहुल, ऐसा ही थोड़ा श्रमण भाव उन लोगों में है, जिन्हें झूठ बोलने में लज्जा नहीं आती।”

जल को फेंककर लोटे को औंधा कर भगवान् ने कहा— “रहुल, ऐसा ही औंधा श्रमण भाव उन लोगों का है, जिन्हें झूठ बोलने में लज्जा नहीं आती।”

लोटे को सीधा करके भगवान् ने कहा — “ऐसा ही खाली, तुच्छ श्रमण भाव उन लोगों का है, जिन्हें झूठ बोलने में लज्जा नहीं आती। जिसे जान-बूझकर झूठ बोलने में लज्जा नहीं, उसके लिए कोई भी पाप-कर्म अकरणीय नहीं, ऐसा मैं मानता हूँ। इसलिए रहुल, हंसी में भी झूठ नहीं बोलूंगा, यह सीख लेनी चाहिए।”

शत प्रतिशत दान

तथागत को एक विहार का निर्माण करना था। इसके लिए उन्होंने सर्व-साधारण से याचना की और अभीष्ट राशि जमा हो गई।

कोषाध्यक्ष से पूछा गया कि किसकी सबसे बड़ी राशि थी उसने बताया— एक बुढ़िया ने जिन्दगी भर में एक रुपया जमा किया था। उसने अपनी कमाई का शत-प्रतिशत दान कर दिया। जिसके पास विपुल धन था उन्होंने उसमें से सैकड़ों भर दिये थे। जो उनकी पूँजी का एक प्रतिशत भी नहीं था। विहार पर शिला-लेख लगा। उसमें बुढ़िया की उदारता को श्रद्धापूर्वक सराहा गया।

सर्वस्व दान

आम्रपाली अपने समय की प्रख्यात सुन्दरी थी। उसके रूप लावण्य पर अनेकों मुग्ध रहते थे। उसका नृत्य गायन स्वर्ग की अप्सराओं जैसा था।

एक बार वह भगवान् बुद्ध के उपदेश सुनने गई। जीवन की गरिमा और उसके सदुपयोग की आवश्यकता पर उसने बहुत कुछ सुना। आत्म-चिन्तन किया। अपनी गतिविधियों के लिए मन ने धिक्कारा। वह शेष जीवन को सुधारने का विश्वास करके लौटी।

भगवान् की शरण में वह दुबारा गई। उनसे सांत्वना ली और कहा— कि जो बीत चुका सो लौटने वाला नहीं। अब जो शेष रहा है उसी को सुधारना चाहिए। निर्णय यह हुआ कि उसे बौद्ध समुदाय में शिष्य होकर साधना करनी चाहिए और धर्म प्रचार में लग कर अनेकों को कल्याणकरक मार्गदर्शन कराना चाहिए। बात समझदारी की थी सो आम्रपाली ने अपना ली और भिक्षु समुदाय में सम्मिलित हो गई।

अब दूसरा प्रश्न उभरा कि पिछले दिनों जो पाप कमाया है वह तो कुसंस्कार बना ही रहेगा। साधना को सफल न होने देगा। इसलिए पूर्व अनाचारों का प्रायश्चित्त भी आवश्यक है। प्रायश्चित्त का एक ही उपाय है जो गड्ढा खोदा गया है उसे भरा जाय। अनाचार का समापन पुण्य परमार्थ द्वारा किया जाय।

आम्रपाली ने नर्तकी जीवन में प्रचुर सम्पदा कमाई थी। उसे धर्म प्रचार जैसे पुण्य कार्य में लगाया जाना आवश्यक था। उसने अपना समूचा संचय बौद्ध विहार के धर्म प्रचार के लिए दान कर दिया। स्वयं साधनारत होकर परिमार्जित हुई और धर्म प्रचार के परमार्थ हेतु

देश-विदेश में आजीवन प्रयत्न करती रही। नर्तकी आम्रपाली परम साध्वी कहलाई।

निरर्थक कुछ भी नहीं

तथागत समेत बुद्धसंघ राजा उदयन के घर भिक्षा के निमित्त गया। अतिथि सत्कार के उपरान्त रानी ने चीवर भेंट किये। राजा ने हँसते हुए पूछा देव आप इतने चीवरों का क्या करेंगे? बुद्ध ने कहा— जिन भिक्षुओं के चीवर फट जाया करेंगे, उन्हें देते रहेंगे। राजा ने फिर पूछा— उन फटे चीवरों का क्या होगा? उत्तर मिला उनके टुकड़े काटकर बिछोने बना लेंगे। फिर पुराने गद्दों का क्या होगा? उत्तर मिला— झाड़न में काम लेंगे। अन्ततः उनके भी निरर्थक हो जाने पर किसी खेत में गाड़कर खाद बना दिया जायेगा। उदयन बुद्ध संघ की कार्य नीति से बहुत प्रभावित हुआ और उन्होंने ऐसे श्रेय सदुपयोग के लिए अपना सारा खजाना खाली कर दिया।

प्रसुप्ति से उबरें, विवेक का आश्रय लें

भगवान् बुद्ध एक रात्रि प्रवचन कर रहे थे। प्रवचन सुनने के लिए बैठा हुआ व्यक्ति बार-बार नींद के झोंके ले रहा था। तथागत ने उस ऊँघते हुए व्यक्ति को कहा— “वत्स सोते हो” “नहीं”! भगवान्— हड़बड़ा कर ऊँघते हुए व्यक्ति ने कहा। प्रवचन पूर्ववत् चालू हो गया और उक्त श्रोता भी पहले की तरह ऊँघने लगा। भगवान् बुद्ध ने तीन-चार बार उसी जगाया परन्तु वह नहीं भगवान् कहता और फिर सो जाता। अन्तिम बार तथागत ने पूछा— “वत्स जीवित हो” नहीं भगवान् सदा की तरह उत्तर दिया श्रोता ने। श्रोताओं में हँसी की लहर दौड़ गयी। भगवान् बुद्ध भी मुस्कराये फिर गम्भीर होकर बोले— वत्स निद्रा में तुमसे सही उत्तर निकल गया। जो निद्रा में है वह मृतक समान है। जब तक हम विवेक और प्रज्ञा में नहीं जागते हैं तब तक हम मृतक के ही समान हैं।

समर्पण की महत्ता

बुद्ध से मिलने एक घुमक्कड़ साधु आया। बुद्ध से आकर कहा “भगवन मेरे पास न बुद्धि है, न चातुर्य, न शब्द है, न कुशलता। अतः मैं कोई प्रश्न अथवा जिज्ञासा कर सकने की स्थिति में भी नहीं हूँ। यदि मुझे पात्र समझें तो मेरे योग्य जो कुछ भी कह सकें कह दें”। घड़ी भर के लिए बुद्ध मौन हो गये। सन्त भी शांत बैठ रहा। क्रैतूहलवश सभी भिक्षु उन्हें निहारते रहे। अचानक देखा कि साधु की आँखों से आँसुओं की धारा बहने लगी। उसने बुद्ध को साष्टांग प्रणाम किया और धन्यवाद देते हुए बोला— “बड़ी कृपा की भगवान्। आज मैं धन्य हो गया” और नाचता-गाता, गुन-गुनाता चला गया। हतप्रभ शिष्य मण्डली देखती रही। बुद्ध एक शब्द भी नहीं बोले फिर आखिर क्या घट गया उस साधु के जीवन में?

आनन्द ने बुद्ध के पास जाकर पूछा भगवान् कुछ समझ में नहीं आया। न कोई वार्तालाप ही हुआ न कोई प्रश्नोत्तर। फिर क्या घट गया आप दोनों के बीच कि साधु परम सन्तुष्ट होकर लौट गया। हम वर्षों से आप के पास हैं, फिर भी वैसा कुछ घटित नहीं होता।

६.४८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

बुद्ध ने मौन तोड़ते हुए कहा “आनन्द ! घोड़े चार प्रकार के होते हैं । एक अड़ियल घोड़ा होता है जो चाबुक मारने पर भी टस से मस नहीं होता । जितना मारो उतना ही हठ पकड़ लेता है । दूसरा ऐसा होता है कि मारो तो चल पड़ता है । तीसरे घोड़े कोड़ा फटकारते ही चल पड़ते हैं चौथे घोड़े को कोड़े की छाया ही काफी है । बस यह साधु ऐसी ही आत्मा थी । उसे इशारे भर की ही जरूरत थी और वह मेरे मन ने कही उसके मन ने ग्रहण करली । तुम्हारे मन तो उन जिद्दी घोड़ों की तरह है कि कोड़े फटकारते रहने पर अपनी जिद पर अड़े हैं । बात शिष्यों की समझ में आ गई । समर्पणभाव से गुरु से ग्रहण किया जाय तो बिना बोले, बिना कहे ही सब कुछ पाया जा सकता है ।

इच्छा पूर्ण हुई

बुद्ध के पास एक युवक आया । उनके चरणों में सिर झुकवाया और आँख उठाकर एक बार देखा— पुनः चरणों में झुक गया । बुद्ध ने पूछा किसलिए आये हो ? “युवक बोला जिस के लिए आया था वह इच्छा पूर्ण हुई । अब कुछ न पूछना है न कहना है” बुद्ध बोले क्या घट गया ? क्या पूर्ण हुआ ? यह औरों को भी बता दो । “वहाँ सत्संग में कोई दस हजार भिक्षुओं की भीड़ थी । किन्तु किसी को कुछ दिखाई नहीं दिया । मात्र इतना ही दिखाई दिया कि युवक आया चरणों में झुका किन्तु क्या घटित हुआ ? क्या परिवर्तन हो गया ? यह किसी को कुछ दिखाई नहीं दिया । युवक बोला “मैं बदलने आया था । बदल गया हूँ । मेरी आत्मा में जिस क्रान्ति के लिए चाह थी उसके पूर्ण होने के लिए विश्वास मिल गया है । कोई भरोसा पैदा हो गया है । एक विश्वास के साथ मैं बदल गया हूँ । नयी श्रद्धा ने जन्म ले लिया है । बुद्ध को देखकर मुझे विश्वास हो गया है जो बुद्ध में हो सकता है वह मुझ में भी हो सकता है । बुद्ध मेरा भविष्य है । जो मैं कल हो सकता हूँ वह बुद्ध आज है । इस भरोसे के साथ चरणों में झुका और वापस उठा, तो मैं दूसरा आदमी हो गया ।”

पहले छिद्रों को बन्द करें

बुद्ध को प्यास लगी तो गाँव में कुँए के समीप ठहर गये । बुद्ध ने देखा कि एक व्यक्ति कुँए में बाल्टी डालता है । बाल्टी भर जाती है ऊपर खींचता है । इतने में सारा पानी कुँए में ही बिखर जाता है । बाल्टी में अनेकों छेद थे । पानी बिखरना स्वाभाविक था । किन्तु वह मूढ़ व्यक्ति बार-बार प्रयास करता व असफल रहता ।

बुद्ध बहुत देर तक खड़े-खड़े यह तमाशा देखते रहे । पास में उनका शिष्य आनन्द भी खड़ा था और देख रहा था । बुद्ध ने आनन्द से कहा— “देखो आनन्द ! इस व्यक्ति के पास तृष्णा की बाल्टी है । यह कभी भर नहीं सकती । सारा जीवन यह भरने का प्रयास करेगा । किन्तु बर्तन रीता ही रहेगा । यह स्वयं की प्यास नहीं मिटा सकता । इससे हमें पानी की आशा नहीं करनी चाहिए ।

जो जीवन भर अपव्यय के छिद्रों से गँवाता, चुकाता रहता है, वह स्वयं तो क्या संचय करेगा, औरों को दे सकने की स्थिति में भी क्या आ पाएगा ?

हृदय परिवर्तन

मगध के एक धनी व्यापारी ने बहुत धन कमाया । उसे अपनी सम्पन्नता पर इतना गर्व हुआ कि वह अपने घर के लोगों पर ऐंठा करता । फल यह हुआ कि उसके लड़के भी उदण्ड और अहंकारी हो गये । पिता पुत्रों में ही ठगने लगी । घर नरक बन गया ।

उद्विग्न व्यापारी ने महात्मा बुद्ध की शरण ली और कहा— “भगवन् ! मुझे इस नरक से मुक्ति दिलाइये, मैं भिक्षु होना चाहता हूँ ।”

तथागत ने कुछ सोचकर उत्तर दिया— “भिक्षु बनने का अभी समय नहीं है तात् ! तुम जैसा चाहते हो वैसा आचरण करके तो घर में ही स्वर्ग के दर्शन कर सकोगे ।”

व्यापारी घर लौट आया और विनम्रता बरतने लगा । उससे सारे घर का हृदय परिवर्तन हो गया और सुख-शान्ति के दर्शन होने लगे ।

नैतिक आचरण

कमल सरोवर के निकट बैठे तथागत शान्त मुद्रा में— विभोर से गन्धपान कर रहे थे ।

तभी एक देव कन्या ने कहा “तुम बिना कुछ दिये ही गन्ध का पान कर रहे हो । तुम गन्ध चोर हो ।”

तथागत ने देखा और सिर झुक लिया । तभी एक ग्राम्य बालिका आई और निर्दयतापूर्वक कमल पुष्प तोड़ने लगी । तालाब का पानी भी अस्वच्छ कर दिया । देव कन्या अभी भी खड़ी थी ।

उसे मौन देखकर तथागत ने कहा “देवि— मैंने तो केवल गन्धपान ही किया था । तब भी तुमने मुझे चोर कहा और यह तो कमल पुष्प तोड़ रही है— सरोवर को अस्वच्छ भी कर रही है । तब भी तुम इसे कुछ नहीं कह रहीं ?”

देव कन्या मुस्कराई । सहज स्मृति में से स्नेह भरा स्वर फूटा “यह अबोध है— अज्ञानी है । क्या उचित है, क्या अनुचित ? यह वह नहीं जानती । उसके कार्य-कलाप सहज संचालित हैं । पर आप ज्ञानी हैं । नीति मर्मज्ञ हैं । धर्म के ज्ञाता हैं । क्या प्रेय है और क्या प्रेय यह आप भली प्रकार जानते हैं । आपकी लघु से लघु क्रिया भी औचित्य एवं अनौचित्य की कसौटी पर कसकर ही क्रियान्वित होनी चाहिये ।” पुनः तथागत का शीश अवनत हो गया । इस बार शीश ही नहीं— हृदय भी लज्जित हो आया था । उन्होंने अनुभव किया शिक्षित और विचारशील लोग जब तक नैतिक आचरण नहीं करते सामान्य प्रजा तब तक सुधरती नहीं ।

सधन्यवाद वापस

भगवान् बुद्ध परिव्राजन करते हुये एक ब्राह्मण के घर ठहरे । जब ब्राह्मण को मालूम हुआ कि वह बुद्ध हैं तो उसने जी भरकर गालियाँ दीं, अपशब्द कहे और तुरन्त निकल जाने को कहा ।

बुद्ध देर तक सुनते रहे। जब उन सज्जन ने बोलना बन्द किया तो उन्होंने पूछा— द्विजवर ! आपके यहाँ कोई अतिथि आते होंगे तो आप उनका सुन्दर भोजन और मिष्ठान्न से स्वागत करते होंगे ? इसमें क्या शक उन्होंने उत्तर दिया और यदि किसी कारणवश मेहमान उसे स्वीकार न करें तो आप उन पकवानों को फेंक देते होंगे ?

फेंक क्यों देते हैं, हम स्वयं ग्रहण कर लेते हैं— उन्होंने विश्वासपूर्वक उत्तर दिया।

“तो हम आपकी यह गालियों की भेंट स्वीकार नहीं करते, अपनी वस्तु आप ग्रहण करिये” यह कहकर बुद्ध मुस्कराते हुये वहाँ से चल पड़े।

सहनशीलता से बढ़कर और कुछ नहीं

एक बार भगवान् बुद्ध ने भैसे की योनि में जन्म लिया। जंगली भैंसा होने पर भी भगवान् बड़े शान्त थे। उनके सीधेपन के कारण इन्हें एक बन्दर बड़ा तंग करता। कभी पीठ पर कूदता, कभी पूँछ खींचता, तो कभी सींग पकड़कर धुमाता। फिर भी भैंसा शान्त ही रहता। एक दिन देवताओं ने भैसे से कहा— “यह बन्दर तुम्हें तंग करता है। इसे दण्ड देना चाहिए।”

देवताओं की बात सुनकर भैसे ने कहा— “मैं बन्दर की दुष्टता समझता हूँ और एक झटके से उसका अंत कर देने में भी समर्थ हूँ। लोग अपने से शक्तिशाली का अपराध तो बाध्य होकर सहते हैं, पर सहनशीलता तो अपने से निर्बल का अपराध सहन करने में है।”

विनम्रता का पाठ

तथागत बोधिवृक्ष को साष्टांग दण्डवत् कर रहे थे।

शिष्यों ने आश्चर्य से पूछा — आप तो पूर्ण हैं। फिर इस तुच्छ वृक्ष को इतना सम्मान क्यों दे रहे हैं ?

बुद्ध ने कहा— आप सबको यह बोध कराने के लिये जो नमता है सो बढ़ा होता है। ऐसा न हो कि आप लोग अहंकारी बनकर नमन की परम्परा भुला दें।

तथागत की महानता

बुद्ध मृत्यु शैय्या पर पड़े थे। जिज्ञासु सुभद्र अपनी कुछ शंकाओं का समाधान करने दूर से चलकर वहाँ आया।

आनन्द ने उसे रोका और कहा— ऐसे समय उन्हें कष्ट देना उचित न होगा।

बुद्ध भीतर सुन रहे थे। उन्होंने आँखें खोल लीं। आनन्द को इशारे से बुलाकर कहा— सुभद्र को ले आओ। मेरे जीवित रहते किसी जिज्ञासु को निराश जाने देना ठीक नहीं।

सुभद्र ने तथागत की महानता देखी और बिना कुछ उपदेश सुने ही परिव्राजकों की शिष्ट मण्डली में सम्मिलित हो गया।

संत का एक ही धर्म

भगवान् बुद्ध का अवसान काल निकट आया। उन्होंने गृहस्थ शिष्यों को बुलाकर कहा— “अपने ऊपर निर्भर रहो। दूसरों की

सहायता मत तकरो। भीतर का प्रकाश जगाओ और हिम्मत पराक्रम के सहारे सुखपूर्वक जियो। धर्म को अपनाने वाला दुःख नहीं भोगता।”

अब विरक्तों की बारी आई। अन्तिम संदेश देते हुए कहा— “तुम लोग दो से अधिक एक साथ मत रहना। तीन दिन से अधिक कहीं ठहरना मत।” सन्त का एक ही धर्म है— जन-जागरण के लिए पर्यटन। यही है सद्गतिदायिनी तीर्थयात्रा। सामर्थ्य रहते इसे छोड़ना मत।”

धर्म-मर्यादा

भगवान् बुद्ध का जब मरण काल निकट आया तब उन्होंने अपने शिष्यों को बुलाकर कुछ उपदेश दिये। उन्होंने कहा—

“धर्म मनुष्य को मर्यादाओं में रखता है और शालीन बनाता है। बिना तट की सरिता उच्छृंखल होकर अपना और सबका विनाश करती है। धर्म के सीमा बन्धन तोड़ना मत।”

“परस्पर एक होकर रहना। कारण कुछ भी हो— पृथक्तावाद मत अपनाना। जो तुम में फूट डाले उनसे सतर्क रहना और उन्हें कभी क्षमा मत करना।”

“जहाँ रहते हो उसे पथ-विश्राम मात्र मानना। तुम्हारा घर तो वहाँ है, जहाँ जीवन लक्ष्य पूर्ण होता है। रास्ते के साथियों से मिलना जरूर, पड़ावों पर ठहरना भी, पर उनके साथ इतने मत उलझ जाना कि मंजिल ही भूल जायें।”

“भिक्षुओ, बोलना कम, करना ज्यादा। जितना ज्यादा बोलोगे उतना ही तुम्हारा सम्मान गिरेगा। उथले लोग ही बहुत बकवास करते हैं। तुम जो बोलो— ठोस, मर्यादित, थोड़ा, अनुभूत और विश्वास पूर्वक बोलना। उस थोड़े से भी बड़ा प्रयोजन सधेगा।”

बुद्ध का अन्तिम उपदेश

बुद्ध का अन्तिम दिन था। आनन्द छाती पीटकर रोने लगा और बोला “प्रभु आप तो जा रहे हैं मेरा क्या होगा ?” बुद्ध ने कहा— “आनन्द ! पागल मत बनो ! मुझसे पहले कितने ही बुद्ध हो गये और मेरे बाद अनेकों होंगे। यह सिलसिला कभी समाप्त नहीं होगा। यदि तू सीखने में कुशल है, तो किसी से भी सीख लेना। तू चालीस वर्ष तक मेरे साथ रहा तू कहता है कि मुझे ज्ञान नहीं हुआ। “मैं जा रहा हूँ, उस दिन कह रहा है कि अब क्या होगा ? यदि चालीस साल में तुझे ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, तो चालीस जन्मों में भी तेरी क्या समझ में आवेगा ? हो सकता है मेरे होने के कारण तेरी सीखने की क्षमता क्षीण हो गई हो। तू समझता था कि गुरु मिल गये, सब कुछ मिल गया। मिलना ही पर्याप्त नहीं, तुझे भी बदलने की जरूरत थी, बनने की जरूरत थी। संभव है मेरे न रहने पर तू बुद्धत्व को प्राप्त हो” और इतना कहकर बुद्ध ने अन्तिम साँस ली। ऐसा हुआ। कहते हैं कि आनन्द को बुद्ध के जाने के बाद ही परम ज्ञान उपलब्ध हो सका।

महानता के चिह्न

महात्मा सारीपुत्र गौतम बुद्ध के सर्वप्रधान शिष्य माने जाते थे। इनको 'धम्म-सेनापति' की पदवी दी गई थी। 'सारी' इनकी माता का नाम था और इस कारण ये 'सारीपुत्र' के नाम से विख्यात हो गये।

× × × ×

एक दिन सारीपुत्र भिक्षा लेने जा रहे थे। पीछे से एक ब्राह्मण ने उनकी पीठ पर जोर से धूँसा मारा। महात्मा ने पीछे फिर कर भी न देखा कि कौन है और क्यों मार रहा है। वे उसी प्रकार शान्तिपूर्वक आगे बढ़ते चले गये। अब तो ब्राह्मण बहुत पछताया और पैरों पर गिरकर क्षमा माँगने लगा—

ब्राह्मण—महाराज ! मुझे क्षमा कीजिये !

सारीपुत्र—भाई, तुमने क्या किया जो मैं क्षमा करूँ ?

ब्राह्मण—महाराज मैंने अपनी मूर्खता से आपकी परीक्षा करनी चाही और इसलिये पीछे से एक धूँसा मार दिया।

सारीपुत्र—प्यारे भाई, इससे मेरा क्या बिगड़ा ? तुमको संतोष हुआ और तुम्हारे मन में भी धर्म का भाव उदय हुआ ? यह तो अच्छी बात हुई।

ब्राह्मण—महाराज, यह कहना आपको बड़प्पन है। आप मुझे क्षमा कर दीजिये।

सारीपुत्र—परन्तु मैंने तो कभी तुम पर क्रोध किया ही नहीं। फिर क्षमा क्या करूँ ?

ब्राह्मण—महाराज, मेरे मन में तो संतोष तभी होगा जब आप क्षमा कर देंगे।

सारीपुत्र—अच्छ, यदि तुम्हारा इसी प्रकार संतोष हो सकता है, तो मैं कहे देता हूँ कि मैंने तुमको क्षमा कर दिया।

ब्राह्मण—मैं क्षमा करना तब समझूँगा जब आप मेरे ही घर से भिक्षा लें।

सारीपुत्र—अच्छ चलो, तुम्हारे ही यहाँ सही।

× × × ×

एक बार एक भिक्षु ने महात्मा बुद्ध के पास आकर सारीपुत्र की शिकायत की—

“महाराज, आपने महात्मा सारीपुत्र को ‘‘धम्म सेनापति’’ बना दिया है, इससे उनको ऐसा गर्व हो गया है कि वे भिक्षुओं पर अत्याचार करते हैं। चाहे जिसे मार बैठते हैं। मुझे भी उन्होंने बिना कारण ही मारा है।’’

भगवान् बुद्ध—महात्मा सारीपुत्र किसी को कारण होने पर भी मारें, यह समझ में नहीं आता। बिना कारण मारने की तो बात ही क्या ? परन्तु तुम कहते हो तो हम उनको बुलाकर पूछते हैं ?

महात्मा सारीपुत्र के आने पर भगवान् बुद्ध ने पूछ—

“यह भिक्षु कहता है कि इसको तुमने बिना कारण मारा है। क्या यह सत्य है ?”

सारीपुत्र—भगवान्, ये भिक्षु बड़े विद्वान् और साधन करने वाले हैं। इनको मारने की मला कौन घृष्टता कर सकता है ? इस पर भी

मैं तो इनका सेवक हूँ। घर-घर से भिक्षा माँग कर खाने वाला सारीपुत्र क्या ऐसा कर सकता है ? परन्तु अनजान में भी इन भिक्षु को मुझसे कोई कष्ट पहुँचा हो तो मैं उसके लिये क्षमा माँगता हूँ। हे श्रेष्ठ भिक्षु मुझे क्षमा करो।

भिक्षु—(महात्मा सारीपुत्र के पैरों पर गिरकर) महात्मा तुम ही मुझे क्षमा करें। सत्य ही आप निर्दोष हैं। यह मेरी दुष्टता थी जो ईर्ष्या के वश होकर ऐसा झूठ दोष आप पर लगाया। महात्मा आप बड़े हैं, मुझे क्षमा करें।

भगवान् बुद्ध—सारीपुत्र, इसने कार्य तो दण्ड के योग्य किया था। परन्तु अब इसे क्षमा कर दो ?

महात्मा सारीपुत्र—महाराज, मुझे तो इन पर क्रोध है ही नहीं। मैं इन्हें हृदय से क्षमा करता हूँ भगवान्, सम्भव है कि अनजान में मुझसे इनको या अन्य किसी भिक्षु को कष्ट पहुँचा हो। उसके लिये मैं इनसे व अन्य सब भिक्षुओं से क्षमा माँगता हूँ। यदि मैं कभी कोई अनुचित कार्य करूँ तो भिक्षु लोग मुझे तत्काल बता देने की कृपा करें। इससे मेरा बड़ा उपकार होगा।

× × × ×

एक बार महात्मा सारीपुत्र ने पूर्ण नाम के भिक्षु की बड़ी प्रशंसा सुनी। पूर्ण जंगल में रहते थे। सारीपुत्र वहीं उनके पास गये और कुछ उपदेश करने की प्रार्थना की। महात्मा पूर्ण का उपदेश सुन कर सारीपुत्र गद्गद हो गये। उनकी आँखों में आँसू भर आये

सारीपुत्र—महात्माजी, धन्य है आपको। मेरे बड़े भाग्य है कि आपके दर्शन हुये और आपके अमृत के समान उपदेश सुने।

महात्मा पूर्ण—आप जो प्रशंसा करते हैं वह सब आपकी कृपा है। परन्तु आपने अपना परिचय अभी तक नहीं दिया।

सारीपुत्र—महात्मा, मैं धम्म का एक तुच्छ सेवक हूँ। मुझे लोग सारीपुत्र कहते हैं।

महात्मा पूर्ण—सारीपुत्र ! आप महात्मा सारीपुत्र हैं ! जो गुरु के मुख्य शिष्य हैं। धम्म सेनापति हैं। जो गुरु के समान ही महान् हैं। धन्य हैं उन भिक्षुओं को जो सदैव आपके साथ रहते हैं। और धन्य है मुझको, जो आज आपके सत्संग का अधिकारी बन सका।

× × × ×

महात्मा सारीपुत्र केवल वही वस्तु लेते थे, जिसे कोई अपनी प्रसन्नता से उन्हें देता था। अपने खाने के लिये कोई चीज किसी से माँग कर नहीं लेते थे। एक बार वे बीमार पड़े। उस समय महात्मा मौग्दाल्यायन उनके पास बैठे थे। उन्होंने पूछ—

“सारीपुत्र ! क्या तुम घर पर भी कभी इस रोग से पीड़ित हुये थे ?”

सारीपुत्र—“अनेक बार।”

मौग्दाल्यायन—“उस समय तुम्हारी माता तुम्हें क्या औषधि देती थी ?”

सारीपुत्र—“शहद और दूध।”

किसी भिक्षु ने यह बात सुन ली, उसने झट शहद और दूध लाकर रख दिया।

सारीपुत्र—“भाई, तुम इनको क्यों लाये ?”

भिक्षु—“महाराज, अभी आपने कहा था कि आपके रोग की यही औषधि है।”

सारीपुत्र—तुमने बड़ी कृपा की। परन्तु मैं तो इसे ले नहीं सकता। मेरा नियम है कि अपनी कही हुई वस्तु को नहीं लेता।

मौगदाल्यायन—सारीपुत्र, वह नियत तो साधारण अवस्था के लिये है। रोग के लिये नहीं है। इस समय इन वस्तुओं को औषधि के रूप में लेने में कोई हर्ज नहीं है।

सारीपुत्र—नहीं, मेरी आँत निकल ही क्यों न पड़े, परन्तु मैं अपने नियम को तोड़ नहीं सकता साधारण समय में नियम पालन करने में क्या कठिनाई है? नियम पालन की दृढ़ता की जाँच तो कष्ट के समय में ही हो सकती है।

× × × ×
एक बार महात्मा सारीपुत्र भिक्षा के लिये जा रहे थे। रास्ते में उन्होंने एक मछुए के लड़के को देखा जो रास्ते में पड़े हुये चावलों को बीनकर खा रहा था। सारीपुत्र ने उससे पूछा—क्यों बच्चे! तुम ये रास्ते में पड़े गन्दे चावल क्यों खाते हो?

लड़का महाराज मेरे पिता बड़े निर्धन हैं। वे मेरे खाने का प्रबन्ध नहीं कर सकते, इससे मैं चावलों को बीन कर खा रहा हूँ।

सारीपुत्र—तुम हमारे साथ चलो। तुमको खाना भी मिलेगा और धर्म का उपदेश भी।

लड़का—महाराज, फिर तो मेरा जन्म सफल हो जायेगा। महात्मा सारीपुत्र उस लड़के को साथ में लिवा लाए। उसे अपने हाथों से स्नान कराया और बुद्धधर्म का उपदेश दिया। जहाँ बड़े-बड़े राजपुत्र इनसे धर्म का उपदेश लेते थे वहाँ इनसे उपदेश लेकर वह मछुए का लड़का भी कुछ समय में अरहंत पदवी पर पहुँच गया।

भगवान् बुद्ध का सबसे अधिक नीरोग शिष्य—वक्कुल

कुछ समालोचकों ने बौद्ध धर्म को सदाचार की स्मृति कहा है। उनका यह कहना इस अर्थ में ठीक है कि बौद्ध धर्म प्रधानतया आत्म-शुद्धि का एक मार्ग है और उसके साधनों की खोज वह जीवन की जाग्रत अवस्थाओं से लेकर अन्तः संज्ञा के सूक्ष्म क्षेत्रों तक बड़े साहस के साथ करता है। कामनाओं के लोक से प्रारम्भ कर वह चित्त को उस लोकोत्तर भूमि में ले डालता है जहाँ राग, द्वेष, मोह से उसका छुटकारा हो जाता है और उस अत्यन्त परिशुद्ध, सर्वमलरहित, विशुद्ध का अनुभव करता है, जिसकी संज्ञा निर्वाण है। इस विशुद्ध का मार्ग ही बौद्ध धर्म है। किन्तु यदि उपर्युक्त कथन का यह अर्थ लिया जाय (जिस अर्थ में ईसाई लेखकों ने इसे प्रायः प्रयुक्त किया है) कि बौद्ध धर्म नैतिक नियमों का एक संग्रह और विश्लेषण मात्र है और उसमें उस रणात्मक तत्त्व का अभाव है जो कर्म प्रवृत्ति के लिए आवश्यक है, तो यह गलत है। बौद्ध धर्म कठोर उपदेशों का संग्रह नहीं है। उसमें ठोस जीवन है। शास्ता का शासन न केवल धर्म (सत्य) है

और न केवल विनय। वह धर्म और विनय दोनों (धर्मविनय) है। भगवान् बुद्ध का अनन्त सौन्दर्य और अनन्त शील-समन्वित रूप जिसकी तुलना में उन्नत की निष्पाप कान्ति और पवित्रता भी फीकी है, मनुष्य-हृदय को वह प्रेरणा देता है जिससे मनुष्यत्व की उच्चतम भूमि का आसानी से साक्षात्कार किया जा सकता है। यह साधना कहाँ तक जा सकती है, इसका एक चित्र स्थविर वक्कुल के जीवन में देखिए।

वक्कुल स्थविर भगवान् बुद्ध के उन इने-गिने शिष्यों में से थे जिनकी साधना बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। उनका कठिन तप और उग्र साधना महाकश्यप के समान ही थी, किन्तु सारीपुत्र के समान धर्म प्रवचन करने में उनकी रुचि नहीं थी। यही कारण है कि उनका अधिक उपदेश हमें त्रिपिटक में उपलब्ध नहीं होते। वक्कुल एक ऐसे साधक के रूप में चित्रित किये गए हैं जिसका अवधूत व्रतों का पालन बड़ा परिपूर्ण है किन्तु जो दूसरों के लिए उनका उपदेश या अनुशासन नहीं करता। इसीलिए उनके विषय में कहा गया है—“तथिदं आयुस्या वक्कुलो भुतो नं भुतवादेति” अर्थात् यह आयुष्मान् वक्कुल स्वयं अवधूत तो है, किन्तु अवधूत-व्रतों के उपदेशक नहीं। इससे मालूम पड़ता है कि इस विचित्र साधक में लोक-संग्रह का भाव कम था। इन्हें हमारे पौराणिक साहित्य के जड़ भरत के साथ भली प्रकार रखा जा सकता है। सारीपुत्र के जीवन की सी वह परिपूर्णता यहाँ दिखाई नहीं देती जिसमें स्वयं आचरण के साथ दूसरों के लिए उसका उपदेश अर्थात् समाज में व्यापक प्रचार भी उतना ही आवश्यक था। फिर भी स्थविर वक्कुल के जीवन का हमारे लिए आकर्षण है।

एक दिन वक्कुल स्थविर राजगृह के समीप निवास कर रहे हैं। वहाँ उनसे अपने एक पुराने मित्र अचेल (नग्न) काश्यप की भेंट हो जाती है। दोनों में एक-दूसरे की साधना पर संलाप होने लगता है। वक्कुल से उनके अनुभवों पर बातचीत करते हुए अचेल काश्यप उनसे पूछता है—

“मित्र वक्कुल ! आज संन्यासी हुए आपको कितना समय हुआ ?”

“मित्र ! मुझे अस्सी वर्ष हो गये !”

“इन अस्सी वर्षों में मित्र ! आपने कितनी बार मैथुन सेवन किया ?”

मित्र काश्यप ! मुझसे इस तरह प्रश्न नहीं पूछना चाहिये। मुझसे इस तरह पूछना चाहिये— इस अस्सी वर्ष के समय में तुम्हें कितनी बार विषय-वासना सम्बन्धी ख्याल उत्पन्न हुआ। मित्र ! इन अस्सी वर्षों में मैं एक बार भी अपने अन्दर काम सम्बन्धी विचार का उत्पन्न होना नहीं जानता।”

अचेल काश्यप रोमांचित हो उठा। वक्कुल स्थविर ने आगे अपने अनुभवों को बतलाते हुए कहा— “अस्सी वर्ष के समय में, मैं एक बार भी”

“द्वेष सम्बन्धी विचार का उत्पन्न होना अपने चित्त में नहीं जानता।”

“हिंसा-सम्बन्धी विचार का उत्पन्न होना नहीं जानता ।”
 “द्रोह सम्बन्धी विचार का उत्पन्न होना नहीं जानता ।”
 “गृहस्थों का दिया वस्त्र पहनना नहीं जानता ।”
 “कैची आदि से कतरे वस्त्रों को पहनना नहीं जानता ।”
 “सुई से सिये वस्त्र को पहनना नहीं जानता ।”
 “सब्रह्मचारियों के वस्त्र बनाना नहीं जानता ।”
 “निमन्त्रण खाना नहीं जानता ।”
 “गृहस्थ के घर में बैठना कैसा होता है, नहीं जानता ।”
 “गृहस्थ के घर में बैठकर भोजन करना नहीं जानता ।”
 “स्त्रियों के आकर-प्रकार को ख्याल में लाना नहीं जानता ।”
 “स्त्रियों को चार पद की गाथा तक उपदेश करना नहीं जानता ।”
 “भिक्षुणियों को भी कभी धर्म उपदेश किया हो, यह भी नहीं जानता ।”
 “किसी को भी कभी प्रव्रज्या दी हो, नहीं जानता ।”
 “स्नानगृह में नहाना कैसा होता है, नहीं जानता ।”
 “लेप से नहाना नहीं जानता ।”
 “सब्रह्मचारियों (गुरुभाइयों) से देह मलवाना नहीं जानता ।”
 “क्षण भर के लिए भी किसी से देह मलवाई हो, नहीं जानता ।”
 “क्षण भर के लिए भी कोई बीमारी उत्पन्न हुई हो, नहीं जानता ।”
 “हर के टुकड़े के बराबर भी कभी औषधि खाना नहीं जानता ।”
 “खाट बिछाकर सोना नहीं जानता ।”
 “शैय्या पर लेटना नहीं जानता ।”
 “वर्षा में भी गाँव के भीतर रहना नहीं जानता ।”

इस प्रकार की लोकोत्तर साधना स्थविर वक्कुल की थी। बुद्ध-उपदेश सुनने के सातवें दिन ही उन्हें ज्ञान प्राप्त हो गया। जैसा कि उन्होंने कहा भी है— “सप्ताह भर ही मैंने चित्त-मन-युक्त हो राष्ट्र का अन्न खाया। आठवें दिन शुद्ध अर्हत्त्व-ज्ञान उत्पन्न हुआ ।”
 आश्चर्य नहीं कि अपने स्वस्थ, खिलते हुए चेहरे वाले भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए, भगवान् ने एक दिन उद्घोषित किया, “भिक्षुओ ! मेरे स्वस्थ, नीरोग शिष्य भिक्षुओं में यही सबसे आगे है, यही वक्कुल ।” १६० वर्ष की आयु में स्थविर वक्कुल ने शरीर छोड़ा ।

महान् धर्म प्रचारक—कुमार जीव

बिहार प्रान्त में उत्पन्न हुए कुमार जीव असाधारण प्रतिभावान थे। वह पहले नालन्दा विश्वविद्यालय गये। पीछे तक्षशिला चले गये। वहाँ पढ़ते-पढ़ते रहे।

उन्होंने निश्चय किया कि ईश्वर प्रदत्त इस विशेष प्रतिभा का प्रयोग धर्म प्रचार में करना चाहिए और संन्यास ले लिया। चीनी भाषा पढ़ी और चीन देश में धर्म प्रचार के लिए चले गये। वहाँ उन्होंने समूचे क्षेत्र में बौद्ध धर्म का प्रचार किया। जीवन भर वहीं रहे।

कुमार जीव अपने समय के असाधारण मेधावी थे। उन्होंने बौद्ध धर्म का गहन अध्ययन किया और उसका प्रचार देश-देशान्तरों में करने का व्रत लेकर इसी प्रयास में जुट गये।

तक्षशिला में रहकर उन्होंने मध्य एशिया की सभी प्रमुख भाषाओं का गहन अध्ययन किया। इसके उपरान्त उन्होंने चीनी भाषाई क्षेत्रों में अपना कार्यक्षेत्र बनाया और उसी में भ्रमण करते हुए प्रभावशाली लोगों का सहयोग अर्जित करते हुए लक्ष्य पूर्ति में जुटे रहे। उन्होंने चीनी एवं उसकी सहायक भाषाओं में अनेकों बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया और उस क्षेत्र के समस्त प्रमुख पुस्तकालयों में उन्हें पहुँचाया। लम्बे जीवन में वे एकनिष्ठ भाव से निर्धारित लक्ष्य में जुटे रहे और इसके लिए उन्होंने अनेकानेक जोखिम सहे तथा दुस्साहस जैसे कदम उठाये।

यदि संक्षेप में यह कहा जाय कि देश से विदेश जाकर जिन विद्वानों ने भारतीय धर्म, सभ्यता एवं संस्कृति का प्रचार ही नहीं किया बल्कि स्थापना की, उनमें कुमार जीव का नाम सबसे आगे है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

भारत के सम्बन्ध चीन से बहुत प्राचीनकाल से चले आ रहे थे। यों तो लंका, बर्मा, जापान, सिंगापुर, हिन्देशिया, मलाया आदि अनेक देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार किया गया किन्तु चीन एक ऐसा देश रहा है जिसमें केवल अनुयायी के रूप में ही बौद्ध धर्म ग्रहण नहीं किया गया बल्कि उन दिनों वह एक प्रकार से बौद्ध धर्म का प्रामाणिक केन्द्र बन गया था।

इस प्रकार चीन में बौद्ध धर्म के जागरणपूर्ण आन्दोलन का प्रमुख श्रेय भारतीय विद्वानों को ही है और उनमें भी कुमार जीव का स्थान सर्वोपरि है।

कुमार जीव का जन्म ईसा की चौथी शताब्दी में हुआ था। इनके पिता का नाम कुमारायण और माता का नाम देवी था। कुमारायण एक रियासत के दीवान पद पर कार्य करते थे। दीवान पद पर कार्य करते हुए उन्होंने शीघ्र ही धन के साथ यश भी प्राप्त कर लिया। सब कुछ होने पर भी कुमारायण को अपने जीवन-क्रम से सन्तोष न था। दीवान के पद पर वे अपनी योग्यता एवं विद्वता का समुचित उपयोग न कर पाते थे। वे अपने वैयक्तिक सुख की अपेक्षा दूसरों को सुखी बनाने में अधिक प्रसन्नता एवं सन्तोष अनुभव करते थे। पर दीवान के एक प्रतिबन्धित तथा उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर रहते हुए वे जन-सेवा का कोई काम न कर पाते थे। उन्हें अपने स्वामी राजा की इच्छानुसार जनता से व्यवहार करना पड़ता था जो कि प्रायः शोषणमूलक ही होता था।

कुमार जीव के विद्वान् पिता कुमारायण की आत्मा अधिक समय तक यह स्वीकार न कर सकी वे इसी प्रकार दासता करते हुए दुर्लभ मानव जीवन को समाप्त कर दें। अतएव उन्होंने जन-साधारण में ज्ञान का प्रकाश फैलाने के लिए अन्तःप्रेरणा से दीवानी का पद छोड़ दिया।

नौकरी छोड़कर कुमारायण यात्रा साधनों के अभाव का कष्ट सहते हुए भी अनेक पर्वत तथा बनों को पार करते हुए मध्य-एशिया में तारिम नदी के तट पर बसे, कूची नगर चले गये।

फैलाने को तो ज्ञान का आलोक अपने देश के भी अनेक विस्मृत कोनों में भी फैलाया जा सकता था किन्तु कुमारायण ने विदेश में ही अपना ज्ञान फैलाना इसलिए ठीक समझा कि उस समय भारत में विद्वानों की कमी नहीं थी। अनेक लोग देश की सेवा करने में लगे हुये थे। कुमारायण ने विदेश में भारत के सन्देश ले जाकर देश की अन्तराष्ट्रीय कीर्ति बढ़ाना अधिक श्रेयस्कर समझा।

कूची में कुमारायण एक बौद्ध विहार में रहकर प्रचार करने लगे। धीरे-धीरे उनकी कीर्ति इतनी फैल गई कि कूची के राजा ने उन्हें अनुरोधपूर्वक अपना राजगुरु बना लिया। कुछ समय बाद कूची राजवंश की 'देवी' नामक एक कन्या से उनका विवाह हो गया, जिसके गर्भ से उनके विश्व-विख्यात पुत्र कुमार जीव का जन्म हुआ। कुमार जीव के जन्म के कुछ समय बाद ही उनके पिता की मृत्यु हो गई और पति का प्रचार कार्य पूरा करने के लिए कुमार जीव की माता बौद्ध भिक्षुणी बन गई।

परमात्मा जिसे जीवन में कोई विशेष अभ्युदय अनुग्रह करना चाहता है उसकी बहुत-सी सुविधाओं को समाप्त कर दिया करता है। इस प्रकार जीवन में कठिनाइयों के आने से मनुष्य में कर्मठता का गुण जाग उठता है, वह आलस्य एवं प्रमाद से दूर रह कर परिश्रम करता और भगवद् भय से अधिक से अधिक ईमानदार तथा सत्य-परायण रहने का प्रयत्न करता है। असुविधाओं तथा कठिनाइयों में पड़ जाने से मनुष्य का साग जीवन परिश्रम एवं पुरुषार्थ पर निर्भर हो जाता है, क्योंकि यदि वह ऐसा न करे तो जीवित नहीं रह सकता। अधिकाधिक परिश्रम का स्वभाव बन जाने से उसमें कर्मवीरता का वह गुण आ जाता है, उन्नति और सफलताएँ जिसकी अनुगामिनी छाया में ही होती हैं।

इसके विपरीत जो अधिक सुविधा एवं सम्पन्नता की परिस्थिति में रहता है वह स्वभावतः सुकुमार तथा विलासी बन जाता है, प्रमाद और आलस्य उसके मानसिक मित्र बन जाते हैं, जिससे निकम्मा होकर सामान्य कामों के योग्य भी नहीं रहता फिर ऊँचे और बड़े कामों की बात ही क्या ?

इसके साथ ही जो व्यक्ति असुविधा एवं कठिनाई के स्वर्ण अवसर को भाग्य का अभिशाप मानकर रोते-झींकते हुए निराशा अथवा निरुत्साह के वशीभूत हो जाते हैं, उनका जीवन तो निकम्मे आलसियों से भी गया-गुजरा हो जाता है और वह न केवल अपने पर ही बल्कि समाज पर एक भयानक भार बन कर जीवन कटते हैं। मनुष्यों को चाहिये कि वह कठिनाइयों को भगवान् की कृपा और अभ्युदय का सन्देश समझ कर अपनायें और उनसे प्रेरणा लेकर जीवन को उन्नत एवं उदार बनायें।

बौद्ध भिक्षुणी हो जाने पर भी कुमारजीव की बुद्धिमती माता यह न भूलें कि उनके सम्मुख कुमार जीव है, जिसे उनको हर प्रकार से

योग्य बनाकर समाज एवं संसार की सेवा के लिए समर्पित कर देना है। निदान पुत्र की शिक्षा के लिए कुमार जीव की माता उन्हें काश्मीर ले गईं। काश्मीर उस समय विद्या का बहुत बड़ा केन्द्र माना जाता था।

काश्मीर पहुँच कर 'देवी' ने अपने पुत्र कुमार जीव को बन्धुदत्त नामक एक बहुत बड़े काश्मीरी विद्वान् की संरक्षता में विद्याध्ययन के लिए छोड़ दिया। बन्धुदत्त जितने बड़े विद्वान् थे, उतने ही शिष्य बनाने में कृपण थे। उन्होंने अपने जीवन में बहुत ही कम शिष्य बनाये और जिनको बनाया उनको फिर पराकृष्ट का पण्डित ही बना दिया। इसलिये वे शिष्य बनने के इच्छुक व्यक्तियों की कड़ी परीक्षा लेकर पहले परख लिया करते थे कि इसमें बोये हुए विद्या के बीज अंकुरित भी होंगे अथवा नहीं। निरर्थक एवं लठ शिष्यों के साथ सिर मारने के लिये फिजूल समय उनके पास न था।

निदान अपने नियमानुसार उन्होंने बालक कुमार जीव को भी नहीं छोड़ा और उसके चरित्र, गुण, कर्म, स्वभाव में जमे बीजांकुरों को कड़ाई से जाँचा। जब बालक गुरु की कसौटी पर खरा उतरा तो उसकी शिक्षा दीक्षा में पूरी तत्परता दिखाने में कोई कसर न रखी।

कठोर गुरु जब सुयोग्यताओं से प्रसन्न होता है तब शिष्य को पढ़ाता क्या, वास्तव में ज्ञानालोक के रूप में स्वयं उसकी आत्मा में बैठ जाता है। पितृहीन बालक कुमार जीव के भाग्य खुल गये। कुछ ही समय में बन्धुदत्त ने उसको संस्कृत भाषा तथा बौद्ध दर्शन का प्रकाण्ड पण्डित बना दिया।

काश्मीर से वापस जाकर कुमार जीव काशगर पहुँचे और बुद्धियश नामक एक विद्वान् के साथ मिलकर बौद्ध दर्शन को पुनः दोहराया और ज्ञान को पूर्णरूपेण असंदिग्ध बनाकर अपने जन्म स्थान कूची चले आये। यद्यपि काश्मीर में ही कुमार जीव के पांडित्य की ख्याति इतनी फैल गई थी कि तुर्किस्तान से आ-आकर बहुत से लोग उनके शिष्य बनकर बौद्ध धर्म की दीक्षा लेने लगे थे। किन्तु वहाँ से चले आने में उनके दो उद्देश्य थे। एक तो यह कि काश्मीर में गुरु के सम्मुख अपनी प्रतिष्ठा नहीं कराना चाहते थे और दूसरे वे अनेक स्थानों पर भ्रमण करते हुए कूची जा कर अपने पिता का ध्येय पूरा करना चाहते थे।

किन्तु कूची में वे अपना उद्देश्य प्रारम्भ भी न कर पाये थे कि कूची नरेश और चीन सम्राट में लड़ाई हो गई जिसमें कूची का पतन हो गया। फलस्वरूप कूची का राज्य चीन साम्राज्य में मिला लिया गया। चीनी जिन बहुत-से लोगों को बन्दी बनाकर ले गये उनमें कुमार जीव भी थे। किन्तु उनके प्रकाण्ड पांडित्य तथा चीन में फैली हुई उनकी कीर्ति ने उन्हें प्राण दण्ड से बचा लिया। किन्तु फिर भी उन्हें लिहांग-चो प्रदेश में गवर्नर की देखरेख में अठारह वर्ष के लिए नजरबन्द कर दिया गया।

कुछ समय बाद जब उनकी लोकप्रियता के दबाव से उन से प्रतिबन्ध उठा लिया गया तब उन्होंने अपना प्रचार कार्य प्रारम्भ कर दिया। कुमार जीव की नई व्याख्याओं और नए दृष्टिकोण से बौद्धधर्म

में एक नवीनता आ गई। अभी तक बौद्धधर्म के जिन ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में हुआ था वह न तो सरल था, न सुन्दर और समीचीन। निदान कुमार जीव ने अपने हाथ में बौद्ध ग्रन्थों का ठीक-ठीक अनुवाद करने का काम अपने हाथ में लिया। इसे पूरा करने के लिये उन्होंने चीनी भाषा का अध्ययन प्रारम्भ किया और शीघ्र ही उस पर अधिकार प्राप्त कर लिया।

उन्होंने महायान की उपशाखा 'सर्वास्तिवाद' के लगभग सौ ग्रन्थ चीनी भाषा में अनुवादित किये, जिनमें से 'विनय-पिटक', 'योगाचार भूमिशास्त्र', 'ब्रह्म जाल सूत्र', 'महाप्रज्ञा-पारिमिता सूत्र', 'देशभूमि', 'विभाषाशास्त्र', 'सूत्रालंकारशास्त्र' विशेष महत्त्व के हैं। इसमें से 'महाप्रज्ञा-पारिमिता सूत्र' का अनुवाद तो उन्होंने तीन वर्ष के अविरत परिश्रम के साथ किया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने चीन में प्रचलित धर्म 'ताओ' की बुद्ध दर्शन के आलोक में व्याख्या की।

इतना अनुवाद कार्य करने के साथ ही उन्होंने भाषणों, प्रवचनों तथा विचार-विनिमय के द्वारा बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय का धुआँधार प्रचार किया। उनके भाषण इतने ज्ञानपूर्ण एवं प्रभावशाली होते थे कि अच्छे-अच्छे विद्वान् उन्हें नत-मस्तक हो जाया करते थे। कुमार जीव के अनेक शिष्य, सहयोगी तथा सहायक विद्वानों में से विमलाक्ष तथा पुण्यत्रात के नाम बहुत प्रसिद्ध हैं। इन दोनों ने अनुवाद कार्य में कुमारजीव को बहुत सहयोग दिया था।

कुमारजीव ने चीन में भारतीय बौद्ध धर्म की शाखा महायान के सिद्धान्तों का प्रचार करने में अपना पूरा जीवन लगा दिया। जीवन में एक दिन के लिये बैठ कर उन्होंने अपनी व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं के विषय में नहीं सोचा। कूची की पराजय के समय गिरफ्तार होने पर उन्होंने न किसी प्रकार का भय माना और न शंका की। उन्हें अपनी उस विद्या पर अखण्ड विश्वास था जिसे कि उन्होंने जीवन के सारे सुख छोड़कर प्राप्त किया था। वे जानते थे कि उनकी विशाल विद्या, किसी भी दशा में मित्र की तरह उनकी सहायता करेगी और हुआ भी यही। बंदी की दशा में भी उनका ज्ञान-प्रकाश छिटक-छिटक बाहर फैलने लगा जिसने चीन के निवासियों को इस सीमा तक आकर्षित किया कि सरकार को उन पर लगे प्रतिबन्धों को ढीला करना पड़ा।

यदि कुमारजीव के पूरे जीवन पर दृष्टिपात किया जाये तो पता चलेगा कि उनका सम्पूर्ण जीवन काम का दूसरा नाम था। उनका कर्तव्य था तो अपना काम, उनका सुख था तो अपना कर्तव्य, उनका मनोरंजन था तो काम करते रहना और उनका धर्म था तो अपना कर्तव्य कर्म। वे यह भी न जानते थे कि बिना किसी काम के बेकार कैसे बैठा जाता है, यदि कुमार जीव जैसे कर्तव्यवानों के नाम के साथ क्रियाहीनता, आलस्य, प्रमाद, गपशप, हास-विलास, घूमा-फिरी और टल्लेनबीसी आदि शब्द एक पंक्ति में रखे जायें तो यह शब्द इतने विजातीय विदित होंगे कि बिना हटाये मन को चैन नहीं मिल सकता। यह निर्जीव शब्द उनके नामों के साथ स्वयं झंपते से दीखेंगे। आज तक भी समय एवं जीवनी शक्ति को निरर्थक के कार्यों में व्यय करने वाला कोई भी व्यक्ति संसार में कोई ध्यानाकर्षक काम नहीं कर सका।

जिन्होंने कर्तव्य का आनन्द परख लिया है, परिश्रम का स्वाद चख लिया उन्हें काम के सिवाय न तो किसी में आनन्द आ सकता है और न आराम मिल सकता है।

बौद्ध धर्म के माध्यम से विदेश में भारतीयता का गौरव बढ़ाने वाले कुमारजीव का जीवन बहुत ही सादा तथा सरल था। उनके उपदेशों में एक वाक्य भावनात्मक रूप से अवश्य रमा रहता था कि "मेरे काम को अपनाओ लेकिन मेरे जीवन को यथावत आदर्श बनाकर अनुकरण मत करो, कमल कीचड़ में पैदा होता है। कमल को प्यार करो कीचड़ को नहीं।"

निस्पृह कुमारजीव ने संसार को बहुत कुछ दिया किन्तु उन्होंने अपने बारे में कहीं कुछ भी नहीं लिखा। उनका बहुत कुछ परिचय किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता। क्योंकि अपने विषय में बहुत कुछ कहने को वे अहंकार का एक स्वरूप मानते थे। उनका कहना था कि अच्छे कार्यों द्वारा संसार की सेवा करना तो मनुष्य का सामान्य कर्तव्य है फिर उसके लिए परिचय अथवा प्रशस्ति की क्या आवश्यकता? संसार को लाभ तो हमारे विचारों से होगा न कि हमारे व्यक्तिगत परिचय से। अपने नाम का लोभ लेकर जो काम किया करते हैं वे वास्तव में स्वार्थी होते हैं। परमार्थी नहीं।

धर्म राज्य के प्रसारकर्ता— सम्राट अशोक

सम्राट अशोक को कलिंग का भयानक युद्ध लड़ना पड़ा। विजय उन्हीं की हुई पर उसमें जो नरसंहार हुआ, सहस्रों बालकों और विधवाओं को जो व्यथा-वेदनाएँ सहनी पड़ीं उनसे सम्राट की अन्तरात्मा रो पड़ी। उन्होंने सोचा जितना श्रम, जितना धन, जितने साधन, जितना पुरुषार्थ, अहंकार और स्वार्थ की पूर्ति के लिये आरम्भ किए गए इन निकृष्ट कार्यों में व्यय किया जाता है, उतना यदि रचनात्मक कार्यों में लगाया जा सके तो उससे मानवीय सुख-शान्ति, प्रगति और समृद्धि में कितना बड़ा योग मिल सकता है?

वास्तविकता भरे विचार अशोक की श्रद्धा के रूप में परिणति होते गये और अन्त में उन्होंने यही निश्चय किया कि उन्हें जो शक्ति और स्थिति मिली है, उसे व्यर्थ कामों में नहीं, स्वार्थपूर्ण कार्यों में भी नहीं, केवल विश्व-मानव की सेवा में ही प्रयुक्त करेंगे। परमात्मा का दिया हुआ वैभव उन्हीं के चरणों में समर्पित कर देना, सबसे बड़ी बुद्धिमानी है। इसी से वह अनुदान चिरस्थायी हो सकता है।

राज्य प्राप्त होने के नौवें वर्ष में उन्होंने बौद्ध धर्म की महत्ता को समझा और उसी के प्रसार में अपने सभी साधन प्रयुक्त करने आरम्भ कर दिये। यों लोग अपने धन, वैभव का एक छोटा अंश दान देकर यश लूट लेते हैं और पुण्य कमा लेने का सन्तोष भी कर लेते हैं वस्तुतः वह विडम्बना मात्र ही होती है। जिस कार्य को मनुष्य श्रेष्ठ समझे उसके लिए सर्वतोभावेन लगे, निर्वाह मात्र को अपने लिए व्यवस्था

करके शेष को अपने प्रिय लक्ष्य के लिए समर्पित करे तो ही किसी को आस्थावान कहा जा सकता है। संसार में जितने आस्थावान महापुरुष हुए हैं उन्होंने अपने प्रिय लक्ष्य के लिए सर्वस्व अर्पण करके ही सन्तोष प्राप्त किया है। सच्चे आदर्शवादी की तरह अशोक के सामने भी वही मार्ग शेष था।

जिस धर्म के प्रति अशोक की आस्था थी, वह भले ही बौद्ध धर्म के रूप में अशोक के सामने आया हो पर था वस्तुतः मानव धर्म ही। उनके शिला-लेखों में धर्म की विवेचना इस प्रकार मिलती है—अपासिनये (सदाचरण), बहुकयाने (बहुजन कल्याण), सचे (सत्य), सोचये (पवित्रता), मादवे (मृदुता), अनांरभो प्राणानं (प्राणियों को पीड़ा न देना), अविहिंसा भूतानं (जीवमात्र के साथ अहिंसा का व्यवहार), मातरि पितरि सुभूषा (माता पिता की सेवा) गुरुनं अपचिति (गुरुजनों का समादर), मित संस्तुन नातिक्रनं ब्रह्मण समणानं दानं सम्पटिपति (मित्रों, परिचितों, सम्बन्धियों, ब्राह्मण और साधुओं की सहायता), अपव्ययता (कम खर्च करना) तथा अपमाडता (संग्रह न करना) इन्हीं सिद्धान्तों को बौद्ध धर्म के अवतरण के पीछे अशोक ने देखा और उनका आरम्भ कर दिया।

यों सभी धर्मों के मूल में थोड़े हेर-फेर के साथ यही आदर्श सन्निहित हैं। पर मानव जाति का दुर्भाग्य ही कहिए कि बाह्य कर्मकाण्ड और रीति-रिवाजों को ही लोग धर्म समझते रहते हैं और उसमें भिन्नता देखकर परस्पर लड़ने-झगड़ने लगते हैं। यदि बाह्य आवरणों को देश-काल-पात्र की सुविधा व्यवस्था के रूप में देखा जाय और उन्हें गौण समझा जाय तो सभी धर्मों के मूल में एक ही तत्त्व सदाचार अवस्थित मिलेगा। वस्तुतः सदाचार का दूसरा नाम ही धर्म है। अशोक इसी धर्म के प्रति आस्थावान थे और उसी का उन्होंने प्रसार किया।

अशोक ने अपने राज्य में धर्म भावनाओं को बढ़ाने, सदाचारी जीवन बिताने की प्रजाजनों को प्रबल प्रेरणा की और अधार्मिक अवाञ्छनीय तत्त्वों के उन्मूलन में तनिक भी शिथिलता न दिखाई। इतिहास मर्मज्ञ एच. जी. वेल्स ने लिखा है—“संसार के सर्वश्रेष्ठ सम्राट तथा इनके २८ वर्ष के राज्यकाल को मानव-जाति के क्लेशपूर्ण इतिहास का सर्वोत्तम समय कहा जा सकता है।” उन्होंने मनुष्यों के लिए ही नहीं पशु-पक्षियों के लिए भी न्याय का अधिकार पाने की व्यवस्था की।

कालसी (देहरादून), चितालदुग (मैसूर), वेरगुदी (मद्रास); मान मेहरा (हजारा), शहवाजगढ़ी (पेशावर), जूनागढ़ (सौराष्ट्र), धौली (पुरी), ज्यौगडा (गंजाम) आदि स्थानों में जो शिलालेख मिले हैं, उनसे प्रतीत होता है कि अशोक ने धर्म और सदाचार के प्रति मानव प्रवृत्तियों को मोड़ने के लिए भारत ही नहीं संसार भर में विद्वान् धर्म प्रचारक भेजे, उनका व्यय-भार वहन किया, धर्म-ग्रन्थ लिखाये, पुस्तकालय स्थापित किये, विद्यालय खोले, सम्मेलन बुलाये और वे सब काम बड़ी रुचि-पूर्वक किए जिनसे धर्म बुद्धि अपनाने की जन-प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिले। राज्य-कोष का विपुल धन उन्होंने इन्हीं कार्यक्रमों में लगाया।

सिकन्दर सरीखे अनेकों राजा और कारू जैसे धन-कुबेर अनेकों इस पृथ्वी पर हो चुके हैं पर लोभवश वे अपने प्राप्त साधनों को स्वार्थ की संकीर्ण परिधि में ही बाँधे रहे। फलस्वरूप न अपना हित कर सके न दूसरों का। अशोक ने परमार्थ बुद्धि का आश्रय लेकर अपने शासन के केवल २८ वर्षों में वह कार्य कर दिखाया जिससे अनन्त काल तक उनकी धर्मबुद्धि को सराहा जाता रहेगा।

अशोक को यात्राओं का शौक था। प्रथम आठ वर्षों में ये विनोद यात्राएँ, विलासिता, हास-परिहास, जिह्वा स्वाद, मद्य मांस, नृत्य वाद्य जादू कौतुक, आखेट आदि के कार्यक्रमों के साथ चलती थीं। धर्म दीक्षित सम्राट ने अब इन यात्राओं को धर्म प्रचार के निमित्त की जाने वाली तीर्थयात्राओं में बदल दिया। वे बोधिवृक्ष दर्शन के लिए गये। साँची स्तूप के पूर्व द्वार पर रानी तिष्यरक्षिता समेत अशोक की बोधियात्रा का उल्लेख अंकित है। उन्होंने अपने सभी प्रधान शासकों को आदेश दिया कि अपने क्षेत्रों में दौरा करके एक धर्म प्रचारक की तरह उपदेश दिया करें तथा धर्म वृद्धि एवं अधर्म उन्मूलन के लिए आवश्यकतानुसार स्थानीय व्यवस्था किया करें। धर्म सेवकों की निर्वाह व्यवस्था पर पूरा ध्यान दिये जाने को वे राज्य कर्तव्य मानते थे, अतएव उन दिनों उच्चकोटि के धर्म सेवी भारत में मौजूद थे और वे अपने प्रकाश को एशिया के विभिन्न देशों तक फैलाने में लगे हुए थे।

उस काल की उपलब्ध जानकारी से विदित होता है कि अशोक ने मांसाहार को निषिद्ध ठहराकर प्राणिमात्र की हिंसा बन्द कर दी थी। पशु एवं मनुष्यों के लिए चिकित्सालय खुलवाये। रास्तों के सहारे वृक्ष लगावाए, कुएँ खुदवाए, जेलों की दशा सुधारी, न्याय सरलता-पूर्वक मिल सके ऐसी व्यवस्था की। प्रजाजनों में परस्पर सद्भाव पैदा करने के लिए उन्होंने निरन्तर प्रयत्न किया।

अशोक के धर्म प्रसार से प्रभावित होकर भारत और लंका में ही नहीं मित्र, सीरिया, मेसीडोनिया, ऐपिरस, किरिन, गान्धार, तिब्बत, बर्मा, मलाया, जावा, सुमात्रा, बाली, इन्डोनेशिया, जापान, चीन, रूस, ईरान आदि देशों की जनता ने भी उत्साहपूर्वक बौद्ध धर्म स्वीकार किया। प्रत्येक देश में एक मुख्य प्रचारक, चार उपप्रचारक और उनके साथ तीस-तीस धर्म प्रचारकों के दल भेजे गये थे। ग्रहेन्द्र, संघमित्रा, मज्झिम, कस्सपगोत्र, डण्डुमिस्सर आदि धर्म प्रचारकों के अवशेष पुरातत्त्ववेत्ता कर्निधम को सोनी के समीप मिले थे, साथ में जो अंकन उपलब्ध हुए उनसे विदित होता है कि वे विदेशों में धर्म प्रचार करते थे।

कितने ही चक्रवर्ती शासकों ने अपने राज्य संसार में दूर-दूर तक फैलाने में सफलता प्राप्त की पर अशोक की धर्मराज्य विस्तार योजना सबसे अनुपम थी। राजाओं के राज्य उनके मरते ही बिखर गये पर अशोक द्वारा स्थापित किया हुआ धर्मराज्य आज भी बौद्ध धर्म के रूप में संसार में विद्यमान है।

सम्राट अशोक सच्चे अर्थों में प्रजापालक थे

एक बार महाराजा अशोक के राज्य में अकाल पड़ा। जनता भूख तथा प्यास से त्रस्त हो उठी। राजा ने तत्काल राज्य में अन्न

के भण्डार खुलवा दिये। सुबह से लेने वालों का ताँता लगता और शाम तक न दूटता।

एक दिन सन्ध्या हो गई। जब सब लेने वाले निबट गये तो एक कृशकाय बूढ़ा उठा और उसने अन्न माँगा, बाँटने वाले भी थक चुके थे अतः उन्होंने उसे डाँटकर कहा “कल आना आज तो अब खैरात बन्द हो गई।”

तभी एक हष्ट-पुष्ट शरीर के नवयुवक जैसा व्यक्ति आया और बाँटने वालों से कहा— “बेचारा बूढ़ा है। मैं देख रहा हूँ बड़ी देर से बैठा है यह। शरीर से दुर्बल होने के कारण सबसे पीछे रह गया है। इसे अन्न दे दो।”

उसकी वाणी में कुछ ऐसा प्रभाव था कि बाँटने वालों ने उसे अन्न दे दिया। उस नवयुवक की सहायता से उसने गठरी बाँध ली। अब उठे कैसे? तब वही युवक बोला “लाओ, मैं ही पहुँचाये देता हूँ।” और गठरी उठाकर पीछे-पीछे चलने लगा।

बूढ़े का घर थोड़ी दूर पर रह गया था। तभी एक सैनिक टुकड़ी उधर से गुजरी। टुकड़ी के नायक ने घोड़े पर से उतर कर गठरी ले जाने वाले को फौजी अभिवादन किया। उस व्यक्ति ने संकेत से आगे कुछ बोलने को मना कर दिया। फिर भी बूढ़े की समझ में कुछ-कुछ आ गया। वह वहीं खड़ा हो गया और कहने लगा “आप कौन हैं? सच-सच बताइये।”

यह व्यक्ति बोला “मैं एक नौजवान हूँ और तुम वृद्ध हो— दुर्बल हो। बस इससे अधिक परिचय व्यर्थ है। चलो बताओ तुम्हारा घर किधर है?” पर अब तक बूढ़ा पूरी तरह पहचान चुका था। वह पैरों में गिर गया और क्षमा माँगते हुये बड़ी मुश्किल से बोला “प्रजापालक! आप सच्चे अर्थों में प्रजापालक हैं।”

उत्तराधिकार में जिन्होंने राज्य नहीं धर्म माँगा महाभिक्षु महेन्द्र

साम्राज्य विस्तार के लिए किए गये कलिंग आक्रमण में सम्राट अशोक की सेनाओं ने एक लाख लोगों का वध कर दिया। रणक्षेत्र लाशों से पट गया। घायलों का करुण चीत्कार सुनकर अशोक बाहर आया और देखी अपनी एक छोटी-सी इच्छा पूर्ति के लिए यह विनाश लीला।

हृदय द्रवीभूत हो उठा। वह पश्चाताप की अग्नि में झुलसने लगा। उसका हृदय करुणा से द्रवीभूत हो उठा और वह विचार करने लगा कि मनुष्यों को मारकर अधिकार और राज्य लिप्सा के लिए किसी जाति या भू-भाग को जीतना सच्ची विजय नहीं है। विजय तो आत्मा की वस्तु है और वह आत्मा के माध्यम से ही प्राप्त की जा सकती है।

अशोक ने तत्क्षण राज्य की सीमाएँ बढ़ाने के लिए शस्त्रों का प्रयोग न करने का निश्चय कर लिया। उन्हें लोक-सेवा और भूतदया के सिद्धान्तों पर आधारित क्रियाकलाप ही विजय का वास्तविक मार्ग

दिखाई पड़ा। अशोक ने संकल्प लिया कि इन्हीं साधनों को अपनाकर वह अपना प्राप्तव्य पायेंगे।

दिग्विजय धर्म विजय में परिणत हो गई। भेरी-घोष धर्म-घोष में बदल गया। सम्राट अशोक ने राज-भवन की समग्र सम्पदा लोक-कल्याण में लगा दी और शक्ति को नियोजित कर दिया धर्म प्रचार में, विद्वानों तथा सन्त-महापुरुषों ने भी अशोक को देवताओं का प्रिय और प्रियदर्शी कहकर सम्बोधित किया।

आत्मिक विभूतियों से सम्पन्न सम्राट अशोक के सात्विक जीवन का प्रभाव उनके पुत्र महेन्द्र पर भी पड़ा। राज-दरबार में भिक्षुओं का आगमन, उनकी निस्पृह दृष्टि और गहन गम्भीर वाणी ने राजपुत्र महेन्द्र को अत्यधिक प्रभावित किया। आखिर एक दिन पूछ ही बैठा पीत वस्त्र धारण किए एक भिक्षु के सम्बन्ध में जो राजा से मन्त्रणा कर रहा था।

‘पिताजी! आपका परिचय?’

‘बेटा! ये हैं पूज्य महास्थविर मोग्गालि पुत्र पुत्तत्तिस। अपने राज्य की प्रजा को आत्म-कल्याण के मार्ग में प्रवृत्त करने के लिए इन्होंने समूचा जीवन संघ को समर्पित कर दिया है।’

‘संघ क्या होता है देव!’— महेन्द्र ने फिर प्रश्न किया।

‘तात्! धर्म प्रचारक बनने के लिये सभा। जो लोग निस्सार लौकिक आकर्षण और ऐषणाओं का त्याग कर प्रव्रज्या लेते हैं, उनके समूह का नाम संघ है।’

इस बात का उत्तर दिया महास्थविर ने।

मैं भी धर्म का सगा बना चाहता हूँ। देव! क्या मुझे भी प्रव्रज्या मिलेगी?— महेन्द्र ने बड़े उत्साह के साथ कहा।

‘नहीं बेटा! अभी लोकोपभोग के योग्य हो तुम। खूब खाओ, पीओ और मौज करो।’— महात्यागी अशोक को भी पुत्र मोह तो था ही। उसने मना किया। परन्तु पुत्र ने अपने पिता से भी एक कदम आगे बढ़कर यह मोह तोड़ दिया।

राजपुत्र बोले— ‘सांसारिक सुख की निस्सारिता को समझकर कौन बुद्धिमान उन्हें भोग कर अपना समय नष्ट करना चाहेगा?’

सोलह वर्ष के किशोर ने इस उत्तर से महास्थविर सहित अशोक और माता देवी को हतप्रभ कर दिया। महास्थविर बोले— ‘राजन! लगता है महेन्द्र के रूप में तथागत का ही अवतरण हुआ है। शायद यही आगे चलकर लुप्त हो रही बुद्ध वाणी का जयघोष करेगा।

अपने विचार का समर्थन पाकर महेन्द्र ने एक बार पुनः उत्साह के साथ कहा— ‘देव! यदि आपकी आज्ञा हो तो मैं आज ही प्रव्रज्या ग्रहण कर लूँ। प्रव्रजित होने से मेरा और आपका दोनों का ही कल्याण है।’

‘ठीक है बेटा! महाभिक्षु जैसा परामर्श दें।’ और महाभिक्षु ने निर्णय दिया— ‘प्रव्रजित होने के लिए किसी भी व्यक्ति को बीस वर्ष से कम का नहीं होना चाहिए।’ तब तक घर में ही माता-पिता के सान्निध्य में रहकर आत्म साधना का निर्देश हुआ।

चार वर्ष तक राजपुत्र महेन्द्र ने माता-पिता के साथ रहकर जीवन को प्रव्रज्या के अनुरूप बनाया। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह

और ब्रह्मचर्य की नियमपूर्वक साधना, साथ-साथ मद्य, मांस, कोमल शैया, नृत्य-गायन, सुगन्धित द्रव्य, कामिनी-काञ्चन और असमय भोजन के त्याग की प्रव्रज्योचित साधना का अनुष्ठान भी निष्ठापूर्वक किया।

वय की बीसवीं-इक्कीसवीं सन्धि वेला में महास्थविर ने राजपुत्र महेन्द्र को प्रव्रज्या दी। साथ में महेन्द्र की कनिष्ठ भगिनी भी तथागत की अनुचरी बन गई और दोनों भाई-बहिन भारत भर का भ्रमण करते रहे। जब उन्होंने तैतीस वर्ष की जीवन वेला पा कर ली तो एक दिन महास्थविर ने दोनों भाई-बहिनों को आमन्त्रित कर कहा— 'इस समय सिंहल (अब लंका) वासियों को भगवान् बुद्ध की वाणी विस्मृत होती जा रही है, उन्हें अनुस्मरण कराने के लिए तुम दोनों को ही जाना होगा।'।

सद्ज्ञान के प्रचार-प्रसार की जहाँ भी आवश्यकता हो लोक-सेवा के लिए व्रतनिष्ठ जन सदैव तैयार रहते हैं। महेन्द्र और संघमित्रा ने तुरन्त सहमति दे दी। जल मार्ग की बाधाओं तथा सिंहल नरेश की नीतियों से उन्हें अवगत करा दिया गया।

महाभिक्षु की तथा उपस्थित स्थविरों की वन्दना कर महेन्द्र और संघमित्रा सिंहल अभियान पर चल दिये। उनके पिता ने सांस्कृतिक दिग्विजय का जो स्वप्न देखा था उसी दिशा में महेन्द्र के चरण बढ़े थे। धर्म विजय के लिए तत्पर अशोक को इस अवसर पर आमन्त्रित किया गया। अपने पुत्र को देखे गये स्वप्न साकार करने के लिए उत्साहपूर्वक जाता देख अशोक के नेत्र सजल हो उठे। पिता के चरणों में प्रणाम कर महेन्द्र और संघमित्रा नौका में जा बैठे। अशोक के साथ राजमाता देवी भी आयी थीं।

कुछ लोगों का उनकी समुद्र यात्रा के सम्बन्ध में मत-भेद अवश्य है, परन्तु अधिकांश विद्वानों ने इसी यात्रा को प्रामाणिक माना है। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार महेन्द्र और संघमित्रा की यह यात्रा निरापद नहीं रही। मार्ग में तूफान आया। नाविक ने लौट चलने के लिए कहा परन्तु महेन्द्र को बीच मार्ग से ही वापस आ जाना न तो उचित लगा और न ही स्वीकार्य हुआ।

तूफान में उनकी नाव उलट गई। भारत के तट से अभी दूर नहीं पहुँचे थे फिर भी महेन्द्र ने लौट जाना अनुचित ही समझा। जिस अभियान के लिए वे आगे बढ़े हैं, उसे पूरा किए बिना ही वापस चले आना तो मानवोचित नहीं है। लाख बाधाएँ क्यों न हों शूरीर 'कार्य साधयेत् वा पातयेत् देह' के सिद्धान्त का ही अनुसरण करते हैं। नाविक तो तैर कर वापस आ गया किन्तु संघमित्रा और महेन्द्र सिंहल की दिशा में ही बढ़ने लगे।

सौभाग्य से कुछ दूरी पर ही उन्हें उलटी हुई नाव भी मिल गई जिसमें बैठकर उन्होंने अपनी यात्रा पूरी कर ली।

लंका की भूमि पर चरण रखते ही दोनों भाई-बहिन ने भगवान् बुद्ध की आरती-वन्दना की और आगे बढ़े। नगर तक पहुँचने के लिए समुद्र तट से वहाँ तक वनों में होकर गुजरना पड़ता था।

रास्ते में उन्हें किसी वन्य पशु के रक्त की ताजी बूँदें दिखाई दीं। महेन्द्र का हृदय पशु की पीड़ा का अनुमान लगाकर ही कातर

हो उठा और वे अपनी बहिन के साथ उसी दिशा में चल दिए। कुछ दूर तक चलने के बाद उन्होंने देखा एक हिरण किसी शिकारी द्वारा छोड़े गये बाण से घायल हुआ तड़प रहा है। महेन्द्र ने आसपास से वनौषधियाँ ढूँढ़ कर उसकी चिकित्सा की।

तभी वह शिकारी पुरुष भी आ पहुँचा जिसके बाण का निशाना वह मृग बना था। महेन्द्र ने देखते ही कहा— 'धर्मराज सम्राट तिष्य के शासन में भी आप लोग इतनी निर्दयतापूर्वक इन निरपराध प्राणियों का वध करते हैं।'।

शिकारी जो राजोचित वेशभूषा में था, महाभिक्षु महेन्द्र के चरणों में गिर पड़ा। अपना परिचय देते हुए उसने कहा 'भन्ते ! मुझसे भूल हो गई। मैं ही सम्राट तिष्य हूँ जो मात्र विनोद के लिए इन निरपराध पशुओं का वध करता हूँ।'।

तिष्य उस समय लंका का राजा था। भिक्षु महेन्द्र बुदबुदाये— 'ठीक ही कहा था महास्थविर ने। लंकावासी भगवान् बुद्ध की वाणी को भूलते जा रहे हैं।'।

सम्राट तिष्य ने महेन्द्र और संघमित्रा का यथेष्ट सत्कार किया और अपने राज-दरबार में ले आये। प्रथम दिन के विभ्राम ने समुद्री यात्रा की थकान उतार दी। दूसरे दिन भिक्षु महेन्द्र ने तिष्य को धर्म मार्ग की समुचित शिक्षा दी और चलने के लिए उद्यत हुए। सम्राट ने कहा— 'आप यहीं निवास कीजिए। राज्य के नागरिकों तक आपका सन्देश यहीं से पहुँचा दिया जायेगा।'।

जनमानस के सफल अध्येता महाभिक्षु महेन्द्र को सम्राट तिष्य के इस कथन को वहाँ के विहार और धर्म-प्रचारकों की रीति-नीति का संकेत दिया। उन्होंने बौद्ध विहारों को देखने की इच्छा व्यक्त की। आशंका सच निकली। सांसारिक मनुष्यों से भी अधिक विषय-वासना और भोगों में लिप्त धर्म का नेतृत्व उस तंत्र के मूल प्रयोजन को कहाँ से पूरा कर सकेगा ? संघ गठन तो इस उद्देश्य से हुआ था कि व्यवस्थित रूप से लोगों को सन्मार्ग की ओर सुख-शान्ति के पथ पर प्रेरित किया जा सके। परन्तु लोक-व्रद्धा का अनुचित लाभ उठाकर भिक्षु और धर्मसेवी जन-भोगी तथा धर्मजीवी बन गये। सेवा का मार्ग जब उपभोग का माध्यम बन जाता है तभी तो गड़बड़ी पैदा होती है।

राजभवन में निवास के आमन्त्रण को नम्रतापूर्वक अस्वीकार करते हुए स्थविर महेन्द्र ने लोकोचित और तप साधना का निर्धारित मध्यम मार्ग ही अपनाया। कषाय वस्त्रों से देदीप्यमान तथा भारत भूमि के सन्देशवाहक होने के नाते लंका में उनकी खूब प्रतिष्ठा हुई।

उन्होंने पहला काम यह किया कि विहारों और मठों के निवासी बौद्ध भिक्षुओं को दिशा प्रदान की। ब्रह्मास्पद होकर भी ब्रह्मा तत्त्व के मूल कारणों की उपेक्षा भर्त्सना करने योग्य है— यह कहकर उन्होंने बौद्ध भिक्षुओं को समाज के प्रति उनका उत्तरदायित्व समझाया।

जैसा कि सभी सुधारकों के साथ होता आया है उनके साथ भी हुआ। कुछ लोगों ने उनका विरोध किया परन्तु उन्हें इस बात की बिल्कुल चिन्ता नहीं हुई। प्रकृति को, अगाध जलराशि को भी अपने

विरोध में खड़ा पाकर जो नहीं बबड़ाया वह निर्बल और दुष्ट मनुष्यों से क्या बबरायेगा ? पूर्वकृत साहसपूर्ण कार्य मनुष्य को आजीवन प्रेरणा देते रहते हैं । एक बार जब कोई प्रयास करने पर सफलता मिल जाती है तो व्यक्ति अपार और अटूट आत्मविश्वासी बन जाता है ।

बौद्ध मठों और विहारों में आवश्यक सुधार कर महेन्द्र तथा संघमित्रा धर्म प्रचार के कार्य में जुटे । धर्म तन्त्र का परिष्कार धार्मिक समाज की पहली आवश्यकता है । जब तक यह क्षेत्र विकृत ही पड़ा रहेगा लोगों की ब्रह्म स्थिर नहीं हो सकती ।

अपनी सम्पूर्ण आयु का आधा भाग लंकावासियों की सेवा में बिताकर महाभिक्षु महेन्द्र ने चैत्य पर्वत पर अन्तिम वर्षा वास किया । उस समय उनकी आयु साठ वर्ष की हो गई थी । इस वर्षा वास में उनका देहान्त हो गया । बौद्ध धर्म का एक प्रधान स्तम्भ उठ गया, मरते समय उन्होंने शोकविह्वल बहिन को आश्वस्त किया कि धर्म ही तुम्हारा भाई है । वह कभी समाप्त नहीं होता क्योंकि संसार की स्थिति का कारण पृथ्वी पर कहीं न कहीं चलती रहने वाली धार्मिक गतिविधियाँ ही हैं ।

अनुराधापुर में उनकी मृत देह का अन्तिम संस्कार सम्पन्न करवाया गया । ऋषि महेन्द्र के प्रयत्न और पुरुषार्थ का ही परिणाम है कि बौद्ध धर्म आज भी लंका का राजधर्म बना हुआ है । अनुराधापुर की इन्च-इन्च भूमि सिंहल जाति की ब्रह्मा भूमि है । प्रति वर्ष लाखों लोग ऋषि महेन्द्र को उस भूमि पर ब्रह्म के फूल चढ़ाने देश-विदेश से आते हैं ।

सम्राट अशोक के पाँचों पुत्रों का कोई नाम भी नहीं जानता । यद्यपि वे सब क्रमशः राज्य सिंहासन के उत्तराधिकारी बने थे । इतिहास में उनके लिए चार-चार, पाँच-पाँच पंक्तियाँ ही लिखी गई हैं जबकि राज्य पद का अधिकारी होते हुए भी उसे छोड़ देने वाले राजपुत्र महेन्द्र इतिहास में अमर हो गये हैं । वस्तुतः अधिकार या पद नहीं, मनुष्य को महान् बनाता है उसका त्यागमय जीवन और उज्ज्वल चरित्र ।

धार्मिक-साम्य के प्रचारक— महात्मा ईसा

अब से दो हजार वर्ष पहले की बात है कि योरूसलम (पैलेस्टाइन) में एक नवयुवक मार्ग में चला जा रहा था । उसके साथ कई सौ लोगों की भीड़ भी चल रही थी । कुछ लोग कहते जाते थे कि यह अकर्मण्य और आदर्शहीन है । इसने कुछ समय पूर्व अपनी मातृभूमि को विदेशी आक्रमणकारी— रोमनों से मुक्त कराने के लिए 'एसेन' संस्था की शपथ ग्रहण की थी, पर अब यह रोमन साम्राज्य की शक्ति से भयभीत होकर उलटी-सीधी बातें करने लगा है । इसके सिद्धान्तों का भरोसा नहीं और हमको इसका साथ छोड़ देना ही उचित है ।

अन्य लोग कह रहे थे कि उसका कथन तो बिल्कुल ठीक है । मान लो कोई संस्था या गुप्त-दल विद्रोह खड़ा करके रोमनों को

पैलेस्टाइन से हटा भी दे तो इससे जनता का क्या लाभ होगा ? आज भी रोमन लोग गरीब लोगों का उतना शोषण नहीं करते जितना कि इसी देश के निवासी 'सैड्यूसीज' (पूँजीपति) और 'फरीसीज' (मध्यम वर्ग वाले) कर रहे हैं । यह 'ईसा' तो गरीबों के उद्धार का मार्ग दिखला रहा है । वह कहता है कि अगर रोमन हट भी जायें और गरीब लोग इसी तरह भूखे-नंगे बने रहें, अन्याय की चक्की में पिसते रहें, तो ऐसे 'स्वराज्य' से क्या फायदा ? इसकी बात तो गलत नहीं है ।

ईसा आगे बढ़ता जाता था और लोगों की भीड़ उसके पीछे तरह-तरह के तर्क-वितर्क करती चली जा रही थी । थोड़े फ़सले पर एक बड़ा मैदान मिला जिसके बीच में एक छोटा-सा पहाड़ी टीला था । ईसा उसके ऊपर चढ़ गया और लोगों को सम्बोधन करके कहना आरम्भ किया—

'धन्य हैं वे लोग जो गरीब हैं, जो दुःख सहते हैं और पश्चाताप करते हैं— जो नम्र, दयालु तथा शान्ति के प्रचारक हैं और न्याय की खातिर दण्ड सहते हैं । धन्य हैं वे, जो बुराई के बदले भलाई करते हैं । धन्य हैं वे, जिनके यहाँ अदालतें नहीं हैं, जो दण्ड-विधान से अनभिज्ञ हैं, जो अपने साथ बुराई करने वालों के भी कल्याण की प्रार्थना करते हैं, क्योंकि समस्त मनुष्य एक ही परम-पिता की सन्तान— परस्पर भाई-भाई हैं ।

"हम संसार में ईश्वरीय-राज्य के इच्छुक हैं । ईश्वरीय राज्य वह है जिसमें अन्यायपूर्ण सामाजिक भेद-भाव न हो, गरीबों के कष्ट मिटाये जायें, धन-सम्पत्ति को उपेक्षा की निगाह से देखा जाय, सब प्रकार के दमनकारी, पाशविक शक्ति पर आधार रखने वाले शासन का अन्त हो जाय और सब लोग परस्पर प्रेम-भाव से रहने लगें ।"

महात्मा ईसा की इस दिव्य-वाणी को लोगों ने सुना तो सही, पर इसका मर्म समझने वाले उस भीड़ में थोड़े ही थे और उसका अनुसरण कर सकें, उनकी संख्या तो अँगुलियों पर ही गिनी जा सकती थी । पर उन बातों में एक ऐसी सच्चाई भरी थी कि उसकी प्रतिध्वनि संसार के वातावरण में सुनाई पड़ रही है और लोगों के हृदय पर उनका प्रभाव दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है । ईसा के उपदेश की इस महत्ता के सम्बन्ध में आधुनिक युग के महामानव और हिन्दू-धर्म के सुदृढ़ स्तम्भ स्वामी विवेकानन्द ने कहा है—

"महापुरुष ईसा के उपदेश और कर्मवीरता की समस्त गाथा लिपिबद्ध हो जाने पर सारा विश्व उससे व्याप्त हो जायेगा । उनको धर्म-प्रचार के लिये केवल तीन वर्ष का ही समय मिला, पर मानो उसी में एक सम्पूर्ण युग की घटनायें और इतिहास समाया हुआ है । हम साधारण लोग तो क्षुद्र शक्ति वाले होते हैं— हमारी शक्ति के पूर्ण प्रसारित होकर व्यय हो जाने में थोड़ा ही समय लगता है । पर इस विशाल शक्ति पुंज (ईसा) को देखिये कि सैकड़ों और हजारों वर्ष बीत जाने पर भी, उसकी महान् शक्ति पूर्ण रूप से प्रसारित नहीं हो पाई है और जैसे-जैसे समय गुजर रहा है वह पहले की अपेक्षा प्रबल ही होती जा रही है ।"

ईसा का जन्म पैलेस्टाइन के एक साधारण गाँव में हुआ । उनके पिता जीवन-निर्वाह के लिए बढ़ई का काम करते थे और माता मरियम

एक बड़ी ईश्वर परायण महिला थी। वह भी गरीबों के ऊपर धनी लोगों के अत्याचारों को देखकर बड़ी दुःखी होती थी और दीन-दुखियों की हित कामना किया करती थी, ईसा के गर्भकाल में उसने परमेश्वर की स्तुति करते हुए कहा था—

‘उस सर्व-शक्तिमान ने अहंकारियों का दर्प भंग कर दिया। उसने शक्ति-सम्पत्तियों को आसन से गिरा दिया और दीन-दुःखियों को महत्त्व प्रदान किया, दरिद्रों को उसने आशीर्वाद दिया और धनवानों को खाली हाथ लौटा दिया।’

ईसा की शिक्षा उस समय की प्रचानुसार एक यहूदी पाठशाला में हुई थी। यद्यपि उसके धर्म-भाव से शिक्षक और गुरुजन प्रसन्न रहते थे, पर स्वयं उसके सन्तोष न था। जो ‘भगवान्’ धनी उपासकों पर ही प्रसन्न रहता है और गरीबों पर कृपा-दृष्टि नहीं रखता। वह ईसा को श्रद्धा के योग्य नहीं जान पड़ता था। इसलिये तेरह वर्ष की आयु हो जाने पर वे धर्म की वास्तविकता पर विचार करने लगे और केवल योरूशलम के यहूदी विद्वानों से ही नहीं दूर-दूर के ज्ञानी व्यक्तियों से उनके विचार जानकर स्वयं सत्य की खोज में प्रवृत्त हुए।

कहा तो यहाँ तक जाता है कि वे धर्म-तत्त्व की खोज में भारतवर्ष में आये थे और कई वर्षों तक यहाँ के हिन्दू और बौद्ध योगियों के सान्निध्य में रहकर उन्होंने भारतीय सिद्धान्तों और दर्शन का बहुत अच्छा अध्ययन किया था। कुछ भी हो ईसाई धर्म की सिद्धान्तों की जाँच-पड़ताल करने वाले विद्वानों का आज भी यही मत है कि उनका विकास स्पष्टतया बौद्ध सिद्धान्तों से ही हुआ है। हिन्दू-धर्म की आत्मा की अमेदता की मान्यता का भी उन पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

पर जब ईसा ने पैलेस्टाइन की सामान्य जनता में इन सिद्धान्तों पर आधारित एक नये धर्म के नियमों का प्रचार आरम्भ किया तो वहाँ के धनी और पुरोहित वर्ग वालों में बड़ी हलचल मच गई। ईसा आम सभाओं में स्पष्ट शब्दों में कहते थे कि—

“चाहे सुई के छेद में होकर ऊँट निकल जाय पर स्वर्ग के दरवाजे में होकर धनवानों का निकल सकना सम्भव नहीं।”

भला अपनी ऐसी कटु आलोचना पूँजीपति कैसे सहन कर सकते थे। फिर उनके साथ उस समय के पुरोहित और पुजारी भी थे जिनकी रोजी धनवानों द्वारा चढ़ाई जाने वाली भेंट-पूजा से ही चलती थी। इसलिये इन दोनों ने मिलकर ईसा पर यह दोषारोपण किया कि वह अपने को ‘ईश्वर का पुत्र’ कहकर लोगों को बहकाता है और एक वर्ग को दूसरे के खिलाफ भड़का कर समाज में अशांति उत्पन्न करता है। यद्यपि ईसा का प्रचार-कार्य सर्वथा सत्य और न्याय पर आधारित था और वह जो कुछ कहता था वह समस्त जनता की हित कामना से ही होता था, तो भी सत्ताधारी व्यक्तियों ने उसके कारण अपने स्वार्थ की हानि होते देखकर उसे गिरफ्तार कर दिया और झूठ-सच्चा मुकदमा चलाकर प्राण दण्ड की आज्ञा दे दी।

महापुरुष ईसा को काँटों का ताज पहिनाकर ‘क्रूस’ (सूली) पर हाथ-पाँवों में कीलें ठोककर लटकाना एक ऐसी घटना थी, जिसकी याद संसार-को दो हजार वर्ष बीत जाने पर भी नहीं भूली है। उन सत्ताधारी किन्तु मूर्ख पुरोहितों तथा शासकों ने अपनी समझ से तो

ईसा की उस प्रकार हत्या करके संसार के सामने अपनी शक्ति और अधिकार का प्रदर्शन कर दिया। पर वास्तव में उन्होंने स्वयं कलंक का टीका लगवाकर ईसा को युगों के लिये अमर बना दिया। खेद है कि आज भी अधिकार सम्पन्न वर्ग इतनी बड़ी घटना से कोई सबक न लेकर उसी औंधी चाल पर चल रहा है। आज भी न्याय और औचित्य को प्रधानता न देकर वह अपने स्वार्थ-साधन में ही तल्लीन है और निर्बलों तथा सरल स्वभाव के सज्जन पुरुषों को सताने में ही अपनी शान समझता है। इस दृश्य को देखकर ‘रामायण’ की यही उक्ति याद आती है—

‘प्रभुता पाड़ कहि मद नाहीं’

अयोग्य और अनधिकारी व्यक्ति को विशेष अधिकार मिल जाने से उसकी विवेक बुद्धि कुण्ठित हो जाती है और अपने को ‘बहुत बड़ा’ समझकर अनीति के मार्ग पर चलने लग जाता है। वह यह नहीं समझता कि उसकी यह स्थिति सामयिक है और किसी भी समय पर परिवर्तन होकर वह जहाँ का तहाँ पहुँच सकता है। आश्चर्य है कि इतिहास के ऐसे-ऐसे सैकड़ों उदाहरणों को देखकर भी उनकी आँखें नहीं खुलतीं।

उस समय चाहे दुष्टों ने ईसा के भौतिक शरीर को नष्ट कर दिया, पर इसका परिणाम जो कुछ उन्होंने चाहा था उससे विपरीत ही हुआ। ईसा की शिक्षाओं का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से लोगों के हृदय में बढमूल होता चला गया और कुछ समय पश्चात् एक ईसा के स्थान पर बीसियों ऐसे प्रचारक निकल आये जो धनवानों के मुकाबले में गरीबों के अधिकारों का समर्थन करते थे। उनमें से ‘जेम्स’ नामक आचार्य ने कहा—

“यदि कोई व्यक्ति कहता है कि वह भगवान् में श्रद्धा रखता है, पर परिश्रम नहीं करता, तो इससे क्या लाभ? अमीर लोग केवल श्रद्धा के नाम पर धर्म-सभा में विशेष सम्मान चाहते हैं और अपने अन्य सहधर्मियों को छोटा समझते हैं। पर सच तो यह है कि बिना कर्म के श्रद्धा प्राणहीन है। अमीर याद रखें कि भगवान् गरीबों से ही प्रसन्न रहता है, जिनका धनी व्यक्ति अब भी शोषण करते हैं और जिनको अदालतों में घसीटा जाता है।”

संसार में आज जो संस्कृति, सभ्यता दिखाई दे रही है, वह सब ‘महामानवों’ की ही देन है। उनके ही उपदेशों और चरित्र का अप्रत्यक्ष लेकर हम लोग मानवता के चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रहे हैं। ऐसी विभूतियों को स्वामी विवेकानन्द ने ‘जीवन ईश्वर रूप’ कहा है। महात्मा ईसा की गणना भी उन्हीं में से है। मानवता की प्रगति के मार्ग को निष्कण्टक बनाने के लिये उन्होंने जो आत्मबलिदान किया उसके लिये उन्हें हमारा प्रणाम है।

महाप्रभु ईसा के अज्ञात जीवन के अनसुलझे रहस्य

बाइबिल के ‘न्यू टेस्टामेण्ट’ के मती, मरकुस, लूका, जॉन, यूहन्ना आदि अंजीलों के अंतिम काण्डों में ईसा के सूली पर चढ़ाये जाने, दफनाये जाने के बाद कब्र से गायब होने तथा पुनर्जीवित होने

१.६० महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

का वर्णन है। उनमें उल्लेख है कि पुनर्जीवन के बाद सबसे पहले उन्होंने मरियम मगदलीनीनी एवं मरियम को दर्शन दिया और उनसे अपने शिष्यों को गलीलिया नामक पर्वत पर मिलने को कहा। येरूशलेम से सात मील दूर इम्माऊस में भी वे कुछ व्यक्तियों से मिले थे। गलीलिया पर्वत पर ग्यारह प्रमुख शिष्यों से मिलने के पश्चात् वे उन्हें वैतनिय्याह तक ले गये और हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया तथा अलग हो गये। शिष्य तो उन्हें प्रणाम करके वापस येरूशलेम लौट गये, पर ईसा कहीं अन्तर्ध्यान हो गये।

अनुसंधानकर्ता मनीषियों ने उन लुप्त प्रायः कड़ियों को अब खोज निकाला है जिनसे प्रमाणित होता है कि पुनर्जीवित होने और शिष्यों से मिलकर उन्हें कर्मक्षेत्र में उतरने का आदेश देने के पश्चात् ईसा कई देशों की यात्रा करते हुए दूसरी बार भारत आ गये थे और कश्मीर को अपना स्थायी निवास बनाया था। लोगों की उन पर श्रद्धा थी। ८० वर्ष से अधिक की परिपक्व अवस्था में वहीं पर उन्होंने अपना पंचभौतिक शरीर त्यागा था, जिसके अनेकों प्रमाण अभी भी वहाँ विद्यमान हैं।

जर्मनी के मूर्धन्य मनीषी होल्गर केस्टन ने इस संदर्भ में गहराई से खोज-बीन की है। इजरायल, मध्य पूर्व देशों, अफगानिस्तान और भारत सहित उन सभी ऐतिहासिक स्थलों की उन्होंने यात्रा की जो किसी न किसी रूप में ईसा से संबंधित हैं। उन्होंने अपनी और अपने पूर्ववर्ती खोजकर्ताओं द्वारा इस संबंध में की गयी प्रामाणिक खोजों को “जीसस लिख्ट इन इण्डिया” नामक पुस्तक में सविस्तार प्रकाशित किया है जिसमें ईसा के सूली पर चढ़ाये जाने से पहले एवं बाद के अज्ञात जीवन की संपूर्ण जानकारी संग्रहीत है। उसके अनुसार सन् ६ में लगभग १३ वर्ष की उम्र में ईसा व्यापारियों के एक वर्ग के साथ पहली बार भारत आये थे और लगभग १६-१७ वर्ष तक पुरी एवं तिब्बत के बौद्ध बिहारों में अध्ययनरत रहे। वैदिक साहित्य एवं बौद्ध दर्शन के अध्ययन के साथ-साथ उन्होंने उच्चस्तरीय तप साधनाएँ भी की थीं। यही कारण था कि जब सन् ३० में ३० वर्ष की आयु में वे वापस येरूशलेम पहुँचे तो पौलिक सिद्धियों और आत्मिक विभूतियों से सम्पन्न महामानव बनकर पहुँचे। उनकी इस क्षमता से प्रभावित होकर लोगों की भारी भीड़ सदैव उन्हें घेरे रहती थी। अपने मिशन का प्रचार करते हुए तीन वर्ष से कुछ अधिक ही दिन बीते थे कि विरोधियों ने उन पर ईश निन्दा का अभियोग लगाकर सूली पर चढ़ा दिया और घोषणा कर दी गयी कि ईसा की मृत्यु हो गयी।

ईसा को जिस कब्र में दफनाया गया था, देखने पर वह खाली मिली। चमत्कार स्वरूप वे जीवित होकर गलीलिया (गलीली पर्वत) पर चले गये थे जैसा कि बाइबिल में उल्लेख है कि वहाँ पर शिष्यों से मिलने के बाद वे लुप्त हो गये। सन् ३४ में उनकी भेंट डैमस्कस (दमिश्क) में पॉल से हुई और वह उनका शिष्य बन गया। इसके बाद वे कुछ दिन निसबिस-तुर्की में ठहरे और ईरान सहित आसपास के देशों में उपदेश करते रहे, तदुपरान्त तक्षशिला होते हुए कश्मीर

आ गये और वहाँ पर ८० वर्ष की उम्र में शरीर त्यागा, ऐसा केस्टन का मत है।

सुप्रसिद्ध कानूनविद् अलहज खाजा नजीर अहमद ने भी अपनी पुस्तक “जीसस इन हेवन आन अर्थ” में लिखा है कि ईसा ने भारत में न केवल अपने यौवन के १७-१८ वर्ष अध्ययन एवं साधना में बिताये थे, वरन् सूली पर चढ़ाये जाने के बाद पुनर्जीवित होकर दूसरी बार भारत आ गये थे और कश्मीर में रहने लगे थे। वृद्धावस्था में यहीं पर उनका स्वर्गवास हुआ था। उनके अनुसार स्वयं मूसा भी कभी कश्मीर आये थे।

पर्सिया के सुविख्यात इतिहासवेत्ता मीरकाबन्द ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि पुनर्जीवन के बाद ईसा डैमस्कस चले गये। जिस स्थान पर वे लोगों को उपदेश किया करते थे। वह “मायूम-इ-ईसा” के नाम से जाना जाता है और डैमस्कस से ५ कि. मी. दूर स्थित है। ईसा को वहाँ ठहरे हुए कुछ ही दिन बीते थे कि तुर्की में निसबिस के प्रशासक ने उन्हें अपनी चिकित्सा के लिये बुला लिया। ईसा ने पहले तो अपने एक शिष्य थॉमस को उसके पास भेजा। जिसके उपचार से ही बादशाह ठीक हो गया। पीछे वे भी निसबिस पहुँच गये। इमा-अबू-जफर मोहम्मद ने अपनी कृति “तफसीर-इब्न जरीर एत-तबरी” में लिखा है कि यह घटना सन् ३५ के बाद की है। इसके पश्चात् वे जगह-जगह घूमते और उपदेश करते रहे।

सूली पर चढ़ाये जाने एवं पुनर्जीवित होकर अन्यत्र चले जाने के बाद उनका उपचार जड़ी-बूटी द्वारा किये जाने का उल्लेख तिब्बत के हेमिस मठ में रखे दस्तावेजों में सुरक्षित है। इसकी पुष्टि करते हुए नोतोबिच ने अपनी कृति “द अननोन लाइफ ऑफ दी जीसस क्राइस्ट” में कहा है कि स्वस्थ होने के पश्चात् ईसामसीह ने तक्षशिला होते हुए दूसरी बार भारत में प्रवेश किया। उन दिनों बृहत्तर भारत की सीमायें ईरान और अफगानिस्तान तक फैली हुई थीं। तुर्की और सीरिया के मध्य स्थित “निसबिस” (नुसायबिन) को छोड़कर वे सन् ४९-५० में तक्षशिला पहुँचे थे वहाँ उनकी भेंट इण्डो-पर्सियन बादशाह गुन्दाफर से हुई। इससे पूर्व उन्होंने ईरान, पाकिस्तान एवं अफगानिस्तान की यात्राएँ की थीं और जगह-जगह उपदेश किये थे। ईसा के पट्टशिष्य थॉमस ने अपने संस्मरण में इस बात की पुष्टि की है कि वह ईसा के साथ तक्षशिला में राजा गुन्दाफर के यहाँ ठहरा था। इससे पहले ईसा ने उसे भारत जाने का आदेश दिया था, पर थॉमस के इन्कार करने और यह कहने पर कि वह यहूदी है और भारतवासियों को सत्य की शिक्षा कैसे दे सकता है? ईसा ने उसे इब्बन नामक एक दक्षिण भारतीय व्यापारी के हाथों इसलिये बेच दिया ताकि इसी बहाने वह भारत पहुँच जाय। वस्तुतः इब्बन राजा गुन्दाफर का एक कर्मचारी था जिसे एक वास्तुशिल्पी ढूँढ़ लाने के लिए नियुक्त किया गया था। इस तरह थॉमस राजदरबार में पहुँच गया। वहाँ उसे एक भव्य महल बनवाने के लिए एक बड़ी धनराशि दी गयी जिसे उसने जरूरतमंद गरीबों में खर्च कर दिया। बाद में यही राजा अपने भाई के साथ ईसा का शिष्य बन गया और थॉमस को दक्षिण भारत

में मिशन के प्रचार-प्रसार के लिये भेज दिया गया। मद्रास में उसने अनेकों अनुयायी भी तैयार किये। चौथी सदी के आरंभ में उसकी हड्डियों के अवशेष को मायलापोर मद्रास से उनके पैतृक नगर इडेसा सीरिया ले जाया गया था। थॉमस की मद्रास में कब्र होने की पुष्टि मार्कोपोलो ने की थी।

प्रख्यात विद्वान् हजरत मिर्जा गुलाम अहमद ने भी अपनी कृति में इस बात की पुष्टि की है कि ईसा ने अपने जीवन के अंतिम ४० वर्ष 'युज आशफ' के नाम से कश्मीर में बिताये थे। शत्रुओं से बचने के लिए ही उन्होंने यह छद्म नाम रखा था। अग मुस्तफ़ ने अपने ग्रंथ—'अबली अहलिऊ-परस' में कहा है कि "ईसा ही युजआशफ थे। तक्षशिला के पश्चात् उन्होंने उससे ७० मील दूर कश्मीर की सीमा पर स्थित मुरी नामक एक छोटे-से गाँव में निवास किया था। वहीं पर उनकी माता का स्वर्गवास हुआ। आज भी वहाँ सदियों पुराना मरियम मेरी क़ा एक मकबरा बना हुआ है जिसे मरियम मेरी क़ा स्थान कहा जाता है।"

सुविख्यात इतिहासवेत्ता मुल्ला नादिर ने अपनी कृति "तवारीख-ए-कश्मीर" (कश्मीर का इतिहास) में ईसा के कश्मीर में निवास करने का सुविस्तृत वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है कि जिन दिनों ईसा-युजआशफ के नाम से यहूदियों के एक बड़े समुदाय के साथ कश्मीर आये थे, उन दिनों वहाँ राजागोपदत्त—जिन्हें गोपानन्द भी कहा जाता था, का शासन था। यह घटना प्रथम शताब्दी के मध्य की है। योरूशलेम से दुबारा भारत आने के बाद ईसा ने अपना सम्पूर्ण जीवन इसी घाटी में व्यतीत किया। घाटी के लोगों की उन पर अगाध श्रद्धा थी। वे प्रायः एक संन्यासी की तरह एक-स्थान से दूसरे स्थान तक उपदेश करते हुए घूमते रहते थे पर प्रायः कश्मीर अवश्य लौट आते थे। कश्मीर से ईसा का विशेष लगाव था। तब भारत का वह भूभाग हर दृष्टि से इतना समृद्ध और खुशहाल था कि उसे धरती के स्वर्ग की संज्ञा दी गयी थी। दूसरे—इजरायल की अनेक आदिम जातियाँ पहले से ही वहाँ निवास कर रही थीं। बाद में ईसा के साथ भी अनेक यहूदी परिवार आकर वहीं रहने लगे थे। नादिर के अनुसार श्रीनगर से कोई ७० मील दूर एक गुफा है जहाँ ईसा मसीह ध्यान किया करते थे। इस गुफा के द्वार पर एक सुन्दर भवन निर्मित है जिसे 'ऐश-मुक़ाम' कहते हैं। यहीं पर भूसा का बहुमूल्य दण्ड (छड़ी) जो परम्परा से ईसा को मिला था, स्थापित था। यही दण्ड १५वीं शताब्दी में प्रसिद्ध संत शेष नूरुद्दीन को प्राप्त हुआ था।

ईसा को जिस स्थान पर दफनाया गया था, वहीं पर ख्याति प्राप्त इतिहासवेत्ता एवं 'कश्मीर रिसर्च सेन्टर फ़ॉर बुद्धिस्ट स्टडीज़' के निदेशक प्रोफ़ेसर फ़िदा हुसैन को पत्थर पर खुदे हुए ईसा के पद-चिह्न मिले थे जिसके एक तरफ पद-चिह्न और दूसरी तरफ क्रूस के चिह्न बने हैं। यह इस बात का सुनिश्चित प्रमाण है कि वह ईसा की ही समाधि है। उनके अनुसार जब दूसरी बार ईसा ने भारत में प्रवेश किया था उन दिनों उत्तरी भारत में राजा शालिवाहन (सन् ३९ से ५० ई०) का शासन था। राजागोपानन्द का सन् ४९ से ८२ एवं कुशान राजा-कनिष्क का सन् ७८ से १०३ ई० तक शासन था।

कनिष्क के शासनकाल में कश्मीर इण्डो-सीथिन राजवंशों की राजधानी थी। वहाँ अनेक धार्मिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक और राजनीतिक संस्थाएँ थीं। ग्रीक और भारतीय दर्शन अपने चरम उत्कर्ष पर थे। उन्हीं दिनों लगभग सन् ८० में महाराजा कनिष्क ने श्रीनगर से १२ कि. मी. दूर हारान में विविध धर्मावलंबियों की एक महासभा बुलायी थी, जिसे 'काउन्सिल ऑफ हारान' के नाम से जाना जाता है। उस महासभा में विख्यात मनीषी एवं आयुर्वेद के ज्ञाता नागार्जुन के साथ ईसामसीह भी उपस्थित थे। तब उनकी उम्र ८० वर्ष से अधिक थी। इस तथ्य की पुष्टि वाणभट्ट ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'कादम्बरी' में की है।

वस्तुतः ईसा की जीवन यात्रा देवसंस्कृति के बहुरंगी प्रवाह का एक अंग है। जो रहस्योद्घाटन हुए हैं, वे सभी मत-संप्रदायों को समीप लाकर देवसंस्कृति की श्रेष्ठता का तथा "एकं सद्बिप्रा बहुना वदन्ति" की ऋषि मान्यता का समर्थन ही करते हैं।

भीड़ का नहीं—न्याय का राज्य चले

उन दिनों भीड़ का राज्य था। यों नाटक न्याय का ही रचा जाता था। पर भीड़ की चिल्लाहट में ईसा की आवाज इतनी धीमी पड़ती थी कि कोई उसे सुन ही न पाता था।

सोचने के चलते हुए ढेरों को बदलने की क्या जरूरत? और परम्पराओं को बदलने की अधार्मिकता क्यों अपनाई जाय? पुरातन पंथी यह मानते थे और यही कहते थे। उन्हें यह तनिक भी नहीं रुचा कि ईसा ऐसा कुछ कहे जिसमें प्रचलित मान्यताओं के प्रति अनास्था उत्पन्न होती हो। इसी का धर्म-प्रचार उन्हें अधर्म जैसा लगा। वे कहते थे जो चल रहा है उसे चलने देना ही धर्म-परम्परा है। उसे कोई तोड़े नहीं।

ईसा के तीखे उपदेश लोगों की धर्म-भावनाओं को नई दिशा दे रहे थे। सुनने वालों को यथार्थता और परम्परा के बीच का अन्तर बता रहे थे। पुरातन पंथियों के लिए इस प्रकार के प्रयास सदा रोष का कारण बनते रहे हैं। ईसा भी उससे बच न सके।

उस वर्ष का महायाजिक 'हन्ना' था। धर्म-पुरोहित ही अभियोग बनाते थे और हाकिम दंड देता था। हन्ना चाहते थे कि ढेरों में अवरोध उत्पन्न करने वाले ईसा को प्राण दंड मिले। सो उनके अधीनस्थ पुरोहितों ने जाकर उन्हें पकड़ा और महायाजक के सामने उपस्थित किया।

याजक ने पूछा—क्या तुमने धर्म और राजा के विरुद्ध विद्रोह करने के उपदेश दिये हैं?

ईसा ने कहा—मैंने जो कुछ कहा है खुले में और मन्दिरों के आँगन में कहा है—सो सुनने वालों से ही पूछिये कि क्या मैंने ऐसा कुछ कहा है।

एक पुरोहित ने ईसा को चाँटा मारा और कहा—महायाजक के सामने बड़-चढ़ कर बोलता है?

ईसा ने कहा—मैं कुछ झूठ कहता हूँ तो कहो मैंने क्या झूठ बोला। बिना कारण मारने से क्या होगा?

१.६२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

पुरोहित मंडली के गवाह आगे आये। उन्होंने कहा— यह कहता है पुराने मन्दिरों के स्थान पर नये मन्दिर खड़े होने चाहिए। पुराने राजा के स्थान पर नये राजा का शासन स्वीकार करना चाहिए।

ईसा ने कहा— मैंने मन्दिरों का नहीं, उनकी आड़ में पलने वाली अधार्मिकता का विरोध किया है और धरती के राजा के विरोध में नहीं स्वर्ग के राजा के शासन के बारे में कहा है। यदि मैं धरती के राजा का द्रोह करता तो मेरे पास भी सैनिक होते और इस प्रकार निहत्था न पकड़ा जाता।

महायाजक ने प्रतिवादी की एक न मानी और दोष लगाने कालों की बातों पर ही कान धरते रहे। उन्होंने अपराध लगाते हुए प्राण दंड देने की सिफारिश के साथ ईसा को न्यायाधिकारी पीलातुस के पास भेज दिया।

पीलातुस ने छानबीन की और ऐसा कुछ न पाया। वह चाहते थे इस निर्दोष को दण्ड न दिया जाय। पर भीड़ ने चिल्लाकर कहा ईसा विद्रोही है, उसे फाँसी पर ही लटकवा जाना चाहिए। न्यायाधिकारी ने पूछा— क्या कोड़े लगाने की सजा से क्रम चल सकता है? भीड़ ने कहा— नहीं! नहीं!!

भीड़ का बोल-बाला था। न्याय तो काष्ठपुतली मात्र था। राज्य तो अविवेकियों की भीड़ कर रही थी। पीलातुस ने अपनी कुछ चलती न देखी तो एक उपाय सोचा। ईसा गलील प्रान्त का नागरिक है सो उसे संहिता के अनुसार उसी देश के राजा को दण्ड देने का अधिकार है। अस्तु, उसे गलील प्रान्त के राजा हेरोदेश के पास भेजना चाहिए। उन्होंने वैसा ही किया भी।

राजा हेरोदेश ने गहराई के साथ पूरी छानबीन की पर ईसा पर कोई दोष सिद्ध नहीं हुआ। सो उन्होंने बन्दी को पीलातुस के पास वापस भेजते हुए लिखा— मेरी राय में वह न तो अपराधी है और न दण्ड का अधिकारी।

पीलातुस, निर्दोष को दण्ड नहीं देना चाहते थे पर भीड़ की चिल्लाहट प्राणदण्ड से कम पर राजी नहीं हो रही थी। सो खीज कर न्यायाधिकारी ने कहा— तुम्हें जो दीखे सो करो। मुझे विवश न करो। पर भीड़ भला क्यों मानने लगी उसने यही कहा हमारी इच्छानुसार दंड देने में ही तुम्हारी भलाई है।

भीड़ के राज्य में न्यायाधिकारी की क्या चलती। ईसा को क्रूस की ओर धसीटा जाने लगा तो पीलातुस ने एक और प्रयत्न किया। उस दिन पर्व का दिन था। पर्व पर एक अपराधी को क्षमादान दिये जाने की प्रथा थी। सामने दो अपराधी थे एक हत्यारा डाकू बरअब्बा, दूसरे ईसा। दोनों में से न्यायाधीश ईसा को छोड़ना चाहते थे। पर भीड़ चिल्लाई— बरअब्बा को भले ही छोड़ दिया जाय पर ईसा को तो क्रूस पर ही चढ़ना चाहिए।

न्याय की एक न चली, हुआ वही जो भीड़ ने चाहा। क्रूस की ओर धसीटते हुए ईसा को सिपाहियों ने कोड़े मारे, लात घुँसे लगाये, थूक, कर्तों की टोपी पहनाई और तरह-तरह से सताया। भीड़ को खुश करने को उत्सुक सिपाहियों के लिए इसके सिवाय और कोई उपाय था भी नहीं।

संसार में सदा से बहु-संख्यक अविवेकी लोग ही रहे हैं। विचारशीलों की संख्या उनसे सदा कम रहती है, सो भीड़ की बात जहाँ चलती है वहाँ न न्याय की बात चलती है और न औचित्य को मान्यता मिलती है। भीड़ जो चाहे सो करले जब ऐसी स्थिति आ जाय तो न कोई तथ्य को देखता है और न सत्य को।

प्रवाह का विरोध करने के लिये बहुत बड़ा आत्मबल चाहिए। उथले आदमी सत्य का समर्थन तभी तक करते हैं जब तक वैसा करना निरापद लगता है, जब भीड़ के प्रकोप में अपने ऊपर भी आँच आती दीखती है तो वे भी उखड़ जाते हैं।

ईसा के बारह शिष्य थे। इस कठिन अवसर पर वे सभी भाग कर कहीं जा छिपे। एक शिष्य पतरस न्यायालय के आँगन तक साथ गया। महायाजक के नौकरों ने कहा— क्या तू भी ईसा का साथी है। तो उसने कसम खाकर कहा मैं तो उन्हें जानता तक नहीं। दस शिष्यों का कहीं पता न था। बारहवें ने एक और चमत्कार किया था— उसने संकट की घड़ी आने से पूर्व ही सरकारी मुखबिर बनकर ईसा को पकड़वा दिया और तीस रुपया इनाम लिया। उसका नाम था— जुदास।

यों बाद में ईसा की महानता को सब ने समझा, भीड़ ने भी। तीस रुपये में गुरु को बेचने वाले जुदास ने वे रुपये महायाजक को वापस लौटा दिये और स्वयं आत्म ग्लानि की पीड़ा से बचने के लिये फाँसी लगाकर आत्महत्या करली। वे खूनी रुपये महायाजक ने भी वापस नहीं लिए और उन्हें खेत में गढ़वा दिया। खून से सने रुपये जिसमें गाढ़े गये थे वह खूनी खेत अभी भी अपने में अन्तर्कथा भरे जहाँ का तहाँ पड़ा है।

भीड़ में इतनी समझ कहाँ होती है कि वह विवेकपूर्ण निर्णय कर सके। आवेश के प्रवाह में लोग किधर भी बहते रहते हैं। इसलिए भीड़ की माँग को नहीं, न्याय की पुकार को मान्यता मिलनी चाहिए। ईसा-पवित्र बलिदान से निकला यह निष्कर्ष अनन्त काल तक आकाश में गूँजता रहेगा।

उपचार पतित पीड़ित का सबसे पहले

उन दिनों ईसा मसीह प्रचार कार्य में संलग्न थे। जगह-जगह जाना और नेक-नीयती का उपदेश देना उनका मुख्य काम था।

धूमते हुए एक बार वे एक नगर में पहुँचे, तो वहाँ उनके उपदेशों की धूम मच गई। नगर के हर कोने से सभाओं की माँग होने लगी। स्थान-स्थान पर उनका आयोजन होने लगा। उन्हें सुनने के लिए जन-समुदाय बाढ़ की तरह उमड़ पड़ता, फिर भी ऐसा जान पड़ता कि के प्यासे के प्यासे ही हैं, ज्ञान-पिपासा उनकी शान्त हुई नहीं है। बड़ी संख्या में सम्प्रान्त नागरिक भी उन्हें सुनने आते और उनके आचरण व उपदेश की प्रशंसा करते नहीं थकते। जो वे कहते, वह आचरण में भी दिखाई पड़ता। इसी कारण जन-समूह सैलाब-सा उमड़ता प्रतीत होता। गली-मुहल्लों, नुकड़-चौराहों पर सर्वत्र उन्हीं की चर्चा हर समय छाई रहती।

एक बार नगर के एक विशिष्ट मुहल्ले से उनकी माँग आयी। यह मुहल्ला उपेक्षित वेश्याओं का था। प्रभु ईशु ने वहाँ जाना स्वीकार

कर लिया। दूसरे दिन जब वे वहाँ पहुँचे, तो उनका भव्य स्वागत किया गया। मिलने-मिलाने की औपचारिकता के उपरान्त उन्होंने उद्बोधन आरंभ किया।

‘देवियो ! हमारे यहाँ धर्म-गुरुओं का कहना है कि भगवान् पाँचवें आसमान पर रहते हैं। मुस्लिम धर्म-वाले कहते हैं कि उनके भगवान् सातवें आसमान पर निवास करते हैं। हिन्दू धर्म में भी कुछ ऐसी ही मान्यता है कि उनके तथाकथित देवता ऊपर कहीं स्वर्ग लोक में वास करते हैं, किन्तु उस निराकार सत्ता को देखा किसने है ? न हमने न आपने, पर यदि हम चाहें तो उसके साकार और जीवन्त स्वरूप को मनुष्य के रूप में अवश्य देख सकते हैं, मगर इस सामने बैठे जनसमुदाय के रूप में नहीं, वर्तमान समाज के रूप में नहीं। मनुष्य के इस रूप में तो अनेकों कमियाँ हैं, अगणित त्रुटियाँ हैं, अनेकानेक दोष-दुर्गुण हैं। जब तक हम इन्हें हटा-मिट्टा कर सही अर्थों में इन्सान नहीं बन जाते, तब तक हमें मनुष्य रूपी भगवान् के दर्शन नहीं हो सकते। हमें अपनी बुराइयाँ त्यागनी पड़ेंगी, व्यसन छोड़ने पड़ेंगे, द्वेष-भाव मिटाने और सद्भाव पनपाने पड़ेंगे, तभी वास्तविकता के निकट हम पहुँच सकेंगे। यह निर्माण का प्रथम चरण है और गलाई-ढलाई की आरंभिक एवं महत्वपूर्ण प्रक्रिया। इसके बाद भगवान् के निकट पहुँचने और उन जैसा बनने की बारी आती है।’

सभा में आज दिव्य नीरवता छाई हुई थी। लोग मंत्रमुग्ध होकर प्रभु ईशु का संदेश सुन रहे थे। सभी के चेहरों पर गहन गंभीरता स्पष्ट परिलक्षित हो रही थी। इससे पूर्व की सभाओं में श्रोता इतने बेसुध कभी दिखाई नहीं पड़े थे, पर सद्यः वहाँ का वातावरण ही अपूर्व था।

उन्होंने थोड़ा रुककर पुनः कहना आरंभ किया ‘‘ भगवान् का जब कभी अवतरण होता है तो उसका प्रथम लक्षण है— भाव संवेदना, इससे व्यक्ति में दया, ममता, करुणा, उदारता, सेवा, सहकारिता जैसे भाव उसमें हिलोरें लेने लगते हैं। इस विश्व में न जाने कितने पथ-पन्थ और मत-मतान्तर हैं। उन सबके अपने पृथक्-पृथक् भगवान् हैं, उनका रूप-रंग, आकार-प्रकार सब भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु समानता एक ही बात की दिखाई पड़ती है कि वे सभी भाव-संवेदना से ओत-प्रोत हैं। हमें आज इसी गुणवाचक भगवान् को पृथ्वी पर उतारना है। देश, धर्म, भाषा, क्षेत्र व रूपवाचक भगवान् को नहीं। बगल में बहने वाली टेम्स नदी में आये दिन कितनी ही नालियाँ और गंदे नाले मिलते रहते हैं, पर उसमें विलय के बाद वह नाले का गंदा जल नहीं रह जाता, वरन् टेम्स नदी का पवित्र जल बन जाता है। उनमें एकरूपता आ जाती है। सभी एक-समान बन जाते हैं। आज इसी एकरूपता को इस धरित्री पर लाना है। ऐसा तभी संभव है, जब व्यक्ति परदुःख कातरता का विकास करे, अपने को ‘स्व’ की परिधि में सीमाबद्ध न रखकर ‘पर’ की अपरिमित सीमा तक विस्तृत कर दे। उसमें औरों के दुःख के प्रति कसक, दर्द के प्रति तड़पन, कष्ट के प्रति सेवा और कठिनाई के प्रति सहकार की भावना बरसाती नदी की तरह उफ़ान मारने लगे, तो समझना चाहिए कि दैवी सत्ता का अवतरण होने लगा है और धरती पर स्वर्ग उतर आने की भूमिका

बनने लगी है। जब पृथ्वी की अधिकांश आबादी ऐसे नर-रत्नों की हो जाय, तो यह कहने में किसी को तनिक भी संकोच न होगा कि स्वर्ग का मूर्तिमान रूप धरती पर अवतरित हो गया है और इन्सान, भगवान् बन गये हैं, मानव, महामानव व नर, नारायण की प्रतिमूर्ति हो गये हैं, किन्तु ऐसा तभी हो सकेगा, जब दैवियाँ कहलाने योग्य आप जैसी नारियाँ नर-क्रीटक की जिन्दगी छोड़कर नव-निर्माण के, समाज कल्याण के काम आयें।’

इतना कहकर ईसा ने व्याख्यान समाप्त किया। आज के भाव भरे उद्गार से उपस्थित जनों की बड़ी विचित्र स्थिति हो गई थी, प्रतीत ऐसा हो रहा था मानो कोई अपने वश में न हो। किसी के आँखों से झरझर आँसू बह रहे थे, तो कोई आनन्द के अतिरेक में उन्मत्त हो रही थी। किसी की स्थिति पागलों जैसी बन गई थी, तो कई निर्लिप्त भाव से बेसुध पड़ी थीं। कुल मिलाकर वातावरण अत्यन्त दिव्य बन गया था। सभी ने प्रभु की उपस्थिति में अपने विगत जीवन की मृत्यु और आज से नया जन्म धारण कर नये सिरे से नई जिन्दगी की शुरूआत का संकल्प लिया।

प्रभु जाने लगे, तो भावातिरेक की स्थिति में कैथरीन नामक वारंगना ने उनका रास्ता रोक लिया। भाव-विह्वल होकर कहने लगी—

‘‘भगवान् ! आज आपका शुभागमन न होता, तो न जाने हम सब कब तक इस गंदे जीवन को जीते और समाज को गंदा बनाते रहते। संभव था कि यह सम्पूर्ण जिन्दगी ही इसमें खप जाती, किन्तु धन्य है आप जो हम सब का उद्धार कर दिया, समय रहते आँखों पर बंधी पट्टी उतार दी और सही वक्त पर सही मार्ग-दर्शन किया, परन्तु हमारी एक उत्कट अभिलाषा है देव !’’ इतना कहकर वह उनके चरणों में गिर पड़ी और फूट-फूट कर रोने लगी। भगवान् ईसा ने उसे उठाया और आश्वासन के स्वर में कहा—

‘‘तुम्हारी इच्छा यदि पूरी करने लायक हुई, तो हम अवश्य पूर्ण करेंगे। कहो, निःसंकोच होकर कहो।’’

‘‘अत्यन्त छोटी आंकाक्षा है प्रभु !’’— कैथरीन का प्रकम्पित स्वर उभरा ‘‘वह कदाचित् आपकी सामर्थ्य से परे भी नहीं है। मेरी हार्दिक इच्छा है कि कल आप सब मेरे यहाँ पधारकर भोजन ग्रहण करें, तो मैं इस क्षुद्र जिन्दगी की किसी हद तक धन्य मान सकूँगी।’’

‘‘बस, इतनी सी-बात।’’— प्रभु तनिक मुस्कराये और बोले— ‘‘हम अवश्य आयेगे, तुम चिन्ता न करो।’’ इतना कहकर वे अपने शिष्यों के साथ चल पड़े, किन्तु इस घटना के उपरान्त पीछे चल रही शिष्य मण्डली में कुछ कनाफूसी होने लगी, जिसकी कुछ अस्फुट ध्वनि ईसा के कानों से भी टकराई। उन्होंने अपने प्रमुख शिष्य सिमोन से पूछा— ‘‘बात क्या है ? किस प्रसंग की चर्चा चल रही है ?’’

मुखर सिमोन से न रहा गया। उसने कहा— ‘‘इन घृणित नारियों को आपने दिशा-निर्देश दिया, क्या इतना कम था, जो निमंत्रण भी स्वीकार कर लिया ? इससे हमारी छवि धूमिल होगी। लोग हम पर अँगुली उठायेंगे।’’

“सिमोन ! एक बात का सदा ध्यान रखना” प्रभु की गम्भीर वाणी उभरी— “बुरा कार्य निश्चय ही निन्दनीय है, उससे व्यक्ति को बचना चाहिए, किन्तु जिस कार्य से औरों का भला होता हो, उसमें पीछे भी नहीं रहना चाहिए। समाज चाहे कुछ भी कहता रहे, ऐसी भ्रान्ति देर तक टिकती नहीं। ग्रहण तो सूर्य पर भी लग जाता है, पर उसकी प्रखरता के आगे वह देर तक अपना अस्तित्व कहीं कायम रख पाता है। यह नारियाँ समाज की कोढ़ हैं। हमें सबसे पहले इन्हीं का उपचार करना होगा और तुम तो स्वयं एक अच्छे चिकित्सक हो। एक बात बता सकोगे ?”

ईसा की प्रश्नवाचक दृष्टि सिमोन पर उठर गयी। “दो सेगियों में से एक सदी-जुकाम का सामान्य और दूसरा जानलेवा गंभीर व्याधि से आक्रान्त हो, तो इनमें से प्राथमिकता किसे दोगे ?”

“गंभीर रोगी को।” सिमोन का स्वर था।

“यह भी ऐसी ही मरीज है, अतः इलाज प्रथम इनका ही होना चाहिए।” — ईसा की दृढ़ वाणी थी। सिमोन निरुत्तर हो गया।

दूसरे दिन ईसा अपने शिष्यों सहित कैथरीन के घर पहुँचे और भोजन किया। कैथरीन ने जब यह प्रसंग सुना, तो वह संत की सहृदयता पर गदगद हो उठी। उसी क्षण उसने ईसा का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया जिसने भी यह घटना सुनी, संत की महानता के प्रति उसका मन सहज ब्रद्धा से भर उठा। हेम्पशायर, इंग्लैण्ड का यह मुहल्ला आज भी उक्त घटना के लिए प्रसिद्ध है।

धनिकों की दुर्गति

ईसा अपने शिष्यों से बोले— “ईश्वर की कृपा का गणित न्याय है।” एक मनमौजी था। आलीशान मकान, सेवा में खूब नौकर। रोज सुस्वाद भोजन। हमेशा खा, हमेशा पी का दौर। वह बड़ा धनी था। लेकिन ईसा बोलते-बोलते रुक गये। धीरे-धीरे एक शिष्य पृष्ठ बैठा— “लेकिन क्या हुआ भगवन ?” ईसा ने गम्भीर होकर अपनी बात जारी रखी— “वह प्रभु को भूल गया था। जिस प्रभु ने उसे इतनी आराम की जिन्दगी दी। उसे वह याद तक नहीं करता। घमण्ड में रहता। सीना ताने चलता। बड़ा गुरू था उसे अपनी अमीरी और खुशहाली का। उसी धनी मनुष्य के दरवाजे पर लाजर नाम का एक कंपाल आया करता। धनी के घर मेज पर जो जूठन बचती, उसे दी जाती थी। उसकी देह पर घाव थे। कुत्ते-उन घावों को चाटते थे। लाजर सदा हृदय से प्रभु का स्मरण करता और सतत प्रभु की प्रार्थना कर उसके गुणगान गाता। अपनी दयनीय स्थिति का जरा भी दुःख न करता। वह दीन न था, नम्र था। प्रभु की करुणी। एक दिन वह कंगाल मर गया, तो स्वर्ग के दूत नीचे उतर आये और उसे ले गये इब्राहीम के पास ! इब्राहीम ने उसका स्वागत करते हुए कहा— “आओ बेटा ! मेरी गोद तेरी प्रतीक्षा कर रही थी।” लाजर इब्राहीम की गोद में अत्यन्त आनन्द से लेट गया।

उधर उस धनवान की भी मृत्यु हुई। उसके शव की यात्रा लोगों ने निकाली। बड़ी धूमधाम से शोक मनाया गया। शहर में सभा हुई। उसकी प्रशंसा की गयी। शव पर लोगों ने फूलों की वर्षा की। शमशान

में उसका शव दफनाया गया। देवदूतों ने उसकी खानगी नरक में की। नारकीय आग में उसे बहुत ही यातनाएँ होने लगीं। वह चिल्लाने लगा। आँखें उठाकर क्या देखता है कि बहुत दूर पर इब्राहीम की गोद में लाजर शांति से लेटा है। वह लाजर जो इस धनी की जूठन पर जीता था। धनी ने चीखकर कहा “हे पिता इब्राहीम ! दया करो ! लाजर को यहाँ भेजो। अपनी अंगुली का सिरा पानी में भिगो कर मेरी जीभ को वह ठण्डी करेगा। मैं तड़प रहा हूँ इस ज्वाला में, दया करो, दया करो।” पर इब्राहीम के और उसके बीच एक बड़ी खाई थी। दूर से ही इब्राहीम बोला “देख बेटा, अपने बीच यह जो खाई है उसे कोई लाँघ नहीं सकता। न तुम्हारी ओर से इधर कोई आ सकता है और न हमारी ओर से उधर कोई जा सकता है। वह धनी व्याकुल स्वर से चिल्लाया— “ऐसा क्यों किया ? मुझ पर दया क्यों नहीं ?” इब्राहीम बोला— “मेरे बेटे, याद करो। अपने जीवन में सब अच्छी से अच्छी चीजें तुम ले चुके हो और लाजर अपने जीवन से बुरी से बुरी चीजें। अब वह यहाँ चैन से, शांति से है।” धनी को याद आई, पृथ्वी पर उसके भाई थे। उसने कहा— “हे पिता ! लाजर को पृथ्वी पर मेरे घर भेजो। वहाँ मेरे पाँच भाई हैं। लाजर जाकर उनको सावधान करे। ताकि वे मेरे जैसे इस यातना के स्थान में न आयें।” इब्राहीम ने कहा— “पृथ्वी पर मूसा है और भी कई संत सत्पुरुष हैं ! तुम्हारे भाइयों को उनका उपदेश सुनने दो और उसे अमल में लाने दो।” धनी चिन्ता में डूबता बोला— “नहीं, नहीं ! वे उनकी बातें नहीं मानेंगे। मैं भी उनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया करता था।” इब्राहीम ने कहा— “तो फिर मृत्यु से उठकर लाजर वहाँ जाये, तो लाजर की बातें भी वे नहीं सुनेंगे। अतः इनके कर्मों का फल वे भुगतें।”

इतना कहकर ईसा शांत हो गये। कहानी समाप्त हुई। शिष्य आपस में फुस-फुसाने लगे। उनसे ईसा ने कहा— “दुनिया को हम ठग सकते हैं, लेकिन परमात्मा प्रभु हमारा हृदय जानता है। वह न्याय करता है। अपने ही मौज-शौक में रहने वाले, दीन-दुःखियों की उपेक्षा और अवहेलना करने वाले इस धनी जैसे घमण्डी को प्रभु कभी क्षमा नहीं करते।

आत्मसत्ता कभी पापी नहीं होती

सहमते हुए उसने दृष्टि उठाई। लगा वह इस दृष्टि के माध्यम से अपनी समूची व्यथा एक बारगी उड़ेल देना चाहती हो, नेत्रों के मौन स्वरो से अस्तित्व के स्पन्दन झर रहे थे। न जाने कितने समय से वह उनके पास आने की सोच रही थी। कितनी आशाएँ, कितनी आकांक्षाएँ नहीं संजोई थीं आज तक उसने। कभी-कभी तो दिवस रात्रि भावनाओं और कल्पनाओं की उमगती लहरों के बीच क्षण की तरह खो जाते। पर मिलना इतना सहज नहीं था। समाज की पारम्परिक व्यवस्था ने एक-एक अनगिनत लौह शृंखलाओं से उसके अस्तित्व को जकड़ रखा था। उबरने के हर प्रयास का परिणाम— होता विफलता और विफलता को निराशा का जामा पहनने में भला कितनी देर लगती थी। निराशा के इस निर्विडितम में आशा की एकमात्र किरण

सोचते-सोचते अचानक उसके सारे शरीर में प्राण विद्युत की लहर दौड़ गई।

‘कातूशा’। सामान्य स्वरों में कहे गए इन शब्दों के साथ ही वह स्वयं में चैतन्यता अनुभव करने लगी। निराशा, भय तथा डर का सम्मिलित कुहासा शब्दघात से छंटता प्रतीत हुआ। एक विलक्षण चमत्कार की अनुभूति कर रही थी वह। चमत्कार की विलक्षणता शब्दों में नहीं कहने वाले की वाणी में थी। अन्यथा शब्द तो उसके लिए चिर प्राचीन थे। शैशव से लेकर आज तक दिन में पता नहीं कितने बार अपने इस नाम का उच्चारण सुनती आयी थी। पर आज की बात ही कुछ और थी। पुकारने वाले के पास आने का इशारा किया। पास बैठे हुए लोगों ने एक-एक कर दोनों को तीक्ष्ण नजर से देखा। देखने वालों की आँखों में आश्चर्य और तिरस्कार के मिले-जुले भाव थे।

यहूदी शमौन को भी कम आश्चर्य न था। उसी ने उन्हें अपने यहाँ भोजन के लिए निमंत्रित किया था। सोचा इसी बहाने महापुरुष के चरणों से अपना भवन पवित्र हो जाएगा। पर तब तो उसे असहनीय लगने लगा जब कातूशा ने पास बैठकर उनके चरण पोंछे फिर उन्हें चूमने लगी। शमौन के मन को देखी शंकाओं ने घेर लिया। वह सोचने लगा “यदि यह सर्वज्ञ होते तो इस दुराचारिणी को अपना स्पर्श क्यों करने देते।”

वस्तुस्थिति को समझकर ईसा मुस्कराए। उन्होंने शमौन को अँगुली के संकेत से पास बुलाया। पास आने पर शंका का निवारण करने के लिए एक कहानी सुनाने लगे—“एक महाजन के दो कर्जदार थे। एक पर पाँच सौ दीनारों का कर्ज था और एक पर केवल पचास दीनारों का। महाजन के पास दोनों व्यक्ति गए और अपनी असमर्थता प्रकट कर गिड़गिड़ाते लगे।

महाजन ने कहा—“यदि आप इस स्थिति में नहीं हैं कि कर्ज पटा सकें तो आपको माफ किया। राशि में कम-ज्यादा का फर्क जरूर था, पर माफी दोनों को बराबर दी गई। यदि ध्यान से देख सको तो पाओगे कि सबसे ज्यादा माफी पाँच सौ दीनार वाले कर्जदार को मिली। क्योंकि महाजन की दृष्टि में इसके प्रति निष्ठा और पात्रता पहले की अपेक्षा कहीं अधिक थी।”

शमौन ! यही बात तो आज कातूशा के सम्बन्ध में है। इसने अपने में जितनी पात्रता विकसित की है उतनी यहाँ मैं तुममें से किसी में नहीं देख रहा हूँ। क्या तुम्हें नहीं मालूम कि यह अपने समूचे जीवन को बदल डालने की योजना बना चुकी है। जबकि तुम केवल एक समय भोजन करवाकर ही उसका पुण्य लूटना चाहते हो। इसलिए मैंने तुम्हारी निष्ठा के अनुसार दिशा है और कातूशा को उसकी निष्ठा और विश्वास के अनुसार।

उपस्थित सभी लोग एक स्वर से चिल्लाए— ईसा ! तुम कातूशा को क्षमा कैसे कर सकते हो ? यह तुम्हारा दुस्साहस है। दुष्टों को क्षमा करने का अधिकार तो केवल ईश्वर को है।

इन सबों के क्रोधित स्वर पर उन्हें हँसी आ गई। थोड़ा रुक कर हँसते हुए बोले— मैंने आज तक नहीं सुना कि ईश्वर किसी को वेश्या

या दुराचारी बनाता है। किसी भली स्त्री को वेश्यावृत्ति की ओर ले जाने वाले तुम सब समाज के प्रतिनिधि हो। तुम्हें किसी कन्या को वेश्या बनाने का अधिकार किसने दिया ? कातूशा को अपने विगत जीवन के दुष्कृत्यों पर कितनी आत्मग्लानि है। इस आत्मग्लानि से अधिक पवित्र भला किस सरिता का जल है।

ईसा ने कातूशा की ओर मुड़ते हुए उसके सिर पर आशीर्वाद का हाथ रखते हुए कहा— देवि ! तुम्हारी आत्मग्लानि विश्वास की रक्षा करेगी और सारे कलुष तथा पापों को भस्म कर कंचन की तरह खरा बना देगी। प्रायश्चित्त अन्तःकरण की संरचना में फेर बदल कर डालने के लिए उतारू प्रबल पुरुषार्थ है। इसके द्वारा हर कोई अपने विगत पाप-कर्मों का शमन करके नव-जीवन प्राप्त कर सकता है।

न कोई बुरा है न घापी

जेकस कई शराब-घर चलाता था। उसके शराब-खानों से जहाँ रईस अमीरों को शराब बेची जाती थी वहाँ गरीब मजदूरों को भी शराब बेची जाती थी। अमीर उमराव तो उसके यहाँ से कोई ज्यादा मात्रा में शराब मँगाते नहीं थे। उसके शराब-घरों में अधिक ग्राहक गरीब और मजदूर-पेशा ही आते थे। अपने ग्राहकों को फँसाने के लिए वह बड़ी ही चालाकी से काम लेता था पहले तो अपने आदमियों को उनके पास दोस्ती करने के लिए भेज देता था जो उनसे दोस्ती गाँठ कर उनमें शराब की लत लगवा देते थे और जेकस के नियमित ग्राहक बना देते थे।

शराबियों के पास कोई पूँजी तो जुट नहीं पाती। अगर होती भी है तो वह धीरे-धीरे खत्म हो जाती है। फिर अगर वह आदत किसी गरीब आदमी को लगे तो उसके परिवार का अमन चैन भी जाता रहता है। वह अपने परिवार की जरूरतों की उपेक्षा कर शराब पीता रहता है। जेकस ऐसे लोगों को उस समय उधार देता था फिर बड़ी बेरहमी से अपना पैसा वसूल करता था। इसलिए लोग जेकस को अनाचारी और दुष्ट व्यक्ति के रूप में जानने लगे थे। इस धन्धे के अतिरिक्त सम्राट ने उस पर टैक्स वसूली का काम भी छोड़ दिया था। जिस समय वह टैक्स वसूली के लिए निकलता था उस समय तो उसका रूप ही बदल जाया करता था। हाथ में हण्टर व कोड़े लिए जैकस जब भी टैक्स वसूली करने निकलता तो लोग डर के मारे घरों में जा छुपते। जिन पर बकाया टैक्स निकलता था— न दे पाने पर वह उन्हें कोड़ों से पिटाता और बुरी-बुरी यातनाएँ देता।

एक बार उस गाँव में ईसा का आगमन हुआ। लोगों ने बताया कि जेकस बहुत दुराचारी व्यक्ति है और वह ईसा के आने से बहुत क्रुद्ध है। क्योंकि ईसा लोगों को नेक व शराफत की जिन्दगी जीने का उपदेश देते थे। उनके उपदेशों का लोगों पर प्रभाव भी होता था। कइयों ने उनसे प्रभावित होकर शराब, नशा और कुमार्ग छोड़ा था। जेकस के नाराज होने की बात जब ईसा को पता लगी तो उन्होंने कहा “मैं जेकस के घर जाऊँगा और कल उसी का आतिथ्य ग्रहण करूँगा।”

जेक्स को जैसे ही इस बात का पता चला तो उसने जंगल की ओर जाने का कार्यक्रम बना लिया। वह ईसा से मिलना नहीं चाहता था, क्योंकि उसने उनके चुम्बकीय व्यक्तित्व के बारे में तरह-तरह की कहानियाँ सुन रखी थीं। जब ईसा उसके घर पहुँचे तो उन्हें पता चला कि वह तो जंगल में चला गया है। वे भी कहाँ मानने वाले थे उसे खोजते हुए वहाँ पहुँचे जहाँ जेक्स था। उसने जब उनको देखा तो बड़ा हैरान हुआ और हैरानी का तब तो और ठिकाना नहीं था जब ईसा ने कहा “जेक्स मैं आज तुम्हारा अतिथि बनने के लिए आया हूँ”। ऐसा कह उसे हृदय से लिपटा लिया। पेड़ों की आड़ में चुपके खड़े शिष्य यह सब सुन रहे थे। उन्होंने सोच रखा था कि अब शायद उपदेश शुरू हो। अब सत्संकल्पों के लिए दबाव डाला जाय। किन्तु वहाँ ऐसा तो कुछ भी नहीं था। दोनों ही मौन और भाव-भरे नेत्रों से एक-दूसरे की ओर देख रहे थे। अन्तः में जेक्स ने चुप्पी तोड़ी। वह बोला “प्रभो मैं आपके सामने नतमस्तक हूँ, आज से आपके सामने संकल्प लेता हूँ कि न तो स्वयं कुमार्य पर चलूँगा और न दूसरे को प्रेरित करूँगा साथ ही अब तक की अपनी सारी कमाई दखि-नारायण की सेवा में अर्पित करूँगा तथा जिनसे मैंने अनुचित धन प्राप्त किया है उन्हें चौगुना वापस करने का वचन देता हूँ” ऐसा कह ईसा के चरणों में मस्तक झुकाया और उठकर चलता बना।

पेड़ों की आड़ में खड़े शिष्य यह सब क्रिया-कलाप देख रहे थे। उन्हें जेक्स का व्यवहार देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। वे आड़ से निकल ईसा के सामने आए और भौंकके स्वर में बोले “प्रभु ! आपने तो उपदेश भी नहीं दिया फिर यह चमत्कार कैसे घटित हुआ ? इतने खतरनाक आदमी को आपने कैसे वश में कर लिया ?”

“प्रभावी व्यक्तित्व होता है उपदेश नहीं— मेरे बच्चे ! ईसा का स्वर उभरा। बुराइयाँ छोड़ने का संकल्प दिलाने का यथार्थ अधिकार उन्हीं को है जो मन, वाणी, अन्तःकरण से पूर्णतया मुक्त हो चुके हैं। तुम में अवश्य ही बुराइयाँ शेष होंगी तभी जेक्स ने संकल्प नहीं ग्रहण किया। वस्तुतः कोई व्यक्ति बुरा नहीं होता और न खतरनाक। उससे कुछ भूलें होती हैं जिनका परिमार्जन निश्चित रूप से सम्भव है।”

आत्मविश्वास

ईसा मसीह की असाधारण सफलता एवं उनके अभिनव उत्कर्ष में उनके व्यक्तित्व में निहित गुण ही मुख्य थे। उनका सबसे पहला गुण था उनका आत्मविश्वास। ईसा में असीम विश्वास था वे कोई भी कार्य करते समय उसकी सम्पन्नता के प्रति पूर्ण आश्वस्त रहते थे तथा पूरे विश्वास के साथ उसे पूर्ण करते थे। दूसरा विलक्षण गुण उनमें था व्यक्तित्व को परखने की शक्ति। अपने प्रथम सम्पर्क में ही वे मनुष्य में अन्तर्हित योग्यता एवं शक्ति का आभास कर लेते थे तथा तदनुसार अपने अनुकूल योग्यता वाले व्यक्तियों को वे अपने पास रखते थे। उन्होंने अपने १२ प्रमुख शिष्य चुने थे। ये बारह

व्यक्ति, बाह्य रूप से कोई अच्छी पृष्ठभूमि के नहीं थे वह इनके चयन के समय इनके साथी आशान्वित नहीं थे, परन्तु बाद में इन बारह शिष्यों की कर्मठता को देख सब लोग आश्चर्यचकित हो ईसा मसीह की परख की प्रशंसा करने लगे थे। इन बारह व्यक्तियों में से कोई मछुआ था तो कोई साधारण दुकानदार। वे सभी साधारण-से व्यक्ति थे। उनमें न कोई विशेष योग्यता ही थी न कोई मान्य उपलब्धि ही उनके पास थी तथापि वे आगे चलकर ईसा की सेवा में आकर स्वर्णवत् बन गये। इन व्यक्तियों के व्यक्तित्वों को विकसित करने के लिए ईसा मसीह ने सर्वप्रथम इन्हें ‘शिक्षण’ देना प्रारम्भ किया। अनवरत तीन वर्षों तक अपनी पूरी क्षमता एवं योग्यता की शक्ति लगाकर ईसा मसीह ने इन बारह व्यक्तियों का शिक्षण कर इनमें अभिनव संस्कार डाले।

तीन वर्ष के प्रयासों के बाद भी शिष्यगण ईसा मसीह को पूर्णतः समझ नहीं पाये थे। ये शिष्यगण सदैव ही यह पूछते रहते थे कि इतना सब कर ईसा कौन-सा राज्य स्थापित करने जा रहे हैं व उस राज्य में उन्हें (शिष्यों को) क्या-क्या पद मिलने वाले हैं। अपने शिष्यों के इस प्रकार के उपहासास्पद के नैराश्यपूर्ण व्यवहार से भी ईसा ने धैर्य नहीं खोया वे निरन्तर अपने लक्ष्य की पूर्ति में लगे ही रहे व फिर विश्व ने देखा कि अन्ततः ईसा के विश्वास, धैर्य व साहस को सफलता मिली।

जैसा बनना चाहते हो वैसा करो

ईसा ने कहा— तुम बड़े बनना चाहते हो तो उन गुणों को पूजो जिनके कारण मुझे बड़ा मानते हो। जिसे बड़प्पन प्यारा हो वह सबका सेवक बने और सबसे छोटा माने। सुख चाहते हो दूसरों को सुख दो और बन्धन से छूटना चाहते हो तो उन्हें छुड़ाने का प्रयत्न करो जो तुमसे भी अधिक बड़े बन्धनों में जकड़े हुए दुःख सह रहे हैं।

वैराग्य का उपदेश

महात्मा ईसा कहीं जा रहे थे कि मार्ग में उन्होंने अपने मैथ्यू नामक शिष्य को देखा। उसके पिता की मृत्यु हो गई थी और वह उसे रो-रोकर दफन कर रहा था।

मैथ्यू ने जैसे ही ईसा को देखा, वैसे ही दौड़ कर उनके पास आया और आस्तीन चूमकर तुरन्त ही अपने पिता के शव की ओर लौट पड़ा।

ईसा ने समझा कि इसकी मृत्यु नहीं मरी। अतः उन्होंने मैथ्यू को पुकार कर अपने पास बुलाया और उसे आज्ञा दी— “जिसकी मृत्यु हो गई वह भूत का साथी हुआ, तू उसकी लाश से मोह कर, वर्तमान से दूर क्यों होना चाहता है ?”

जब तक मैथ्यू कुछ समझे तब तक ईसा फिर बोल पड़े— ‘समय बड़ा बलवान है, इसने अनेक लाशों को यत्नपूर्वक दफनाया है। उसके लिए तेरे पिता की लाश का दफनाना कुछ कठिन कार्य नहीं है।’

मैथ्यू इस असमंजस में था कि वह इस समय क्या करे ? तभी उसने ईसा की स्पष्ट आज्ञा सुनी— ‘भूत को भूत देखता रहेगा, तू यहाँ से मेरे साथ आ।’

शिष्य को गुरु की आज्ञा माननी पड़ी और वह लाश को वहीं पड़ी छोड़कर उनके साथ चल दिया। संयोग की बांठ है कि जब यह दोनों आगे बढ़े तो ईसा का एक अन्य शिष्य भी उन्हें अपने पिता की लाश दफनाता हुआ मिला। परन्तु जैसे ही उसने अपने गुरु को देखा वैसे दौड़कर उनके पास पहुँचा और उनके साथ चल दिया। ईसा ने उसे देखा तो बोले—अरे, तू क्यों चला आ रहा है ?

शिष्य ने साथ चलने का हठ किया तो ईसा बोले—‘ऐसी कोई जल्दी नहीं है। मैं आगे के गाँव में ठहरूँगा। तुम लाश को दफना कर वहीं चले आना।’

वह शिष्य तो चला गया, परन्तु एक-समान घटनाओं पर दो प्रकार की व्यवस्था सुनकर मैथ्यू को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने अपने गुरु से पूछा—‘इसका क्या कारण है गुरुदेव ! आपने मुझे तो अपने पिता की लाश को दफनाने भी नहीं दिया और उसे अपने पिता को दफन करने की आपने स्वयं आज्ञा दी। एक प्रकार की घटनाओं पर ही दो प्रकार की आज्ञा क्यों ?’

ईसा ने उसे समझाया—“मैथ्यू ! मैं जो कुछ कहता हूँ वही मेरे अन्तर की आवाज है और वह आवाज एक निश्चित मत बना कर निकलती है। जीवन की धारा को एक घाट पर बाँधा जाना कभी सम्भव नहीं है। धर्म यह कहता है कि एक विचार पर दूसरे विचार को मत टिकने दो। परन्तु ऐसा करना लोहे के बंधन को टूट करने के समान है और मनुष्य का यथार्थ बन्धन लौह-शृंखला नहीं, कच्चा सूत है।”

अतः जो राग में फँसा है उसे वैराग्य का उपदेश दो, परन्तु जो राग-मुक्त है, उसे वैराग्य का उपदेश देने से कोई लाभ नहीं।

चिकित्सक का संतोष

ईसा का अधिकांश समय पापी और दुखियों के साथ बीतता। वे उन्हीं के साथ अधिकांश समय चर्चा करते और सेवा-सहायता में निरत रहते। एक दिन धनवानों और विद्वानों की शिष्य मण्डली उनके पास आई और कहने लगी कि आप हम वरिष्ठों की ओर अधिक ध्यान क्यों नहीं देते। हमारी सहायता से आपको प्रयोजन अधिक सधेगा।

ईसा मुस्कराये और बोले रोगी को चिकित्सक की आवश्यकता पड़ती है। सच्चा चिकित्सक वही है जो गोली का अवसर ढूँढ़ने की अपेक्षा रोगियों की व्याथा समझे और उन्हीं की सहायता करते हुए संतोष लाभ करे।

दुर्गुणों से आत्मा का हनन

जुदास यों जीसस का शिष्य भले ही था, किन्तु यहूदियों की तरह उसके भी मन में जीसस पर कोई भरोसा, कोई ब्रह्म-विश्वास न था। कहते हैं उसने तीस रुपये के लोभ में आकर भेद खोल दिया और जीसस पकड़ में आ गये। जिस दिन जीसस को सूली पर चढ़ाया जा रहा था, उस दिन जुदास भी उन लाखों की भीड़ में मौजूद था। अन्तिम समय जो शब्द जीसस के मुँह से निकले कि “परमात्मा इन बेचारे अज्ञानियों को क्षमा करना। इन्हें पता नहीं कि ये क्या कर रहे

हैं।” इन शब्दों को सुनकर जुदास की आत्मा काँप गई। उसे ऐसा लगा जैसे उसने कौड़ियों के मोल हीरा गँवा दिया। घटना की वास्तविकता का ज्ञान तब हुआ जब दूसरे दिन जुदास ने आत्महत्या कर ली। उसे क्या पता था कि तीस रुपये में वह जगत् की अमूल्य निधि बेच रहा है। इसी प्रकार जब मनुष्य बेईमानी, चोरी जैसे कुकृत्य करता है, तो यह भूल जाता है कि वह अपने अन्दर बैठी पवित्र आत्मा को बेच रहा है।

पीड़ितों-पतितों की सेवा

ईसा मसीह केपर नाम के नगर में पहुँचे। वे दुष्ट-दुश्चारियों के मुहल्ले में ठहरे और वहीं रहना भी शुरू कर दिया।

नगर के प्रतिष्ठित लोग ईसा के दर्शन करने पहुँचे तो उन्होंने आश्चर्य से पूछा—‘इतने बड़े नगर में आपको सज्जनों के साथ रहने की जगह न मिली या आपने उनके बीच रहना पसंद न किया ?’

हँसते हुए ईसा ने कहा—‘वैद्य मरीजों को देखने जाता है या चंगे लोगों को ? ईश्वर का पुत्र पीड़ितों और पतितों की सेवा के लिए आया है। उसका स्थान उन्हीं के बीच तो होगा।’

विश्वास की शक्ति सामर्थ्य

भयंकर तूफान से गेलीलो झील का पानी बाँसों ऊँचा उछलने लगा। जो नावें चल रही थीं वे बुरी तरह थरथराने लगीं। लहरों का पानी भीतर पहुँचने लगा तो यात्रियों के भय का बारापार न रहा।

एक नाव में एक कोने में कोई निर्द्वन्द्व व्यक्ति सोया पड़ा था साथियों ने उसे जगाया। जग कर उसने तूफान को ध्यानपूर्वक देखा और फिर साथियों से पूछा—आखिर इससे डरने की क्या बात है ? तूफान भी आते ही हैं, नावें भी डूबती ही हैं और मनुष्य मरते ही हैं। इसमें क्या ऐसी अनहोनी बात हो गई जो आप लोग इतनी बुरी तरह हड़बड़ा रहे हैं ?

सभी उसका उत्तर सुनकर अवाक रह गए। निर्द्वन्द्व व्यक्ति ने कहा—विश्वास की शक्ति तूफान से बड़ी है। तुम विश्वास क्यों नहीं करते कि यह तूफान क्षण भर बाद बन्द हो जायेगा।

भयभीत यात्रियों के उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना उस अलमस्त ने आँखें बन्द कीं और अपने भीतर की झील में उतर कहा—पूरी शक्ति के साथ कहा—शान्त हो जा, मूर्ख ! तूफान तुरन्त शान्त हो गया।

सहमे हुए नटखट बच्चे की तरह तूफान रुक गया। नाव का हिलना बन्द हुआ कि यात्रियों ने चैन की सांस ली। अब उस अलमस्त यात्री ने—जीसस क्रिस्ट ने साथियों से पूछा—देस्तो, विश्वास बड़ा है। तूफान को तुमने उससे भी बड़ा क्यों मान लिया था ?

समय को समझें और फर्ज निभाएँ

महाप्रभु ने धरती पर कोप बरसाने का निश्चय किया। सात दिन प्रलय मेष बरसाकर सब कुछ को डुबा देने का निर्णय उन्होंने नूह को भी बता दिया।

महाप्रलय के बाद कुछ न बचेगा तो नई सृष्टि कैसे बनेगी ? नूह त्रि उस जिज्ञासा पर महाप्रभु मुस्कुराये, उनकी दूरदर्शिता को देखकर एक नाव बनाने का आदेश दिया । जिस पर वे खुद भी रहें और अपने साथ-साथ पशु-पक्षियों के भी कुछ जोड़े रख लें । जलयान बनाने के लिए एक वर्ष का समय दिया गया । वर्ष पूरा हुआ । महाप्रभु ने नूह को बुलाया और नाव बनने की बात कही । नूह ने सिर नीचा कर लिया । बोले— तीन बड़ई बीमार पड़ गये । लकड़ी बेचने वाला मुकर गया । मैं क्या करता ? चालीस दिन की मुहलत और दी गई । कहा गया कि इस अवधि में काम हो जाना चाहिए । चालीस दिन बीतने पर जब नूह खाली हाथ लौटे, तो महाप्रभु ने गरमाई दिखाई और कारण पूछा । “लुहार यात्रा पर चले गये । मजदूरों ने हड़ताल कर दी । दोनों लड़के गाने-बजाने में लगे रहे । किसी ने साथ न दिया मैं क्या करता ?” नूह ने विवशता व्यक्त करते हुए कहा । सात दिन का अवसर और दिया गया । पशु-पक्षियों के जोड़े बटोर लेने की आज्ञा हुई । अन्तिम दिन आया तो भी वह अकेले खाली हाथ खड़े थे । बिना पूछे ही बोले— पशु-पक्षी भाग खड़े हुए । पुचकारने से भी नहीं लौटे, न वे बिकते हैं और न मेरी पकड़ में आते हैं । महाप्रभु अब की बार अधिक क्रुद्ध थे । बोले— ऐसी ही गैर-जिम्मेदारियाँ देखकर तो मैं आजिज आ गया हूँ और महाप्रलय बरसा रहा हूँ ? यदि धरती वाले समय और फर्ज को समझते तो मुझे उसे डुबाने की जल्दी क्यों पड़ती ?

आत्मज्ञान

ईसा जब बारह वर्ष के थे, माता मरियम के साथ फरूह का त्यौहार मनाने येरुशलेम जा रहे थे । रास्ते में एक मन्दिर में उपदेश होते उन्होंने सुना और वहीं रुक गये ।

मरियम का अनुमान था लड़का भीड़ में बिछुड़ गया होगा और अगले पड़ाव पर मिल जायेगा । बहुत प्रतीक्षा के बाद भी जब अगले पड़ाव पर वे न मिले तो मरियम वापस लौटीं और उस पड़ाव को खोजा जहाँ से लड़का बिछुड़ा था ।

देखा तो ईसा धर्मोपदेशकों से विवाद कर रहे थे और कह रहे थे जो तुम कहते हो— क्या उसके अतिरिक्त और कुछ सच नहीं हो सकता है ? क्या सत्य किसी वर्ग विशेष की मान्यताओं तक ही सीमित है ? पंडित उसके विलक्षण तर्कों के आगे सकपका रहे थे ।

मरियम ने लड़के को पकड़ा और उठ चलने के लिए कहा ।

ईसा ने कहा— जननी मैं तो अपने पिता का काम कर रहा हूँ, तुम मुझे कहाँ बसीटे लिये जा रही हो । फरूह का त्यौहार येरुशलेम में मनाया जाय इससे तो यही अच्छा है कि पिता के प्रकाश को अँधेरे में बन्दी रहने से छुड़ाया जाय ।

मरियम ने पूछा— भला तैरा पिता कौन है ? तू तो कुमारी के पेट से जन्मा है ।

ईसा बोले, जो शरीर को जन्म देते हैं वे पिता नहीं हैं । असली पिता है जो आत्मा में प्रकाश बनकर रहता है । त्यौहार मनाने के उत्सव

की तुलना में क्या यह उचित नहीं कि कुहरे की हटाने वाली रोशनी पैदा की जाय । मरियम क्या कहती वह भी लड़के के पीछे चुपचाप बैठ गई और बालक के अद्भुत तर्कों को ध्यानपूर्वक सुनने लगी ।

आत्मपरिष्कार

जब ईसा येरुशलेम से वापस लौटे तो उनके शिष्यों ने आवभगत की और अपनी-अपनी मनोभावनाएँ उनके सामने रखीं ।

शिष्यों में से दो प्रमुख थे— जेम्स और योहन्ना । उन्होंने कहा— प्रभु यदि हमें प्यार करते हैं तो हमारा पद अपने समान ही ऊँचा कर दीजिए ।

ईसा गम्भीर हो गये और कहा— बच्चो, हर कोई स्वर्ग के राज्य में अपने ही प्रयत्नों से प्रवेश करता है । दूसरा कोई दूसरे के लिए कुछ नहीं कर सकता, ऊँचा बनने के लिए मत ललचाओ, छोटे बनकर रहो, विनीत बनो और प्रेम भरी सेवा को अपनी धर्म-साधना बनाओ । जो नीचा-छोटा बनता है वही तो ऊँचा पद पाता है ।

इन्हें पता नहीं कि यह क्या कर रहे हैं ?

जब नगर-नायक विक्षिप्त जनता की भीड़ लेकर ईसा को उनके निवास-स्थान पर गिरफ्तार करने लगे तो उनके शिष्य शमौन पतरस से न देखा गया, वह तलवार निकाल कर गिरफ्तार करने वालों की ओर झपटा ।

महात्मा ईसा ने उसे रोकते हुए कहा— शमौन ! तलवार म्यान में करो । इन पर क्रोध मत करो । यह बेचारे नहीं जानते कि यह क्या कर रहे हैं । किन्तु तुम्हें तो जानना चाहिए कि तुमको क्या करना चाहिए और क्या कर रहे हो । यदि इनको अपने कृत्य का ज्ञान रहा होता तो ये ऐसा कदापि नहीं करते । अज्ञानी व्यक्ति क्रोध के नहीं, दया के पात्र हैं ।

वातावरण शांत रखो और जो मृत्यु का प्याला परमपिता ने मेरे लिये पीने को भेजा है, उसे मुझे खुशी से पीने दो । मेरे कर्तव्य में हिंसा की दुर्गन्ध न भरो । इन्हें खुद क्षमा करो और परमपिता से भी क्षमा कर देने के लिए प्रार्थना करो ।

सुधार का उपाय—प्रेम का विस्तार

गड़रिये ने भेड़ को बड़े प्यार से कन्धे से उतारा, उसे स्नान कराया, बाल सुखाये और हरी घास खाने को दी । जब भेड़ उस घास को खा रही थी, तब गड़रिये का आह्लाद देखते ही बनता था । महापुरुष ईसा उस गड़रिये की पर्णशाला के समीप ही बैठे विश्राम कर रहे थे । उन्होंने इस प्रसन्नचित्त गड़रिये को देखकर पूछा— वत्स ! आज तुम इतने प्रसन्न क्यों हो रहे हो ?

महात्मन् ! यह भेड़ जंगल में प्रायः हमेशा भटक जाती है । मेरे पास सौ और भी भेड़ें हैं पर वह सब सीधे घर आती हैं, इसे इतना प्यार इसलिये दिया कि यह फिर कहीं न भटके ।

और तब ईसा ने अपने शिष्यों से कहा— जो अपनी राह से भटक गये हैं, उन मनुष्यों को प्यारपूर्वक ही सीधे मार्ग पर लाना चाहिए ।

संस्कारित आत्मभूमि की महत्ता

ईसा मसीह ने उस दिन का प्रवचन यों आरम्भ किया— “एक किसान ने जौ बोये। कुछ दाने पगड़ण्डी पर गिरे और तुरन्त उन्हें चिड़ियाँ चुग गयीं। कुछ गिरे पथरीली भूमि पर, जहाँ मिट्टी की परत बहुत पतली थी। ये बीज अंकुरित तो हुए, पर धूप में जल्दी झुलस भी गये, क्योंकि उनकी जड़ें गहरी न थीं। कुछ दाने कँटीली झाड़ी में गिरे, जहाँ काँटों ने उनके अंकुरों को दबा डाला। कुछ भाग्यवान् बीज अच्छी मिट्टी में गिरे, अंकुरित, पल्लवित, पुष्पित हुए ! समझे ?” फिर उन्होंने रूपक का यों खुलासा किया कि धर्म-वचनों की गति भी जौ के इन दानों जैसी होती है और केवल संस्कारवान् आत्मभूमि में पड़ा धर्म-वचन फल देता है।

सिद्धान्तों को महत्त्व दें

ईसा ने जिस समय खुलकर अपने विचारों एवं सिद्धान्तों का प्रचार करना शुरू किया, उनके बहुत-से शत्रु हो गये। उनके एक शिष्य ने उनकी रक्षा के लिये साथ रहने का अनुरोध करते हुये कहा— “प्रभु ! तू संसार का कल्याण कर रहा है और ये देशवासी तुझे कष्ट देना ही अपना कर्तव्य समझ रहे हैं। तुझे मार डालना चाहते हैं। अब मैं तेरी रक्षा के लिये तेरे साथ रहूँगा।”

महात्मा ईसा अपने शरीर की रक्षा के लिये किसी को कष्ट न देना चाहते थे। उन्होंने शिष्य का दिल न तोड़ते हुये निषेध किया—

“वत्स ! देख जंगली जानवरों तथा पक्षियों तक के माद और बसरे हुआ करते हैं। किन्तु मुझ मनुष्य के पुत्र को मनुष्यों के संसार में कहीं सिर छिपाने तक को जगह नहीं है। तू मेरे साथ कहाँ-कहाँ भटकता रहेगा। मेरी शरीर रक्षा की अपेक्षा तू मेरे सिद्धान्त एवं विचारों को अधिक महत्त्व दे।”

विवेक दृष्टि

ईसा एक गाँव से होकर गुजर रहे थे। उन्होंने एक आदमी को वेश्या के पीछे भागते हुए देखा, तो रुक गए और उसे अनुचित से रुकने की बात समझाने लगे।

गौर से चेहरा देखा तो वह पूर्ण परिचित-सा लगा। स्मरण करने पर पुरानी घटना याद आई। उन्होंने फिर कहा— अरे तू तो वह व्यक्ति है जिसने दो वर्ष पूर्व अंधेपन से छुटकारा पाने की याचना की थी और मैंने प्रभु से प्रार्थना करके ज्योति दिलाई थी।

उस व्यक्ति ने ईसा को पहचान लिया और बोला— “आप जो कहते हैं सो ही यथार्थ है।” “मैंने तुझे दृष्टि इसीलिए दिलाई थी कि उसका उपयोग ऐसे धिनौने काम के लिए करे।”

व्यक्ति कुछ देर चुप बैठा रहा और अपनी भूल पर आँसू बहाता रहा, पर आगे पैर बढ़ाते हुए, महाप्रभु के चरण चूम उसने दबी जबान से इतना और कहा— “आप में नेत्र दृष्टि दिलाने की सामर्थ्य थी, यदि विवेक दृष्टि पहले दिलाई होती तो कितना अच्छा होता ?”

ईसा ने आज नया पाठ पढ़ा वे लोगों की सुविधा दिलवाने की अपेक्षा उनकी समझ सुधारने की बात को प्राथमिकता देने लगे।

दुनिया का दुर्भाग्य भी सौभाग्य बन जाता है

मृत्यु का संकट संपन्न होते देखकर परेशान होने वाले शिष्यों से महात्मा ईसा ने कहा—

“तुम लोग परेशान क्यों हो रहे हो ? आज जब तुम मुझ पर मृत्यु की घटा देखकर इतना परेशान हो रहे हो तो यदि सत्य की प्रतिष्ठा में तुम्हारे प्राणों पर संकट आ पड़ा तो उसे किस प्रकार सहन करोगे ?”

वह समय आता है जब लोग धर्म के नाम पर देवदूतों को मार डालते हैं और समझते हैं कि उन्होंने पुण्य किया, परमात्मा की सेवा की। किन्तु दुनिया का यह दुर्भाग्य अन्त में सौभाग्य बन जाता है। क्योंकि वे पिता के संदेशवाहक देवदूत को मार कर ही उसका और उसके वचनों का महत्त्व समझ पाते हैं।”

मेरा भाई-बन्धु और कोई नहीं

एक बार महात्मा ईसा बहुत-से जिज्ञासुओं से घिरे हुये उन्हें उपदेश कर रहे थे। तभी किसी ने आकर उनसे कहा कि— “तुम्हारे भाई और माता वहाँ बाहर खड़े तुम से बात करना चाहते हैं। तुम जाकर उनसे मिल लो।”

महात्मा ईसा बड़े साधारण भाव से यह उत्तर देकर अपने उपदेश कार्य में लग गये—

“संसार में मेरा भाई और मेरी माता अन्य कोई नहीं, यही जिज्ञासु जनता ही मेरे भाई और मेरी माता हैं क्योंकि जो मेरे स्वर्गीय पिता के आदेश पर चलें वही मेरे भाई-बहिन व माता-पिता हैं। मैं परमात्मा के आदेशों का पालन करने वाले को ही बन्धु-बान्धव मानता हूँ।”

पापियों का हित

महात्मा ईसा अपनी दयालुता के कारण सदा दुःखी और पापी कहे जाने वाले अपराधियों से हर समय घिरे रहते थे। यहाँ तक कि जब वे भोजन किया करते थे, तब भी बहुत-से पतित लोग उन्हें घेरे रहते थे।

एक बार वे बहुत-से नीच जाति पापी और पतितों के साथ बैठे भोजन कर रहे थे। यह देखकर उनके एक विरोधी ने उनके शिष्य से कहा— “तेरे गुरु ! जिसे तुम लोग भगवान् का बेटा और पवित्र आत्मा बतलाते हो, इस प्रकार नीचों और पतितों से प्रेम करता है, उनके साथ बैठा भोजन कर रहा है फिर भला तुम लोग किस प्रकार आशा कर सकते हो कि हम लोग उसका आदर और उसकी बात मानें ?”

महात्मा ईसा ने विरोधी की बात सुनली और विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया— “भाई वैद्य की आवश्यकता रोगियों को होती है, निरोगों को नहीं। धर्म की आवश्यकता पापियों को होती है, उनको नहीं जो पहले से ही अपने को धार्मिक समझते हैं। मैं धर्मात्माओं का नहीं पापियों का हित करना चाहता हूँ। उन्हें मेरी बहुत जरूरत है।”

आत्मभाव

मैं भूखा था, तुमने खाना दिया। मैं प्यासा था, तुमने पानी दिया। मैं निरन्त्रित था, तुमने स्थान दिया। मैं गंगा था, तुमने कपड़े पहनाये। मैं बीमार था, तुमने सेवा की। मैं संकटों में जकड़ा पड़ा था तुमने मुझे सहायता पहुँचाई— 'चलो मेरे स्वर्ग में'।

धर्मात्माओं ने पूछा— हमने कब आपको भोजन, पानी, आश्रय, वस्त्र आदि दिये और कब सेवा-सहायता की ?

ईशु ने उत्तर दिया— मैं तुमसे सच कहता हूँ— जो कुछ दीन-दुःखियों के लिये किया गया है वह मेरे ही लिये है।

जिन्होंने देना सीखा है

ईसा अपने शिष्यों के साथ धर्म-प्रचार के लिए जा रहे थे। रास्ते में रेगिस्तान पड़ा। दूर तक कोई गाँव दिखाई न देता था। भोजन की समस्या उत्पन्न हुई तो ईसा ने कहा— "जो कुछ तुम्हारे पास है उसे इकट्ठा कर लो और मिल-बाँट कर खाओ।"

शिष्यों के पास कुल मिलाकर पाँच रोटी और दो टुकड़े तरकारी निकली। गुरु ने उसे इकट्ठा किया और मन्त्र बल से अन्नपूर्ण बना दिया। शिष्यों ने भरपेट खाया और जो भूखे भिखारी उधर से निकले वे भी उसी से तृप्त हो गये। सोलोमन नामक शिष्य ने पूछा— गुरुवर, इतनी कम सामग्री में इतने लोगों की तृप्ति का रहस्य क्या है ?

ईसा ने कहा— हे शिष्यो ! धर्मात्मा वह है जो खुद की नहीं सबकी बात सोचता है। अपनी बचत सबके काम आये इस विचार से ही तुम्हारी पाँच रोटी अक्षय अन्नपूर्ण बन गई। जो जोड़ते हैं वे ही भूखे रहेंगे। जिन्होंने देना सीखा है उनके लिए तृप्ति के साधन आप ही आ जुटते हैं।

असली पड़ोसी कौन ?

"एक आदमी येरूशलेम से यरीहो को जा रहा था, डाकुओं ने उसे घेर कर उसके कपड़े उतार लिये। उसे मार-पीटकर वे अधमरा करके छोड़ गये।"

एक पादरी वहाँ से निकला। वह उसे देखकर कतराकर चला गया।

एक लेवी भी उधर से निकला। वह भी उसे देखकर कतराकर चला गया।

तब आया एक सामरी। उसने उस घायल को देखा, तो उसे उस पर तरस आया। उसने उसके घावों पर तेल लगाया। दाख का रस डालकर पट्टी बाँधी। उसे अपनी सवारी पर चढ़ाकर सराय में ले गया और उसने उसकी सेवा-टहल की।

दूसरे दिन उसने दो चाँदी के सिक्के निकालकर भटियारे को दिये और कहा— 'इसकी ठीक ढंग से सेवा-टहल करना। जो कुछ तेरा और लगेगा, वह मैं लौटने पर तुझे भर दूँगा।'

"बता, इन तीनों में से उस घायल का पड़ोसी कौन ठहरा ?" ईसा ने पूछा।

वह बोला— "वही, जिसने उस पर दया दिखायी।"

ईसा ने कहा— "जा, तू भी ऐसा ही कर।"

शास्त्रार्थ ही नहीं सेवा भी

एक बार महात्मा ईसा अपने विचार प्रकट करने और प्रश्नों का उत्तर देने के लिये एक सभा में बुलाये गये। सभा में पहुँचते ही उन्होंने देखा कि वहाँ उपस्थित एक व्यक्ति हाथ की पीड़ा से बहुत कष्ट पाता हुआ कराह रहा है। महात्मा ईसा तुरन्त उसका उपचार करने में लग गये। उनका यह कृत्य देख विरोधियों ने समझा कि वे सभा की कार्यवाही से कतरा रहे हैं। निदान एक ने व्यंग्य करते हुए कहा— "ईसा, तू तो शास्त्रार्थ करने आया है फिर उस मुख्य कार्य को छोड़कर हकीमी कैसे करने लगा है ?"

महात्मा ईसा ने बड़े शान्त भाव से उत्तर दिया— क्या तुममें से कोई ऐसा है, जिसके एक ही भेड़ हो और वह कुएँ में गिर जाय तो वह सारा काम छोड़कर उसे निकालने में न जाये ? मेरा मुख्य काम तो पीड़ितों की सेवा करना है, लोगों का दुःख-दर्द दूर करने का है। शास्त्रार्थ तथा व्याख्यान तो जीवन के साधारण कार्यक्रम हैं।

स्वर्ग का अधिकारी कौन ?

"महात्मन ! स्वर्ग का अधिकार किसे मिलता है ?" एक ग्रामीण ने महाप्रभु ईसा से प्रश्न किया। पास ही एक बालक खेल रहा था, ईसा मसीह ने उसे उठाकर संकेत किया— इसे।

"आपका आशय नहीं समझा महात्मन्—" ग्रामीण ने फिर कहा। ईसा हँसे और बोले— "जो बच्चे की तरह भोला और निरहंकार है, वही स्वर्ग का अधिकारी है।"

जैन तीर्थंकर—भगवान् महावीर

जैन-धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर का पहला नाम 'वर्धमान' था। इनके पिता 'लिच्छविराज सिद्धार्थ' और माता का नाम 'त्रिशला' था। इनका जन्म-स्थान वैशाली का कुण्डग्राम और जन्म तिथि चैत्र सुदी त्रयोदशी थी।

जिन महापुरुषों की जन्म तिथि संसार के लिए पर्व और जिनका जन्म स्थान तीर्थ के समान पवित्र माना जाता है निःस्सन्देह उनके निर्विकार आचरण में कुछ महान् गुण होते भी हैं। उन गुणों में लोक-मंगल का गुण सबसे अधिक महान् होता है। यों तो संसार में योगी और महात्माओं की कभी कमी नहीं रही, किन्तु संसार उन सभी को कभी याद नहीं करता। संसार उन्हीं को याद किया करता और नाम लिया करता है, जो उसके हित के लिए कुछ कर जाते हैं।

श्री महावीर महात्मा थे, परमार्थी थे और 'जिन' थे किन्तु उनका यह सब कुछ था, संसार के कल्याण के लिए ही। यदि वे चाहते तो अन्य योगियों की तरह किसी गुफा-कन्दरा में चले जाते और आत्मलाभ प्राप्त करके ऋद्धि-सिद्धि अथवा निर्वाण प्राप्त कर सकते

थे। किन्तु वे हजार कष्ट सहकर भी संसार में ही रहे और उसी के लिए ही कल्याण कार्य करते रहे।

जन-कल्याण की भावना से जन्मी हुई महावीर की सेवा-भावना दिन-दिन बढ़ती गई और वे अपनी संकुचित सीमा से निकल कर संसार की विस्तृत परिधि में प्रवेश करने लगे। ज्यों-ज्यों उनका यह विकास बढ़ता गया, वे व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं से विरक्त ही नहीं, प्राणी मात्र के लिये व्याकुल होते गये और आखिर शीघ्र ही वह घड़ी आ गई, जब उनकी सकल आत्मा ने लोकमंगल के लिये संन्यास लेने की ठान ली।

महाराज सिद्धार्थ को मंत्रियों ने न केवल सूचना ही दी, बल्कि परामर्श भी दिया गया कि वे कुमार वर्धमान को साधु होने से रोके। माता-पिता ने राजकुमार को डाँट-फटकार से बदलता न देखा तो उन्होंने उसकी विरक्ति भावना नष्ट कर देने के लिए विवाह कर दिया।

अब, पुत्र कर्तव्य के वशीभूत, माता-पिता की आज्ञा पालन-स्वरूप जब उन्होंने विवाह करके एक उत्तरदायित्व ले ही लिया, तब उसे खींचतान के साथ निभाना कहाँ की बुद्धिमानी होती? अपनी इच्छा से विरुद्ध विवाह को यदि वे एक बोझ की तरह ढोते तो यह उस पत्नी के प्रति घोर अत्याचार होता जो विभोरता के साथ पति को सुखी करके स्वयं सुखी होने आई थी।

राजकुमार वर्धमान ने अपने दाम्पत्य जीवन को एक आदर्श जीवन की तरह चलाया। राजन्य होने के बावजूद भी वे एक साधारण व्यक्ति की तरह गृहस्थी के छोटे-बड़े कामों में रुचि लेते, सेवकों के होते हुए भी सारे काम अपने हाथ से करते। पत्नी को आत्मा की गहराई से इस सीमा तक प्यार किया कि उसका मानवीय अनुराग ब्रह्मा में बदल गया और उसका ममत्वपूर्ण सारा मोह वर्धमान की महानता में डूब गया।

उनकी पत्नी राजकुमारी यशोदा ने स्पष्ट अनुभव कर लिया, उसका पति परमात्मा का पूर्ण प्रतिबिम्ब है। वे केवल उसकी ही सम्पत्ति नहीं, बल्कि सारे संसार की विभूति हैं, जिसका कि लाभ दुनिया की दुःखी मानवता को मिलना ही चाहिए। कुछ ही समय में एक पुत्री रत्न के रूप में पति का प्रसाद पाकर यशोदा सन्तुष्ट हो गई और उसने पति की इच्छानुसार उन्हें संसार को सौंप देने की तैयारी कर ली।

इसमें सन्देह नहीं कि किसी कच्ची लगन वाले के लिये वैराग्य-मार्ग में 'विवाह' एक विशेष बन्धन है किन्तु जो अन्तरात्मा से मोह विरक्ति हो चुका हो, उसे संसार का कौन-सा प्रलोभन ध्येय मार्ग से विचलित कर सकता है? वर्धमान ने गृहस्थी को अनासक्ति भाव से भोगा और पत्नी को इतना अधिक प्रेम किया कि कोई दूसरा सारे जीवन में भी नहीं कर पाता। वर्धमान ने अपने सरल स्वभाव तथा सादा जीवन से जन-साधारण के सम्मुख सामान्य जीवन का एक आदर्श उपस्थित कर दिया।

अपने बुद्धिमत्तापूर्ण व्यवहार से वर्धमान ने पत्नी को भी परोपकार के लिए हर त्याग करने के लिए तैयार कर लिया था, किन्तु माता-पिता का मोह कम कर सकने का कोई उपाय नहीं था। पत्नी पर

तो उनका अधिकार था और उसका कर्तव्य था कि वह पति की महान भावनाओं के अनुरूप अपने को ढाले और उसने वैसा ही किया भी, किन्तु माता-पिता तो उस परिधि में आते न थे। माता-पिता का अधिकार स्वयं वर्धमान पर था। वह नहीं चाहते थे कि उनका शोक-समाहित कर संन्यास ले लिया जाये। क्लृप्त हृदय होने के कारण वे माता-पिता के महत्त्व का मूल्य समझते थे।

समय आया और जो माता-पिता अपने को छोड़कर वर्धमान को परमार्थ पथ पर नहीं जाने देना चाहते थे, वही एक दिन स्वयं उसे छोड़कर चले गये। माता-पिता के दिवंगत होने के समय वर्धमान की आयु अठारह वर्ष की थी, किन्तु फिर भी वे संन्यास लेकर घर से चल देने को तैयार हो गए। माता-पिता की आकस्मिक मृत्यु ने उनमें यह विचार प्रबल कर दिया कि किसी भी शुभ कार्य में देर न करनी चाहिए, क्योंकि इस क्षण-भंगुर शरीर का कोई ठीक नहीं कि किस प्रकार किस समय छोड़ा दे जाये?

वर्धमान को घर से जाते देखकर उनके बड़े भाई नन्दिवर्धन ने उन्हें रोककर कहा—“वर्धमान अभी तो माता-पिता के बिछुड़ने की घड़ी पुरानी भी नहीं पड़ी, उसका भाव बिल्कुल ताजा है और अब तुम भी मुझे छोड़कर जा रहे हो—क्या मेरा दुर्भाग्य इतना क्रूर और कठोर है? परिवार को अपने विछोह का आघात सहन कर लेने के योग्य हो लेने दो, तब जाना और इसके लिये मैं तुमसे दो साल की अवधि माँगता हूँ।”

वर्धमान के बढ़ते हुये कदम रुक गये। माता-पिता की भाँति ही आदरणीय अपने भाई का हृदय तोड़ना भी उन्होंने उचित न समझा। वर्धमान ने इस दो वर्ष की अवधि को भी अपने आगामी जीवन के अभ्यास में ही लगाया। वे घर पर रुक तो अवश्य गये, किन्तु पूर्ण साधु की भाँति ही।

इधर नन्दिवर्धन ने उनके भाग की जो लाखों रुपये की सम्पत्ति दी थी, वह भी उन्होंने स्नेहियों, सेवकों तथा दीन-दुःखियों को बाँट दी। नन्दिवर्धन की जरा-भी इच्छा नहीं थी कि वह संन्यास लेते हुए अपने छोटे भाई का दाय भाग दबा लें। वास्तव में वे कितने अभाग्य होते होंगे, जो अवसर का लाभ उठाकर अपने भाइयों का अधिकार छीन लेते होंगे। यदि नन्दिवर्धन उनका भाग न भी देते तो भी उन्हें कोई शिकायत न होती। जो सारा घर-बार छोड़कर संन्यास ले रहा हो उसको सम्पत्ति से क्या काम? फिर भी नन्दिवर्धन ने आग्रहपूर्वक उनका भाग उन्हें दे ही दिया और उसका वितरण होता देखकर उन्हें हर्ष एवं सन्तोष ही हुआ।

दो वर्ष बीते और वर्धमान ने 'महावीर' होकर अपना रास्ता लिया, उन्होंने अपने केश तथा श्मश्रु अपने हाथ से उखाड़ फेंके। एक कोपीन के अतिरिक्त सारे वस्त्र त्याग दिये। कुछ समय धूमने के बाद वर्धमान ने निश्चय किया कि अब वे किसी उपयुक्त स्थान पर जाकर समाधि का अभ्यास करेंगे, मौन धारण करेंगे और भिक्षा का अन्न हाथ पर रखकर ही खायेंगे। निदान वे इसी उद्देश्य से आस्थिक

नाम ग्राम में पहुँचे। किन्तु वहाँ पर उन्होंने देखा कि वहाँ जनता अन्ध-विश्वासों में फँसी हुई, भूतों-प्रेतों और देव-दानवों में बहुत विश्वास करती है और धूर्त लोग इस आधार पर उसे मूर्ख बनाकर खूब ठगते हैं।

आस्थिक की जनता की दुर्दशा और धूर्तों की दुर्भिसन्धियों को देखकर उनकी आत्मा तड़प उठी। वे समाधि लगाना और मौन धारण करना तो भूल गये और जनता का अन्धविश्वास दूर करने लगे तथा धूर्तों से उनकी रक्षा करनी प्रारम्भ कर दी। इस काम के लिए वे वहाँ पर चार माह तक ठहरे और तब ही वहाँ से चले, जब जनता ने अन्ध-विश्वासों को मूलोच्छेदन कर दिया।

आस्थिक से चलकर महावीर मौरक पहुँचे तो उन्हें पता चला कि वहाँ की जनता बुरी तरह से अनाचार के चक्र में फँसी हुई है। महावीर का समाधि साधना का कार्यक्रम पुनः रुक गया। तन्त्र-मन्त्र का पाखंड दूर करने के लिए वहाँ भी चार माह तक रुकना पड़ा।

अनन्तर वे स्वेटाम्बी और सुरभिपुर होते हुए नालन्दा पहुँचे, जहाँ उनका परिचय मोखिल पुत्र गोसाल से हुआ। गोसाल उस समय के बहुत बड़े विद्वान् एवं धर्म-प्रवर्तकों में से था, किन्तु वर्धमान की त्याग, तपस्या और मानव कल्याण की भावना से वह इतना प्रभावित हुआ कि उन्हें अपना गुरु मान लिया।

महावीर का यह प्रभाव न उनकी किसी बड़ी तपस्या का था और न विद्या-विभूति का, अपितु उनका यह प्रभाव उनकी उस उज्ज्वल आत्मा का था, जो हर समय विश्व-कल्याण की कामना से विह्वल रहती थी। मनुष्य कोई साधना न करे, किसी तप में अपने को न जलावे, तब भी एक अकेली परिव्याप्त विश्व भावना से उसकी वाणी तथा व्यक्तित्व में इतना तेज आ जाता है कि सम्पर्क में आया हुआ कोई भी बड़े से बड़ा व्यक्ति प्रभावित हुए बिना नहीं रहता।

अपने संन्यस्त जीवन में बारह वर्ष तक देश-देश घूमते और कष्ट सहते-सहते वे पूर्ण परमहंस पदवी के योगी हो गये।

वे नंगे घूमते, बच्चे उन पर ईंट चलाते, लोग ताली बजाते और पागल-पागल कहते हुए शोर मचाते, किन्तु वीतराग वर्धमान मौन मानस में डुबकी लगाके, न सुनने के समान सहते और सत्य की खोज में लगे रहते।

अब उन्होंने पानी, साधारण साग-सब्जी तक का त्याग कर दिया था। यदि कभी पानी पीते भी थे तो गर्म पानी का ही प्रयोग किया करते थे। उन्होंने शरीर की सारी यातनायें मिटा डालने के लिए सुख की नींद सोना, जोंडा, गर्मी और बरसात से बचना छोड़ दिया। वे जाड़ों में खुले मैदानों और गर्मियों में लुहारों आदि की दुकानों पर पड़े रहते थे। बारह वर्ष तक निद्रा का त्याग करके वे पूर्ण जिन हो गये और संसार के सारे दुःख-सुखों से परे हो गये।

शरीर साधना में सिद्ध होकर महावीर राजगिरि, मुंगेर, बसाढ़, बनारस, अयोध्या आदि प्रदेशों का भ्रमण करते हुए राढ़ पहुँचे जहाँ उन्हें सबसे अधिक कष्ट उठाने पड़े।

इस प्रकार अपनी अदभुत एवं असहनीय अवस्था में बारह साल तपने के बाद उन्हें वैशाख सुदी दशमी को ऋजु बालिक नदी के तट पर जमिया नामक ग्राम में 'केवल दर्शन' अर्थात् बोध प्राप्त हुआ।

प्रकाश पाते ही उन्होंने सुख के साथ मार्ग की खोज करली और तब उन्होंने अपने मौन व्रत को उपदेशों के रूप में तोड़ दिया। उन्होंने सैकड़ों शास्त्रार्थों तथा असंख्यों सभाओं द्वारा पाखण्डियों तथा वंचकों को परास्त कर जनता को धार्मिक अत्याचारों से मुक्ति कराई। लाखों शिष्य एवं प्रचारक बनाये। उनके शिष्यों में केवल जन-साधारण ही नहीं, बल्कि बड़े-बड़े राजा, राजकुमार तथा राजकुमारियाँ भी थीं। ज्ञान तथा सत्य-पथ की प्यासी जनता की भीड़ उनके पास जाती, उपदेश सुनती तथा दीक्षा ग्रहण करने लगी जिससे सम्पूर्ण देश में उनका यश फैल गया।

अंग, कश्मी, श्रावस्ती तथा राजगृह आदि में राजाओं तथा राजवंशियों को दीक्षा देते और उपदेश करते हुए अपनी जन्मभूमि 'वैशाली' में गये, जहाँ पर उन्होंने अपनी पत्नी, पुत्री तथा दामाद 'जामालि' को भी धर्म-दीक्षा दी। इस प्रकार जब वे देश का धार्मिक कार्याकल्प करके पावापुरी आये, तब कठोर तपस्या तथा व्यस्त कार्यक्रमों में उनका स्वास्थ्य समाप्त हो चुका था। वहाँ उन्होंने निरन्तर उपदेश देते और उपवास करते हुए दीपावली की रात को निर्वाण प्राप्त किया।

भगवान् महावीर ने सत्य के जिस मार्ग का उपदेश दिया था, उसमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य का विशेष स्थान था।

कहना न होगा कि यह भारत के वैदिक धर्म का ही सार था, किन्तु चूँकि महावीर ने इसे एक विशेष रूप से जैन धर्म के अन्तर्गत प्रतिपादित किया, इसलिए यह एक भिन्न धर्म जैसा माना जाने लगा। अन्यथा भारत के सारे बौद्ध, जैन तथा सनातन आदि सारे धर्म वैदिक धर्म की शाखाएँ ही हैं।

भगवान् महावीर—मर्मस्पर्शी कथा प्रसंग

अपरिग्रह का अर्थ

भगवान् महावीर राजगृही में थे। अपरिग्रह पर उनकी व्याख्यान-माला चल रही थी। प्रतिदिन हजारों की संख्या में प्रजा आती और अपनी संग्रह एवं लोभवृत्ति महामात्य के चरणों में छोड़ जाती। सारा देश तब समता के सागर में हिलोरें लेने लगा। धनिक वर्ग निर्धनों के हित के लिये अपना सर्वस्व अर्पण करने लगा। भौतिकवादी दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने के लिये यह आवश्यक था, सो लोगों में आध्यात्मिक वृत्ति विकसित होते ही प्रजा में सुख-शांति, सौम्यता का वर्षण होने लगा।

गाथापति महाशतक उन दिनों राजगृही में सर्वश्रेष्ठ धनिक था। उसके व्यापार में कोटियों स्वर्ण मुद्रायें लगी हुई थीं। महाशतक का जितना धन उसके व्यापार में लगा था, उससे अधिक उसके सुरक्षित कोष में था। उसकी विलासिनी धर्म-पत्नी रेवती इस धन का अधिकांश सुखोपभोग स्वयं करती थी। महाशतक उसे अपना सौभाग्य मानता था, इसलिये वह बहुत दिन हो जाने पर भी तथागत की सेवा में उपस्थित नहीं हुआ।

पर भगवान् तो मानो उसी के उद्धार के लिये ठहरे हुये थे। प्रवचन सुनने वालों की भीड़ बढ़ती ही जा रही थी। राजगृही के सम्पन्न धनपति अपना कोष प्रजा के लिये दान कर चुके हैं, यह चर्चा प्रतिदिन महाशतक तक पहुँचती किन्तु उसके कानों में जूँ तक न रेंगी।

एक दिन महाशतक ने अभूतपूर्व घटना सुनी। एक बालिका भगवान् महावीर के पास पहुँची और उनके चरणों में श्रद्धा सुमन अर्पित करती हुई बोली— “महाभाग ! मेरे जीवन में क्षणों का अक्षय कोष सुरक्षित है, क्या यह परिग्रह नहीं है कि मैं अपनी आयु का उपयोग अपनी ही सुख समृद्धि में करूँ। धन के संग्रह की भाँति अपने ही सुखों में जीवन का उपयोग क्या संग्रह नहीं। यदि हाँ तो आपके चरणों में मेरा जीवन समर्पित है। आज्ञा हो देव ! मैं प्रजा की भलाई का कार्य किस प्रकार करूँ।”

आयुष्मते ! तुम धन्य हो। शीश पर वरद-हस्त फिरते हुए भगवान् महावीर ने कहा— “जिस देश के नर-नारी समाज के प्रति इतना आदर भाव रखते हैं, वहाँ न कोई निर्धन रहेगा, न दीन और दरिद्र। भद्रे ! ऐसे पुण्य तीर्थों की रक्षा के लिए एक ही आवश्यकता शेष रहती है और वह यह कि उसे ज्ञान की धारा और विवेक के प्रकाश से निरन्तर स्नात रखा जाये सो तुम जाओ और सारे देश में मानवीय सदाचरण और ज्ञान की धारा बहाओ।”

इस घटना का समाचार महाशतक के पास पहुँचा तो उसकी आत्मा हाहाकार कर उठी। देश का बच्चा-बच्चा समाज के उत्कर्ष के लिए उत्सर्ग होने को तैयार है और वह अक्षय कोष का स्वामी होकर भी प्रजा के हित के लिये कुछ भी करने को तैयार नहीं। उसके मन में अपने ही लिये तीव्र घृणा उठ खड़ी हुई। उस रात महाशतक अच्छी तरह नींद भी नहीं ले सका।

रेवती से परामर्श किये बिना ही महाशतक दूसरे दिन प्रातःकाल तथागत के चरणों में उपस्थित हो गया। उसने अपना सम्पूर्ण वैभव तीर्थंकर के चरणों में समर्पित कर दिया। भगवान् ने उसके शीश पर आशीर्वाद के हाथ फेरते हुए कहा— “उठो तात् ! जिस देश में तुम्हारे जैसे पुरुषार्थी व्यक्ति इतना त्याग करने को कटिबद्ध हो सकते हैं, उसमें धर्म और संस्कृति अपरजये रहती हैं, उस देश के नागरिकों में परस्पर मनोमालिन्य नहीं रहता। संगठन और परस्पर हित की दृष्टि रखने वाली प्रजा का कोई भी अहित करने में समर्थ नहीं हो सकता। महाशतक को उस दिन जितना सन्तोष और हलकापन अनुभव हुआ, उतना किसी महाभोग से भी नहीं हुआ था।”

रेवती जिस बात के लिए तैयार नहीं थी, वह आखिर हो ही गयी। जैसे ही उसने सुना महाशतक ने सारा कोष प्रजा के लिए दान कर दिया, मार खाई नागिन के समान वह फुफन्कार कर उठी। सारा घर उसने सिर पर उठा लिया। खटपाटी लेकर उस दिन रेवती कोष-भवन जा पहुँची।

महाशतक घर पहुँचा तो दास-दासियों ने सारी बात कह सुनाई। महाशतक को उससे कोई क्षोभ नहीं हुआ। निरन्तर गिरने वाली जल की बूँदें जिस तरह कमल-पत्र का भेदन करने में असमर्थ होती हैं, उसी प्रकार परिग्रह के पाप से मुक्त महाशतक की आत्मा में किसी प्रकार का विकार नहीं उठा। वह सीधे कोषभवन पहुँचा और बहुतेरा समझाया, किन्तु रेवती झी-हठ त्यागने को तैयार न हुई।

उस दिन से महाशतक ने सामान्य प्रजा का-सा आहार, वस्त्र और जीवनोपयोगी वस्तुयें ही लेना प्रारम्भ कर दिया। रेवती के लिए यह और अपमान की-सी बात लगी। सो उसने भी बदला लेने का निश्चय किया।

दूसरे दिन रेवती ने चुपके-से गौशाला के दो शिशु बच्चों का वध कराकर वे पाकशाला भिजवाये और रसोइये को स्वादिष्ट व्यंजन बनाने का आदेश देकर आप साज-मृगार में लग गई। सायंकाल उसने माँसाहार के साथ मदिरा भी पी। फिर वह सीधे महाशतक के आवास कक्ष की ओर चली गई। जो इन दिनों साधना कक्ष में बदल चुका था। इससे पूर्व कि महाशतक कुछ कहे, उसने अपने आपको उसके गोद में समर्पित कर दिया।

वासना और वैराग्य में विजयी हुआ क्रोध। महाशतक को अपनी पत्नी की इस मूर्खता पर बड़ा क्रोध आया। उसने कल्पना भी न की थी कि रेवती अब पुनः मदिरापान कर उसकी आत्मनिर्माण की साधना में विघ्न उपस्थित करेगी। विद्युत की कड़क जिस प्रकार बिना कहे दीवारों से प्रतिध्वनित होकर गूँजती है, महाशतक का क्रोध भी उसी प्रकार वर्तमान परिस्थिति से टकराकर द्विगुणित हो उठा। उसने अपनी पत्नी रेवती को जो भी कह सकता था, दुर्वचन कहे और दाँत पीस कर उसे मारने को दौड़ा। महाशतक ने अब तक जितना सहन कर लिया था, वही उसके लिये कम नहीं था।

महाशतक ने पत्नी रेवती को कड़ककर डाँटा ही था कि— सामने तथागत आ गये। सावधान करते हुए उन्होंने पूछा— “तात् ! तुमने तो अपरिग्रह का व्रत लिया है, फिर उसे तोड़ने का यह साहस क्यों कर रहे हो ?”

विस्मय विवाक ! महाशतक पूछ बैठा— “भगवन् ! आप ऐसा क्यों कह रहे हैं, मैं तो अपने संकल्प की रक्षा ही कर रहा हूँ। रेवती मेरे व्रत में आड़े आ रही है, सो मैं तो उसे दंड देने के लिये समुद्यत हुआ हूँ।”

तात् ! यह न भूलो कि— तथागत ने कोमल करुणाशीलता में कहा— “आत्मा के अन्तराल में मधुर शब्दों का भी कोष भर हुआ है और जो उसे गुप्त रखता है, प्रजा की भलाई के लिए बाँटने का साहस नहीं कर सकता, वह भी परिग्रह का ही पापी है। तात् ! केवल

धन का प्रजा के लिए उत्सर्ग ही नहीं वरन् अपने जीवन, अपनी प्रतिभा अपनी योग्यता और आत्मिक गुणों का प्रजा के लिए दान ही अपरिमह का सच्चा अर्थ है। यदि तुम उनका दान नहीं कर सकते तो तुम्हारा सम्पत्ति-दान व्यर्थ है।

महाशतक को अपनी भूल का पता चला। उसने रेवती से अभद्र शब्दों के लिए क्षमा माँगी और एक बार फिर भगवान् के चरणों में गिर गया। इस बार उसके पीछे रेवती भी शीश झुकाने विनित मुद्रा में खड़ी प्रतीक्षा कर रही थी कि महाशतक उठे और मैं भी तथागत की पद-रज स्पर्श कर धन्य बनूँ।

क्रोध का प्रभाव

चण्डकौशिक ने प्रचण्ड तप तो किया पर उन्होंने क्रोध का शमन न किया। वह दुष्ट दुर्गुण उनमें ज्यों का त्यों बना रहा। एक दिन उनके पैर से मेंढक कुचल कर मर गया। साथी तपस्वी ने इस प्रमाद की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया तो चण्डकौशिक आग-बबूला हो गये। वे उस साथी को मारने दौड़े। क्रोध में मनुष्य अंधा हो जाता है। आवेश में उन्हें नीच में खड़ा खंभा भी न दीख पड़ा। दौड़ते हुए उसी से टकरा गये। यही चोट उनकी मृत्यु का कारण बन गई। मोहवश उन्होंने उसी आश्रम में फिर जन्म लिया और साधना के द्वारा उसी के संचालक बने। फिर भी उनका क्रोध गया नहीं।

एक बार कुछ भक्त-जन उपहार और पूजा उपकरण लेकर उपस्थित हुए। भक्तों के व्यवहार और उपहार में उन्हें कुछ दोष दिखा और वे क्रुद्ध होकर मारने दौड़े। भक्त भागे, अधिपति पीछे दौड़े। दौड़ तेजी से चल पड़ी। आवेश ने उन्हें पागल जैसा बना दिया। रास्ते के व्यवधान भी उन्हें सुझ न पड़े। कुँए में पैर पड़ा और उसी में उनकी मृत्यु हो गई।

तीसरी बार भी चण्डकौशिक का जन्म उसी आश्रम में हुआ। अब की बार वे भयंकर विषधर सर्प की देह लेकर जन्मे। जो कोई ऊपर से निकलता उसी का पीछा करते और जो पकड़ में आ जाता उस का उसका प्राण हरण कर लेते। भगवान् महावीर एक बार उस आश्रम में पधारे तो उन्हें भी चण्डकौशिक के क्रोध का भाजन बनना पड़ा। दंशन से उनका पैर क्षत-विक्षत हो चला। फिर भी करुणा की उस प्रतिमूर्ति के चेहरे पर क्रोध न आया। वे मुस्कराते रहे और उस क्षुद्र प्राणी को अपनी अनन्त क्षमा का पात्र बनाते रहे। आश्रमवासी उस दुष्ट जीव को मारने आये तो उन्होंने रोक दिया।

चण्डकौशिक ने भगवान् महावीर की उच्च सत्ता को पहचाना तो अपनी भूल पर पश्चाताप करने और क्षमा माँगने लगा।

भगवान् ने कहा— भद्र ! तुम निर्दोष हो। दोषी तो यह क्रोध ही है। यही मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है। इसी के प्रभाव से मानव प्राणी पागल, अन्ध और अपराधी बनता है। तुम ने तप किया पर क्रोध न जीता। पहले क्रोध जीतो और उसके पश्चात् तप करो।

चण्डकौशिक ने भगवान् महावीर का उपदेश शिरोधार्य किया और वे क्रोध समेत षड्रिपुओं को परास्त करने की साधना करने लगे। इसी से उन्हें सिद्धि भी मिली।

दुकृत्यों का परिणाम

भगवान् महावीर आत्मसंयम की साधना में उन दिनों लीन थे। उन्हें उद्विग्न करने के लिए संगम नामक एक दुष्ट पीछे पड़ा हुआ था। आये दिन वह उन्हें क्षुब्ध करने के लिए कुछ न कुछ कुचक्र रचता रहता।

एक दिन उसने खौलता दूध उनके ऊपर उलट दिया। तो भी वे अविचल भाव से अपनी साधना में निरत रहे।

संगम पिघला। वह अपने कुकृत्यों पर आँसू बहाता, क्षमा माँगता विदा होने लगा।

भगवान् की आँखें भी नम हो गईं। वे बोले— तात् इन कुकृत्यों का दुष्परिणाम तुम्हें कितना कष्टकरक होगा, यही सोचकर मुझे व्यथा हो रही है। दूध से जलने पर उठे हुए फफोले देखकर नहीं।

अनुचित मोह

महावीर स्वामी उन दिनों जंगल में घोर तप कर रहे थे। जंगल के ग्वाले उन्हें समाधिस्थ देख उनका उपहास किया करते थे। कुछ दुष्ट तो लांछन लगाकर उन्हें तंग भी करने लगे। महावीर इन व्यवधानों से विचलित न हो तपस्या करते रहे।

तपस्या में विघ्न डालने वालों की बात पास के व्यक्तियों तक पहुँची, वहाँ के धनिक लोग महावीर के पास आए व कहने लगे, 'देव आपको ये नादान व्यर्थ कष्ट दे असुविधा में डाल रहे हैं, हमारा निवेदन है हम आपके लिए एक भवन यहाँ बनवा दें तथा ऐसी सुरक्षा व्यवस्था करा दें जिससे आप निश्चित हो तपस्या-साधना करते रहें।'

तात् ! साधनों का अनुचित मोह ही मनुष्य को सांसारिक बनाता है एक बार उससे निकल आने के बाद जो आत्मशांति मिली है उसकी तुलना में यह व्यवधान तुच्छ है। आप लोग मेरी चिन्ता न करें। उनकी इस दृढ़ता से ग्वाले भी पराभूत हो उठे उन्होंने फिर सताने की हिम्मत नहीं की।

अभ्यविश्वास छटा

सकडाल का पुत्र कुम्हार का काम करता था। वह बड़ा भाग्यवादी था। पुरुषार्थ उसकी दृष्टि में विशेष महत्त्व नहीं रखता था।

एक बार भगवान् महावीर उसके यहाँ रुके। महावीर को बात-बात में उसकी भाग्यवादिता अच्छी न लगी। उन्होंने पूछा— 'तुम्हारे यहाँ चाक पर मिट्टी के बर्तन बनाये जाते हैं ? यह कैसे बनते हैं ?'

'नियतिवश इन बर्तनों को बनाने की प्रेरणा मिलती है।' कुम्हार बोला।

महावीर ने फिर पूछा— 'तुम्हारे इन पके-पकाये बर्तनों को कोई तोड़ दे तो तुम क्या समझोगे ?'

'भाग्य में यही लिखा होगा तो ऐसा ही होगा।' सकडाल-पुत्र बोला।

'और तुम्हारी पत्नी से कोई दुश्चरण करे तो ?' महावीर पूछने लगे।

यह सुनते ही कुम्हार क्रोध से भर उठा और बोला— 'किसकी हिम्मत है जो ऐसा कर सके ? कोई मेरी पत्नी की ओर आँख भी उठाकर देखे तो उसकी मैं अच्छी तरह खबर ले लूँगा ।'

'लेकिन यह भी तो नियतिवश ही होगा । इसमें क्रोध करने की क्या बात है ?' महावीर ने कहा ।

अब सकडाल-पुत्र की आँखें खुलीं । भाग्यवाद पर उसका अन्धविश्वास पल भर में दूर हो गया । वह विनम्र भाव से बोला 'आप ठीक कहते हैं भगवन् ! भाग्य पर अन्धविश्वास रखना मूर्खता है । जीवन में पुरुषार्थ ही प्रमुख है । वही भाग्य का निर्माता है ।'

तप से बड़ा सत्य

भगवान् महावीर उधर से गुजर रहे थे । रास्ते में मिले एक ग्रामीण ने उनके चरणों पर गिरकर प्रणाम किया । उत्तर में अर्हत ने भी उसके चरणों पर मस्तक टेका ।

ग्रामीण सकपकया— बोला— आप तपस्या के भण्डार हैं, उस विभूति को मैंने नमन किया । पर मैं तो कुछ नहीं हूँ, मेरा नमन किस लिये ।

अर्हत ने कहा— 'तपे भीतर जो परम पवित्र आत्मा है, मैं उसी को देखता हूँ और नम्रता हूँ । मेरे 'तप' से तुम्हारा 'सत्य' बड़ा है ।'

अपना पुरुषार्थ सर्वोपरि

तीर्थंकर महावीर साधना में लीन थे । पास ही मैदान में एक ग्वाला अपने बैल चरा रहा था । उसे किसी आवश्यक कार्य से गाँव में जाना था । उसने सोचा पास में बाबा बैठे हैं, यह बीच-बीच में बैल देख लिया करेंगे तब तक मैं घर से लौट ही आऊँगा ।

महावीर ध्यानास्थ थे । बैल चरते-चरते दूर निकल गये । ग्वाला लौट कर आया तो महावीर पर बहुत नाराज हुआ । वह समझा कि यह कोई चोर है और इसी की हरकत से बैल कहीं चले गये हैं । वह महावीर को ताड़ना देने लगा । रस्सी के एक टुकड़े से सपासप उनकी पिटाई शुरू कर दी । उनके शरीर पर इस निर्मम प्रहार से कई निशान पड़ गये ।

देवराज इन्द्र से ग्वाला की यह ताड़ना न देखी गई उन्होंने तीर्थंकर से आकर प्रार्थना की भगवन् ! यह ग्वाला अज्ञानी है, आपके अलौकिक महात्म्य से पूरी तरह अनभिज्ञ है । मेरी इच्छा सदैव आपके साथ रहने की है ताकि आने वाले कष्टों का निवारण करता रहूँ । आप मुझे सतत् सेवा में उपस्थित रहने की आज्ञा दीजिये ।

महावीर ने जो उत्तर दिया वह जैन साहित्य की अमूल्य निधि है और निराश व्यक्तियों को सैकड़ों वर्षों से प्रेरणा देता रहा है—

“स्ववीर्येणैव गच्छन्ति जिनेन्द्रा परमां गतिम् ।”

किसी दूसरे के सहारे रहकर अथवा दूसरे के पुरुषार्थ के भरोसे बैठकर आज तक कोई आत्मा बोधि लाभ प्राप्त नहीं कर सका । अपने पुरुषार्थ से ही अपना निर्माण किया जा सकता है । अपने भाग्य को बनाने वाला कोई दूसरा नहीं वरन् उसका पुरुषार्थ ही होता है । अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए पुरुषार्थ का स्थान ही सर्वोपरि है ।

विचार-क्रान्ति के देवदूत— सन्त सुकरात

सुकरात अत्यन्त कुरूप थे । गंजा सिर, चपटी नाक, गोल चेहरा, घुटने तक लटकता हुआ विलक्षण कुर्ता । इन चिह्नों के आधार पर उन्हें एथेन्स की सड़कों पर घूमते हुए आसानी से पहचाना जा सकता था । वे प्रकाण्ड विद्वान् और दार्शनिक थे । मानव जीवन की विविध समस्याओं का समाधान पूछने के लिए अनेक शिष्य उनके पीछे-पीछे फिरा करते थे । उनके शिष्यों में से कई बहुत प्रतिभावान् भी थे । उन्हीं में से एक प्लेटो भी थे जो आगे चलकर विश्वविख्यात हुए ।

सुकरात बड़े विनम्र स्वभाव के थे । उन्हें अहंकार छू भी नहीं गया था । उनका आदर उनके ज्ञान के कारण था । उनकी पत्नी बड़ी कर्कशा थी । उसके कठोर वाक्यवाण सदा ही उन्हें सहने पड़ते थे । फिर भी सुकरात के विनम्र व्यवहार के कारण उनका दाम्पत्य प्रेम शिथिल न होने पाया ।

सुकरात ने आत्मज्ञान पर बहुत जोर दिया है । वे कहते थे— अपने को जानो । यदि मनुष्य अपना और धर्म का वास्तविक स्वरूप जान ले तो अवश्य ही धर्मनिष्ठ बनने की चेष्टा करेगा । सत्य का ही पुण्य और उसका ज्ञान न होना ही पाप है ।

उनके स्वतन्त्र विचारों ने उस युग की जनता को बहुत प्रभावित किया । समाज के विभिन्न भागों में व्याप्त कलाय-कल्मषों पर उन्होंने प्रहार किया और ऐसी चेतना पैदा की जिससे निहित स्वार्थों के लोगों में हलचल मच गई, वे उन्हें सताने षडयंत्र करने लगे ।

सुकरात की गणना संसार के महान् विद्वानों और धर्म-गुरुओं में है । उनका जन्म एथेन्स में हुआ । यद्यपि उन्हें पढ़ने-लिखने की सुविधा न मिल सकी थी, तब भी उन्होंने अपने अध्यवसाय के बल पर उच्च स्तर की विद्वत्ता प्राप्त कर ली थी । महात्मा सुकरात ने जितना पढ़ा था उससे कहीं अधिक चिन्तन और मनन किया था । वे संसार को ही एक बड़ी पाठशाला मानते थे और जीवन के अनुभवों को सच्ची शिक्षा । इसी संसार की पाठशाला में महात्मा सुकरात ने जो अनुभव संचय किये थे वही उनकी एकमात्र सम्पत्ति थी । इनके अतिरिक्त न तो उनके पास कोई और सम्पत्ति थी और न उन्होंने कभी कुछ संचय करने की इच्छा ही की । वे कहा करते थे कि— 'ज्ञान से बढ़कर संसार में और सम्पत्ति क्या हो सकती है ? उसका कुछ अंश मुझे प्राप्त हुआ है । इससे मेरी आत्मा को पूर्ण शान्ति है । इसके अतिरिक्त मुझे और किसी प्रकार की सम्पत्ति नहीं चाहिए ।

लेकिन इस बदसूरत व्यक्ति के हृदय में जो ज्ञान की मनोहारी ज्योति जलती थी उसने एथेन्सवासियों को अपने पर पतंग की तरह मोहित बना लिया था । उन्होंने अपनी साधना द्वारा जिस आत्मप्रकाश का दर्शन किया था, उसने उनके जीवन की सारी कुरूपता अपने में डुबाकर सुन्दरता में बदल दी थी । वे जिस समय भी जहाँ जाते थे वहीं शिष्यों, जिज्ञासुओं और मुमुक्षु लोगों से घिर रहते थे । पता चलते ही लोग दूर-दूर से दौड़कर उस गली, चौराहे पर पहुँच जाया करते

थे, सुक्रात जहाँ खड़े जनता को उपदेश कर रहे होते। महात्मा सुक्रात का मुख्य विषय आत्मा सम्बन्धी ज्ञान ही होता था। वे आत्मज्ञान प्राप्त करने पर बल देते हुए कहा करते थे—

‘अपने को जानो’ यदि मनुष्य अपने को और अपने धर्म के सच्चे स्वरूप को जान ले तो उसके लिए संसार में तो कोई समस्या ही न रह जाय और न दुःख का कोई कारण। आत्मा का ज्ञान ही सत्य का स्वरूप है। उसको पा लेना ही मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा पुण्य है और उसके प्रति अज्ञान की अवस्था ही सबसे बड़ा पाप है।

महात्मा सुक्रात ने अपने ज्ञान बल पर अपने युग की विचार-धारा ही बदल दी थी। उन्होंने परम्परा से चली आ रही रूढ़ियों पर गहरा प्रहार किया। जनता को विवेक का मार्ग बतलाया और आत्मा की मुक्ति के साथ बाह्य परतन्त्रता से मुक्त होने की शिक्षा दी। उन्होंने अन्धविश्वास, अन्ध-ब्रह्मा और अन्ध-मान्यताओं को त्याग कर बुद्धि-संगत जीवन पद्धति अपनाने की प्रेरणा दी। उन्होंने मानव-मानव में समता का प्रतिपादन किया और जनता को साहस दिया कि वह धन, बल, शक्ति अथवा अन्य प्रकार की भौतिक उपलब्धियों के आधार पर किसी को महान् पूज्य न माने और मान्यता का मानदण्ड व्यक्ति के सदाचार एवं सद्बिचारों को बनाये।

सुक्रात की पत्नी जेथिप्पी आवश्यकता से अधिक लड़ाकू स्वभाव की थी। वह बाहरी लोगों से ही नहीं स्वयं सुक्रात से भी बिना विशेष कारण के लड़ने लग जाती और उसको मनमानी बातें सुनाने लगती। एक दिन न जाने किस बात पर उसके मिजाज का पारा बहुत गर्म हो गया और वह बड़ी देर तक बकती-झकती रही। पर सुक्रात जो इस स्वभाव के अभ्यस्त हो गये थे, कुछ न बोले और अपने काम में लगे रहे। अपनी बातों का कोई प्रभाव न होता देख कर वह और भी नाराज हो गई और उसने एक बर्तन में भरा मैला पानी लाकर सुक्रात पर डाल दिया। उनके सारे कपड़े भीग गये किन्तु वे फिर भी मुस्कराते रहे और उन्होंने कहा— ‘मैं तो पहले जानता था कि जेथिप्पी इतना गरजने के बाद बिना बरसे न रहेगी। “एक दूसरे अवसर पर जेथिप्पी बाजार में ही उसे लड़ने लग गई और उनका कोट खींचकर फाड़ दिया। यह बात उनके कई मित्रों को बहुत बुरी लगी और उन्होंने सलाह दी कि इसे खूब पीटना चाहिए। पर सुक्रात ने कहा किसी रईस (घोड़ा गाड़ी चलाने वाले) की योग्यता इसी में देखी जाती है कि वह दुष्ट घोड़े को भी सधा और सिखा कर उससे काम ले सके। अगर वह दुष्ट घोड़े को उपयोग लायक बना सकता है तो अन्य सामान्य घोड़ों को काबू में रखने में उसे कुछ भी कठिनाई नहीं होगी। इसी प्रकार मैं भी जेथिप्पी जैसी चिड़चिड़े स्वभाव की स्त्री के साथ रहता हूँ। अगर मैं उसके साथ निर्वाह कर लेता हूँ तो मुझे संसार के अन्य लोगों के साथ व्यवहार करने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

उन्होंने अपने गृहस्थ जीवन को इस प्रकार दूसरों के लिये एक आदर्श बना दिया। उसका पिता शिल्पकार था जो प्रायः मूर्तियाँ बनाने का कार्य किया करता था। सुक्रात ने भी कुछ समय तक अपने इस पैतृक धन्धे को किया, पर उसके पश्चात् उसे राजकीय नियमों के अनुसार सेना में भर्ती हो जाना पड़ा और पचास वर्ष की आयु तक

वे उस कार्य को करते रहे। वे तीन युद्धों में लड़ने को भी गये जिनमें उन्होंने वीरता और धैर्य का अच्छा परिचय दिया। पर वहाँ भी वे कोई अनुचित कार्य करने को तैयार नहीं होते थे। न्याय और सत्य का व्यवहार आजीवन उनका आदर्श बना रहा।

उस जमाने में यूनान का देश नगर, राज्यों में बँटा हुआ था। सबके संचालक कुछ प्रमुख नागरिक ही होते थे एथेन्स का नगर राज्य उस समय बड़ा प्रसिद्ध और प्रभावशाली था तथा धन, बल, विद्या, कला-कौशल आदि सब बातों में वह अग्रगण्य माना जाता था। उस नगर में सुक्रात को आरम्भ से ही एक ज्ञानी पुरुष माना जाता था और अनेक छोटी-बड़ी आयु के धनवान और कुलीन व्यक्ति उनकी संगत में रहकर उपदेश ग्रहण किया करते थे।

पचास वर्ष की आयु में सेना से अवकाश पा जाने के बाद तो उन्होंने अपना पूरा समय इसी कार्य में लगाना आरम्भ कर दिया। वे एक लवादा पहने हुए नंगे पैर शहर की सड़कों और गलियों में घूमा करते थे और चाहे जहाँ दस-बीस व्यक्तियों के इकट्ठा हो जाने पर वही उपदेश देने लग जाते थे। उनके उपदेश देने का ढंग भी अन्य लोगों से निराला था। वे श्रोताओं से ही प्रश्न करने को कहते और उनका उत्तर देते-देते अपने समस्त सिद्धान्तों को उन्हें समझा देते थे। उनकी खरी बातों या डाँटने-फटकारने से चिढ़कर अनेक बार लोग उनकी हँसी भी उड़ाने लगते थे, उनके बालों और खाल को खींचते थे, पर सुक्रात ने कभी किसी पर क्रोध नहीं किया। उन्होंने आत्मज्ञान द्वारा क्रोध पर विजय पा ली थी। एक बार कुछ लोगों ने उनको लातों से भी मारा, उनके कुछ शिष्यों ने उनसे पूछा कि आपने इन लोगों का ऐसा व्यवहार क्यों सहन कर लिया, जब आप शारीरिक शक्ति में उनसे बहुत अधिक होने से उन्हें अच्छी तरह दण्ड दे सकते थे ?” सुक्रात ने जबाब दिया कि “यदि कोई गधा हमें लात मार दे तो क्या हम भी उसे लात मारने लग जायें।

सुक्रात पर मुकदमा

पर ऐसे सरल स्वभाव तथा बैर-भाव से मुक्त पुरुष के भी एथेन्स में बहुत से विद्वेषी उत्पन्न हो गये थे। इसका मुख्य कारण तो यह था कि कितने ही धनवान लोगों के पुत्र सुक्रात की शिक्षाओं से आकर्षित होकर उसके अनुयायी बनते जाते थे और यह बात उनके अभिभावकों को बुरी जान पड़ती थी। एक तो गरीबी की हालत में रहने के कारण वे सुक्रात को अपने से नीचा मनुष्य समझते थे और दूसरे वह सत्य, न्याय, सदाचार की जो शिक्षा देता था उसे वे अपनी स्थिति के प्रतिकूल समझते थे। जिस प्रकार यदि किसी वेश्यागामी के सामने ब्रह्मचर्य की प्रशंसा की जाय, किसी नशेबाज के सम्मुख मादक पदार्थों की बुराईयाँ दिखलाई जायें तो उनको ऐसे उपदेशों पर क्रोध आता है, उसी प्रकार जो लोग तिकड़म से अथवा अन्य अनुचित उपायों से धन पैदा करके भालदार बन जाते थे उनको सत्य और न्याय के व्यवहार की बातें खटकने वाली-सी प्रतीत होती थीं।

दूसरी बात यह थी कि जिन लोगों ने उस समय ‘विद्वान्’ का बाना धारण कर रखा था और जो धनवानों के लड़कों को सांसारिकता

और वितण्डावाद (तर्क-वितर्क) की शिक्षा देकर खूब कमाई करते थे, वे भी सुक्रात की सीधी-सादी और आत्मज्ञान युक्त शिक्षाओं से चिढ़ते थे। सुक्रात ने ऐसे कई विद्वानों से वाद-विवाद करके उन्हें निरुत्तर भी कर दिया था। जिससे वे उसके साथ विद्वेष करने लग गये थे। इन्हीं सब लोगों ने मिलकर सुक्रात पर नवयुवकों को कुशिक्षा देने का आरोप लगा करके उसे गिरफ्तार करा दिया और उस पर न्यायालय में मुकदमा चलाया।

पर सुक्रात इस घटना से भी विचलित नहीं हुआ। वह संसार की नश्वरता और सुख-दुःख की असारता को भली प्रकार समझता था। उसका विश्वास था कि यह दुःख जगत क्षणिक और परिवर्तनशील है, इसमें राजा से रंक बनते कुछ भी देर नहीं लगती। इसलिये इसके किसी हानि-लाभ के लिये शोक या हर्ष करना अबुद्धिमत्ता है। जो व्यक्ति आत्मजगत से अपरिचित होते हैं। वे ही इसके हानि-लाभ को महत्त्व देते हैं। यह धारणा उसके हृदय में इतनी दृढ़ता के साथ जमी थी कि यह जानते हुये भी कि उससे द्वेष रखने वाले इस मुकदमे के बहाने उसके जीवन का अन्त करना चाहते हैं, उसने उनकी राई पर भी परवाह नहीं की तथा अभियोक्ताओं और न्यायाधीशों को हजारों नागरिकों के सामने ही खरी-खरी बातें सुनाई। उसने कहा—

“इससे पहले भी एकबार इस न्यायालय की अन्यायपूर्ण आज्ञा को अन्याय कहके मैंने अपने वचन से ही नहीं वरन् अपने कर्म से भी यह सिद्ध कर दिया है कि मैं मृत्यु को तृण के समान तुच्छ समझता हूँ। मेरी एक मात्र साध यही है कि मुझसे कोई अधर्माचरण या दुष्कृत न होने पाये। इसलिये मेरी आत्मा शुद्ध है और इस आधार पर मैं कह सकता हूँ कि ‘सत्यवादी हूँ और मेरा प्रतिपक्षी यह म्लेतास मिथ्यावादी है।’

इसके पश्चात् भी एथेन्स के बहुसंख्यक नागरिक, जो सुक्रात की महानता को जानते थे इसके लिये तैयार थे कि सुक्रात को इस शर्त पर छोड़ दिया जाय कि वह नवयुवकों को अपने सिद्धान्तों का उपदेश करना बन्द कर दे। पर सुक्रात ने इसका उत्तर देते हुए कहा—

“एथेन्स के नागरिको ! आप में से कुछ कहेंगे कि ‘सुक्रात ! क्या तुम अपना मुँह बन्द नहीं कर सकते ? इसके उत्तर में यही कहना चाहता हूँ कि इस बात को मान लेना मेरी दृष्टि में भगवान् का अपमान होगा। मेरा विश्वास है कि अगर मैं शील-सदाचार के विषय में चर्चा नहीं कर सकता और आत्मान्वेषण करना बन्द कर देता हूँ, तो वह जीवन एक कौड़ी का भी न होगा।

“मेरे अब तक के अनुभवों के अनुसार जब कभी मैं कोई गलत काम करने लगता हूँ तो एक अन्तर्ध्वनि (आत्मा की आवाज) मुझे उसके करने का निषेध कर देती है। यही कारण है कि मैंने आज तक सार्वजनिक सेवा करते हुए भी राज्य की कोई ऐसी आज्ञा नहीं मानी जो मेरी दृष्टि में अनैतिकपूर्ण या अन्याययुक्त थी। इस समय भी मेरे सामने वैसी ही समस्या उपस्थित है। यदि मैं न्यायालय की आज्ञा मानकर नवयुवकों को न्याय-नीति का उपदेश देना बन्द कर दूँ या एथेन्स को छोड़कर विदेश को चला जाऊँ तो मेरे प्राण अवश्य बच जायेंगे, पर मैं ऐसे प्राण बचाने की कीमत एक कौड़ी के बराबर भी नहीं

समझता। इसकी अपेक्षा भगवान् और अपनी आत्मा की प्रेरणा के अनुसार आचरण करते हुए देह त्याग देना मेरी दृष्टि में सौ गुना श्रेष्ठ है।”

जब विषपान द्वारा मृत्यु दण्ड की आज्ञा मिलने पर सुक्रात को कारागार में बन्द कर दिया गया तो विशेष कारणवश उसे तुरन्त न मार कर २३-दिन तक जेल में ही बन्द रखा गया। पर उन दिनों भी वह अपने पास आने वाले मित्रों को सदा के समान आत्मोपदेश देता रहता और बड़ी प्रसन्नता से दिन व्यतीत करता रहा। किसी को यह प्रतीत भी नहीं होता था कि उसके मृत्यु दण्ड दिया जा चुका है और गिनती के दिनों का मेहमान है। अन्तिम दिन जब उसका प्रमुख शिष्य ‘क्रितान’ उसके पास बहुत सबेरे ही आ पहुँचा तो उसे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि सुक्रात बड़ी गहरी नींद में शान्ति से सोया हुआ है। जब मित्र ने सुक्रात से इस सम्बन्ध में पूछा तो उसने यही कहा— ‘मैं मृत्यु को शत्रु की तरह नहीं वरन् मित्र की तरह समझ रहा हूँ, फिर उसके आगमन से मुझे अशान्ति अथवा शोक कैसे हो सकता है ?’

सुक्रात को न मृत्यु का भय था न दबाव

ई० पू० ३९९ में सत्तर वर्ष के दार्शनिक सुक्रात के खिलाफ उनके शत्रुओं ने न्याय सभा में दो अभियोग लगाये। पहला यह कि वे गणतन्त्र के देवताओं में विश्वास नहीं करते थे और दूसरा यह कि वे युवकों को तर्क-वितर्क सिखाकर उन्हें दुश्चरित्र बना रहे थे। अभियोक्तियों ने इन आरोपों के साथ यह सुझाव दिया कि ऐसे आदमी को जीवित नहीं रहने देना चाहिए। ये आरोप जिस रूप में प्रस्तुत किये गये थे वे सर्वथा निराधार थे। तत्कालीन शासकों ने उनसे इसलिये भयभीत होकर यह अभियोग लगाया था कि वे बहुत बार देवी-देवताओं को मानने की अपेक्षा एकेश्वरवाद का प्रचार कर रहे थे तथा लोगों को समझा रहे थे कि उन्हें सत्य और न्याय का अनुसरण ही करना चाहिए।

सुक्रात को न्यायालय में पेश किया गया। सीसीयस नामक एक विधि प्रवक्ता ने उनकी ओर से बहस करना चाहा तथा इसके लिए एक लम्बा बयान तैयार किया। सुक्रात ने यह बयान पढ़ा और सीसीयस को धन्यवाद देते हुए उस बयान को उपयोग न करने के लिए क्षमा माँग ली। न्यायाधीश के सामने अपनी सफाई में अधिक कुछ न कहते हुए उन्होंने इतना ही कहा, “मेरे विरुद्ध लगाये गये अभियोगों में जरा-भी सच्चाई नहीं है। मेरे पास जो कुछ भी था वह मैंने एथेन्सवासियों के लिए समर्पित कर दिया है। मेरी हमेशा यही इच्छा रही कि मेरे साथी नागरिकों का जीवन सुखमय हो और मैंने इसके लिए काम किया।”

न्यायाधीशों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा— “आपके प्रभुत्व की अपेक्षा इन देवताओं का प्रभुत्व मेरे लिए अधिक है। यदि आप इस शर्त पर मुझे मुक्त करने का विचार रखते हों कि मैं सत्यान्वेषण करना छोड़ दूँगा तो मैं इसके लिये क्षमा प्रार्थी हूँ। इस शर्त को पूरा करने की अपेक्षा ईश्वर का आदेश पालन करना अधिक

उपयुक्त संपन्नता हूँ जिसने कि मेरे ऊपर यह काम छोड़ा है। जब तक मैं जीवित हूँ तब तक सत्य की खोज नहीं छोड़ूँगा और जो भी व्यक्ति मेरे सम्पर्क में आयेगा उससे कहूँगा कि ज्ञान और सत्य की खोज में न लगकर तुम धन और मन के पीछे पड़े रहते हो इसमें तुम्हें लज्जा नहीं आती ?

सुक्रात जानते थे कि उन्हें मृत्यु दण्ड मिलेगा।

एक न्यायाधीश ने पूछा कि—क्या तुम्हें इस बात का जरा-भी डर नहीं है कि तुम्हें मृत्यु दण्ड मिल सकता है।

“मृत्यु क्या है ? यह मैं नहीं जानता—सुक्रात ने कहा “वह वरण करने योग्य है क्योंकि मैंने जीवन के सभी क्षेत्रों का अनुभव कर लिया है। एक मृत्यु ही ऐसी बची है जिसका अनुभव मुझे नहीं है। अतः मैं जानना चाहता हूँ कि मृत्यु कैसी होती है। इसलिए मृत्यु से मैं जरा-भी भयभीत नहीं हूँ।”

वहाँ बैठे हुए न्यायाधीशों तथा सभासदों ने बहुमत से सुक्रात को अपराधी ठहराया। २८१ व्यक्तियों ने उन्हें अपराधी ठहराया तथा २२० व्यक्तियों ने उन्हें निर्दोष माना। बहुमत उन्हें अपराधी ठहरा रहा था अतः न्यायाधीशों ने उन्हें मृत्यु दण्ड दिया, उस समय ऐथेन्स में ऐसा कानून था, कि मृत्यु दण्ड पाने वाला व्यक्ति अपने लिए कोई दूसरा दण्ड प्रस्तावित कर सकता है। सुक्रात को भी इस सुविधा का लाभ उठाने के लिए कहा गया पर उन्होंने कहा “यदि मुझे अपना काम करने की छूट दी जाय तभी मैं कोई दण्ड प्रस्तावित कर सकता हूँ।”

न्यायाधीश ने उनकी बात को अस्वीकार करते हुए यह फैसला दिया कि वे १०० मीना जो लगभग ५२५ रुपये के करीब होते हैं, जुर्माना देकर मुक्त हो सकते हैं। सुक्रात ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। उनके व्यवहार से न्यायाधीश क्रुद्ध हो उठा और उसने बौखला कर कहा— “तुम्हें जहर पीकर अपनी मृत्यु का वरण करना होगा।”

इस मृत्यु घोषणा को शान्त भाव से ग्रहण करते हुए सुक्रात ने कहा— “बहुत ठीक है। अब विदा ग्रहण करने का समय आ गया है मेरे लिए मृत्यु और आपके लिए जीवन। किन्तु ईश्वर को छोड़कर और कोई यह नहीं जानता कि हम दोनों में से कौन महत्तर अवस्था को प्राप्त होगा।”

जिस समय सुक्रात को मृत्यु दण्ड सुनाया गया था उस समय ऐथेन्स में धार्मिक उत्सव चल रहे थे। इसलिए उक्त आदेश को क्रियान्वित करने में तीन सप्ताह का विलम्ब हुआ। सुक्रात को जब तक जेल में ही रखा गया। उन्हें इतनी छूट जरूर दे दी गयी कि उनके शिष्य और अनुयायीगण उनसे मिलने के लिए कारागार में आ सकते थे। सुक्रात कारागार में रहते हुए क्रम से अपने शिष्यों से मिलते रहे।

एक दिन उनका शिष्य क्रीटो उनसे अकेले में मिला और उसने कहा— मैंने आपको जेल से छुड़ाने का प्रबन्ध कर लिया है और कल हम लोग आपको यहाँ से ले जायेंगे। कैसे ? सुक्रात ने पूछा— तुम कहना क्या चाहते हो। न्यायाधीश ने आपको मृत्यु दण्ड का जो फैसला

सुनाया है, वह पूर्णतः अन्यायिक है और हम लोगों को आपके संरक्षण की आवश्यकता है। अतः आपको जेल से पलायन करना पड़ेगा।

क्रीटो के इस प्रस्ताव से सुक्रात बहुत नाराज हुए। उन्होंने कहा— “मुझसे पूछे बिना तुम लोगों ने इस तरह की कोशिश क्यों की। मैं क्या मृत्यु से डरता हूँ ? और फिर वे बोले— जो भी हो। ये फैसला एक वैध न्यायाधीश ने किया है और मैं अपने देश के कानून की मर्यादाओं का पालन करूँगा।

शिष्यों द्वारा बहुत अनुरोध करने पर भी सुक्रात ने जेल से पलायन स्वीकार नहीं किया। कारावास का अन्तिम दिन था। सुक्रात के हाथ-पाँवों से हथकड़ी-बेड़ियाँ खोली गयीं। उस दिन उनके कुछ मित्र और सम्बन्धीगण वहाँ आये। सुक्रात के मेधावी शिष्य क्रीटो ने उस समय का जो चित्रण किया है वह बड़ा कारुणिक है। सुक्रात से मिलने के लिए आने वालों में उनकी पत्नी तथा सबसे छोटा पुत्र भी था। यों सुक्रात की पत्नी जैथिपी आजीवन अपने पति को तरह-तरह से तंग करती रही थी पर उस समय वह फूट-फूट कर रो रही थी। सुक्रात का लड़का भी रो रहा था। उन्होंने अपने शिष्य को कहा— क्रीटो, किसी से कहो कि इन लोगों को घर ले जाय।

तब एक शिष्य उठा तथा जैथिपी और उनके लड़के को वहाँ से हटा कर ले गया। सुक्रात अपनी बिछावन पर से उठे और पाँवों के जिस स्थान पर बेड़ियाँ पहनाई गई वहाँ मालिश करने लगे। वहाँ उपस्थित शिष्यों के चेहरों पर विषाद की काली छाया मँडरा रही थी। जो भी लोग वहाँ थे वे सब सुक्रात को घेर कर बैठ गये। तब सुक्रात ने बड़ी धीरता के साथ उपस्थित लोगों को सुख और दुःख पर उपदेश दिया तथा अपने शिष्यों से काफ़ी देर तक जीवन-मृत्यु तथा आत्मा पर चर्चा करते रहे।

काफ़ी देर तक चर्चा करने के बाद सुक्रात स्नान करने गये। उस समय सूर्यास्त हो रहा था। जब वे स्नान कर वापस आये तो एक राजकर्मचारी आया। राजकर्मचारी की आँखों में आँसू थे सुक्रात ने पूछा— “तुम रो रहे हो।”

वह कर्मचारी और फफक-फफक कर रो उठा। बड़ी देर तक सान्त्वना देने के बाद वह बोला— “मैं कितना अभाग्य हूँ कि आपके लिए मृत्यु का सन्देश लेकर आया हूँ।”

“अरे पगले” — सुक्रात ने हँसते हुए कहा— “इसमें तुम्हारा क्या दोष। तुम तो अपना कर्तव्य पूरा कर रहे हो।”

विषपान करते समय सुक्रात जरा-भी अवसादग्रस्त नहीं दिखाई दे रहे थे। उस समय के दृश्य का चित्रण करते हुए प्लेटो ने लिखा है— अब तक हम लोग अपनी वेदना को दबाये हुए थे किन्तु जब हमने उन्हें विषपान करते हुए देखा तो हम अपने को रोक न सके। मेरी आँखों से बराबर आँसुओं की धारा बह चली। मैं अपने चेहरे को हाथ से ढक्कर रोने लगा। क्रीटो तथा अन्य व्यक्ति भी रो रहे थे। एकमात्र साक्रेटीस ही धीर-व्रत बने हुए थे। उन्होंने हमें रोते देखकर डाँटा।”

विष का प्रभाव धीरे-धीरे कम करने लगा और वे चेतनाहीन होने लगे। इस दार्शनिक ने अपना सारा जीवन महानता से भर दिया, वैसा ही उनका अन्त रहा।

सुकरात : प्रेरक प्रसंग

मूर्ख और बुद्धिमान की पहचान

सुकरात से उनके शिष्यों में से एक ने पूछा— मूर्ख और बुद्धिमान की क्या पहचान है ? सुकरात ने सहज भाव से उत्तर दिया जो अपने अनुभव से भी लाभ न उठाये वह मूर्ख और जो अनुभव संचय से पहले ही दूसरों के उदाहरणों से काम की बात सीख ले— वह बुद्धिमान।

बात पूरी होते-होते एक-दूसरा शिष्य बोल पड़ा जो अपने और पराये किसी के भी अनुभव पर ध्यान न दे उसे क्या कहा जाय ? सुकरात मुस्कराये और बोले— उसे कहना हो तो नर-पशु भी कहा जा सकता है।

दृष्टि दोष

सन्त सुकरात से मिलने गये एक भक्त ने प्रश्न किया “महात्मन् ! चन्द्रमा में कलंक और दीपक तले अंधेरा क्यों रहता है ?” सुकरात ने पूछा “अच्छ तुम्हीं बताओ— तुम्हें दीपक का प्रकाश और चन्द्रमा की ज्योति क्यों नहीं दिखाई देती ?”

भक्त ने विचार किया— “सचमुच संसार में हर वस्तु में अच्छे और बुरे दो पहलू हैं, जो अच्छा पहलू देखते हैं, वे अच्छाई और जिन्हें केवल बुरा पहलू देखना आता है, वह बुराई संग्रह करते हैं।

व्यर्थ का गर्व

एक जागीरदार अपने ठिकाने का विस्तार और वैभव दार्शनिक सुकरात को सुना रहा था। डींगें सुनते-सुनते जब बहुत देर हो गई तो सुकरात ने एक पृथ्वी का नक्शा मँगाया और पूछा— बताना इसमें तुम्हारा ठिकाना कहाँ है ?

नक्शे में उस ठिकाने का उल्लेख न था केवल प्रान्त ही मटर के बराबर जगह में दिखाई पड़ता था। उसने उसी की ओर इशारा किया।

सुकरात ने फिर पूछा यह तो एक प्रान्त का नक्शा हुआ तुम अपने ठिकाने का स्थान और अनुपात बताओ। जागीरदार ने कहा इस नक्शे के अनुपात से मेरा ठिकाना एक सुई की नोक के बराबर होना चाहिए।

सुकरात हँस पड़े। उन्होंने ब्रह्माण्ड के नक्शे में पृथ्वी को एक तिल भर बताते हुए कहा— इस पृथ्वी में भी तुम्हारा ठिकाना अदृश्य जितना कम है फिर समस्त ब्रह्माण्ड की तुलना में तो वह अत्यन्त उपेक्षणीय होगा। इतनी छोटी वस्तु पाकर तुम इतनी बड़ी डींगें क्यों हाँकते हो ?

बुद्धिमान कौन ?

जानकारी का महत्त्व समझते हुए सुकरात ने अपने शिष्यों से कहा— जो अनजान है और अपने को जानकार मानता है उससे बचो। जो अनजान है और अपनी अल्पज्ञता से परिचित है उसे— सिखाओ। जो जानता तो है, पर अपने ज्ञान के बारे में शंका है उसे जगाओ और जो जानता है पर साथ अपनी जानकारी के प्रति आस्थावान है वह बुद्धिमान है। ऐसे ही व्यक्ति के पीछे चलो।

दर्पण में अपनी ही छवि

महान् दार्शनिक सुकरात दर्पण में बार-बार अपना मुँह देख रहे थे। इसी समय उनके कुछ शिष्य वहाँ आ पहुँचे। शिष्य मण्डली उनके इस क्रिया-कलाप को नहीं समझ पा रही थी। कुरूप सुकरात बार-बार दर्पण क्यों देख रहे हैं ? आखिर एक शिष्य उनसे ही पूछ बैठ, “गुरुवर, दर्पण में अपना चेहरा बार-बार क्यों देख रहे हैं ?” सुकरात शिष्य की बातें सुनकर हँस पड़े। फिर गम्भीर हो बोले, “प्रियवर, तुम्हारा कहना बिल्कुल ठीक है। मुझ जैसे कुरूप को दर्पण देखने की क्या आवश्यकता है ? लेकिन मेरे शिष्य ! दर्पण सबको देखना चाहिए। चाहे वह सुन्दर हो या बदसूरत।”

शिष्य बीच में ही बोल उठा, “गुरुवर, कुरूप तो अपनी वास्तविकता जानता ही है। फिर दर्पण देखने से तो भारी कष्ट ही होगा उसे। सुकरात शिष्य को शांत करते हुए बोले, “वत्स, कुरूप को तो दर्पण अवश्य देखना चाहिए, क्योंकि उसे अपने उस रूप को देखकर बरबस ध्यान आ जाय कि वह कुरूप है। फलस्वरूप अपने श्रेष्ठ कार्यों से उस कुरूपता को सुन्दर बनाकर ढकने का प्रयत्न करे। सुन्दर चेहरे को दर्पण इसलिए देखना चाहिए कि ईश्वर ने उसे सौन्दर्य दिया है, अतः उसके अनुरूप ही उसे सदैव सुन्दर कार्य करना चाहिए।”

दार्शनिकता को सार्थक बनाने वाले कन्फ्यूशियस

कन्फ्यूशियस का जन्म एवं उदय लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व उस युग में हुआ था जो धार्मिक अन्धविश्वासों का युग कहा जा सकता है। जो धार्मिक वक्ता, धर्माचारी तथा धर्म प्रतिपादक नहीं होता था। जनता में उसका सम्मान तो दूर असम्मान ही हुआ करता था। धर्म की बातों के माध्यम से ही लोग जीवन में आगे बढ़कर जन-साधारण का नेतृत्व किया करते थे।

ऐसे समय में आचार्य कन्फ्यूशियस जीवन दर्शन में एक नई क्रांति लेकर जन-जीवन में आये। उन्होंने जनता को जन्म, जीवन तथा मरण की पहलियों में उलझाने के बजाय मानव जीवन के कलापूर्ण यापन का सन्देश दिया ‘जन्म से पूर्व मनुष्य कहाँ था और मृत्यु के पश्चात् वह कहाँ जायेगा’ के पचड़े में पड़ने के बजाय उन्होंने यह बतलाया कि उन्हें यह जो मानव जीवन मिला है उसको सच्चे मानों में किस प्रकार सार्थक तथा सफल बनाया जाये।

महात्मा कम्प्यूशियस जीवन में आदर्शवादिता के समर्थक अवश्य थे किन्तु ऐसे आदर्श के जो मानव-जीवन में पूरी तरह उतारे जा सकें। वे केवल बौद्धिक आदर्शवादी नहीं थे। उनका कहना था कि मनुष्य जो कुछ कहे अथवा सोचे उसे अपने व्यावहारिक जीवन में मूर्तिमान् भी करे। निष्क्रियात्मक आदर्श जीवन उन्नति की सबसे बड़ी बाधा है।

अपने जीवन में किन्हीं ऊँचे आदर्शों की स्थापना करके अपने जीवन को न चलाना सबसे बड़ी आत्मप्रवचना है। क्योंकि कोरा आदर्शवादी बकता बहुत है किन्तु करता कुछ नहीं है। अपने वाकजाल में सर्व-साधारण को फँस कर उन्हें रह तो दिखाता है किन्तु स्वयं उस मार्ग पर नहीं चलता। बुद्धि कौशल से पथ-प्रदर्शक बन जाने से वह अपनी चतुरता की रक्षा में लगा रहने से अपना आत्मिक सुधार नहीं कर पाता और यह एक भयंकर आत्मवचना है।

चीन के प्रसिद्ध चांग राजवंश में पाँच सौ पचास ईसा से पूर्व कम्प्यूशियस का जन्म हुआ। जिस समय उनकी आयु तीन वर्ष की थी उस समय उनके पिता की मृत्यु हो गई। जिससे उन्हें महान् कठिनाइयों के बीच अपना जीवन चलाते हुए अध्ययन करना पड़ा। असहनीय कठिनाइयों के बीच जिनका विद्या प्रेम अक्षुण्ण बना रहता है वे अवश्य ही एक दिन भारती के वरद पुत्र बन कर रहते हैं। इस उपलब्धि का कोई अलौकिक कारण नहीं होता, इसका सीधा-सा एक कारण होता है कि कठिन परिस्थितियों में रहकर पढ़ने वाले विद्यार्थी का ध्यान अध्ययन के अतिरिक्त अन्य किसी ओर नहीं जाता। विद्या प्राप्त करना उसके जीवन-मरण का प्रश्न बन जाता है, जिसे सफलता-पूर्वक हल करने में वह जी-जान से लगा रहता है। यही एक लग्नपूर्ण तन्मयता उसकी सफलता का कारण बनती है। जो विद्यार्थी अनावश्यक साधन तथा सुविधायें लेकर अध्ययन के अनिवार्य परिश्रम को ही वहन नहीं कर पाते हैं, सुविधाओं की बहुतायत होने से वे आलसी तथा छुई-मुई बन जाते हैं जिससे क्षण-क्षण पर थकान तथा शिथिलता अनुभव करने के अभ्यस्त हो जाते हैं। विद्या प्राप्ति के इच्छुक व्यक्तियों को सम्भव होने पर भी अपने चारों ओर सुख सुविधाओं के साधन संचय नहीं करने चाहिये। विद्याध्ययन एक तपस्या है, एक साधना है। इसके जीवन का सामान्य कार्यक्रम मानकर अपनाने से अधिकतर असफलता ही हाथ आती है।

बालक कम्प्यूशियस जो कुछ पढ़ते थे उसे अपने जीवन में उतारते जाते थे। इससे केवल १४ वर्ष की आयु में ही उनको महत्त्व की अनुभूति होने लगी। आदर्श जीवन की इस तात्कालिक सफलता, महानता तथा सुन्दरता को देखकर उन्हें यथार्थ जीवन के कलापूर्ण यापन में अखण्ड विश्वास हो गया और उन्होंने इस वरदान को जन-जन के बीच वितरित करने का संकल्प कर लिया।

बाईस वर्ष की अवस्था में पहुँचते-पहुँचते उन्होंने आवश्यक अध्ययन पूरा करके जन-कल्याण की दिशा में पदार्पण किया। सबसे पहले उन्होंने एक पाठशाला की स्थापना की जिसमें भरती हुए बच्चों को स्वयं पढ़ाते थे। यद्यपि आचार्य कम्प्यूशियस में इतनी योग्यता थी कि यदि वे चाहते तो सीधे जनता के बीच अपने विचारों का प्रचार

कर सकते थे किन्तु उन्होंने ऐसा न करके जिस पाठशाला की स्थापना की उसके पीछे दो कारण काम कर रहे थे। एक तो यह कि बिना कोई साकार कार्य किये सहसा जनता में उतर जाने से वे केवल वाक्वीर ही समझे जा सकते थे कर्मवीर नहीं और ऐसी दशा में जन-साधारण के अविश्वासपात्र बनने की सम्भावना थी। जीवन में सही मार्ग दिखलाने के लिए सर्व-सामान्य का विश्वास प्राप्त करना बहुत आवश्यक है जो केवल शाब्दिक शक्ति से नहीं कार्यो की मूर्तिमत्ता से ही प्राप्त किया जा सकता है।

दूसरे कम्प्यूशियस अच्छी प्रकार जानते थे कि बच्चों की मनोभूमि अन्धविश्वासों तथा अन्ध अविश्वास, संशय, तर्क, ईर्ष्या, द्वेष आदि के विकारों से कंटकित नहीं होती। उनमें बोये हुए सद्विचारों के बीज सरलता से फलीभूत हुआ करते हैं। जहाँ रूढ़-संस्कारों के कारण प्रौढ़ों को धर्म की आड़ लेकर किसी बात को समझाने में बड़ी ही सावधानी तथा सतर्कता को अपनाना पड़ेगा वहाँ बच्चों के संस्कार बनाने में इस चातुर्य की आवश्यकता न पड़ेगी और शीघ्र ही उनकी निर्मित की हुई नई पीढ़ी समाज के रंग-मंच पर उतर जायेगी। ऐसी दशा में वे एक से बहुत होकर सरलतापूर्वक अपने विचारों का प्रसार तथा प्रचार कर सकते थे।

आचार्य कम्प्यूशियस की पाठशाला क्या थी? सच्ची मानवता तथा नागरिकता की प्रशिक्षणशाला थी। उस पाठशाला में निर्धन तथा धनी, उच्च तथा निम्न हर प्रकार के छात्रों के साथ पूर्ण समानता का व्यवहार किया जाता था। यद्यपि पाठशाला के व्यय के लिये धनी विद्यार्थियों से कुछ शुल्क लिया जाता था और निर्धन विद्यार्थी शुल्क मुक्त होकर पढ़ते थे तथापि उनके बीच किसी प्रकार के पक्षपात अथवा विषमता का कोई व्यवहार नहीं किया जाता था। विद्यार्थियों का क्रियात्मक चरित्र निर्माण तथा अनुशासन इस पाठशाला की प्रमुख विशेषता थी। आचार्य शब्द ज्ञान के स्थान पर विद्यार्थियों के आचरण की ओर अधिक ध्यान देते थे। जब तक एक पाठ के उपदेश प्रत्येक विद्यार्थी के व्यक्तिगत आचरण में पूर्ण रूप से नहीं उतर जाते थे तब तक उन्हें आगे का दूसरा पाठ नहीं पढ़ाया जाता था।

आचार्य कम्प्यूशियस की संस्था की इन मौलिक विशेषताओं ने उन्हें तथा उनकी पाठशाला को शीघ्र ही लोकप्रिय बना दिया और वे बालकों के जीवन-निर्माण के सफल शिल्पी के रूप में प्रसिद्ध हो गये।

जीवन-निर्माण की इस प्रारम्भिक पाठशाला की स्थापना करके और उसकी व्यवस्था को दृढ़ बनाकर आचार्य कम्प्यूशियस लू राज्य की प्रसिद्ध राजधानी चले गये। पाठशाला छोड़कर लू राज्य की राजधानी जाने का विशेष कारण यह था कि वहाँ लाओत्से नाम का दार्शनिक एक विशेष धर्म की स्थापना कर रहा था। एक ऐसे धर्म की स्थापना कि जिसमें एक स्वप्निल आदर्शवाद तथा रहस्यवाद के अतिरिक्त और कुछ न था। वह जन-साधारण को धर्म के नाम पर यथार्थ जीवन से दूर ले जाकर एक स्वप्नलोक में पटक देना चाहता था, जिससे वह एक दार्शनिक रहस्य बनकर सदैव पुजता रहे।

आचार्य कम्प्यूशियस ने उससे मिल कर विचारों का आदान प्रदान किया और व्यावहारिक यथार्थता के साथ सदगुणों के विकास तथा आत्मोन्नति के सरल सिद्धान्तों के पालन तथा प्रतिपादन की आवश्यकता पर बल दिया और इसी को सच्चा धर्म कहकर उन्होंने जनता के लिए आवश्यक बताया। कथनी और करनी में साम्य रखने वाले कम्प्यूशियस का प्रभाव लाओत्से पर गहरे रूप से पड़ा और वह उनका सहयोगी बन गया। दो प्रभावशाली व्यक्तियों के एकमत होकर कार्य करने का जो सत्परिणाम होता है वह लू राज्य की राजधानी को प्राप्त हुआ और वहाँ अन्धविश्वासों के खण्डहर टूटकर मानवीय मान्यताओं के नये महल बनने लगे।

इसी बीच इस नवनिर्माण तथा कुछ अन्य कारणों से उक्त राजधानी में राजनीतिक हलचल शुरू हो गई। कम्प्यूशियस अपने अनुयायियों के साथ वहाँ से यह सोचकर चल दिए कि जन-निर्माणों का कार्य राजनीति की हलचल से दूर रहकर ही किया जा सकता है।

कम्प्यूशियस के उपदेशों में सच्ची नागरिकता एवं आचरणपूर्ण अनुशासन के दर्शन पाकर तात्कालिक चीन सरकार ने उनकी कार्य कुशलता का लाभ उठाने तथा जनता का भला करने के लिए अनुरोधपूर्वक उन्हें राज्य के चुंगट नामक नगर का गवर्नर बना दिया। एक प्रकार से जहाँ यह कम्प्यूशियस का राज-सम्मान था वहाँ उनकी योग्यता तथा कार्य-कुशलता की परीक्षा भी थी। किन्तु जो निस्पृह है, निःस्वार्थ एवं आचरणवान है, जिसके अपने परिश्रमपूर्ण प्रयत्न से योग्यताओं की सिद्धि की है और सच्चाई के साथ काम करता है उसके हाथ में हल से लेकर राजदण्ड तक क्यों न दे दिया जाये वह उसमें उतीर्ण ही होकर रहेगा। असफलता का भय तो स्वार्थी, आलसी तथा अयोग्यों के लिये निर्माण किया गया है।

शीघ्र ही उनकी योग्यता ने उन्हें शासन के सर्वोच्च पद पर पहुँचा दिया और तब उन्होंने एक ऐसे अडिग शासन की स्थापना की कि जनता ने नित्य परिवर्तनशील शासन के त्रास से आश्वासन की श्वास ली। इस प्रकार एक सन्त शासक के अनुशासन में जनता से बेईमानी तथा दुर्गचरण दूर भागने लगे। लोगों में शासन के प्रति विश्वास के साथ-साथ राजभक्ति का भी उदय होने लगा।

इस प्रकार आचार्य कम्प्यूशियस ने न केवल एक अच्छे शासन की नींव डाली अपितु जनता के हित के लिए अनेकों सरहनीय कार्य किये। उन्होंने कृषि में, व्यापार तथा उद्योगों में विकास एवं सुधार कर देश की भुखमरी को भगाया। युवा तथा वृद्ध व्यक्तियों के लिए, शक्ति, सामर्थ्य, स्वास्थ्य, कार्य तथा उपयोगिता के मापदण्ड पर तोलकर अलग-अलग भोजन की व्यवस्था की। वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करके जन-साधारण को मुनाफ़ाखोरी के अभिशाप से मुक्त किया।

कर के रूप में प्राप्त धनराशि को जनहित के कार्यों में लगाकर सड़कों, पुलों, पाठशालाओं एवं पुस्तकालयों का निर्माण तथा जीर्णोद्धार करवा, जनता में समता तथा सुख-सन्तोष की स्थापना के लिए उन्होंने धनवानों को इतना शक्तिशाली होने से रोक कि आगे चलकर वे शासन पर हावी होकर गरीब जनता का शोषण करने में

समर्थ एवं निर्भय न हो जायें। कम्प्यूशियस की शासन-सफलता का सबसे बड़ा प्रमाण यह था कि उसकी इस व्यवस्था से क्या धनी, क्या निर्धन, क्या ऊँच तथा क्या नीच सभी प्रकार के व्यक्ति पूर्ण सन्तुष्ट थे।

इस प्रकार एक शान्तिमय, सफल शासन-व्यवस्था स्थापित करके अन्य शासकों के सामने अनुकरणीय उदाहरण रखकर कम्प्यूशियस पुनः देशाटन पर चल दिये। उनकी शासन कुशलता की कीर्ति सुनकर अनेक राज्यों के राजाओं ने उन्हें अपने राज्य का शासन भार सम्भालने के लिए आमन्त्रित किया, किन्तु जन-सेवा के कार्य छोड़कर उन्होंने दुबारा शासक बनना स्वीकार नहीं किया। अनेक राजाओं ने उनके सम्मान में उन्हें वृत्तियाँ देनी चाहीं किन्तु उनको भी अस्वीकार करके वह जन-सेवी महात्मा कठिन से कठिन परिस्थितियों में जनकल्याण के लिये देश-देश, गाँव-गाँव तथा गली-गली मानवता के सन्देश सुनाता घूमा।

एक बार भूख से व्याकुल उनके अनेक अनुयायियों ने प्रार्थना की कि इस प्रकार कष्ट उठाने से तो अच्छा है कि किसी राज्य की वृत्ति क्यों न स्वीकार कर ली जाये। इस पर आचार्य कम्प्यूशियस ने उत्तर दिया कि श्रेष्ठ पुरुष सदैव ही अपने हाथ से उपाजित धन ही काम में लाते हैं। कठिन कठिनाइयाँ श्रेष्ठ पुरुषों की कंठहार हैं जिनके कारण ही वे पहचाने जाते हैं। जो कठिनाई को वरण नहीं कर सकता, आपत्तियों को सहन नहीं कर सकता और विषम परिस्थितियों में भी प्रसन्न नहीं रह सकता वह कभी श्रेष्ठ पुरुष नहीं बन सकता और न कोई श्रेयस्कर कार्य ही कर सकता है।

महात्मा कम्प्यूशियस जहाँ एक दार्शनिक और आध्यात्मिक व्यक्ति होने के नाते विरक्त भाव से ही रहते थे, वहाँ समाज में फैली भ्रष्ट परम्पराओं के प्रति उदासीन न होते थे। वे जहाँ भी अहितकर प्रवृत्तियों को चलता देखते थे, वहाँ पहुँच जाते थे और सुधार का प्रयत्न किया करते थे। उन्होंने साधु-संन्यासियों की धर्म-संस्थाओं का अध्ययन किया और पाया कि धर्म प्रचार करने वाले लोग प्रारम्भ में तो साहसपूर्वक ब्रह्मचर्य का व्रत ले लेते हैं पर वे बाद में उसका पालन नहीं कर पाते और शीघ्र ही विकारों और परिस्थितियों का शिकार बन कर व्रत-भंग के दोषी बन जाते हैं।

महात्मा कम्प्यूशियस ने इस परम्परा को ठीक नहीं समझा। उन्होंने इस वृत्ति को धर्म की आड़ में व्यभिचार ही माना। उन्होंने लोगों को समझाया कि ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर तोड़ने की अपेक्षा यही अच्छा है कि विवाहित जीवन स्वीकार किया जाये और पवित्रतापूर्वक रहकर धर्म का कार्य किया जाये। अनियमित ब्रह्मचर्य की अपेक्षा नियमित विवाह कहीं श्रेष्ठ और धर्मसम्मत है।

महात्मा कम्प्यूशियस अपने समय के बहुत बड़े प्रचारक थे। जीवन भर उन्होंने लोगों को धर्म की शिक्षा दी। लाखों लोग उन्हें अपना गुरु मानते थे और उसी के अनुरूप उनका सम्मान भी करते थे। किन्तु निस्पृह और निरभिमानी कम्प्यूशियस ने कभी अपने को धर्म-गुरुओं की परम्परा में नहीं माना। वे सदैव यही कहा करते थे कि मैं तो एक साधारण-सा धर्म-सैनिक हूँ और धर्म का आश्रय लेकर

अपने जीवन को पूर्ण पवित्र और सार्थक बनाना चाहता हूँ। मुझे न धन की इच्छा है न यश की। मैं सम्मान और प्रतिष्ठा भी नहीं चाहता। मुझे यदि कोई इच्छा है तो केवल यही कि मैं एक पूर्ण मनुष्य बन सकूँ। उसी के लिये मैंने धर्म का आश्रय लिया है और जीवन में आध्यात्मिक सदगुणों को स्थापित करने का प्रयत्न किया है।

वे मध्यम मार्ग पर चलने की शिक्षा लोगों को देते थे। वे 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' सिद्धान्त के समर्थक थे। उनका कहना था कि अति की सीमा पर पहुँच कर उत्तम वस्तुएँ भी विकृत हो जाती हैं। सीमा से बाहर हुई ब्रह्मा आडम्बर के रूप में, सतर्कता भीरुता के रूप में, शक्ति उड़ड़ता के रूप में और सरलता, मूर्खता के रूप में परिणत हो जाती है। किसी भी विषय में जब मनुष्य सन्तुलित मात्रा से आगे बढ़ जाता है तब वह सामंजस्य खो बैठता है और उसके कार्य बेढंगे, हानिकारक तथा दुःखदायक बन जाते हैं। इसलिए मध्यम वृत्ति का जीवनयापन ही सर्व-साधारण के लिए उपयुक्त है।

वे कहा करते थे—मनुष्य को सत्यनिष्ठ होना चाहिए। सत्य केवल बुद्धि का विषय नहीं उसे जानने से ही क्रम न चलेगा, वरन् उसकी उपयोगिता तभी है जब उसे जीवन में व्यवहार किया जाय। निश्चलता और आत्मविश्वास मानव जीवन की सफलता के दो प्रधान सोपान हैं। इनमें कमी आने से ही मनुष्य का अधः पतन होता है। प्रत्येक विचारशील व्यक्ति का कर्तव्य है कि आत्म निरीक्षण करता रहे और जब भी अपने अन्दर त्रुटियाँ दिखाई पड़ें उनमें बिना संकोच के सुधार करे। अपने दोषों को ढूँढ़ना और उन्हें निकाल देना सच्ची वीरता का चिह्न है।

परिपूर्ण जीवन की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि—इन्द्रियों की तृप्ति और व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा की पूर्ति से नहीं वरन् मानव जीवन की सफलता इस बात में है कि वह अपनी मानसिक और नैतिक दुर्बलताओं पर विचार करे। जिसने अपने जीवन को अनुशासित और संयमित बनाया उसी का जीवन धन्य है। दुःख और सुख में, सफलता-असफलता में विपन्नता और सम्पन्नता में धैर्य, साहस और विवेक से क्रम लेकर मन की साम्यावस्था को बनाये रहना ही बुद्धिमानी का चिह्न है।

कन्फ्यूशियस धर्मीनिष्ठ तो थे पर अपने आपको धर्म गुरुओं की श्रेणी में कभी सम्मिलित नहीं होने दिया। उन्होंने अपने संबंध में विचार प्रकट करते हुए लिखा है—श्रेष्ठ मनुष्य वह है जो जैसा कहे वैसा ही आचरण करे। मैंने जीवन भर यही प्रयत्न किया है कि मैं सदगुण सम्पन्न एक पूर्ण मनुष्य बनूँ और इसी को मैंने धर्माचरण माना है और इसी के लिए दूसरों को भी शिक्षा दी है।

वे चाहते थे कि कोई बुद्धिमान शासक उनकी सलाह से राजकाज चलाये पर जीवन के अंत तक ऐसा कोई शासक उन्हें मिला नहीं। जीवम के अन्तिम दिन उन्होंने ग्रन्थ लिखने और शिष्यों को पढ़ाने में लगाये। उनका 'चन चिउ किंग' ग्रन्थ प्रसिद्ध है।

कई राजाओं-ने आश्रय वृत्ति देने का प्रस्ताव रखा, पर उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया और गरीबी से दिन काटते रहे। उनके शिष्य

जब इस गरीबी से दुःखी होते और सहायता का प्रस्ताव करते तो वे कहते "उत्कृष्ट पुरुषों को कष्टसाध्य जीवनयापन करने के लिए तैयार रहना चाहिए। निकृष्ट पुरुष इन अवस्थाओं में टिक नहीं पाते और वे शीघ्र ही महापुरुषों के उपयुक्त गरीबी को छोड़कर चले जाते हैं। मुझे अल्पहार, भूमिशयन और जीर्ण वस्त्रों पर सन्तोष है। यह पाप की कमाई से प्राप्त हुई विलासिता और धूम-धाम की वाहवाही की अपेक्षा मेरे लिए कहीं उत्तम है।"

चीन के एक अत्याचारी शासक ने कन्फ्यूशियस की मृत्यु के दो सौ वर्ष बाद ही उनकी लिखी सब पुस्तकों को जलवा दिया और उनके अनुयायी विद्वानों को फाँसी पर लटकवा दिया, फिर भी उनके सिद्धान्त आज भी चीन ही नहीं सारे ससार में आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं।

अत्याचारी की छत्र-छाया से तो निर्जन वन ही श्रेष्ठ

एक बार चीन के महान् दार्शनिक कन्फ्यूशियस, अपने कुछ शिष्यों के साथ ताई नामक पहाड़ी पर से कहीं जा रहे थे। एक स्थान पर वे सहसा रुक गये। शिष्यों ने जिज्ञासु नेत्रों से उनकी ओर देखा। वे बोले, 'कहीं पर कोई रो रहा है।' इतना कहकर वे रुदन को लक्ष्य करके चल पड़े। शिष्यों ने उनका अनुगमन किया।

कुछ दूर जाकर उन्होंने देखा एक स्त्री रो रही है। उन्होंने बड़ी सहानुभूति से रोने का कारण पूछा। स्त्री ने बताया कि इसी स्थान पर उसके पुत्र को एक चीते ने मार डाला। कन्फ्यूशियस ने कहा—'किन्तु तुम अकेली ही दीखती हो तुम्हारे परिवार के अन्य लोग कहाँ हैं?' स्त्री ने कतर होकर बताया अब उसके परिवार में है ही कौन। इसी पहाड़ी पर उसके ससुर और पति को भी चीते ने फाड़ डाला था। कन्फ्यूशियस ने बड़े आश्चर्य से कहा, 'तो तुम इस भयंकर स्थान को छोड़ क्यों नहीं देती?' स्त्री बोली, 'इस स्थान को इसलिए नहीं छोड़ती कि यहाँ पर किसी अत्याचारी का शासन नहीं है।'

महात्मा कन्फ्यूशियस यह सुनकर चकित हो गये। उन्होंने शिष्यों की ओर उन्मुख होकर कहा, यद्यपि, निश्चित रूप से यह स्त्री करुणा और सहानुभूति की अधिकारिणी है। तथापि इसकी बात ने हम लोगों को एक महान् सत्य प्रदान किया है। वह यह कि अत्याचारी शासक एक चीते से अधिक भयंकर होता है। अत्याचारी शासन में रहने की अपेक्षा अच्छा है कि किसी पहाड़ी अथवा वन में रह लिया जाये। किन्तु यह व्यवस्था सार्वजनिक नहीं हो सकती। अस्तु, जनता को चाहिए कि वह अत्याचारी शासन का समुचित विरोध करे और सत्ताधारी को अपना सुधार करने के लिये विवश करने का उपाय करे। अत्याचारी शासन को भय के कारण सहन करने वाला समाज किसी प्रकार की उन्नति नहीं कर पाता। विकासहीन जीवन बिताता हुआ वह युगों तक नारकीय यातना भोगा करता है तथा सदा-सर्वदा अवनति के गर्त में ही पड़ा रहकर जिस-तिस प्रकार जीवन व्यतीत करता रहता है। अतः दुःशासन को पलटने के लिए जनता सदैव जागरूक रहे।

सच्चा ज्ञानी

सन्त कम्प्यूशियस अपने शिष्यों को सच्चा ज्ञानी दिखाने चले। सबसे पहले वे एक महात्मा की गुफा में पहुँचे। महात्मा वहाँ जप, तप, ध्यानादि करते थे। उन्हें देखकर वे महात्मा उन्हें अपनी साधना में बाधक जान बिगाड़ पड़े और उन्हें भगा दिया।

अब वे एक गाँव में पहुँचे वहाँ एक तेली कोल्हू चला रहा था। सन्त कम्प्यूशियस ने उससे ब्रह्म के विषय में पूछा। तेली ने उत्तर दिया— “यह बैल ही मेरा ब्रह्म है। यह मेरी सेवा करता है और मैं इसकी करता हूँ।”

आगे चले तो एक बुढ़िया मिली जो चरखा कात रही थी। उसके निकट ही बच्चे शोर मचा रहे थे। वह किसी नटखट बालक को डाँट भी देती, कोई पानी माँगता तो पानी भी पिला देती और कोई कुछ प्रश्न पूछता तो उसका उत्तर भी दे देती। कम्प्यूशियस और उनकी शिष्य मण्डली को देख बच्चे भाग गये। उस बुढ़िया से भी उन्होंने ब्रह्म के बारे में पूछा— बुढ़िया बोली— हाँ, अभी तो वह यहीं खेल रहा था तुम्हें देखकर भाग गया।”

कम्प्यूशियस ने अपने शिष्यों को समझाया— पहले महात्मा छोटे ज्ञानी थे जो संसार से दूर शान्ति खोजते हैं। मध्यम श्रेणी का वह तेली है जो अपनी ज्ञान प्राप्ति की आकांक्षा को धीरे-धीरे पूरी करता जा रहा है और निष्काम ज्ञानी के रूप में यह वृद्धा ही सच्ची ज्ञानी है।

ईर्ष्या से बचें

पुरानी बात है चीन के दो व्यक्तियों ने आमने-सामने दुकानें खोलीं। दोनों ही धड़ल्ले से चलने लगीं। ग्राहकों की भीड़ लगी रहती और कमाई भी खूब होती।

इतने पर भी दोनों ही दुःखी रहते, उन्हें कितनी ही बीमारियों ने घेर लिया और सुख-सुख कर काँटा हो चले। इलाज कोई कारगर न हुआ तो मौत के दिन गिनने लगे।

समझदारों ने सलाह दी कि वे कम्प्यूशियस के पास परामर्श के लिए जायें। कई बार दार्शनिक चिकित्सकों से अच्छा इलाज कर देते थे।

दोनों की अन्तर्व्यथा कम्प्यूशियस ने सुनी। दोनों ईर्ष्या के मरीज थे। सामने वाले की बढ़ोतरी सहन न कर पाते और मन ही मन कुदृष्टे रहते। यही था उन की बीमारियों का मूल कारण।

कम्प्यूशियस ने इलाज बताया वे दुकानों के काउन्टर बदल लें मालिकी ईश्वर की समझें और उनके गुमास्ते की तरह काम करते रहें।

इस उपाय से ईर्ष्या से पिण्ड छूटा और कुछ ही समय में दोनों पूरी तरह निरोग हो गए।

अच्छी सरकार किसे कहते हैं ?

एक बार कम्प्यूशियस के किसी शिष्य ने उनसे पूछा “अच्छी सरकार किसे कहते हैं ?”

कम्प्यूशियस ने उत्तर दिया “जिसके पास पर्याप्त अन्न हो— पर्याप्त अस्त्र-शस्त्र हों— तथा जिस पर जनता का विश्वास हो।”

शिष्य ने पुनः पूछा “मान लीजिये तीनों बातें न मिल सकें ?”

गुरु ने कहा “इनमें से हथियार निकल सकते हो।”

शिष्य की जिज्ञासा शांत न हुई और उसने फिर प्रश्न किया “यदि इन चीजों में से केवल एक ही रखना हो— तो कौन-सी पसंद करेंगे ?”

कम्प्यूशियस ने गम्भीर मुद्रा में उत्तर दिया “जनता का विश्वास।”

कठोरता नहीं कोमलता अपनायें

चीन के महान् तत्त्वदर्शी कम्प्यूशियस के मरने का समय आ पहुँचा। अन्तिम दर्शन के लिए उनके अनेक शिष्य समीप खड़े थे। उनकी जिज्ञासा थी, गुरुदेव हमें कुछ उपदेश देकर जायें।

कम्प्यूशियस ने शिष्यों को पास बुलाकर पूछा देखना मेरे मुँह में जीभ है या नहीं ? और उन्होंने मुँह फाड़ दिया।

जीभ मुँह में थी ही। होनी भी चाहिए। शिष्यों को आश्चर्य हुआ कि यह क्या बेतुका सवाल पूछा जा रहा है ? फिर भी शिष्टावश उन्होंने यही कहा— है।

अब दूसरा प्रश्न पूछा गया— बताओं मेरे मुँह में दाँत हैं या नहीं ? इस बार भी उन्होंने पूरा मुँह खोला। दाँत नहीं थे। आयु के हिसाब से वे पहले ही झड़ चुके थे। शिष्यों को इस प्रश्न पर भी वैसा ही अचम्भा हुआ।

फिर उन्होंने यही कहा— दाँत तो गुरुदेव एक भी नहीं है। कम्प्यूशियस ने तीसरा प्रश्न किया। बच्चे जीभ तो मेरे जन्म से पहले मौजूद थी और दाँत बाद में निकले। फिर यह क्या हुआ कि पीछे जन्मने वाले पहले चले गये और जो पहले पैदा हुई वह पीछे भी मौजूद है।

शिष्य क्या उत्तर देते। उनसे कुछ कहते न बन पड़ा। सब चुप खड़े थे एक-दूसरे का मुँह ताक रहे थे।

स्तब्धता तोड़ते हुए कम्प्यूशियस ने कहा— बच्चो, जीभ कोमल है और सरस। दाँत कठोर, क्रूर और निर्मम। सो दाँत टूट गये और जीभ का अस्तित्व अन्त तक बना हुआ है।

इस प्रकार इस महान् दार्शनिक ने अपनी अन्तिम और अति महत्वपूर्ण शिक्षा शिष्यों को दी और अपनी आँखें बन्द कर लीं।

सज्जनता

कम्प्यूशियस के एक शिष्य ने उनसे सज्जनता के विषय में पूछा। कम्प्यूशियस ने कहा— “सामान्य जनों से सदा ऐसे व्यवहार करो जैसा किसी महत्वपूर्ण संस्कार का संचालन कर रहे हो। घर के बाहर सदा ऐसे व्यवहार करो, जैसे किसी महत्वपूर्ण अतिथि के सामने घर में करते हो। दूसरों के साथ ऐसा कुछ न करो, जैसा कि तुम नहीं चाहते कि दूसरा तुम्हारे साथ करें। सज्जन शब्दों में कृपण होते हैं।”

‘तो क्या शब्दों की कृपणता ही सज्जनता है?’ एक अन्य शिष्य ने पूछा।

उन्होंने उत्तर दिया— “करना, बोलने से कितना अधिक कठिन है, यह देखते हुए बोलने में भला कौन कृपण न होगा?”

आगे जो युग है, वह गण से वक्तव्य का है, नेतृत्व का नहीं। हमारे यहाँ कुछ लोग बहुत ऊँचे हो गये, पर आम जनता का स्तर नीचे रहा। यूरोप में आम जनता का स्तर हमारे यहाँ से ऊँचा है। इस पर भी आध्यात्मिक दृष्टि से सोचना होगा।

कोई एक ऊँचा मनुष्य हो और बाकी सब नीचे हों, उस एक की जय-जयकार चले और उसके कारण लोगों का थोड़ा-बहुत उत्थान हो यह अधिक अच्छा नहीं। आवश्यक यह है कि सारे समाज का चित्त ऊपर उठाएँ। वह भले ही उतना न उठे, जितना व्यक्ति का उठा था, फिर भी उसकी शक्ति ज्यादा होगी। चित्त ऊपर उठाने में, एक प्रेरणा से प्रेरित समूह काम करेगा, तो सुगमता होगी।

सरल व सौम्य धर्म संस्थापक— कांगफ्यूत्सी

चीन के प्राचीन तीन मुख्य धर्मों में से एक है ‘कनफ्यूश’ दूसरी संस्था है कांगफ्यूत्सी और तीसरी है ताओ धर्म।

कांगफ्यूत्सी ने अपने को कभी मसीहा नहीं कहा, न कोई अलौकिक चमत्कार दिखाने और सन्त-महन्त का बाना पहना। वे एक सामान्य नागरिक के घर जन्मे और उसी स्थिति में संसार छोड़कर चले गये। फिर भी उनका धर्म प्राचीनकाल के चीन में अत्यन्त लोक-प्रिय रहा। करोड़ों अनुयायी बड़ी श्रद्धा के साथ उसका पालन करते रहे। लोग उन्हें महन्त ही मानते रहे, जैसे कि वे वस्तुतः थे।

आज के शातुंग प्रदेश को उन दिनों ‘लू’ कहा जाता था। ईसा से कोई ५०० वर्ष पूर्व कांगफ्यूत्सी का जन्म वहीं ‘त्सी’ गाँव में हुआ। दो बेटियों के बाद ७० वर्ष की आयु में उनके पिता ने यह सन्तान पाई थी, सो खुशी भी बहुत मनाई गई।

तीन साल की उम्र में पिता स्वर्गवासी हुए और तैतीस साल की उम्र में माँ भी सिधार गई। उन्हें अपने पाँवों पर खड़ा होना पड़ा। सरकारी गोदाम में भण्डारी की नौकरी मिल गई। विवाह का सुयोग्य भी इन्हीं दिनों जम गया।

दूसरे युवक जिस तरह नौकरी से छूटते ही मटरगश्ती यार-वासी या दूसरे किस्म की समय की बातों में लग जाते हैं वह तरीका ‘त्सी’ को जरा-भी पसन्द नहीं आया। उन्होंने बचे हुए समय के एक एक क्षण की मूल्य बात समझी और खाली रहना एक शैतानी कृत्य जैसा मान लिया। जब देखो वे किसी के काम में लगे हुए ही देखते।

भण्डारी की नौकरी करते हुए जो समय बचता उसमें वे विद्याध्यन करते रहते। बाकी समय में उन्होंने संगीत और कविता का अच्छा अभ्यास कर लिया। गणित और इतिहास में भी उनकी रुचि हो गई।

ग्यारह वर्ष के निरन्तर परिश्रम से उन्होंने अच्छी विद्या प्राप्त करली और बचत का कुछ पैसा भी जमा हो गया। चौतीस साल

की आयु में उन्होंने मानवीय आदर्शों के शिक्षण तत्वाद् गुणों के अभ्यास का विद्यालय खोला। नौकरी छोड़ कर— उनका विद्यालय चलाने का काम लोगों को अटपटा लगा पर ‘त्सी’ ने इसी के लिए आरम्भ में ही तैयारी की थी। वे पेट पालते हुए जीने भर के लिए नहीं जन्मे थे। मानव जीवन का सदुपयोग लोक-मंगल के लिए बढ़ कर अनुदान प्रस्तुत करने में ही समझ लिया था और दिशा निर्धारण करने में उन्हें भूलना पड़ा न भटकना।

शिक्षण की शैली, अध्यापक की निष्ठा दोनों ने मिलकर सोने पे सुहागे का काम किया। विद्यालय ने आशातीत प्रगति की और उसमें तीन हजार छात्र पढ़ने लगे। इतनी बड़ी संख्या के छात्रों का वह एक ही विद्यालय उन दिनों उस प्रदेश में था।

अध्ययन करके निकले हुए छात्रों को व्यक्तित्व और कर्तव्य— ‘त्सी’ की उनके विद्यालय की कीर्ति को बढ़ाने में बहुत सहायक सिद्ध हुई। सारे देश में उन्हें कर्मनिष्ठ, चरित्रवान् और दूरदर्शी महापुरुष समझा जाने लगा था। वे वे अध्यापक, पर अपनी उन्होंने गतिविधियों के कारण वह अध्यापन कार्य भी उनकी गरिमा को आसमान तक उठा ले जाने में सफल हुआ। चीनी जनता के मन में उनके लिए असाधारण सम्मान उपजा।

जनता ने अति आग्रह करके उन्हें ‘चुंग तू’ इलाके का शासक बना दिया। उनकी शासन व्यवस्था में प्रजा की खुशहाली बे-हिसाब बढ़ी और अपराधों का एक प्रकार से सफ़ाया ही हो गया।

लू के राजा ने उन्हें बुलाया और ऐसे अच्छे शासन के हिन्ट पूछे। उन्होंने बहुत कुछ बताते हुए सार रूप में दो बातें कहीं। अच्छों को पुरस्कार और बुरों को दंड देने में उन्होंने कभी असावधानी नहीं बरती। फलस्वरूप अच्छाइयाँ बढ़ती गई और बुराइयाँ निरस्त हो गई। अच्छे शासन में यह गुण होने ही चाहिए। जहाँ बुरे लोग लाभान्वित होंगे और अच्छाइयाँ नुकसान में मिलीं, वहाँ राजा और प्रजा दोनों को ही दुःखी होना पड़ेगा।

विशाल ‘लू’ राज्य का उन्हें मन्त्री बनाया गया। उन्होंने पद सम्भालते ही अपनी नीति सरकारी कर्मचारियों पर लागू की और उनके गुण-दोषों को खोज कर दंडित-पुरस्कार करना शुरू कर दिया। कर्मचारियों के सुधारने से सारी शासन व्यवस्था बदल गई। प्रजा में अच्छाई बढ़ने से खुशहाली बढ़ी और बुराई को कठोरतापूर्वक दंडित करने की नीति ने अपराधों का सफ़ाया कर दिया, राज्य की आशा-जनक उन्नति हुई।

‘त्सी’ ज्यादा समय शासन में नहीं रहे। उन्होंने अपनी वास्तविक स्थिति प्रजा के बीच देखी सो वे शिक्षण के लिए निकल पड़े। विद्यालय दूसरे लोग चलाते थे, शासन दूसरे लोग। परामर्श उनका उन्हें भी मिलता रहा पर वे स्वयं परिव्राजक की तरह लोक-शिक्षण को ही सर्वत्र कार्य समझ कर उसमें जुटे रहे। इस प्रकार उन्होंने तेरह वर्ष बिताये। जब शरीर भ्रमण के योग्य न रहा, शिथिलता बढ़ गई तो वे घर लौट आये और ७३ वर्ष की आयु में उनका देहावसान हो गया। उनकी मृत्यु का शोक समस्त चीन में मनाया गया और शासन की ओर से उनकी समाधि पर श्रद्धाजलि अर्पित की गई।

कांगपयूत्सी के स्वर्गवास के बाद उनके शिष्यों में शिथिलता नहीं आई वरन् वे उनके मन्तव्यों का प्रचार और भी अधिक उत्साह से करने लगे। इस प्रचारकों में 'मैनशियस' नाम मुख्य है। उसने अपना समय और धन उचित श्रद्धा और तत्परता के साथ लगाया उसके फलस्वरूप वह विचारधारा एक महान् धर्म के रूप में परिणत हो गई और 'कनपयूत्स' धर्म पुराने चीन का एक मान्य धर्म बन गया।

इस धर्म में स्वर्ग मुक्ति की, मरणोत्तर जीवन की लम्बी-चौड़ी बातें नहीं हो सकी हैं। वरन् सारा महत्त्व मानवीय सच्चरित्रता को दिया है (१) प्रेम, (२) न्याय, (३) नम्रता, (४) विवेक, (५) ईमानदारी। इन पाँच आदर्शों को मनुष्य की सुख-शान्ति के लिए आवश्यक बताया गया है कि— चरित्रवान् ही धर्मात्मा है। जिनके अन्तःकरण में सज्जनता और उदारता है वही मानो सही अर्थों में आस्तिक है। पूजा प्रार्थना भी इस धर्म की ऐसी है जो सर्व-साधारण के लिए बोधगम्य और सरल कही जा सके।

त्सी ने यह सिद्ध कर दिया कि महान् व्यक्ति बनने के लिए विज्ञापन प्रदर्शित करने वाले साधनों की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी महान् गुणों और महान् आदर्शों के प्रति जन्मे हृदय में निष्ठावान् होने की, उसी निष्ठा ने 'त्सी' को महान् धर्म-संस्थापकों की पंक्ति में ला बिठाया।

त्सी अपनी झोंपड़ी में कुछ लिख रहे थे। लेख पूरा करके उन्होंने एक लम्बी साँस खींची और उदास होकर कोने में लुढ़क गये।

उनके पोते ने यह स्थिति देखी तो घबड़ाया। तबियत का हाल पूछने के लिए आने वालों से उन्होंने यही कहा— जिनके चरित्र मैं लिखता हूँ उनकी तुलना में खुद कितना छोटा पड़ता हूँ। उसी रंज में मेरा दिल टूटता है।

त्सी ने अपने समान ही अनेकों लोक-सेवी शिष्य ढाले थे। ऐसे ही शिष्यों में एक था— येन हूर्द।

त्सी ने हूर्द की गरीबी को देखते हुए उसे अच्छा सरकारी पद दिलवाने की कोशिश की।

हूर्द ने उस अवग्रह को अस्वीकार करते हुए यही कहा— थोड़ी-सी जमीन मेरे पास है सो उससे गुजर आसानी से हो जायेगी, मुझे इक तारे पर घर-घर आपका आदेश सुनाने भर की अभिलम्बन है सो उसी का आशीर्वाद दीजिए।

फारस के तथागत—

महात्मा जरथुस्त्र

फारस देश के मीडिया प्रान्त में एक नगर है अजरबेजान। ईसा से छह सौ वर्ष पूर्व वहाँ बोरशसफ राजा का राज्य था। राजारानी ने दो पुत्रों को जन्म देने के बाद एक ऐसे पुत्ररत्न को जन्म दिया जिसकी यश कीर्ति से दसों दिशाएँ गूँज उठीं। यही पुत्र आगे चलकर महात्मा जरथुस्त्र के नाम से विख्यात हुआ और अपने जीवन-काल में ही हजारों लाखों व्यक्तियों को तमोमय अन्धकारपूर्ण मार्ग से हटाकर प्रकाश

और ज्योति के पथ पर अग्रसर करने में सफल हुआ। इस विभूति-वान आत्मा को धारण करने का श्रेय उनकी धर्मपरायणा कोमल चित्त और मधुर स्वभाव वाली माता को ही है। वस्तुतः ऐसी ही आत्माएँ किसी तपःपूत-आत्मा का तेजस सह और धारण कर सकती हैं।

जरथुस्त्र की माता मीडिया प्रान्त के नरेश की पुत्री थीं। बोरशसफ भी कम शक्तिशाली नहीं थे। परन्तु उस समय फारस देश कई छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था और सभी राज्य एक-दूसरे को ललचायी दृष्टि से देखते थे व एक-दूसरे के विनाश व विजय हेतु आपस में ही लड़ते-झगड़ते रहते। ऐसे ही किसी महत्त्वाकांक्षी किन्तु ईर्ष्यालु नरेश से किसी ने कह दिया कि बोरशसफ का मंजला बेटा— ईश्वरीय अनुग्रह प्राप्त है और वह शीघ्र ही सारे फारस को अपने राज्य में मिला लेगा तो कंस की तरह वह भी अपने इस शत्रु को जान से मार देने के लिए उद्यत रहने लगा। प्रारम्भिक बार तो असफल रहा लेकिन उससे जरथुस्त्र के माता-पिता अवश्य सावधान हो गये। उक्त नरेश फिर भी अपनी मंशा पूरी करने का प्रयत्न करता रहा परन्तु कड़ी सुरक्षा व्यवस्था और जरथुस्त्र की प्रबल जीवनीशक्ति के कारण वह उनका कुछ न बिगाड़ सका।

महात्मा जरथुस्त्र अपने शैशव काल में असाधारण प्रतिभा सम्पन्न और कुशाग्र बुद्धि रहे थे। यह उनके पूर्व जन्म की तप-साधनाओं का ही परिणाम कहना चाहिए। उचित समय पर माता-पिता ने अपने बेटे की शिक्षा दीक्षा का भी समुचित रूप से प्रबन्ध किया था। जिसके फलस्वरूप उनकी प्रतिभा दिन दूनी और रात चौगुनी गति से बढ़ने लगी। धर्मपरायणा और सुशीला माता ने अपने लाड़ले को धर्मशास्त्रों में पारंगत करने के लिए धार्मिक शिक्षा का प्रबन्ध भी किया। अध्यवसाय, लगन और संस्कारों के प्रभाव स्वरूप उन्होंने इस विषय में बड़ी कुशलता प्राप्त की। वे अन्य धर्मों के गूढ़ तत्त्वों को भी भलीभाँति समझने लगे।

यह बात नहीं थी कि धर्म और अध्यात्म को उन्होंने जानने भर का विषय समझा हो इस अनुभूत और खरे मार्ग को— इसके सिद्धान्तों को अपने जीवन में उतारने की भी चेष्टा की थी। उस समय फारस देश के सामाजिक वातावरण में धर्म-चर्चाओं का तो खूब जोर रहता लेकिन व्यवहार और जीवन उन आदर्शों से एकदम इतना विपरीत कि कुछ कहा नहीं जा सकता। शैशव को भोग कर कैशोर्य से गुजरते हुए महात्मा जरथुस्त्र तब युवावस्था में पदार्पण कर चुके थे और अपनी खुली आँखों से उन्होंने समाज की इस स्थिति को देखा-परखा था। इसलिए उनके लिए यही विचार्य हो गया था कि किस प्रकार इस महान् मार्ग को वाक्विलास का साधन उपकरण न रहने देकर व्यवहार और आचरण का विषय बनाया जाय।

बोरशसफ पाँच पुत्रों के पिता थे। उनका जब चौथापन आया और बच्चे भी जवान होने लगे तो उन्होंने सोचा कि राज्य सम्पदा और समस्त जायदाद पाँचों भाइयों में बराबर-बराबर बाँट दी जाय। पता नहीं वृद्धावस्था के तकाजे में आकर प्राण अपने आपको कब मृत्यु के हवाले कर दें। एक-एक भाई को अलग-अलग बुलाकर

बोरशसफ ने अपना मनोगत कहा। सभी तैयार हो गये। पिता अपने उत्तरदायित्वों के साथ प्रचुर-धन सम्पदा भी सौंप रहे हैं, उसे भोगने का प्रलोभन किसे अस्वीकार होगा। परन्तु अस्वीकार किया एक ने जरथुस्त्र-बोरशसफ के मंझले और तीसरे पुत्र ने।

माता-पिता को बड़ा आश्चर्य हुआ जरथुस्त्र अपने भाग का हिस्सा लेने से क्यों मना कर रहे हैं यह किसी की समझ में न आ रहा था। माँ ने आखिर पूछ लिया— “क्या कारण है बेटा। क्या तुझे हमारा पैसला नापसन्द है।”

“नहीं माँ ! यह बात नहीं है।” जरथुस्त्र ने कहा।

“तो फिर ?”

“मैंने अपने लिए एक ऐसी राह चुनी है जिस पर चलने में यह सब बाधक बनेगा।”

“क्या राह चुनी है। जरा हम भी तो सुनें।”

“वह राह है अज्ञान और कलह में डूबे अपने देशवासियों को सच्चा धर्म सिखाने का पुनीत कार्य।”

“क्या ! तू धर्म के सम्बन्ध में सब कुछ जानता है जो लोगों को सिखायेगा।”

“जानता तो नहीं हूँ। परन्तु मेरे भीतर ईश्वर का एक ऐसा प्रतिनिधि बैठा है जो मुझे यह सब सिखायेगा।” “अच्छा।” एक लम्बा-सा शब्द कहा बोरशसफ ने और फिर पूछा— “अब लोगों को सच्चा धर्म सिखायेगा तो इस राज्य को कौन चलायेगा।”

“मेरे और भी भाई तो हैं और यह मेरा राज्य है भी नहीं। मेरा शासन क्षेत्र तो लोगों के हृदय है जिन पर मैं राज्य करूँगा।”

“और इस राज्य को नहीं भोगेगा तो खायेगा क्या ?”

“वही जो दीन-हीन और अकिंचन स्थिति में पड़े लोग खाया करते हैं”— जरथुस्त्र पूछे गये प्रश्नों का एक के बाद एक कर इस प्रकार जबाब देते जा रहे थे कि बोरशसफ तथा महारानी ने कुछ भी कहना व्यर्थ समझा और जरथुस्त्र का निर्णय अटल जानकर छोड़ दिया। राज्य का बंटवारा हो गया और सम्पत्ति का विभाजन भी चारों भाइयों में दिया गया तो जरथुस्त्र एक छोटा-सा फटका अपनी कमर से बाँध कर निकल पड़े— गंतव्य था ईश्वर-लक्ष्य या सत्य की खोज।

घर छोड़ते ही उन्होंने साधु वेश धारण कर लिया और यत्र-तत्र भटकते रहे। अनेकों कठिनाइयाँ आयीं और अनेकों विपदायें परन्तु सत्य की खोज में निकले इस यात्री के लिए तो जैसे कुछ भी नहीं था। उन्होंने सब कुछ बिना आपत्ति किये सह लिया यहाँ तक कि दिनों और हफ्तों की भूख-प्यास भी। इस दैहिक क्षुधा तृषा से प्रबल क्षुधा तृषा थी सत्य और ईश्वर की। जिसे बुझाने के लिए वे घूमते-घूमते और कष्ट सहते सूख कर काँटा हो गये। वर्षों तक खोज चलती रही तो किसी ने बताया कि महात्मा तूर के पास जाओ वह तुम्हारी मनोकामना पूरी करेंगे। अगणित कष्ट-परेशानियाँ सह कर जरथुस्त्र महात्मा तूर के पास गये। तूर ने उनसे प्रेमपूर्ण और स्नेहमय व्यवहार किया व आत्मसाधना में दीक्षित भी। लगन-खोज यहाँ पूरी हो सकी।

दीर्घकाल तक अपने पास रखकर साधनाओं का अभ्यास कराने के बाद महात्मा तूर ने एकान्त तप की आज्ञा दी। जरथुस्त्र तूर के

आश्रम से निकल कर एक पर्वत द्रोण पर चले गये और एक गुफा में रहने लगे। वहाँ उन्होंने कई वर्षों तक कठिन तप किया। निराहार, निर्जल, शीत-आतप सहन, कर्षण, अर्जन आदि तितिक्षा साधनाओं का क्रम वर्षों चला। यहीं उन्हें भगवान् बुद्ध की तरह तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हुई और वे उस तत्त्वज्ञान का उपदेश संसार मात्र को देने तथा दुःखों, कष्टों में जल रहे मनुष्यों को शान्त-शीतल करने के लिए निकल पड़े। उस समय उनकी अवस्था तीस वर्ष थी और उन्होंने अपनी गाथाओं का प्रथम आरम्भ कर दिया। ये गाथायें गद्य के रूप में हैं और इनमें सीधे-सादे शब्दों में मनुष्य के कल्याण का उपदेश दिया गया है।

आरम्भ में तो लोग उनकी बात सुनने के लिए तैयार नहीं हुए। हर कोई उनका उपहास उड़ाकर चल देता परन्तु वे हिम्मत न हारे। वे घूम-घूम कर गाँव-गाँव में प्रचार करते रहे। लोग सुनें या न सुनें— इसकी उन्हें तनिक भी चिन्ता न हुई। इसी धर्म-प्रवास के काल में जरथुस्त्र सीस्तान प्रान्त पहुँचे। सीस्तान का बादशाह परशातु उनकी बातों से बड़ा प्रभावित हुआ और उनकी शिक्षाओं से अपना हित भी होते देखा। परन्तु उन शिक्षाओं पर चलने से इन्कार कर दिया। निरन्तर मिल रही इन असफलताओं ने महात्मा जरथुस्त्र के लिए यह तथ्य उद्घाटित कर दिया कि जब तक आत्मबल और वाणी में प्रभावकारी क्षमता प्रखरता उत्पन्न न की जाये लोग उन्हें नहीं सुनेंगे और सुनेंगे भी सही तो मानेंगे नहीं। इसलिए अपनी वाणी में प्रखरता शक्ति उत्पन्न करने के लिए वे पुनः वन में लौट गये और वहाँ तप साधना द्वारा आत्मबल का अर्जन भी किया।

तपश्चर्या और आत्मशोधन के विविध उपचारों से उन्हें द्विगुणित उत्साह भर आया। उनका चचेरा भाई त्योमाह उनका पहला शिष्य बना। त्योमाह एक प्रतिष्ठित व्यक्ति था। दूसरे प्रान्तों की राज-सभाओं में भी उसका खूब मान सम्मान होता था। त्योमाह के प्रभाव और जरथुस्त्र के वर्चस्व से सब लोग इस नये धर्म में दीक्षित होने लगे। इस प्रकार सफल प्रचार यात्रायें करते हुए वे अपनी जन्मभूमि की ओर लौटे।

महात्मा जरथुस्त्र की ख्याति दूर-दूर तक फैल चुकी थी। न केवल फारस के ही वरन् आसपास के देशों से भी विद्वान् और गणमान्य प्रतिष्ठित व्यक्ति उनके पास आया करते थे। उनके व्याख्यान युक्तिपूर्ण, तर्कयुक्त और विवेकसम्मत विचारणाओं के प्रतिपादन हुआ करते थे। ओजस्विता और प्रभावपूर्ण वक्तृता शैली से उनके सम्पर्क में आने वाला व्यक्ति बस उनका ही होकर रह जाता था। वाणी ही नहीं उसके पीछे शक्तिरूप से विद्यमान उनका ओजस्वी और आदर्श व्यक्तित्व ही इस सफलता का कारण था। स्वभाव से वे इतने दयालु और करुणाद्रि थे कि अपने सामने किसी कीड़े को भी मरते नहीं देख पाते थे। एक बार की बात है तब वे एकान्त वन में तपाभ्यास में निरत थे। कोई कुत्ता भूख के कारण छटपटाते हुए दम तोड़ रहा था। वे दौड़कर पास की बस्ती में गये और बस्तीवासियों से खाना माँगकर लाये। जब तक वे खाना लेकर वहाँ पहुँचे तब तक कुत्ता दम तोड़ चुका था। इस घटना से उनका हृदय इतना दुःखी रहा कि कई दिनों तक वे खाना भी नहीं खा पाये।

पशुओं के प्रति भी जिनमें इतनी करुणा दबी हो, वह व्यक्ति यदि अपनी करुणा से प्रेरित होकर लोगों को सत्य और धर्म का उपदेश दे तो असम्भव नहीं है कि लोग उसे न सुनें। अपनी जन्मभूमि की ओर लौटते हुए मार्ग में पड़ने वाले एक राज्य के नरेश शाह गस्ताशप ने उनका आतिथ्य किया। शाह ने उनकी बातों को बड़े ध्यान से सुना और प्रभावित हुए।

राजसभा में अन्य दूसरे धर्म-शास्त्रियों को यह सहन न हुआ। क्योंकि इससे उन्हें अपने स्वार्थों पर आघात होने का डर लगने लगा था। इसलिए उन्होंने शास्त्रार्थ की चुनौती दी। शास्त्रार्थ में शास्त्रीगण महात्मा जरथुस्त्र के अकाट्य तर्कों और प्रबल युक्तियों का सामना न कर पाये। हार कर वे जरथुस्त्र को हतोत्साहित करने लगे। परन्तु महात्मा जरथुस्त्र उनके इन प्रयासों और आक्षेपों का भी संयत उत्तर देते रहे। यूँ भी अपनी कुटिल मन्शा पूरी न होते देख छल छद्मों द्वारा उन्हें अपने मार्ग से हटाना चाहा। इन छद्मवेशी पुरुषों ने और धूर्त दुष्टों ने कुत्तों, बिल्लियों, चूहों और ऊँटों के सिर, नाक, कान इत्यादि चुपके से उस स्थान पर रखवा दिये और उधर गस्ताशप के कान इस प्रकार भर दिये कि जरथुस्त्र मायावी है। शाह ने आरम्भ में तो विश्वास कर लिया परन्तु शीघ्र ही उसे अपनी गलती का पता चल गया और भूल को सुधार लिया।

यहाँ तो उनकी जीवन रक्षा हो गई और गस्ताशप उनका परम भक्त हो गया। लेकिन कुछ वर्षों बाद पड़ोस के एक राजा शाह अजीसप ने उस राज्य पर आक्रमण कर दिया। सैनिक दृष्टि से कमजोर होने के कारण शाह हार गया और तोहरानी कुमुक ने राजधानी पर विजय प्राप्त कर ली। तोहरान का शासक भी महात्मा जरथुस्त्र के बढ़ते हुए प्रभाव से बड़ा चिन्तित था और कुछ राजद्रोही व अवसर की ताक में बैठे सभासदों ने अजीसप के कान भर दिये। परिणाम-स्वरूप अपने शाह के आदेश पर तोहरानी सैनिकों ने उन्हें एक धर्म-मन्दिर में जा पकड़ा।

शाह का आदेश हुआ और बिना कोई अभियोग लगाये बिना कोई प्रश्न पूछे महात्मा जरथुस्त्र को मृत्यु दण्ड दे दिया। उस समय उनकी आयु ७७ वर्ष की थी। नास्तिकता और अन्धविश्वास के भंवर में फँस रही जनता को बचाकर ईश्वर की उपासना और पूजा में प्रवृत्त करने तथा समाज के एक प्रगतिशील आचार-संहिता देने वाला यह महामानव उन्हीं जीवन मूल्यों के लिए बलिदान हो गया जिनके लिए वह जिया था। परन्तु उनके स्थापित आदर्श इतने शाश्वत हैं कि आज भी लाखों-करोड़ों लोग उनमें आस्था रखते हैं।

पारसी पैगम्बर जरथुस्त्र ने जिस समय जन्म लिया था, उनका देश अजरबेजान अन्धविश्वासों, अधर्म और पापों में बुरी तरह डूबा हुआ था। आडम्बरी जादूगर सारे समाज पर छाये हुये थे। मंत्र-तंत्र और बाजीगरी दिखलाकर जनता को भयभीत करते और अपनी जेब भरा करते थे। न जाने कितने प्रकार के देवी-देवताओं की पूजा होती थी। धर्म के नाम पर पाप और पाखण्ड का बोलवाला था। लोग धर्म और ईश्वर को बिल्कुल भूल गये थे। जरथुस्त्र ने इस अंधकार में डूबी जनता को प्रकाश दिया। सर्व-शक्तिमान एक ईश्वर की

उपासना का उपदेश दिया और एक सद्धर्म का पथ दिखाया। उन्होंने पूरा जीवन ही इस उपकार में लगा दिया और उसके लिये जो भी कष्ट सहने पड़े, सहे।

जरथुस्त्र बाल्यकाल से ही बड़े ईश्वर भक्त, निर्भीक, सत्यवादी और अन्धविश्वासों के विरोधी थे। एक बार बहुत से जादूगर जरथुस्त्र के पिता पुरशस्थ के पास आये और बहुत-से चमत्कार दिखला कर कहने लगे “हमारा जादू ही भगवान् है। तुम इसी पर विश्वास करो और हमसे दीक्षा ले लो “जरथुस्त्र के मोले पिता जादूगरों को देखकर डर गये और उन आडम्बरियों से प्रभावित होने लगे।”

सात वर्षीय जरथुस्त्र भी उस समय वहाँ पर उपस्थित थे। भगवान् में अटल विश्वास रखने के कारण उन पर जादूगरी का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने साहसपूर्वक जादूगरों को संबोधित करते हुये कहा— “तुम लोग सब छलजीवी हो। अपने जादू को भगवान् बतलाना अथवा उस पर विश्वास करना घोर नास्तिकता है। जादू की पूजा तो नरक में ले जाने वाली है। इसलिये उस शक्तिमान परमात्मा में विश्वास करें। इसी से तुम्हारा कल्याण होगा और तुम्हारे पाप छूटेंगे।”

बालक जरथुस्त्र न केवल भक्त अथवा निर्भीक भी थे वरन् बड़े दयालु और जन-सेवक भी थे। वे अपने गोदाम से भूसा-चारा निकाल कर दूसरे भूखे जानवरों को खिला दिया करते थे। जब घर में पर्याप्त चारा नहीं होता था, तो जंगल से इकट्ठा कर लाते थे और बूढ़े, असहाय और लंगड़े, भूखे जानवरों को खिलाते थे। उनके इस उपकार से जानवर उन्हें इतना प्यार करने लगे थे कि देखते ही चारों ओर जमा हो जाते थे। जरथुस्त्र सबको समान रूप से प्यार करते थे और इस तरह उनका दुःख पूछते थे, मानो वे भी उन्हीं की तरह मनुष्य हों।

एक बार रास्ते में जाते हुए जरथुस्त्र ने देखा कि कोई उदार व्यक्ति गरीबों को आटा बाँट रहा है। लेकिन भीड़ इतनी है कि उससे प्रबन्ध नहीं हो पा रहा है। जरथुस्त्र दौड़ कर गये और उनकी मदद करने लगे। निवृत्त होकर उस व्यक्ति ने जरथुस्त्र को धन्यवाद दिया और कहा— “बड़े अच्छे बालक हो।” जरथुस्त्र ने बड़ी विनम्रता से उत्तर दिया— “आप एक परोपकारी व्यक्ति हैं। मेरे लिये यही बहुत बड़ा परिचय है। आपको आटा बाँटते देखकर मुझे ऐसा लगा जैसे आप स्वर्ग के हमारे साथी हैं और भूमि पर दीनों तथा असहायों की सहायता करने आये हैं।” उस परोपकारी ने जरथुस्त्र में एक श्रेष्ठ आत्मा के दर्शन किए और आगे चलकर उनकी सेवा-साधना— लोक-मंगल के कार्यों में बड़ा सहयोगी सिद्ध हुआ।

आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये जरथुस्त्र ने बड़ी कठोर साधना की। पन्द्रह वर्ष की आयु में ही वे साधना करने लगे थे और बाईस वर्ष तक करते रहे। बीच के इन सात वर्षों में उन्होंने दूध के सिवाय न अन्न खाया, न फलाहार किया। अंत में उन्हें आत्मज्ञान की प्राप्ति हुई और वे उसका प्रकाश संसार को देने के लिये चल पड़े। उनका लक्ष्य एक ही था— “अर्बन्निजः परोवेत्ति गणना लघुचेतसाम्। उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।”

जरथुस्त्र अपने आचरण साधन और लोक-मंगल के बल पर एक पैगम्बर बने और उन्होंने पारसी धर्म का प्रवर्तन किया। बिना साधना के कोई कुछ महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हस्तगत नहीं कर पाता और साधना करने वाला लोक-मंगल के क्षेत्र में सेवा कार्य किये बिना रह ही नहीं सकता। जरथुस्त्र को उनकी परमार्थ साधना एवं आडम्बरों से भरे संसार में विवेकशीलता के विस्तार हेतु सदैव याद किया जाता रहेगा।

महानु शिक्षक—अरस्तू

सिकन्दर महानु का गुरु होने के नाते अरस्तू की महत्ता प्रतिपादित करने वालों की अपनी धारणा बदल कर यह मान लेना चाहिये कि सिकन्दर जैसा शिष्य पाकर अरस्तू महानु नहीं हुए, बल्कि अरस्तू जैसा गुरु पाकर ही सिकन्दर महानु बना है। एक साधारण मिट्टी से बने राजकुमार सिकन्दर को फौलादी बना देने का सारा श्रेय अरस्तू को ही है।

विद्वान् अरस्तू का जीवन लक्ष्य लोक-शिक्षा ही था। उन्होंने जीवन में जो भी विद्या, विचार, बुद्धि अथवा सदगुणों का अर्जन छिपा था वह सब उन्होंने व्यक्ति के निर्माण करने में ही लगा दिया। उन्होंने अपनी महानु उपलब्धियों का उपयोग व्यक्तिगत लाभ के लिये कभी नहीं किया। संसार में सिकन्दर ने जो कुछ भी बल, वैभव, यश अथवा महानता पाई, उसके पीछे अरस्तू की ही वह शिक्षा काम कर रही थी, जो उन्होंने एक-एक सिकन्दर को ही नहीं पूरे राष्ट्र को दी थी। सिकन्दर की सेना का एक सैनिक सिकन्दर की तरह वीर और बलशाली व्यक्ति था। एक अकेले सिकन्दर में वह शक्ति किस प्रकार सम्भव हो सकती थी कि संसार को विजय करने का साहस कर सकता। अथवा कमजोर चरित्र और निर्बल हृदय वाले व्यक्तियों की सेना लेकर दूर देशों तक जाकर इतिहास का निर्माण कर पाता। यह अरस्तू की शिक्षाओं का ही जादू था कि मेसीडोनिया जैसे क्षुद्र देश के लोग इतने वीर, साहसी और कष्ट सहिष्णु बन सके, जो उन्होंने तूफानों के बीच से रास्ता बनाकर भी अपने देश के यश और प्रभाव का विस्तार किया। सिकन्दर और उसका बल स्वयं में कुछ नहीं था। वह जो कुछ था महानु विद्वान् अरस्तू की शिक्षाओं का परिणाम था।

मेसीडोन के राजा फिलिप अपने पुत्र को कुछ बनाना चाहते थे। इसके लिए सबसे बड़ी आवश्यकता इस बात की थी कि योग्य गुरु मिले। बहुत तलाश के बाद दार्शनिक अरस्तू इस योग्य दिखाई दिये कि वे किसी बच्चे का निर्माण कर सकते हैं। फिलिप विद्वान् और व्यक्ति निर्माता गुरु का मूल्य समझते थे। उन्होंने अरस्तू के पास अपना सन्देशवाहक पत्र लेकर भेजा और लिखा— “भगवान् ने मुझे एक पुत्र दिया, है उसकी मुझे खुशी है, पर उससे भी अधिक खुशी इस बात की है कि वह इस जमाने में पैदा हुआ जब कि आप जैसे व्यक्ति निर्माता दार्शनिक मौजूद हैं। इसे मैं आपके द्वारा ऐसा शिक्षित और सुसंस्कृत बना हुआ देखना चाहता हूँ जो हमारे कुल को प्रकाशित

करे।” अरस्तू ने इसे स्वीकार कर लिया और एक साधारण से राजकुमार को महानु सिकन्दर बना दिया, जिसका नाम पराक्रमी योद्धाओं के इतिहास में सदा अमर रहेगा।

सषन वृक्षों की छाया में पत्थर की शिला पर बैठ कर अरस्तू शिक्षा दिया करता था, शिष्य चारों ओर से उसे घेर कर बैठ जाते थे और जीवन के गूढ़ विषयों पर अनुसंधान चलता रहता था। गुरु अपने शिष्यों को लेकर कभी-कभी घने वृक्ष कुंजों में, वन-पर्वतों में चले जाते थे और वहाँ नदी सरोवरों के तट पर बैठ कर शिक्षण-क्रम चला करता था।

सिकन्दर जब शिक्षा प्राप्त करके लौटा तो उसका पिता फिलिप अपने पुत्र के गुणों को देखकर मुग्ध हो गया। उसने अरस्तू के प्रति सच्चे हृदय से कृतज्ञता प्रकट करते हुए सिकन्दर से कहा— “तुम्हारे गुरु का हम अभी तक समुचित सम्मान नहीं कर सके। वे वस्तुतः उच्चतम सम्मान के पात्र हैं। तुम्हारे निर्माण का सारा श्रेय उन्हीं को है।” सिकन्दर ने भी एक प्रसंग में अपने उद्गार प्रकट करते हुए कहा— “पिता से तो मैंने शरीर मात्र प्राप्त किया है। वस्तुतः मेरे पिता तो अरस्तू हैं जिनने मुझे अनुपम ज्ञान देकर कुछ से कुछ बना दिया।”

सिकन्दर ने जो गुण, स्वभाव और चरित्र गुरु के समीप रहकर प्राप्त किया था, उसी के बल पर उसने अनेकों देशों को जीता, विशाल साम्राज्य बनाया और बड़ी-बड़ी सफलताएँ प्राप्त कीं।

शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त सिकन्दर ने आजकल के विद्यार्थियों की तरह गुरु की ओर से अपना मुँह नहीं मोड़ लिया, वरन् उनके कार्य को प्रगति देने के लिए भरपूर सहायता की। अरस्तू ने ऐथेन्स नगर में लीसियम नामक एक विशाल सांस्कृतिक विद्यालय की स्थापना की जिसमें हजारों की संख्या में छात्र विद्याध्ययन करते थे। न केवल यूनान में, वरन् सारे संसार में वह ज्ञानपीठ एक से एक योग्य शिष्य निकाल सकने के कारण प्रख्यात हो गई।

इस लिसियम विद्यापीठ को सिकन्दर की सहायता प्राप्त थी। अरस्तू अपने शोध कार्य में लगे थे। वे विभिन्न जीव-जन्तुओं की जीवन प्रणाली के संबन्ध में खोज कर रहे थे। इस कार्य के लिए अपेक्षित सामग्री तथा कार्यकर्ता जुटाने का व्यय भार भी सिकन्दर ने अपने ही ऊपर लिया था। अरस्तू का जन्म स्टेगिर नामक गाँव में हुआ था। किसी अत्याचारी शासन ने उसे क्रुद्ध होकर उजाड़ दिया था। वहाँ के निवासी अन्यत्र भाग गये थे। गुरु के सम्मान में सिकन्दर ने उस नगर को फिर से बसाया और जो लोग बाहर भाग गये थे उन्हें सब प्रकार की सहायता देकर वापस उस नगरी में बसाया। शिष्य अपने गुरु की नगरी को उजड़ी हुई नहीं देख सकता था।

इटली के प्रसिद्ध कवि दान्ते ने अरस्तू को विद्वानों का अग्रतम नेता कहा। वह अपने समय का विचार सम्राट था। उसके शब्दों के साथ उसका चरित्र भी बोलता था। लगभग सवा दो हजार वर्ष उसके समय को बीते हो गये। फिर भी वह आज तक मानव जीवन के विभिन्न विचार क्षेत्रों को प्रभावित करता है।

अरस्तू अपने शिष्यों के चरित्र गठन के लिए बहुत जोर देकर आदेश दिया करते थे। एक बार सिकन्दर का किसी स्त्री से अनुचित सम्बन्ध हो गया। अरस्तू उसे झिड़कते थे पर वह मानता न था। उस स्त्री को पता चला कि अरस्तू उसके मार्ग में काँटा है इसलिए उसने सोचा कि उसे बदनाम करके सिकन्दर से शत्रुता करा देनी चाहिए। वह एक दिन अरस्तू के पास पहुँची और एकान्त में मिलने के लिए प्रस्ताव किया। अरस्तू ने स्वीकार कर लिया और जिस उद्यान में उन्हें बुलाया गया था वहाँ नियत समय पर जा पहुँचे।

अरस्तू ने अपने शिष्यों द्वारा सिकन्दर तक भी यह सूचना पहुँचा दी थी, पर सूचना अरस्तू ने कहलवाई है यह न बताने का आदेश कर दिया था सिकन्दर छिपा हुआ टोह में बैठा ही था। वह तरुणी आई। उसने अरस्तू के गले में हस्तपाश डाले और कहा— क्या ही अच्छा हो कुछ देर खेलें। अरस्तू ने स्वीकृति दे दी। युवती ने उन्हें घोड़ा बनाया और खुद उनकी पीठ पर बैठकर चलाने लगी। बूढ़ा घोड़ा लड़की को पीठ पर बिठाकर घुटनों के बल चल रहा था कि सिकन्दर सामने आ पहुँचा। उसने क्रोध में आकर कहा— गुरुजी यह क्या ?

अरस्तू ने अविचल भाव से धैर्यपूर्वक कहा— बेटा, पहले ही मैं कहा करता था। देखते नहीं, मुझ जैसे विद्वान् और बूढ़े को जो माया इस तरह घुटनों के बल चलने को विवश कर सकती है वह तुम जैसे अपरिपक्व बुद्धि के नौजवानों को तो पेट के बल रेंगा कर और नाक रगड़ा कर ही दम लेगी। यदि तुम इस मार्ग से मुँह न मोड़ोगे तो इतिहास में नाम अंकित न करा सकेगे।

अरस्तू के इस शिक्षण ने सिकन्दर पर भारी प्रभाव डाला और तबसे उसने उस ओर से मुँह ही मोड़ लिया।

कुछ विद्वानों का कथन है कि अरस्तू ने चार सौ ग्रन्थ लिखे। कोई-कोई उनकी संख्या एक हजार बताते हैं। उसके सभी ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं पर जो उपलब्ध हैं उनसे पता चलता है कि उसे तर्कशास्त्र, खगोल विद्या, भौतिकी, विकास, क्रम-शास्त्र, वायु विज्ञान, प्रकृति विद्या, जन्तु-शास्त्र, काव्य, अलंकार, मनोविज्ञान, राजनीति, आचार-शास्त्र, दर्शन, अध्यात्म आदि अनेक विषयों का अगाध ज्ञान था।

अरस्तू आत्मोन्नति के लिए सामाजिक और सामूहिक जीवन को आवश्यक मानता था और एककी जीवन या एकान्तवास के विरुद्ध था। उसने लिखा है— एककी जीवन व्यतीत करने के लिए या तो मनुष्य को पशु बनना पड़ेगा या देवता।

परिष्कृत संस्कृत के प्रणेता— महर्षि पाणिनि

मनुष्य क्या और कितना कुछ कर सकता है, इसका कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। इसके सम्बन्ध में केवल यही कहा जा सकता है कि वह सब कुछ कर सकने में पूर्ण समर्थ है, यदि वह वास्तव में कुछ करना चाहता है। बात ऐसी भी नहीं है कि कुछ कर सकने

की क्षमता कुछेक गिने-चुने लोगों में ही होती है। हर व्यक्ति बहुत कुछ कर सकने में समान रूप से सक्षम है।

अब यहाँ पर मनुष्यों के कर्तव्यों में असमानता इसलिये हो जाती है कि कुछ कर दिखाने की चिन्ता करते हैं और हौसला रखते हैं बाकी अपने जीवन की सारी क्षमतायें छीना-झपटी, खाने पीने और हा-हा, ही-ही, में गँवा देते हैं। मोटे तौर पर अपनी सामान्य क्रियाशीलता को उपयोग में लाकर स्थूल रूप से चला-चली वाली जिन्दगी बिता जाते हैं। वे अपने अन्दर सुरक्षित उन विशेष शक्तियों का लाभ नहीं उठाते जिनको काम में लाने पर मनुष्य अनिवार्य रूप से ध्यानाकर्षक कार्य सकता है। जो अपने अन्दर ठहरी इस विशेष कुमुक को काम में लाते हैं वे संसार के जीवन समर में सफल होकर अपने स्थायी स्मारक अवश्य ही छोड़ जाते हैं।

आचार्य पाणिनि उन्हीं बुद्धिमान व्यक्तियों में से थे जिनका ध्येय जीवन बिताना नहीं उसे परकाष्ठा तक काम में लाना होता है और जो अपनी बूँद-बूँद क्षमता का सदुपयोग करने में जरा-भी मुरब्बत नहीं करते। इस आलस्य, प्रमाद और अकर्मण्यता के प्रबल शत्रु ने मानव-शक्तियों के प्रमाण में जो प्रस्थापना लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व की वह 'पाणिनि अष्टाध्यायी' के नाम से आज भी अमर है और आगे भी रहेगी।

'पाणिनि अष्टाध्यायी' वह व्याकरण शास्त्र है जिसने युगों से अदलती-बदलती आ रही भारतीय भाषा का संस्कार कर उसे एकरूपता के साथ स्थायित्व प्रदान किया। पाणिनि ने अपने इस महान् कार्य से न केवल एक सर्वांगपूर्ण भाषा को ही जन्म नहीं दिया अपितु राष्ट्र की सभ्यता एवं संस्कृति को सदा-सर्वदा के लिए अशुण्ण बना दिया। युग-युग की विचार-विभूति को पीढ़ी-दर पीढ़ी के लिये सुरक्षित रख सकने के लिए एक परम पात्र की रचना कर दी।

साधारण आचार-व्यवहार से लेकर दर्शन तक और लोक-कथाओं से लेकर इतिहास तक किसी राष्ट्र की जो भी सम्पदा होती है वह सब उसी भाषा में ही संकलित रहती है और आगामी पीढ़ियाँ उसे उसी माध्यम से प्राप्त कर लाभ उठाती हैं, जिससे राष्ट्र की सभ्यता एवं सांस्कृतिक परम्परा चिरंजीविनी बनती है।

आज तक संसार में असंख्यों भाषाओं का उदय-अस्त हुआ। अनेक तो अपने बदले हुए रूप में चलती रही हैं, कुछ के स्थान पर कोई नवीन भाषा आ गई और कोई भाषा अपने में किसी को मिलाकर अथवा स्वयं किसी में मिलकर एक नवीन भाषा बन गई और बहुतों का अस्तित्व ही संसार से मिट गया। केवल एक ही भाषा संस्कृत ही ऐसी है जो हजारों वर्षों से आज तक अपने एक रूप में चली आ रही है। इसी संस्कृत भाषा का सर्वांगपूर्ण व्याकरण रचकर महर्षि पाणिनि ने उसे नियमबद्ध किया।

संस्कृत से पूर्व देश में कोई एक ऐसी सार्वदेशिक भाषा नहीं थी जिसके माध्यम से एक प्रदेश के लोग दूसरे प्रदेश के लोगों से विचार विनिमय कर सकते, और यह कमी राष्ट्र की एकता के लिये बहुत घातक थी। भारत का बहुमूल्य वांगमय न जाने कितनी भाषाओं में

बिखरा पड़ा था, जिसका अध्ययन कोई भी देश की लगभग सभी भाषाओं को पढ़े बिना नहीं कर सकता था और यह साधारणतः एक कठिनतम बात थी।

महर्षि पाणिनि ने इस देश की विशाल कमी को अनुभव किया और देश के सारे शब्द-भण्डार को एक व्यवस्थित रूप में रखकर, उनकी व्याख्या और अर्थ निश्चित करके एक नियमबद्ध भाषा का निर्माण करने का निश्चय कर लिया। यह काम साधारणतः कठिन ही नहीं बल्कि बहुत ही विराट तथा असाधारण था। इस एक काम को पूरा करने के लिए कितनी शक्ति, कितने परिश्रम, कितनी लगन और कितने अध्ययन, अनुभव एवं अविरतता की आवश्यकता थी, पाणिनि इससे अनभिज्ञ नहीं थे। किन्तु उन्होंने इसकी रच-मात्र भी चिन्ता न की। जहाँ उन्हें कार्य की कठिनता तथा विराटता का ज्ञान था वहाँ मानव की अनन्त क्षमताओं का भी पता था।

अपने नियमपूर्ण निर्माण और संयमशील आत्मा, प्रबुद्ध बुद्धि, अविचल मन और अखण्ड अध्ययन के बल पर पाणिनि को पूर्ण विश्वास था कि वे राष्ट्र की इस बड़ी कमी को अवश्य पूरा कर लेंगे। वे जानते थे कि उन्होंने अब तक के अपने श्रम से जो कर्मठता उपार्जित की है उसकी तेजस्विता के सम्मुख आलस्य, प्रमाद, विलम्ब अथवा दीर्घसूत्रता के पतंगे आ ही नहीं सकते। जब वे शरीर के साथ अपने मन-मस्तिष्क को सम्पूर्ण रूप से नियोजित करके काम करना शुरू करेंगे तब उनकी क्रियाशीलता एक अविचल लगन के रूप में बढ़ती जायेगी और फिर ऐसी दशा में काम के अपूर्ण रह जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। निदान उन्होंने संसार के सारे सुख-भोगों का विचार त्याग कर अपने जीवन का अक्षुण्ण उद्देश्य के प्रति समर्पित कर दिया। अपने स्वार्थ, वैयक्तिक सुख और व्यक्तित्व के साथ अस्तित्व को जनोपयोगी कार्य के लिए दान कर दिया।

अपने विद्वान् गुरुवर्य से विद्या प्राप्त कर पाणिनि घर जाने के बजाय देशाटन पर चल पड़े। उनके देशाटन कार्यक्रम में उनके दो साथी ब्याडि और वररुचि भी सम्मिलित हो लिए।

अपनी यात्रा क्रम में पाणिनि सबसे पहले हिमालय पहुँचे जहाँ उनकी भेंट ईश्वर देव नाम के एक प्रकांड विद्वान् से हुई। पाणिनि ने उनका ध्यान देश की भाषाई कमी की ओर आकर्षित किया और उसे दूर करने की अपनी योजना बताई— उन्होंने बताया कि सम्पूर्ण देश में जितनी भी बोलियाँ, भाषायें तथा लोक-भाषायें प्रचलित हैं उन सबका शब्द-कोष इकट्ठा करके समानार्थक शब्दों को वर्गबद्ध कर लिया जाये अनन्तर प्रत्येक शब्द का इस प्रकार परिष्कार किया जाये कि वे एक जातीय जैसे हो जायें। फिर उनके स्वरूप, प्रयोग अर्थ तथा आकार निश्चित कर दिया जाय और इस प्रकार भारत की तमाम भाषाओं की सहायतार्थ एक ऐसी राष्ट्र-भाषा का निर्माण कर दिया जाये जो देश की समग्र जनता को समान रूप से ग्राह्य हो। श्री ईश्वर देव ने पाणिनि की इस योजना को उपयोगी ही नहीं आवश्यक बतलाते हुए उनकी प्रतिभा, दूरदर्शिता तथा सूझ-बूझ की बहुत प्रशंसा की और स्वयं भी हर प्रकार का सहयोग तथा सहायता देने का वचन दिया।

जिस राष्ट्र में उसका हित सोचने वाले सर्वत्यागी तपस्वी होते रहे उसका अनादि से अनन्त तक जीवित रहना कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। भारत की अज्ञान प्राचीनता का यही एक रहस्य है कि यह भूमि पाणिनि जैसे तपस्वियों से कभी खाली नहीं रही और जब तक इस प्रकार के महापुरुषों की परम्परा बनी रहेगी, भारत अपने गौरव के शिखर पर आसीन रहेगा ही। पाणिनि ने अपने उद्देश्य के अन्तर्गत सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया। वे अपनी इस यात्रा में केवल नगरों में ही नहीं जनपदों कस्बों तथा छोटे-से-छोटे गाँव तक में गये, वहाँ रहे और अध्ययन के साथ अर्थ-भाव तथा उच्चारण सहित अपार शब्द राशि संकलित की। शब्द राशि के अतिरिक्त पाणिनि ने प्रान्त-प्रान्त, नगर-नगर तथा ग्राम-ग्राम के रीति-रिवाज, आहार-विहार तथा अचार विचार का भी अध्ययन किया। लोगों से मिलकर, बात कर और गहरी से गहरी खोज में उतर कर एक-एक शब्द की व्युत्पत्ति तथा उसके इतिहास का पता लगाया।

इतना बड़ा और व्यापक कार्य करने में पाणिनि को कितना श्रम करना पड़ा होगा, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। पाणिनि अपनी खोज के लिए जहाँ भी गए होंगे वहाँ की भाषा सीखी होगी, निवासियों से अपनत्व प्राप्त करने के लिए आचार-व्यवहार का अभ्यास किया होगा। वृद्धों एवं विद्वानों का सहयोग सहानुभूति पाने के लिए अपनी पात्रता सिद्ध की होगी, क्योंकि इसके बिना वे अपने कार्य में कृत-कृत्य न हो सकते थे। निःसन्देह पाणिनि ने इस शब्द संकलन तथा स्थान-स्थान की भाषाएँ सीखने और उनके रीति-रिवाजों का अध्ययन एवं अभ्यास करने में आयु का बहुत बड़ा भाग लगा दिया होगा।

अपने इस यात्रा काल में वे भाँति-भाँति के अच्छे-बुरे, क्रूर-करुण, मूर्ख-विद्वान् स्त्री-पुरुषों के सम्पर्क में आये होंगे और निःसन्देह यह सारी यात्रा पैदल ही पूरी की होगी। किन्तु उनके जीवन वृत्त, कार्यकुशलता तथा उद्देश्य की महानता से स्पष्ट है कि अपने लक्ष्य-पथ के अतिरिक्त किसी अन्य मार्ग पर एक पद भी न चले होंगे। इतनी विराट यात्रा में उनके सम्मुख हजारों बार भय, मोह अथवा स्वार्थ-प्रलोभनों के अनेक अवसर आये होंगे किन्तु उनकी सफलता इस बात की गवाही देती है, कि वे इन मानवीय दुर्बलताओं से एक से भी प्रभावित न हुए होंगे! भूख-प्यास, शीत-घाम तथा वर्षा के कष्टों को उठाते हुए पाणिनि निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर ही बढ़ते रहे होंगे। अन्यथा संसार की फिजूल बातों में अपने को उलझाकर वे इतना बड़ा काम न कर सके होते। जिनको जीवन में कुछ करने की लगन लगी होती है उनको सारी व्यक्तिगत आवश्यकताओं का अभाव हो जाता है। इस प्रकार अपने को निःस्वार्थ, निस्पृह एवं निर्विकार बनाये बिना इतना बड़ा काम सम्पादित कर सकना असम्भव ही होता है।

देश का अपार शब्द भण्डार इकट्ठा करके पाणिनि हिमालय के एक एकान्त स्थान में जा बैठे और अपना काम शुरू कर दिया। अब तक का सारा पुरुषार्थ उनके असली काम की तैयारी मात्र ही था।

एक कुशल शिल्पी की भाँति अब पाणिनी ने अपने उपकरण जमा कर लेने के बाद महाग्रन्थ की रचना शुरू कर दी ।

सर्वप्रथम उन्होंने उस विशाल शब्द संकलन को क्रम से वर्गों में बाँटा, उनका परिष्कार किया, अर्थ एवं आकार निश्चित किया, प्रयोग के नियम बनाये और इस प्रकार एक व्यापक व्याकरण की रचना करके संस्कृत नाम की भाषा को जन्म दिया, जो उसी समय से भारत की राष्ट्रभाषा और सार्वदेशिक आचार-विचार का माध्यम मान ली गई ।

पाणिनि का व्याकरण शास्त्र आठ अध्यायों में विभक्त है, अतएव उसको अष्टाध्यायी कहा जाता है । जिसमें वृत्ति तथा तद्धित एवं कृदंत सिद्धान्तों को भाषा के क्षेत्र में एक बड़ी क्रांति माना जाता है । उन्होंने शब्द निर्माण अर्थ संकोच अथवा विस्तार तथा रूपार्थ के परिवर्तन के उन सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की कि जिनके आधार पर भाषा विज्ञान का जन्म हुआ ।

अपने इस विशाल कार्य को पूरा करने के बाद पाणिनि पाटलिपुत्र में महाराज नन्द के दरबार में पहुँचे । उन दिनों नन्द का दरबार देश भर के बड़े-बड़े विद्वानों से भरा रहता था और वही विद्वन्मंडली उन दिनों नये पंडितों द्वारा किये गये कार्यों को जाँच कर मान्यता प्रदान किया करती थी और किसी बहुत बड़ी नई खोज पर पंडित को 'सन्नयन' की उपाधि दिया करते थे ।

उस विद्वन्मंडली ने पाणिनि की अष्टाध्यायी की जाँच की और उनको 'सन्नयन' की उपाधि देकर यह भी घोषणा की कि पाणिनि के इस व्याकरणशास्त्र को जो अच्छी तरह समझ लेगा उसे भी एक हजार मुद्रायें पुरस्कार में दी जायेंगी ।

भाषा शास्त्र में इस प्रकार एक क्रांति उपस्थित करने वाले महर्षि पाणिनि का जन्म गान्धार में सिन्धु तथा काबुल नदियों के संगम से चार मील ऊपर हट कर लहुर नामक ग्राम में हुआ था । किन्तु उनका पालन-पोषण उनके ननिहाल के ग्राम शलातुर में हुआ था जहाँ उनके पिता जाकर बस गये थे । इनके पिता का नाम सामन पाणिनि तथा बाबा का नाम विष्णु शर्मन पाणिनि था । केवल पाणिनि के नाम से प्रसिद्ध इनका नाम आहिक पाणिनि था । इनके वंशज बाल्हीक के रहने वाले थे, इनका जन्म ईसा पूर्व ४८०-४१० माना जाता है और मृत्यु के विषय में प्रसिद्ध है कि अपनी खोज में तत्कालीन पाणिनि को एक व्याघ्र ने भक्षण कर लिया था ।

राजनीति पर धर्मतंत्र का अंकुश रखने वाले चाणक्य

चाणक्य शब्द कान में पड़ते ही मानस-मुकुर पर एक ऐसी मूर्ति प्रतिबिम्बित हो उठती है जिसका निर्माण मानो विद्या, वैदग्ध्य, दूरदर्शिता, राजनीति तथा दृढ़ निश्चय के पंच तत्त्वों से हुआ था ।

महर्षि चाणक्य एक व्यक्ति होने पर भी अपने में एक पूरे युग थे । उन्होंने अपनी बुद्धि एवं संकल्पशीलता के बल पर तात्कालिक मगध सम्राट नन्द का नाश कर उसके स्थान पर एक साधारण बालक को स्वयं शिक्षित कर राज्य सिंहासन पर बिठाया ।

चाणक्य न तो कोई धनवान थे और न उनका कोई सम्बन्ध किसी राजनीतिक सूत्रधार से था । वे केवल एक साधारणतम व्यक्ति— एक गरीब ब्राह्मण थे । बाल्यकाल में चाणक्य में कोई विशेषता न थी । विशेषता थी तो केवल इतनी कि वे अपनी माँ के भक्त, विद्या-व्यसनी तथा संतोषी व्यक्ति थे । वे जो कुछ खाने-पहनने को पा जाते उसी में सन्तोष रखकर विद्याध्ययन करते हुए अपनी ममतामयी माता की सेवा किया करते थे ।

उनकी मातृ भक्ति, विद्या व्यसन तथा दृढ़ संकल्प की अनेक कथायें प्रसिद्ध हैं । एक बार, जिस समय वे केवल किशोर ही थे, अपनी माँ को पुस्तक सुनाते हँस पड़े । माता ने उनकी मुँह की तरफ देखा और रो पड़ी ।

चाणक्य को माँ के इस अहेतुक एवं असामयिक रुदन पर बड़ा आश्चर्य हुआ । उन्होंने पूछा— “माँ तू इस प्रकार मेरे मुँह की ओर देखकर रो क्यों पड़ी ?”

माँ ने उत्तर दिया कि “तू बड़ा होकर बड़ा भारी राजा बनेगा और तब अपनी गरीब माँ को भूल जायेगा ।”

चाणक्य ने पुनः विस्मय से पूछा— “पर तुझे यह कैसे पता चला कि मैं राजा बनूँगा ।”

“तेरे आगे के दो दाँतों में राजा होने के लक्षण हैं उन्हें ही देखकर मैंने समझ लिया कि तू राजा बनेगा ।” माँ ने चाणक्य को बतलाया । चाणक्य ने माँ की बात सुनी और बाहर जाकर पत्थर से अपने वे दोनों दाँत तोड़ डाले फिर अन्दर जाकर माँ से हँसते हुए बोले “ले अब तू निश्चिन्त हो जा, मैंने राज-लक्षणों वाले दोनों दाँत तोड़कर फेंक दिये । अब न मैं राजा बनूँगा और न तुझे छोड़ कर जाऊँगा ।”

यह था चाणक्य की ज्वलन्त मातृभक्ति का प्रमाण ।

चाणक्य का परिवार घोर निर्धन था । किन्तु विद्या प्राप्त करने की उन्हें प्रबल इच्छा थी । तक्षशिला उन दिनों देश में बहुत बड़ा विद्या केन्द्र था । माता के न रहने और घरेलू शिक्षा समाप्त करने के बाद चाणक्य पैदल ही तक्षशिला की ओर चल दिये । बिना किसी साधन के ज्ञानपिपासु चाणक्य सैकड़ों मील की पैदल यात्रा करके, मार्ग में मेहनत-मजदूरी तथा कन्द, मूल और शाक-पात खाते तक्षशिला जा पहुँचे ।

चाणक्य तक्षशिला की विद्यापीठ में पहुँच तो गये किन्तु अब विद्यालय, भोजन, निवास, वस्त्र, पुस्तक आदि की व्यवस्था किस प्रकार हो ? घर से सैकड़ों कोस दूर परदेश में कोई साधारण किशोर हताश होने के सिवाय क्या करता । किन्तु चाणक्य हताश होने नहीं विद्वान् होने के लिए गये थे । निदान सेवा का सहारा लेकर मार्ग निकाल ही तो लिया ।

उन्होंने अनिमंत्रित आचार्यों, अध्यापकों एवं उपाध्यायों की सेवा करनी शुरू कर दी । वे गुरु माताओं के लिये जंगल से लकड़ी ला देते, कुयें से पानी भर देते, बाजार से सौदा ला देते ।

आचार्यों के हाथ से पुस्तकें लेकर उनके पीछे-पीछे विद्यालयों तक पहुँचा आते । अध्यापकों को कक्षा में पानी पिला आते, थके हुए उपाध्यायों के सिर में मालिश कर देते ।

इस प्रकार चाणक्य ने बिना कहे और बिना कोई परिचय दिये शिक्षकों को अपनी सेवा से इतनी सुविधा पहुँचाई कि उनका ध्यान आकर्षित हुए बिना न रह सका। कुछ समय तो गुरुजन तथा गुरु मातायें चाणक्य को विद्यालय की किसी शाखा का साधारण विद्यार्थी समझकर कोई विशेष ध्यान न देते रहे किन्तु जब उनकी सेवाओं का क्रम इतना बढ़ गया तो वे सोचने लगे कि यह विद्यार्थी जब हर समय सेवा ही में लगा रहता है तब अपना पाठ किस समय पढ़ता होगा ? इसी उत्सुकता से प्रेरित एक दिन एक आचार्य ने पूछ ही लिया— “बटुक ! तुम इतना समय तो हमारी सेवा में व्यतीत कर देते हो फिर अपना पाठ किस समय याद करते हो ?

चाणक्य ने सजल कंठ से उत्तर दिया कि “भगवन ! मैं विद्यालय का कोई छात्र नहीं हूँ। मगध से यहाँ विद्या प्राप्त करने की आशा से आया था। किन्तु कोई अन्य साधन न होने से गुरुजनों की सेवा को ही अपना साधन बना लिया है। पेट गुरु माताओं की कृपा से भर जाता है, किन्तु आत्मा की भूख तो आप गुरुजनों की कृपा से ही……” चाणक्य आगे कुछ न कह सके उनका कंठ रूँध गया और नेत्र बहने लगे।

आचार्य का हृदय गद्गद हो गया और उन्होंने उसे छाती से लगाकर कहा— “वत्स ! तुम्हारी इच्छा की पूर्ति को विधाता भी नहीं रोक सकता। जिसके आचरण में इतना सच्चा सेवा भाव और लक्ष्य के प्रति इतनी गहरी निष्ठा हो उसके लिये संसार में कौन पराया है, कौन-सा मार्ग अवरुद्ध है और कौन-से साधन दुर्लभ हैं ? आज से तू मेरा पुत्र है। घर रहेगा और विद्यालय में पढ़ेगा। इस प्रकार लगनशील चाणक्य ने सेवा के बल पर भाग्य के अवरुद्ध कपाटों को धक्का देकर खोल दिया।

लगभग चौदह वर्ष बाद वैदिक ज्ञान से लेकर राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र एवं अस्त्र-शास्त्र का प्रकाण्ड पांडित्य प्राप्त करने के बाद लगभग छब्बीस वर्ष के तरुण चाणक्य ने अपने महान् विद्या मन्दिर की पावन धूल माथे पर चढ़ाकर और गुरुजनों से आज्ञा लेकर तक्षशिला से विदा ली— इसलिए कि अब वे मगध जाकर अपनी जन्मभूमि में विद्या प्रचार करेंगे और महाराज नन्द के शासन में सुधार करवाने का प्रयत्न करेंगे जिसकी उसको उस समय नितान्त आवश्यकता थी।

तक्षशिला से आकर चाणक्य ने पाटलिपुत्र में एक साधारण विद्यालय की स्थापना की, जिसमें वे विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा देते थे। अपनी जीविका की व्यवस्था उन्होंने पिता की उस खेती से कर ली थी जिसे वे बटाई पर उठाया करते थे। चाणक्य की योग्यता ने शीघ्र ही उन्हें प्रकाश में लाकर लोकप्रिय बना दिया।

जनता में सम्पर्क स्थापित हो जाने पर वे उसके दुःख सुख में साझीदार होने लगे। चाणक्य ने अपने प्रवचनों एवं प्रचार से शीघ्र ही जनमानस में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता ला दी जिससे स्थान-स्थान पर घननन्द की आलोचना होने लगी और जनता का असंतोष एक आन्दोलन का रूप लेने लगा।

घननन्द को जब इन सब बातों का पता चला तो उसने जनता का विक्षोभ दूर करने और उसे अपने पक्ष में लाने के लिए अनेक दानशालायें खुलवा दीं जिनके द्वारा चादुकार और राज-समर्थक लोगों को रिश्वत की तरह अन्न, वस्त्र तथा धन का वितरण किया जाने लगा। घननन्द की इस नीति का भी कोई अच्छा प्रभाव जनता पर न पड़ा। पहले जहाँ लोग उसके शोषण से क्षुब्ध थे वहाँ अब धन के दुरुपयोग से अप्रसन्न रहने लगे।

चाणक्य नन्द की कपट नीति के विरुद्ध खुला प्रचार करने लगे। समाचार पाकर घननन्द ने चाणक्य को वश में करने के लिए दानशालाओं की प्रबन्धक समिति का अध्यक्ष नियुक्त कर दिया।

चाणक्य ने शासन सुधार की इच्छा से वह पद स्वीकार कर लिया और सारे धूर्त सदस्यों को समिति से निकाल बाहर किया। अनियंत्रित दान को नियंत्रित करके दान पात्रों की योग्यतायें तथा सीमाएँ निर्धारित कर दीं।

चाणक्य के इन सुधारों से नन्द की मूर्खता से पलने वाले धूर्त उनके विरुद्ध हो गए और उसको नीचा दिखलाने के लिए तरह-तरह के षडयंत्र करते हुए नन्द के कान भरने लगे। निदान घननन्द ने चाणक्य को एक दिन दरबार में बुलाकर उनकी भर्त्सना की और उन्हें चोटी पकड़ कर बाहर निकाल दिया।

चाणक्य को अपना यह अपमान असह्य हो गया और उनका क्रोध पराकाष्ठा पर पहुँच गया। उन्होंने अपनी खुली चोटी को फटकाते हुए प्रतिज्ञा की कि जब तक इस अन्यायी घननन्द को समूल नष्ट कर मगध के सिंहासन पर किसी कुलीन क्षत्रिय को न बिठाया जाय तब तक अपने चोटी नहीं बाँधूँगा। चाणक्य चले गये और उनकी प्रतिज्ञा पर नन्द के साथ चादुकार दरबारी हँसते रहे।

नन्द से अपमान पाकर चाणक्य की विचारधारा बदल गई। अभी तक वे शांतिपूर्ण सुधारवादी थे किन्तु अब घोर क्रान्तिपूर्ण परिवर्तनवादी हो गये। अब उनके जीवन का एक ही लक्ष्य बन गया, नन्द के निरंकुश शासन का नाश और मगध के राज-सिंहासन पर किसी सुयोग्य व्यक्ति की स्थापना।

सबसे पहले चाणक्य ने भारत का एक-छत्र सम्राट बनने योग्य किसी उपयुक्त व्यक्ति की खोज शुरू की जिसके फलस्वरूप चक्रवर्ती के लक्षणों से युक्त उन्होंने एक दासी पुत्र प्रतिभावान चन्द्रगुप्त मौर्य को खोज निकाला। चन्द्रगुप्त लगभग सत्तरह वर्ष का एक सुयोग्य, प्रतिभावान, सूक्ष्म दृष्टि एवं दूरदर्शी किशोर था। उसका सुगठित शरीर एवं व्युत्पन्नमति मस्तिष्क शासन एवं राज्य संचालन के सर्वथा योग्य था।

चाणक्य ने तक्षशिला ले जाकर चन्द्रगुप्त का निर्माण प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने लगभग दस वर्ष तक चन्द्रगुप्त को शास्त्र, शस्त्र तथा राजनीति की शिक्षा स्वयं दी। राजनीति के क्षेत्र में गुप्तचर से लेकर सम्राट और राज्य के क्षेत्र में सिपाही से लेकर सेनापति तक की दक्षताओं, क्षमताओं एवं योग्यताओं को विकसित कर चाणक्य चन्द्रगुप्त को लेकर पुनः देशाटन पर चल दिये।

चाणक्य ने अपने अनवरत प्रयत्न से भारत के पश्चिमी प्रान्तों के बहुत से राजाओं को संगठित करने के साथ चन्द्रगुप्त के लिए भी एक स्वतन्त्र सेना का निर्माण कर दिया। इस प्रकार चन्द्रगुप्त की शक्ति बढ़ाकर चाणक्य ने भारत की राजनीति में सक्रिय हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया। सबसे पहले उन्होंने पंजाब के संगठित राजाओं को सहयोगी बनाकर चन्द्रगुप्त को यूनानियों को भगाने का काम सौंपा। साहसी चन्द्रगुप्त ने यूनानियों को युद्ध में हराकर भारत के पराधीन भू-भाग को स्वतन्त्र करा लिया।

चन्द्रगुप्त की इस महान् विजय ने उसे भारत के राजाओं के बीच इतना लोकप्रिय बना दिया कि वे उसे अपना नेता और चाणक्य को राजनीतिक गुरु मानने लगे।

अनन्तर चाणक्य ने बहुत-से राजाओं का आपसी मतभेद तथा विद्वेष अपनी कुशल बुद्धि तथा सूक्ष्म राजनीति के बल पर मिटा, उन्हें चन्द्रगुप्त के झण्डे के नीचे खड़ा कर दिया। इस प्रकार विदेशियों को भगाने के बाद चन्द्रगुप्त पंजाब तथा अन्य सीमान्त प्रदेशों के राजाओं की संगठित शक्ति का अगुआ बनकर चाणक्य की देखरेख में मगध की ओर चल पड़ा।

यूनानियों को देश से निकाल बाहर करने से चन्द्रगुप्त तथा चाणक्य का यश पूरे भारत में फैल चुका था। जिसके फलस्वरूप मगध तक पहुँचने में मार्ग में पड़े अधिकांश राजाओं ने न केवल चन्द्रगुप्त का स्वागत ही किया बल्कि भावी भारत सम्राट मानकर उसके झण्डे के नीचे आ गये।

मगध सम्राट धननन्द अपने विलास तथा अन्य दुर्गुणों के कारण अन्दर और बाहर से पूरी तरह जर्जर हो चुका था। जनता तो उससे पहले ही रुष्ट थी। अतएव बहुत कुछ प्रयत्न करने पर भी वह चन्द्रगुप्त को न रोक सका और अन्त में सर्वश चन्द्रगुप्त के हाथों मारा जाकर सदा के लिए नष्ट हो गया।

चाणक्य ने विधिवत अपने हाथ से चन्द्रगुप्त मौर्य को सम्राट पद पर अभिषिक्त करके सन्तोषपूर्वक अपनी चोटी बाँधते हुए कहा—

“कोई साधन न होने पर भी मेरी प्रतिज्ञा पूरी हुई, राष्ट्र विदेशी प्रभाव से मुक्त हुआ और देश में एक-छत्र साम्राज्य की स्थापना हुई। किस प्रकार ? केवल एकनिष्ठ कर्तव्यशीलता, आत्मविश्वास, अविरत प्रयत्न तथा सत्य के पक्ष में रहने के बल पर। चन्द्रगुप्त ! जब तक तुम में न्याय, सत्य, आत्मविश्वास, साहस एवं उद्योग के गुण सुरक्षित रहेंगे, तुम और तुम्हारी सन्तानें इस पद पर बनी रहेंगी। और यदि तुम और तुम्हारी सन्तानें इन गुणों से विरत हुई तो पतन का उत्तरदायित्व देश काल अथवा परिस्थितियों पर नहीं तुम पर और तुम्हारी सन्तानों पर होगा।”

एक बार वे नंगे पैरों कहीं जा रहे थे। रास्ते में उगे हुए कुश कंटकों से उनके पैरों में लहू निकल आया। उन्होंने उन कंटकों को जड़मूल से नष्ट करके ही आगे कदम बढ़ाया।

दुर्बल नन्द वंश को हटाकर चन्द्रगुप्त मौर्य को सम्राट बनाने को सारा चक्रव्यूह ऐसी कुशलता से और दूरदर्शिता के साथ तैयार

किया कि वह सफल होकर ही रहा। यद्यपि चन्द्रगुप्त को इस बात की पूर्ण आशंका बनी हुई थी कि उसकी सीमित शक्ति नन्द-वंश का मुकाबला न कर सकेगी। सीधे आक्रमण का साहस न हो रहा था। अन्त में उसने अपनी आशंका गुरु कौटिल्य से व्यक्त कर ही दी। महापंडित कौटिल्य को पद्मानन्द की आन्तरिक कमजोरियों का पता था शिष्य के अधीर वचन सुनकर वे मुस्कराये फिर गम्भीर वाणी में बोले—“इन्द्रियवशवर्ती चतुरंगवानापि विनश्यति” अर्थात् “किसी के पास विशाल चतुरंगिणी सेना हो, किन्तु चरित्र न हो तो अपनी इस दुर्बलता के कारण वह अवश्य नष्ट हो जाता।” चन्द्रगुप्त गुरुदेव के आशय को समझ गया। उसने मगध पर आक्रमण कर दिया और विजय भी पाई। चाणक्य इस साम्राज्य के प्रधानमंत्री थे। शासन सूत्र का संचालन करते थे और अपनी महान् योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए चन्द्रगुप्त का उपयोग करते थे। नालन्दा विश्वविद्यालय का जीर्णोद्धार उन्होंने कराया और मनीषियों को प्रचुर परिमाण में उत्पन्न करने और उन्हें देश-देशान्तरों में भेजने का कार्य भी उतना ही महत्त्व-पूर्ण था, जितना राजतंत्र का विस्तार। प्रशासनिक और सांस्कृतिक विस्तार के लिए मनीषियों की आवश्यकता भी कम महत्त्व की नहीं है सो उन्होंने इस विश्वविद्यालय के माध्यम से सांस्कृतिक साम्राज्य के विस्तार को भी पूरी तत्परता के साथ संचालित किया।

चाणक्य ने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। ‘कौटिल्य’ इस नाम से उन्होंने अर्थशास्त्र की रचना की जिसे आज भी समस्त संसार में अति महत्त्वपूर्ण माना जाता है। आत्म साधना, साम्राज्य, नालन्दा विश्वविद्यालय, अर्थशास्त्र सृजन, बहुमुखी गतिविधियों का संचालन करते हुए चाणक्य ने अपनी हिमालय जैसी ऋषि परम्परा को अक्षुण्ण ही रखा। वे लोभ-मोह से सर्वथा दूर रहे। उनका रहन-सहन, आहार विहार वैसा ही रहा जैसा तपस्वियों का होता है। प्रचुर साधन उनके हाथ में थे पर उन्होंने अपने लिये उनमें से नहीं के बराबर ही उपयोग किया। लोक-मंगल में निरत जन-सेवकों का निर्वाह न्यूनतम स्तर का ही होना चाहिए इस आदर्श को उन्होंने सदा ध्यान में रखा।

अपनी झोपड़ी में वे नित्य पैदल चलकर जाते थे और वहीं अपना साधन नित्य कर्म सम्पन्न करते थे। उनके निजी रहन-सहन का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

उत्पलशकल मेतदभेदकं गोमया नाम् ।
बहुभिराहतानां बहिषां स्तोम एषः ॥
शरणं मनि समिद्धः शुष्कमाणाभिरामः ।
विनमितं पटलानां दृष्यते जीर्णं कुड्यम् ॥

गोबर से लिपी हुई, कच्ची फूस की झोपड़ी, कुशाओं का गट्ठा उपला तोड़ने का पत्थर, हवन समिधाएँ, यही उस महा ब्राह्मण की सम्पत्ति थी।

प्राचीनकाल की ऋषि परम्परा का पुनरुद्धार करने वाले चाणक्य ने आन्तरिक जीवन और भौतिक साधनों पर समान रूप से ध्यान रखा। दोनों पक्षों को प्रखर बनाने की समन्वयात्मक योजना को कार्य रूप में परिणत किया। वे जानते थे कि एकत्र की वैभव विज्ञान दोनों ही

अन्धे-लंगड़े की तरह अधूरे हैं। दोनों का समन्वय किया जाना चाहिए और ब्रह्म क्षात्र को परस्पर एक-दूसरे का पूरक होकर रहना चाहिए। आज महर्षि चाणक्य द्वारा प्रतिपादित इस तथ्य को अपनाये जाने की आवश्यकता है। अस्त-व्यस्त 'ब्रह्म' और नष्ट-भ्रष्ट 'क्षात्र' यह इकट्ठे हो सकें, भौतिकता और आध्यात्मिकता के पृथक् पड़े पहिये यदि एक हाथ से जोड़े जा सकें तो सर्वतोमुखी प्रगति के दृश्य फिर उसी तरह दीख पड़ सकते हैं जैसे चन्द्रगुप्त और चाणक्य के समन्वय से उन दिनों दिखाई पड़ते थे।

नीतिसार के रचयिता क्रमन्तर ने महर्षि चाणक्य की विशेषता और महानता का वर्णन करते हुए लिखा है—

जातवेदा इवार्चिष्यान् वेदान् वेदविदांवरः ।
 यो धीतवान् सुचतुरश्वतुरोप्येकं वदेत् ॥
 नीतिशास्त्रामृतं धीमानर्थशास्त्रमहोदधेः ।
 समुद्रश्चैव नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेद्यसे ॥

अग्नि जैसे तेजस्वी, महान् आत्मा, वेदों के मर्मज्ञ, अति प्रतिभा-शालीन, अर्थशास्त्र के उद्धारक, नीति निर्माता महर्षि विष्णुगुप्त (चाणक्य) का अभिवादन।

धर्म—संस्कृति के लिये समर्पित—फाह्यान

सद्ज्ञान की क्षुधा को तृप्त करने के लिये मनुष्य ने कितने-कितने उद्योग नहीं किये हैं, किन्-किन कष्ट-कठिनाइयों का सामना नहीं किया है, किन्-किन सुख-सुविधाओं को नहीं छोड़ा है किन्-किन चुनौतियों को नहीं स्वीकारा है ! इसका एक अनुपम उदाहरण है चीनी यात्री फाह्यान।

मनुष्य को शक्ति सामर्थ्य का अनुदान देते समय उसका सर्जक उस पर कुछ अधिक ही कृपालु रहा है तभी तो उसने उसे जो क्षमताएँ, योग्यताएँ और विभूतियाँ दी हैं वे अन्य प्राणियों को नहीं मिली। इन क्षमताओं का उपयोग अधिकांश व्यक्ति तो उसके छिपी अपने सिरजनहार की उन अपेक्षाओं को बिसार कर उनका उपयोग व्यक्तिगत आकांक्षाओं, महत्वाकांक्षाओं में ही किया करते हैं पर कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो इनका सदुपयोग सार्वजनिक हित के लिये करते हैं। सार्वजनिक हित का सबसे बड़ा हेतु है सद्ज्ञान, जो व्यक्ति को मानवीय गौरव के अनुरूप जीवनयापन करने की दिशा में मार्ग-दर्शन देता है।

बौद्ध धर्म भारत की अध्यात्म उर्वरा धरती पर उत्पन्न होकर लगभग आधे विश्व में फैला उसमें एक देश चीन भी था। यहीं का निवासी था फाह्यान भी। उसने अपने जीवन का विनियोग व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति में नहीं करके सार्वजनिक हित में करने का निश्चय करके बौद्ध धर्म में दीक्षा ग्रहण की थी। जन्म नाम कुड था बाद में धर्म के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित करने के कारण उसका नाम 'फाह्यान' हो गया जिसका अर्थ होता है धर्माचार्य।

कभी-कभी व्यक्ति के लिये विपत्तियाँ और दुःखद घटनाएँ मार्गदर्शक का काम कर जाती हैं। कुड के पिता का देहान्त जब वह दस वर्ष का था तभी हो गया। थोड़े दिनों में माता का भी देहवासान हो गया। माता-पिता की इस मृत्यु ने कुड के चिन्तनशील मन-मस्तिष्क पर अत्यधिक प्रभाव डाला और वह जीवन के उस सत्य की खोज के लिये उत्सुक हो उठा जो जन्म और मृत्यु के इस रहस्य को सुलझा सके। आखिर इस जीवन का प्रयोजन क्या है ? इस प्रश्न ने उसे बौद्ध धर्म में दीक्षित कराया और उसके पश्चात् हजार बाधाओं, विपदाओं को झेलते हुए भारतवर्ष की यात्रा करने का साहस भी इस प्रश्न ने जुटाया।

उसने बौद्ध मत में दीक्षित होकर चीन में उपलब्ध सभी ग्रंथों का अध्ययन कर डाला पर उसे तृप्ति नहीं हुई। उससे भी प्रमाणिक कुछ और ज्ञान मिले इसके लिये उसने भारत यात्रा का निश्चय किया।

फाह्यान यदि बीसवीं शताब्दी में पैदा हुआ होता उसे अपनी इस आकांक्षा की पूर्ति के लिये कुछ ही हजार रुपयों की आवश्यकता पड़ती और वह वायुयान में बैठकर कुछ ही घण्टों में भारत आ गया होता लेकिन वह तो ईसा की तीसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पैदा हुआ था उस समय चीन से भारत आने का अर्थ था मृत्यु से खेलना। रास्ते में विकट वन और हिमाच्छादित गिरि श्रृंग थे जिनमें भयंकर हिंसक जीव-जन्तु निवास करते थे। तब न कोई सड़क ही थी और न कोई मार्ग ही। उसके पहले कितने ही यात्रियों ने भारत आने का प्रयास किया था पर एक आध को छोड़ कर उनमें से कोई वापस चीन नहीं लौट सका था।

फाह्यान के इस निश्चय की कई लोगों ने इस कारण बदलना चाहा कि इसमें प्राणों का भय था। पर फाह्यान तो प्राणों का भय करता ही नहीं था। मृत्यु तो अवश्यम्भावी है, आज न सही कल आयेगी ही तो फिर इसी शुभ कार्य को करते हुए क्यों न मरा जाय। अतः वह भारत यात्रा के लिये चल पड़ा। उसे चार साथी भी मिल गये जो राह में से ही वापस लौट गये पर वह नहीं लौटा। पूरे पाँच वर्ष की कठिन जोखिम भरी और कष्टपूर्ण यात्रा करने पर वह भारत पहुँचा उसे सैकड़ों पर्वत और हजारों नदियाँ लाँघनी पड़ी थीं। कई बार मरते-मरते बचा था वह।

सबसे पहले वह गांधार देश पहुँचा। वहाँ से आया और तक्षशिला और तक्षशिला से पुरुषपुर। पुरुषपुर से मथुरा, कन्यकुब्ज, श्रावस्ती, कुशीनगर, वैशाली होता हुआ वह पाटलिपुत्र पहुँचा जो तत्कालीन भारत की राजधानी थी मगध साम्राज्य की राजधानी। पाटलिपुत्र में वह कोई तीन वर्ष तक रुका। वह यहाँ के राजा, राज्य, प्रजा और उसकी शिखरस्थ सभ्यता, संस्कृति, धर्म और नैतिक सामाजिक व्यवस्था को देखकर अत्यधिक प्रभावित हुआ था। उसने चीन पहुँच कर अपने मित्र को यहाँ के जन-जीवन और राज्य प्रबन्ध के बारे में विस्तार से बताया, जिसे उसके मित्र ने लेखनीबद्ध कर लिया। उस समय मगध में पराक्रमी हिन्दू सम्राट चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का सुशासन चल रहा था। उसका बड़ा ही सुन्दर वर्णन फाह्यान ने अपने यात्रा विवरण में किया है।

फ़ह्यान ने पाटलिपुत्र नगर की श्री शोभा का वर्णन करते हुए बताया— “अशोक का बनवाया हुआ राजमहल इतना सुन्दर था कि उसे देखकर दाँतों तले अँगुली दबानी पड़ी। ऐसा लंगता था कि यह महल आदमियों ने नहीं देवताओं ने बनवाया हो।” इसी प्रकार यहाँ के सभ्य, शिष्ट, और नैतिक समाज का भी उसने बहुत सुन्दर वर्णन किया है।

फ़ह्यान संकीर्णमना व्यक्ति नहीं था। उसने विदेशी होते हुए भी भारतीय जन-मानस को जिस गहराई से समझा और जिस प्रकार बिना किसी दुराग्रह के उसका वर्णन किया है उसे देखकर विद्वता का ही नहीं विवेक का भी परिचय मिलता है।

वह जहाँ भी गया भारतवासियों से उसे अकुण्ठ सम्मान और आत्मीयता मिली। वह यहाँ से अनेकानेक धर्म और साहित्य ग्रन्थ अपने साथ ले गया। वह पाटलिपुत्र से नालन्दा राजगृह, काशी, सारनाथ होता हुआ ताम्रलिपि पहुँचा। वहाँ दो वर्ष तक ठहर कर वह लंका और जावा होते हुए समुद्री मार्ग से चीन पहुँचा। आते समय वह स्थल मार्ग से आया था पर जाते समय उसे कोई दिक्कत नहीं हुई क्योंकि उन दिनों भारत का सारा विदेशी व्यापार समुद्री मार्ग से ही होता था। अतः वह समुद्री मार्ग से ही गया।

जाते समय उसके साथ कुछ भारतीय विद्यार्थी उसे ताम्रलिपि से लंका तक छोड़ने भी गये। वह भारत के लोगों द्वारा किये अतिथि सत्कार से भी बहुत अधिक प्रभावित हुआ था। भारतवर्ष में वह लगभग छह: वर्ष तक रहा पर ये छह: वर्ष उसे ऐसे लगे जैसे किसी स्वर्ग राज्य में रहा हो। क्योंकि यहाँ का हर व्यक्ति सभ्य, सुसंस्कृत शिष्ट और प्रिय लगा था उसको। यहाँ की सामाजिक और राजनैतिक स्थिति का विशद वर्णन उसके यात्रा संस्मरणों में आज भी सुरक्षित है। उसने बताया है कि भारतीय सभ्य, सुशील, सदाचारी, चरित्रवान, नीतिप्रिय, व्यवस्था प्रिय, भक्ष्याभक्ष्य में अनुपम विवेकशील, धर्म-सहिष्णु और अतिथि सत्कार प्रवीण थे। दण्ड विधान कठोर नहीं था, शासन व्यवस्था सुन्दर और प्रिय थी। कर नाममात्र के लगते थे। मृत्यु-दण्ड किसी को नहीं दिया जाता था। फिर भी चोरी, लूट-खसोट और अनैतिकता नहीं के बराबर थी।

जब वह भारत से चीन लौटा तो उसके पास अनमोल ग्रन्थ रत्नों का अपूर्व भण्डार था जिसे उसने भारत से बटोरा था। अपने साहस और पुरुषार्थ के बल पर उसने चीन की जनता को बहुमूल्य सम्पदा दी। उसे चीन वासी आज भी भूले नहीं हैं साथ ही भारत के उस स्वर्णिम अतीत का दिग्दर्शन करने वाले उसके यात्रा विवरण हमारी भी अनुपम निधि बन गये हैं। अंग्रेज और मुस्लिम इतिहासकारों के विकृत इतिहास के परिपेक्ष्य में उसके ये विवरण बहुत ऊँचे और निष्पक्ष ठहरते हैं। अपने इस सत्साहस के कारण फ़ह्यान चिरस्मरणीय बन गये।

वैदिक धर्म की रक्षार्थ जीवन दान करने वाले—श्रीशंकराचार्यजी

अब से लगभग साढ़े बारह सौ वर्ष पूर्व केरल प्रान्त के एक ग्राम में एक बालक का जन्म हुआ जो असामान्य विद्या बुद्धि से सम्पन्न

था। जैसे अब भी कोई-कोई बालक जिसको वैज्ञानिकगण ‘प्रोडिजी’ कहते हैं चार-पाँच वर्ष की आयु में ही कई भाषाओं का अथवा गणित, काव्य, संगीत आदि उच्च विद्याओं का ज्ञाता बन जाता है, उसी प्रकार इस बालक ने भी सात वर्ष की आयु में ही अनेक शास्त्रों का अध्ययन कर लिया था। उसकी अदभुत विशेषता को सुनकर देश के बड़े-बड़े विद्वान् और वहाँ का विद्यानुरागी राजा भी उनको देखने तथा उनकी अगाध विद्या के सम्बन्ध में फैली जनश्रुति कहाँ तक सत्य है, इसकी जाँच करने को आये। उन सबने इतनी छोटी आयु में इतना ज्ञान प्राप्त कर लेना एक दैवी चमत्कार ही समझा और वे उनको सम्मानपूर्वक नमस्कार करके चले गये।

ऐसे आश्चर्यजनक बालक का समाचार सुनकर कुछ ज्योतिषी भी यह जिज्ञासा लेकर आये, देखें किन ग्रहों के प्रभाव से उसे ऐसी अपूर्व शक्ति प्राप्त हो सकी। उन्होंने कुण्डली में स्थित ग्रहों की स्थिति को एक बहुत बड़े महापुरुष के योग्य तो पाया, पर साथ ही उसमें उनको एक बात ऐसी खेदजनक भी दिखलाई पड़ी जिससे उनकी मुख-मुद्रा शोकपूर्ण हो गई। यह देखकर बालक की माता ने आशंकित होकर इसका कारण पूछा तो उन्होंने बड़े संकोच से कहा कि “वैसे तो ये दैवी ज्ञान से मंडित एक महापुरुष ही हैं, पर ग्रहों के फलानुसार इनकी आयुष्य केवल ८ वर्ष की है। अगर ये तपस्या करें तो वह आयुष्य ८ वर्ष और बढ़ सकती है।

वह बालक जिनका नाम शंकर था पहले ही देश और धर्म की सेवा के लिये अपना जीवन अर्पण करना चाहते थे। अब इस भविष्यफल के प्रकट हो जाने पर उन्होंने अपनी माता से अपनी मनोभिलाषा कह सुनाई। पर घर में कोई और उत्तराधिकारी न होने से वे इसके लिये तैयार न हुई।

तब बालक शंकर ने एक उपाय से काम लेना सोचा। कुछ समय बाद जब वे अपनी माता के साथ किसी पर्व के अवसर पर नदी में स्नान करने गये तो तैरते-तैरते पुकारने लगे कि मुझे मगर ने पकड़ लिया और खींचे लिये जाता है। इस पर माता भी कुहराम मचाने लगी। शंकर ने कहा— “माता यदि तू मुझे शिवजी के लिये अर्पण कर दे तो वे मेरी रक्षा कर सकते हैं।” पुत्र की प्राण रक्षार्थ माता ने वैसा ही मान लिया और शंकर तैरकर घाट पर आ गये। उन्होंने कपड़े बदल कर माता को प्रणाम किया संन्यास ग्रहण करने के लिए सद्गुरु की सेवा में जाने की आज्ञा माँगी।

माता बहुत रोई-कलपी, पर धर्म के लिये जीवन अर्पण कर देने वाले शंकर उसके निर्वाह की उचित व्यवस्था करके नर्मदा की तरफ चल दिये। वहाँ तक कई सौ मील का जंगली और पहाड़ी मार्ग अतिक्रम कर सकना एक छोटे बालके के लिये असम्भव जान पड़ता था, पर दृढ़वती शंकर किसी कष्ट या भय की चिन्ता न करके निरन्तर यात्रा करते हुए वहाँ पहुँच गये। उस स्थान पर एक बहुत प्राचीन योगी गोविन्दपाद का आश्रम था जो वेदान्त शास्त्र के पूर्ण ज्ञाता माने जाते थे। शंकर ने उनसे दीक्षा ग्रहण की और दो वर्ष तक वेदान्त का अध्ययन किया। इसके पश्चात् गुरुजी ने शंकर को काशी जाकर धर्म और वेदान्त मत का प्रचार करने की आज्ञा दी और स्वयं महासमाधि ले ली।

जिस समय यह बाल-संन्यासी अपने वयोवृद्ध गुरु भाइयों के साथ कशी पहुँचे और वेदान्त के गूढ़ रहस्यों का प्रवचन करने लगे तो वहाँ एक हलचल मच गई और लोगों का समूह उनके दर्शनार्थ आने लगा। यद्यपि उनका शरीर बालक का था पर ज्ञान और बुद्धि पूर्ण प्रौढ़ता को प्राप्त हो चुके थे। वे बड़े-बड़े पंडितों के प्रश्नों का उत्तर देकर उनकी शंकाओं का समाधान करते और अन्य सब मतों का निराकरण करके वेदान्त-मत का प्रतिपादन करते।

शंकराचार्य निर्गुण सिद्धांत के अनुयायी थे और वेदांत सिद्धान्त के अनुसार संसार को मिथ्या और माया समझने का भाव उनके भीतर इतना प्रबल हो चुका था कि वे भारतीय जनता में प्रचलित सगुणोपासना की तरफ कभी तनिक ध्यान नहीं देते थे। वे सदा आत्मस्वरूप की भावना करके इस प्रकार कहते रहते—

निर्गुणो निष्कियो नित्यो निर्विकल्पो निरंजनः ।
निर्विकारो निराकारो नित्यं मुक्तोऽस्मि निर्मलः ॥
अहमाकाशवत् सर्वं बहर्तर्गतोऽच्युतः ।
सत्यं ज्ञानमनन्तं यत्परं ब्रह्माहमेव तत् ॥

अर्थात्— मैं सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण से रहित हूँ। मैं शरीर, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण की क्रिया से रहित हूँ, तीनों काल में मेरा अस्तित्व है, समस्त विकल्पों और काम-क्रोध आदि विकारों से रहित हूँ, आकार रहित हूँ, अविद्या रूप मल से रहित हूँ। मैं तो आकाश तत्त्व के समान सब प्राणियों में व्याप्त हूँ। देश, काल और वस्तु के परिच्छेद से रहित जो परब्रह्म है वही मैं हूँ।

यह निर्गुण-भावना उनमें उस समय ऐसी दृढ़ हो गई थी कि एक मात्र निर्विकल्प समाधि के सिवाय भक्ति, उपासना आदि अन्य किसी साधन की तरफ वे बिल्कुल ध्यान नहीं देते थे। विश्व-कल्याण की भावना चित्त में कभी-कभी अवश्य उत्पन्न होती थी, पर वह भी जगत् को 'असत्' समझने की भावना से दब जाती थी। गुरु की आज्ञा को स्मरण करके शिष्यों तथा जनता को वेदान्त-सिद्धांत का उपदेश अवश्य देते थे, पर यह कार्य भी वे यत्नवत् कर रहे थे। यह भाव एक मुमुक्षु की दृष्टि से अवश्य सरहनीय था, पर संसार में उनको सत्य-धर्म के प्रचार और उसकी रक्षा का जो कार्य करना था उसमें सहायक न होकर बाधक ही था।

पर कशी एक ऐसा ज्ञान-केन्द्र है जहाँ सदा शास्त्र चर्चा ही चलती रहती है और सब प्रकार के मतों का प्रतिपादन करने वाले भिन्न-भिन्न प्रकार से धर्म का प्रतिपादन करते रहते हैं। वहाँ श्री शंकराचार्य के सम्मुख दो-एक ऐसी घटनाएँ हुईं जिनसे उनको अपने वेदान्त सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देना पड़ा। एक प्रसिद्ध घटना इस प्रकार बतलाई जाती है कि एक दिन जब वे गंगातट की ओर जा रहे थे उनको सामने से एक चांडाल आता दिखाई दिया जिसके साथ चार बड़े कुत्ते थे और जो मद्य के नशे में झुमता-झामता चला आ रहा था। उससे स्पर्श हो जाने की आशंका से श्री शंकर ने कहा— “रस्ते के एक तरफ होकर चलो और मेरे जाने के लिए स्थान को छोड़ दो।” चांडाल ने उनकी बातों की तरफ कुछ ध्यान न दिया और चलते-

चलते कहने लगा— “कौन किसको स्पर्श करता है ? सर्वत्र एक ही वस्तु है उसके सिवाय और क्या ? किसके स्पर्श से भयभीत होकर तुम दब कर चल रहे हो ? आत्मा तो किसी को स्पर्श नहीं करती। जो आत्मा तुम में है वह मेरे भीतर भी है। फिर तुम किससे दूर जाने की कह रहे हो ? मेरी देह को या मेरी आत्मा को ? इन शब्दों को सुनते ही शंकर का ब्रह्मज्ञान सच्चे व्यावहारिक स्तर पर पहुँच गया और उन्होंने मन ही मन उस चांडाल को एक गुरु समझ कर प्रणाम किया। अनेक लोग इस घटना को सुनकर कहने लगे कि स्वयं भगवान् विश्वनाथ ने चांडाल के रूप में श्री शंकर को उपदेश दिया था और उनको केवल सिद्धान्त पर न अड़े रहकर वह मार्ग दिखलाया था जिससे वे जनमत को अपने साथ लेकर धर्म-स्थापना का कार्य कर सकें।

इसके पश्चात् शीघ्र ही उन्होंने अपना जीवन कार्य आरम्भ कर दिया। वे अपने प्रमुख शिष्यों के साथ बदरिकाश्रम चले गये और ब्रह्मसूत्र पर अपना प्रसिद्ध शारीरिक भाष्य लिखा। इसके साथ ही ग्यारह प्रमुख उपनिषदों तथा श्रीमद्भगवद्गीता पर भी भाष्य रचे। ये तीनों ग्रन्थ ‘प्रस्थानत्रयी’ के नाम से प्रसिद्ध हो गये और ऐसी परम्परा पड़ गई कि जो धर्म-प्रचारक पहले इन तीनों पर ऐसे ही विद्वतापूर्ण भाष्यों की रचना करके अपने मत का प्रतिपादन कर सके वही ‘आचार्य’ की पदवी का अधिकारी माना जाय।

जब श्रीशंकर ने भारतवर्ष में प्रचलित बौद्ध, जैन आदि अवैदिक मतों के खण्डन का झण्डा उठाया तो उनसे कहा गया कि उनसे भी पहले इस कार्य की घोषणा श्री कुमारिल भट्ट कर चुके हैं। वे उनसे भेंट करने प्रयाग पहुँचे, पर परस्थितिबश कुमारिल भट्ट उनसे प्रभावित होकर भी उनका साथ न दे सके और उसी समय देह त्याग दी। पर वे कह गये कि आप महिष्मती नगरी में जाइये, जहाँ मेरा शिष्य मंडन मिश्र रहता है जो मुझसे भी अधिक विद्वान् है। वह आपके कार्य में सहयोग करेगा। वास्तव में मंडन मिश्र उस युग का भारत प्रसिद्ध विद्वान् तथा पण्डित था। श्रीशंकर ने शास्त्रार्थ करके उनको अपना सिद्धान्त मनवा दिया और उसके पश्चात् अन्त समय तक वही उनका सबसे बड़ा सहायक रहा।

बौद्धों को परास्त करके वैदिक मत का उत्कर्ष साधन करने पर भी शंकर को पाशुपत, शाक्त, तान्त्रिक, शैव, माहेश्वर, वैष्णव आदि हिन्दू धर्म के बहुसंख्यक सम्प्रदाय वालों का भी मुक़ाबला करना पड़ा, जिन्होंने धर्म के विकृत रूप का प्रचार करके जनता को कुमार्गागामी बना रखा था। इसमें से उग्र भैरव नाम का एक कपालिक बदला लेने की नीयत से प्रकट में आचार्य का शिष्य बन गया और एक दिन मौका पाकर उनको मारने लगा। पर अन्य शिष्य उसकी तरफ से सावधान रहते थे इसलिए उसी समय पद्मपाद रक्षा करने को पहुँच गया और उसने कपालिक का वहीं वध कर डाला। इसी प्रकार जब वे राजा सुधन्वा को साथ लेकर प्रचार कर रहे थे तो कर्नाटक में कपालिकों के महन्त कुचक्र ने अपने सैकड़ों सशस्त्र अनुयायियों को लेकर उन पर आक्रमण किया। पर राजा सुधन्वा सावधान था और उसने अपनी सेना के द्वारा उनको मारकर भगा दिया।

जब वे समस्त भारत में धर्म-प्रचार करके आसाम पहुँचे तो शाक्त मत के आचार्य अभिनव गुप्त से मुक़ाबला हुआ। यद्यपि परास्त होकर प्रकट में उनका वह शिष्य बन गया, पर प्रतिहिंसा वश उसने कोई गुप्त प्रयोग करके इनके शरीर में भगन्दर की व्याधि उत्पन्न कर दी। अन्य अनुयायियों ने इलाज या अन्य कोई उपाय करने की बार-बार सम्मति दी, पर आचार्य ने इसको अपना प्रारब्ध मानकर कोई प्रयत्न नहीं किया और अपने कार्य को यथासम्भव शीघ्र पूरा करके धर्म के नाम पर प्रसन्नतापूर्वक जीवन की इतिश्री कर ली। उस अवसर पर उन्होंने अपने शिष्य वर्ग को अन्तिम उपदेश देते हुए कहा—

‘हे शिष्यो ! अब तुम सब दैवत्य प्राप्त करने और मुमुक्षुजनों को उपदेश देने में सदा सावधान रहकर उद्योग करते रहना। तोटक को उत्तर दिशा में ज्योतिर्मठ, पद्मपाद को पूर्व दिशा में गोवर्धन मठ, हस्तामलक को पश्चिम दिशा में शारदामठ और सुरेश्वर को दक्षिण दिशा में ऋंगेरी मठ की स्थापना करके अपने इस अभेद अद्वैत ज्ञान का प्रचार धैर्य और दृढ़ता से निरन्तर करते रहना चाहिए। अब सब शिष्यों को इन चारों का सम्मान करना चाहिये। अधिकारियों को वैदिक मार्ग में प्रवृत्त करना और दुराचारियों का सुधार करना चाहिये।’

एक दिन वे प्रातःकाल नदी में स्नान कर लौट रहे थे कि सहसा एक चाण्डाल से छू गये। स्पर्श होते ही शंकराचार्य कुपित हो उठे और चाण्डाल को अपवित्र कर देने का दोष लगाकर भला-बुरा कहने लगे। चाण्डाल उनका रोष देखकर हँसा और बोला— महाराज ! संन्यास लेकर सन्त तो बन गये और वेद शास्त्र पढ़ कर पंडित भी। किन्तु आपका तुच्छ देहाभिमान अब भी न गया। इस प्रकार की भेद बुद्धि रहते हुए आप अपने को पूर्ण सन्त मान रहे हैं। यह तो उचित नहीं दीखता। सबके शरीरों में एक आत्मा का निवास है, इस सत्य को प्रतीत किये बिना आपका संन्यास अपूर्ण है, आडम्बर है।

चाण्डाल की बातों ने शंकराचार्य की आँखें खोल दीं। उन्होंने अपनी अपूर्णता समझी और उसे पूरा करने के लिए पुनः घोर साधना में लग गये और अब की बार जब अध्यात्म के सत्य स्वरूप को हृदयंगम कर सके तो तुरन्त ही अपने कर्तव्य पथ पर चल पड़े। उन्होंने अटक से कटक और कन्याकुमारी से काश्मीर तक की पैदल यात्रा की। इस यात्रा में उन्होंने हजारों व्याख्यान दिये। बड़े-बड़े उद्भट विद्वानों से शास्त्रार्थ किया और धर्म के सच्चे स्वरूप को समझने-समझाने के लिये सभायें आयोजित कीं। उन्होंने धर्म का प्रचार करने के लिये चिद्विलास, विष्णु गुप्त, हस्तामलक, समित पाणि, ज्ञानवृन्द, भानु गर्भिक, बुद्धि विरंचि त्रोटकाचार्य, पद्मनाभ, शङ्करीति मंडन मित्र, कृष्णदर्शन आदि देश के उद्भट विद्वानों को संगठित किया। वेद धर्मानुयायियों की एक विशाल धर्म सेना बनाई गई और सम्पूर्ण भारत में धर्म-सुधार की हलचल मचा दी। उनके इस अखण्ड प्रयत्न का फल यह हुआ कि जनता के मानस में धर्म सम्बन्धी जो भी भ्रांतियाँ घर कर रही थीं वे सब दूर होने लगीं और सारे देश में वैदिक धर्म का शंखनाद गूँजने लगा।

श्रीशंकराचार्य एक कर्मठ धर्मवीर थे। यद्यपि उनको भगन्दर का फोड़ा निकला हुआ था और वैद्यों की राय थी कि वे आराम से एक

स्थान पर रहें उसका उपचार करें अन्यथा यह फोड़ा उनके लिये घातक बन जायेगा। किन्तु श्रीशंकराचार्य आराम से पड़े रहने को तैयार न हुए। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि मेरे शरीर से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण मेरा कर्तव्य है, उसके अपूर्ण रहते हुए मैं किस प्रकार विश्राम ले सकता हूँ। वे निरन्तर उस कष्ट में भी काम करते रहे और अन्त में तीस वर्ष की अवस्था में जगद्गुरु की पदवी पाकर इस संसार से चले गये।

साहस असम्भव को सम्भव बना देता है

बौद्ध मत राज्याश्रय मिलने तथा समर्थ प्रचारकों के कारण भारत भूमि से उत्पन्न होकर देश-देशान्तरों में फैल गया। जापान, चीन और रूस तक उसका सीमा विस्तार हो गया। इस विस्तार के साथ ही उसके कुछ अनुयायियों में संकीर्णता पनपने लगी। वे दूसरे मतों का सम्मान करना भूलकर उन पर अत्याचार करने लगे। प्रसिद्ध हिन्दू तीर्थ बद्रीनाथ के मुख्य मन्दिर की देव मूर्ति उन्होंने नारद कुण्ड में फेंक दी जिससे वहाँ वैशाख से कार्तिक तक होने वाली मानवी पूजा ही बन्द हो गयी।

भगवान् बुद्ध ने भारतीय प्रचलित धर्म में उत्पन्न हुए गतिरोध व मूढ़ मान्यताओं को दूर करने के लिए बौद्ध धर्म चलाया था। उसे एक सामयिक सुधार-बीमारी की स्थिति में दी जाने वाली दवा व पथ्य के रूप में ही गिना जाना चाहिये था किन्तु उसी को सब कुछ मानकर बौद्ध मतावलम्बी हिन्दू देवी-देवताओं को अपमानित करने लगे तब स्वामी शंकराचार्य ने दिग्विजय का महान् संकल्प लेकर उसे पूरा किया और वैदिक धर्म को पुनर्जीवित किया।

जब वे बद्रीनाथ धाम पहुँचे तो वहाँ के निवासियों ने वहाँ के देवालय की दुर्दशा का वर्णन किया। वे उसकी पुनर्प्रीतिष्ठ करने के लिए मन्दिर पर पहुँचे। पूजा आरम्भ करवाना चाहते थे, किन्तु मूर्ति के अभाव में कुछ हो नहीं पा रहा था। वहाँ के मन्दिर के पुजारी तथा सम्बन्धित विद्वज्जन नयी मूर्ति बनवाने का विचार कर रहे थे।

इस पर उन्होंने पूछा— ‘‘पहले की मूर्ति कहाँ है ?’’

‘‘उसे तो बौद्धों ने नारद कुण्ड में फेंक दिया है।’’

‘‘तो उसे ही क्यों न निकाला जाय ?’’

स्वामी जी के इस कथन पर सभी एक-दूसरे का मुँह देखने लगे। एकत्रित शताधिक मनुष्यों के चेहरों पर ‘यह असम्भव है’ का भाव तैर आया। स्वामी शंकराचार्य ने पूछा— ‘‘कोई देवमूर्ति को निकालने के लिए तैयार है।’’

इतने गहरे कुण्ड से मूर्ति निकालने का प्रयास करना प्राणों से खेलना था। अतः कोई तैयार नहीं हुआ। सबको इस प्रकार परत देख वे स्वयं अपना उत्तरीय फेंककर कुण्ड में जा कूदे। लोगों के मुँह से दीर्घ निःश्वास निकल गया। यह संन्यासी या तो अपने प्राण गंवायेगा या अपने वचन।

बड़ी देर बाद वे खाली हाथ बाहर निकले। कुछ देर साँस लेने के बार फिर कूदे। लोगों ने मना किया पर वे माने नहीं। दूसरी बार भी वे खाली हाथ बाहर आये। तीसरे व अन्तिम प्रयास में जब वे ऊपर आये तो मूर्ति उनके हाथ में थी।

विग्रह का एक पाँव खण्डित था उसे जोड़कर पुनः उसकी प्रतिष्ठा की गयी। पण्डितों ने खण्डित विग्रह की स्थापना का विरोध किया पर शंकराचार्य के तर्कों व प्रमाणों के आगे उन्हें निरुत्तर होना पड़ा।

स्वामी शंकराचार्य ने अपने प्राणों की बाजी लगा बद्रीनाथ के विग्रह को नारद कुण्ड से निकाल कर यह प्रमाणित कर दिया कि वे पण्डित्य और धर्म-ज्ञान में ही शीर्षस्थ नहीं है वरन् उन शाश्वत सिद्धान्तों पर दृढ़निष्ठा रखते हुए उन्हें जीवन में उतार कर दिखा भी सकते हैं। यह अध्यात्म ज्ञान की ही शक्ति थी कि जिसके द्वारा उन्होंने असम्भव को सम्भव कर दिखाया। उनका यह शौर्य व साहस ही उनके दिग्विजय का आधार बना था। एक अल्पायु युवक द्वारा इस महत्त कर्म को सम्पादित कर जाना भी कम आश्चर्यजनक नहीं है। उनके जीवन के साथ ऐसी कई सत्य घटनाएँ जुड़ी हुई हैं जिनमें उन्होंने मृत्यु और जीवन को समभाव से स्वीकार करने की तत्परता दिखायी थी।

स्वामी जी के इस साहस की गाथा आज भी असंभव को सम्भव कर दिखाने की उमंगें सत्साहसियों के हृदय में उत्पन्न करती रहती हैं। इन्हीं चरण चिह्नों पर चलकर सामान्य मानव महामानव बना करते हैं।

धर्मरक्षार्थ जीवन होमने वाले— श्री कुमारिल भट्ट

बात उस समय की है, जब बौद्ध धर्म सारे भारतवर्ष में तथा अन्य देश-देशान्तरों में भी अपने पूरे वेग के साथ फैल चुका था। और वैदिक मान्यताएँ पंगु हुई पड़ी थीं। मृत प्रायः वैदिक धर्म का पुनरुद्धार आवश्यक ही नहीं— अनिवार्य हो गया था। बौद्ध धर्म के शून्यवाद की नास्तिक मान्यताएँ अधिकांश जनता को नास्तिक बनाती चली जा रही थीं।

ऐसी संघर्षमय परिस्थितियों में श्री कुमारिल भट्ट का आविर्भाव हुआ। वे वैदिक धर्म के प्रकाण्ड पण्डित तथा पूर्णतः अनुयायी थे। उन्होंने वेदों, शास्त्रों तथा उपनिषदों का गहन अध्ययन किया था। उनका विश्वास था कि वैदिक तथ्य ही मानव जीवन को ऊँचा उठाने में समर्थ हो सकते हैं। किन्तु जनता के सामने अपनी बात कहने तथा उसे मनवाने से पूर्व यह आवश्यक था कि उस प्रभाव को मिटाया जाय जो बौद्ध धर्म की नास्तिक विचारधारा के रूप में जन-मानस पर छाया हुआ था। उन्होंने प्रतिज्ञा की, कि— चाहे जो कठिनाई मेरा मार्ग अवरुद्ध करे— मैं वैदिक मान्यताओं का प्रचार तथा प्रसार करने में कुछ भी उठा न रखूँगा।

मार्ग की सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि बौद्ध मतानुयायियों से शास्त्रार्थ करने से पूर्व बौद्ध धर्म का गहरा अध्ययन स्वयं को होना भी आवश्यक था। इसके लिये वे तक्षशिला गये और पूरे पाँच वर्ष तक बौद्ध धर्म का क्रमबद्ध तथा विशद अध्ययन किया। जब शिक्षा पूर्ण हो गई तो चलने का अवसर आया। उस समय की प्रथा के अनुसार

बौद्ध विश्वविद्यालय के स्नातकों को यह प्रतिज्ञा करनी होती थी कि— ‘मैं आजीवन बौद्ध धर्म का प्रचार तथा प्रसार करूँगा तथा धर्म के प्रति आस्था रखूँगा।’

समस्या बड़ी ही गम्भीर तथा उलझनमय थी। करना तो था उन्हें वैदिक धर्म का प्रचार। बौद्ध धर्म का अध्ययन तो उसकी ही जड़ें काटने के लिए किया था। दृढ़ी प्रतिज्ञा का मतलब था गुरु के प्रति विश्वासघात तथा वचन भंग।

किन्तु इस मानसिक संघर्ष के बीच भी उन्होंने अपना विवेक खोया नहीं और क्या करना चाहिए यह निश्चित कर लिया। आपत्ति धर्म के रूप में उन्होंने प्रतिज्ञा ली और बौद्ध धर्म का अपार ज्ञान लेकर यहाँ से चल दिये। लौटकर उन्होंने वैदिक धर्म का धुँआधार प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया। जन-जन तक वेदों का दिव्य-सन्देश पहुँचाया। फिर जहाँ भी विरोध की परिस्थिति उत्पन्न हुई वहीं पर उन्होंने बौद्ध मान्यताओं का खण्डन किया। अपने गहन अध्ययन के आधार पर चुन-चुनकर एक-एक भ्रान्त बौद्ध मान्यता को वैदिक तथ्यों द्वारा काटा। बौद्ध मतावलम्बियों को खुला आमन्त्रण दिया शास्त्रार्थ के लिये और बड़े से बड़े विद्वानों को अपने अगाध ज्ञान तथा विशद अध्ययन के आधार पर धर्म-सम्बन्धी विश्लेषणों तथा वाद-विवादों में धराशायी किया। दिग्भ्रमित जनता को नया मार्ग, नया प्रकाश तथा नई प्रेरणाएँ दीं। समस्त विज्ञ तथा प्रज्ञ समाज में यह साबित कर दिया कि वैदिक धर्म ही मानव जीवन के कल्याण का सही मार्ग है। बौद्ध धर्म के खण्डन तथा वैदिक धर्म के प्रचार में उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन लगा दिया।

और जब उन्हें ये विश्वास हो गया कि गिरती दीवार थम गई है वैदिक मान्यताओं के लड़खड़ाते पैर जम गये हैं— तब उन्हें कुछ सन्तोष हुआ। अब वे यह अनुभव कर रहे थे कि जो बीज मैंने बो दिये हैं, वे फलते-फूलते रहेंगे।

अब उन्होंने अपनी ओर देखा। दृढ़ी प्रतिज्ञा करने का क्षोभ उनके हृदय को निरन्तर कचोटता रहा था। महान् व्यक्तित्वों की यही तो विशेषता होती है कि जरा-सा भी अनौचित्य उन्हें सहन नहीं होता। निदान उन्होंने प्रायश्चित्त करने का निश्चय किया। शास्त्रीय विधान के अनुसार गुरु के प्रति विश्वासघात करने का प्रायश्चित्त था, जीवित अग्नि में जल जाना और वह अग्नि भी धान के छिलकों की, जो लौ उठाकर हाल नहीं जल जाती केवल सुलगती रहती है।

इस प्रायश्चित्त के हृदयस्पर्शी दृश्य को देखने देश के बड़े बड़े विद्वान् आये थे। उनमें आदि शंकराचार्य भी थे। उन्होंने समझाया भी कि— “आपको तो लोकहित के लिए वैसा करना पड़ा। अपने स्वार्थ के लिए तो नहीं किया। अतः इस प्रकार का भयंकर प्रायश्चित्त मत कीजिये।”

इस पर श्री कुमारिल भट्ट ने जो उत्तर मंद मुस्कन के साथ दिया वह उनकी महानता को और भी कई गुना बढ़ा देता है। उन्होंने कहा कि— “अच्छा काम केवल अच्छे रास्ते से ही किया जाना चाहिए तभी उसका प्रभाव लोगों पर अच्छा पड़ता है। माना कि मैंने आपत्ति धर्म के रूप में ही ऐसे किया है, लेकिन इस प्रकार की परम्परा नहीं

चलाना चाहता। कुमार्ग पर चलकर श्रेष्ठ कर्म करने की परम्परा गलत है। हो सकता है, इस समय की मेरी स्थिति की उलझन को न समझ कर कोई केवल ऊपरी बात का ही अनुकरण करने लग जाय। यदि ऐसा हुआ तो धर्म और सदाचार नष्ट ही होगा। और तब— इस प्राप्त हुए लाभ का कोई मूल्य ही न रह जायेगा। अतः मेरा प्रायश्चित्त करना ही उचित है।”

और उसके पश्चात् उस महान् आत्मा के लिए दिव्य चिता सजाई गई। वे उसमें सहर्ष बैठ गये और आग लगा दी गई। धीरे-धीरे सुलग-सुलग कर— पता नहीं कितनी पीड़ा के साथ, कितनी वेदनाओं के पर्व हटाकर निकले होंगे वे प्राण। और उस दारुण दुःख को सहते हुए आने वाली सन्तति के लिए उनके मन में, पता नहीं क्या-क्या भाव आये होंगे। निश्चय ही एक बात तो आई होगी कि— “हे मेरे देशवासियो! यदि कभी मेरे जीवन उद्देश्य अथवा जीवन-क्रम के प्रति तुम्हारे मन में किंचित् भी सहानुभूति अथवा सम्बेदना जागे— तो अपने इस प्राणप्रिय वैदिक धर्म का सम्बर्द्धन तथा पोषण करके ही मेरे प्रति अपनी ममता का प्रदर्शन करना।”

वह देह जलकर भस्म हो गई उस प्रायश्चित्त की भीषण अग्नि में। लेकिन उनका आदर्श सदा अमर रहेगा। धर्म की वेदी पर किया गया उनका वह बलिदान सदा हमें प्रेरणा-प्रकाश तथा उत्साह देता रहेगा।

सेवा योगी— स्वामी रामकृष्ण परमहंस

श्री रामकृष्ण परमहंस की गणना अवतारी पुरुषों में की जाती है। कोई बहुत बड़े अस्त्र-शस्त्र लेकर या अलौकिकताओं तथा चमत्कारों के साथ जन्म लेना, अवतार लेना लोगों की भ्रम बुद्धि को चमत्कृत भले ही करता हो, उसमें वस्तुतः कुछ भी तथ्य नहीं है। सामान्य एवं साधारण मनुष्य की तरह जन्म लेने वाला व्यक्ति भी अपने महान् कार्यों द्वारा अवतारी पुरुष बन सकता है। चमत्कार की शक्ति किसी के पास हो भी तो उससे किसी कार्य का सम्पादन करना उतना महान् नहीं है जितना कि परिस्थितियों, आकस्मिकताओं और प्रतिकूलताओं से लड़ते हुए किसी लोक-हितकारी कार्य का सम्पादन करना। श्री रामकृष्ण परमहंस एक ऐसे ही व्यक्ति थे जिन्होंने अपने कर्तव्य की महानता से ही अवतार पद प्राप्त किया था।

विख्यात है कि श्री रामकृष्ण परमहंस ने केवल छह वर्ष की आयु में ही भगवदानुभूति प्राप्त कर ली थी। सुनने में यह बात निःसन्देह विलक्षण लगती है और सहसा यह भाव मन में आता है कि छह वर्ष के अबोध बालक के हृदय में भगवदानुभूति का कारण केवल मात्र भगवान् की कृपा ही हो सकती है। नहीं तो छह वर्ष का एक बालक जिससे कि एक साधारण बात समझने की आशा नहीं की जा सकती भगवदानुभूति को किस प्रकार प्राप्त कर सकता है। छह वर्ष का बालक उक्त अलौकिक उपलब्धि के लिए कौन-सी ऐसी बड़ी साधना कर सकता है ?

निःसन्देह किसी भी बड़ी उपलब्धि में भगवत् कृपा एक प्रधान हेतु होती है किन्तु इस कृपा को प्राप्त करने में मनुष्य का पुरुषार्थ ही एकमात्र कारण होता है। मनुष्य जीवन कोई पहली और अन्तिम उपलब्धि नहीं होती। यह जन्म-जन्मान्तरों की एक शृंखला होती है। इसी शृंखला के अन्तर्गत मनुष्येतर योनियाँ भी आती हैं। अनेक अपने कर्मानुसार अन्य योनियों में भटकते फिरते हैं और बहुत से अपने सुकर्मों के फलस्वरूप बार-बार मनुष्यता का अवसर पाते हैं।

जन्म-जन्मान्तरों में मनुष्य जिस अनुपात से अपने पुरुषार्थ द्वारा अपनी आत्मा को परिष्कार करता आता है उसी अनुपात से वह आगामी जीवन में बुद्धि, विद्या, विवेक, ब्रह्मा और भक्ति की अनुभूति प्राप्त करता है। श्री रामकृष्ण परमहंस अवश्य ही पूर्व जन्म नहीं बल्कि जन्म-जन्मों में मनुष्य ही रहे थे और निरन्तर अपनी आत्मा के परिष्कार का प्रयत्न करते रहे। यह उनके पूर्व जन्म के सुकर्मों का ही फल था कि उन्होंने छः वर्ष की आयु में ही भगवदानुभूति प्राप्त कर ली। यही कारण है कि भारतीय ऋषि मुनियों ने मनुष्य जीवन को एक दुर्लभ अवसर कहा है और निर्देश किया है कि मनुष्य को अपने जीवन का सीमान्त सदुपयोग करके त्याग और तपस्या द्वारा भगवान् का साक्षात्कार कर लेना चाहिये और यदि वह कर्म न्यूनता के कारण यदि किसी प्रकार प्रभु का साक्षात्कार नहीं भी कर पाता तो अवश्य ही पुनः मनुष्य योनि में जन्म लेकर या तो साक्षात्कार प्राप्त करेगा अथवा उस दिशा में अपने प्रयत्नों को आगे बढ़ायेगा। अस्तु, मनुष्य को सावधानतापूर्वक साक्षात्कार होगा या नहीं होगा, यह तर्कवितर्क त्याग कर, मनुष्य जीवन का सदुपयोग कर, अगले जीवन में साक्षात्कार की आशा पर पूर्ण प्रयत्न रत रहना चाहिए। इसमें प्रमाद करने वाले ही आगामी जीवन की सारी सम्भावनायें खोकर चौरासी के चक्कर में घूमते हैं।

अपने पूर्व पुरुषार्थ के फलस्वरूप जब श्री रामकृष्ण परमहंस ने अल्प आयु में ही भगवान् की भक्ति प्राप्त कर ली तो वे उसी दिन से उसका साक्षात्कार करने के लिये साधना करने लगे। साधना के रूप में उन्होंने उपासना का मार्ग अपनाया। स्वयं अपनी विधि एवं बुद्धि से की हुई उपासना जब कोई उत्साहवर्द्धक फल लाते दिखलाई न दी तब उन्होंने क्रम से भारती ब्रह्मचारी और नग्न वेदान्ती तोतापुरी से सगुण साधना तथा निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश लिया। अनन्तर उन्होंने इस्लाम तथा ईसाई उपासना पद्धतियों का भी प्रयोग किया, किन्तु पाया कि उन्हें इन उपासनाओं से कोई विशेष लाभ नहीं हुआ। अन्त में वे अपने स्वयं के चिन्तन और मनन के आधार पर नर-नारायण की उपासना के निष्कर्ष पर पहुँचे।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस की उज्ज्वल एवं उन्नत आत्मा ने जिस दिन मनुष्य सेवा के रूप में परमात्मा की सेवा स्वीकार की उसी दिन से उन्होंने अपने में एक स्थायी सुख-शान्ति तथा सन्तोष का अनुभव किया। भगवत् प्राप्ति का अमोघ उपाय पाकर उन्होंने सारी उपासना पद्धतियों को छोड़ दिया और नर-नारायण की सेवा में लग गये।

रोगियों की परिचर्या, अपंगों की सेवा और निर्धनों की सहायता करना उनका विशेष कार्यक्रम बन गया। जहाँ भी वे किसी रोगी को

कहाते देखते अपने हाथों से उसकी परिचर्या करते। अपंगों एवं विकलांगों के पास जाकर उनकी सहायता करते, दुःखी और दीन जनों को अपनी सुधा-सिक्त सहानुभूति से शीतल करते। साधारण रोगियों से लेकर क्षय एवं कुष्ठ रोगियों तक की सेवा-सुश्रूषा करने में उन्हें कोई संकोच नहीं होता था। दीन-दुःखियों को हृदय से लगाने में उन्हें एक स्वर्गीय सुख-शान्ति का अनुभव होता था। दरिद्रों को भोजन करना और उनके साथ बैठकर प्रेमपूर्वक बातें करने में वे जिस आनन्द का अनुभव किया करते थे वैसा आनन्द उन्होंने अपनी एकान्तिक साधना में कभी नहीं पाया था।

एक तो अध्यात्म साधना से निर्विकार एवं निर्मल हृदय दूसरे दीन-दरिद्रों तथा आकुल समाकुलों की सेवा— फिर क्यों न उनको एक ऐसी कारुणिक अनुभूति का लाभ होता जो युग-युग की साधना के बाद पाये आत्मानन्द से किसी दशा में कम नहीं थी। दीन-दुःखियों के साथ बैठकर सच्ची सहानुभूति से उनका दुःख बँटाने में जो आनन्द है उसका अनुभव वे भाग्यवान ही कर सकते हैं जिनका हृदय पर-पीड़ा से कतर हो उठता है। जिसने लोभ, मोह, क्रम, क्रोध और अहंकार के शत्रुओं को परास्त कर लिया उसका हृदय अवश्य ही विश्व-प्रेम से भरकर धन्य हो उठेगा। जो सुख चाहता है शान्ति की कामना रखता है वह निःसार साधनाओं को छोड़कर स्वामी रामकृष्ण परमहंस की तरह हो जाये और दीन-दुःखियों की सेवा करता हुआ उनकी कतर तथा कारण मूर्ति में परमात्मा की झाँकी प्राप्त करे। जिसे आनन्द की प्यास हो वह दुःखियों के पास जाये और अनुभव करे कि दूसरे का दुःख बँटाने पर हृदय में किस दिव्य आनन्द का उद्रेक होता है ?

स्वामी रामकृष्ण ने न केवल भक्ति पूर्ण उपासना ही की, प्रत्युत आत्म शान्ति तथा अन्य चमत्कारिक सिद्धियों के लिए तान्त्रिक साधना भी की। इस तान्त्रिक साधना में सिद्धियाँ उन्हें प्राप्त हुईं वे नर-नारायण की सेवा में प्राप्त सुख की तुलना में बड़ी ही तुच्छ तथा हेय थीं। उनमें उतना ही अन्तर था जितना एक लोलुप धनवान और आत्म तुष्ट योगी में हो सकता है। इस निःसारता का अनुभव करके उन्होंने तृण के समान तुच्छ तान्त्रिक साधना को त्याग कर जन-सेवा की महान् गुणमयी साधना को अपना लिया।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस निःसन्देह एक दिव्यदर्शी सिद्ध पुरुष थे और पंचभूत त्यागने के बाद उन्होंने मोक्ष पद को पाया होगा। उनकी साधना बड़ी और तप महान् था। उन्होंने जन-सेवा द्वारा भगवत् प्राप्ति का जो मार्ग निकाला वह कोई कल्पना अथवा मात्र धारणा नहीं थी बल्कि एक चिरन्तन वास्तविकता तथा त्रयकालिक सत्य था। नर-नारायण की सेवा का निर्देश स्वयं उनका नहीं था, वह अवश्य ही उनकी निर्विकार आत्मा में प्रतिध्वनित परमात्मा का ही आदेश था, जिसका पालन उन्होंने स्वयं किया और वैसा ही करने का उपदेश अपने शिष्यों, भक्तों एवं अनुयायियों को भी दिया।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस के निश्छल हृदय से निकली हुई पुकार “रामकृष्ण मिशनों”, मठों एवं आश्रमों में मूर्ति भले हुई, और आज क्या देश और क्या विदेश सभी जगह सैकड़ों की संख्या में श्री रामकृष्ण

मिशन, सेवाश्रम तथा वेदान्त केन्द्र सहस्रों रोगियों को परिचर्या और दुःखियों को सहायता और पथ भान्तों को आलोक दे रहे हैं।

कहना न होगा कि वैयक्तिक साधना से मोक्ष पाकर गये हुये रामकृष्ण परमहंस से न संसार को कोई लाभ होता और न संसार उन्हें जानता। इसके विपरीत नर-नारायण की उपासना तथा भक्ति करने पर उन्हें मोक्ष तो मिला ही होगा, इसके अतिरिक्त संसार उनकी सेवाओं का लाभ पाकर उन्हें एक अवतारी पुरुष के रूप में याद करता रहेगा।

श्रीरामकृष्ण परमहंस के उपदेश

जो हीन बुद्धि है, वे ही सिद्धाई चाहते हैं। बीमारी को अच्छा करना, मुकदमा जिता देना, जल के ऊपर से चलना— ये सब (सिद्धाई) हैं। जो भगवान् के भक्त हैं, वे ईश्वर के पादपद्मों को छोड़ कर और कुछ भी नहीं चाहते हैं। जिनकी थोड़ी बहुत सिद्धाई हो, उनकी प्रतिष्ठा लोकमान्य होती है।

व्याकुल होकर भगवान् की प्रार्थना करो। विवेक के लिए प्रार्थना करो। ईश्वर ही सत्य है और सब अनित्य है, इसी का नाम विवेक है। जल-छादन (जल छानने के महीन कपड़े) से जल छान लेना होता है। मैला-कूड़ा-करकट एक तरफ रहता है और अच्छा जल दूसरे तरफ पड़ता है। तुम उनको (ईश्वर को) जान कर संसार को छोड़ो इसी का नाम विद्या का संसार है।

नामा मत है। मत का पन्थ अर्थात् जितने मत हैं उतने ही पन्थ हैं। किन्तु सभी मानते हैं कि— मेरा मत ही ठीक है— मेरी ही घड़ी ठीक चल रही है।

सत्य कथा— सत्य बोलना— कलि की तपस्या है। कलियुग में अन्य तपस्या कठिन है। सत्य मार्ग पर रहने से भगवान् पाया जाता है।

अवतार या अवतार के अंश को ईश्वर कोटि कहते हैं और साधारण लोगों को जीव या जीव-कोटि। जो जीव कोटि के हैं, वे साधनाएँ कर ईश्वर का लाभ कर सकते हैं। वे (निर्विकल्प) समाधि से फिर लौटते नहीं हैं।

जो ईश्वर कोटि हैं, वे मानो राजा के बेटे हैं और मानो सात मंजिल वाले मकान की चाबी उनके हाथ में है। वे सातों मंजिलों तक चढ़ जाते हैं, फिर इच्छानुसार उतर भी आ सकते हैं। जीव कोटि मानो छोटे कर्मचारी (नौकर) हैं, वे सात मंजिल के कुछ दूर तक पहुँच सकते हैं।

जनक ज्ञानी थे। साधनाएँ कर उन्होंने ज्ञान लाभ किया था। शुकदेव थे ज्ञान की मूर्ति। शुकदेव को साधनाएँ कर ज्ञान लाभ करना नहीं हुआ था। नारद में भी शुकदेव के जैसा ब्रह्मज्ञान था किन्तु वह भक्ति लेकर था। लोकशिक्षा के लिए प्रह्लाद कभी ‘सोऽहं’ भाव में रहते, फिर कभी दास भाव में और कभी सन्तान भाव में रहते थे। हनुमान की भी वैसी अवस्था थी।

भगवान् को लाभ करना हो तो संसार से तीव्र-वैराग्य चाहिये। जो कुछ ईश्वर के मार्ग के विरोधी मालूम हो, उसे तत्क्षण त्यागना चाहिये। पीछे होगा यह सोच कर छोड़ रखना ठीक नहीं है। क्रम-कंचन ईश्वर-मार्ग के विरोधी हैं। उनसे मन हटा लेना चाहिये।

दीर्घसूत्री होने से परमार्थ का लाभ नहीं होगा। कोई एक अंगोछा लेकर स्नान करने को जा रहा था। उसकी औरत ने उससे कहा कि—तुम किसी भी काम के नहीं हो, उम्र बढ़ रही है, अब भी यह सब (व्यवहार) छोड़ नहीं सके। मुझको छोड़कर तुम एक दिन भी नहीं रह सकते। किन्तु देखो, वह रामदेव कैसा त्यागी है। पति ने कहा—क्यों उसने क्या किया? औरत ने कहा—उसकी सोलह औरत हैं। वह एक-एक करके उनको त्याग रहा है। तुम कभी त्याग कर नहीं सकोगे। पति ने कहा—“क्या वह एक-एक करके त्याग रहा है! अरे पगली! वह कभी त्याग कर नहीं सकेगा। जो त्याग करता है वह क्या थोड़ा-थोड़ा करके त्याग करता है? औरत ने मुस्कराकर कहा—तो भी तुम से अच्छा है। पति ने कहा—पगली, तू नहीं समझती है त्याग करना उसका काम नहीं है। अर्थात् उसके कहने से त्याग नहीं होगा, मैं ही त्याग कर सकूँगा यह देख, मैं चल देता हूँ।”

इसी का नाम तीव्र वैराग्य है। उस आदमी को ज्यों वैराग्य आ गया त्यों ही उसने त्याग किया। अंगोछा कन्धे में ही रहा कि—वह चल दिया। वह संसार का कुछ ठीक ठाक नहीं कर पाया। घर की ओर एक बार पीछे लौट कर देखा भी नहीं।

जो त्याग करेगा उसको मनोबल चाहिये। लुटेरों का भाव! लूटने से पहले जैसे डाकू लोग कहते हैं, ऐ मारो! लूटो! काटो! अर्थात् पीछे क्या होगा, इसका ख्याल न कर खूब मनोबल के साथ आगे बढ़ना चाहिये।

तुम और क्या करोगे? उनके (ईश्वर के) प्रति भक्ति और प्रेम लाभ कर दिन बिताना है। श्रीकृष्ण के दर्शन से यशोदा पगली जैसी बनकर श्रीमती (राधा) के पास गई। श्रीमती ने उनका शोक देख कर आद्य शक्ति के रूप से उनको दर्शन दिया और उनसे कहा—“माँ” वर फिर क्या लूँ? तो इतना ही कहो कि—मैं तन, मन, वचन से कृष्ण की ही सेवा कर सकूँ, इन्हीं आँखों से उनके भक्तों का दर्शन हो। जहाँ-जहाँ उनकी लीलाएँ हों इन पैरों से वहीं जा सकूँ। इन हाथों से उनके ही प्रेमी भक्तों की सेवा हो। सब इंद्रियाँ उन्हीं के दर्शन श्रवणादि में लगे।

इधर का (ईश्वरीय) आनन्द मिलने से उसको (वैषयिक) आनन्द अच्छा लगता है। ईश्वरीय आनन्द लाभ करने से संसार नमक का (शाक जैसा) निःरस भान होता है। शाल मिलने से फिर वनात अच्छा नहीं लगता है।

जो ‘संसार के धर्म’ संसार में रह कर ही धर्माचरण करना ठीक है यह कहते हैं, वे यदि एक बार भगवान् का आनन्द पावें तो उनको फिर और कुछ अच्छा नहीं लगता। कमी के लिए आसक्ति कम होती जाती है। क्रमशः ज्यों-ज्यों आनन्द बढ़ता जाता है त्यों-त्यों फिर कर्म भी कर नहीं सकते हैं। केवल उसी आनन्द को ढूँढ़ते फिरते हैं। ईश्वरीय आनन्द के पास फिर विषयानन्द और रमणानन्द तुच्छ हो जाते हैं, एक बार स्वरूपानन्द का स्वाद मिलने पर उसी आनन्द के लिए व्याकुल होकर फिरते हैं, तब संसार गृहस्थी रहे चाहे न रहे! उसके लिए कोई परवाह नहीं रहती है।

संसारी लोग कहते हैं कि—दोनों तरफ रहेंगे! दो आने की शराब पीने से मनुष्य दोनों ओर ठीक रहना चाहते हैं। किन्तु अधिक शराब पीने से क्या फिर दोनों तरफ नजर रखी जा सकती है?

ईश्वरीय आनन्द मिलने से फिर कुछ सांसारिक कार्य अच्छा नहीं लगता है। तब काम-कांचन की बातें मानो हृदय में चोट-सी लगती हैं। बाहरी बातें अच्छी नहीं लगती हैं। तब मनुष्य ईश्वर के लिए पागल होता है। रुपये-पैसे कुछ भी अच्छे नहीं लगते हैं।

ईश्वर लाभ के बाद कोई संसार है तो वह होता है—विद्या का संसार। उसमें कामिनी-कांचन का प्रभाव नहीं रहता है, उसमें रहते हैं, केवल भक्ति, भक्त और भगवान्।

परमहंस रामकृष्ण देव की अमृतवाणी

परमहंस जी एक दिन ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के घर पर उनसे मिलने गये। भेंट होने पर कहा—“आज तो मैं सागर से आ मिला। इतने दिन खाई, सोता और अधिक से अधिक हुआ तो नदी देखी थीं, पर अब सागर देख रहा हूँ।” विद्यासागर ने कहा—“तो इससे लाभ क्या हुआ, थोड़ा-सा खारा पानी मिल जायेगा।” परमहंस जी बोले “नहीं जी, खारा पानी क्यों? तुम तो अविद्या के नहीं विद्या के सागर हो, तुम क्षीर-समुद्र हो। तुम्हारा कर्म सात्त्विक कर्म है। यह सब सत्त्व का रजोगुण है। सत्त्वगुण से दया होती है। दया से जो कर्म किया जाता है वह राजसिक कर्म हो सकता है, पर फिर भी वह सत्त्वगुण से सम्बन्धित है, इसलिये उसमें कोई दोष नहीं बतला सकता। तुम विद्यादान, अन्नदान कर रहे हो यह भी अच्छा है। यह कर्म निष्काम भाव से करने से ईश्वर लाभ होगा।”

ब्रह्म की चर्चा चलने पर परमहंस जी ने कहा कि “आजकल वेद, पुराण, तंत्र षड्दर्शन सब झूठे हो गये हैं। क्योंकि वे मुँह से पढ़े जाते हैं, मुँह से उच्चारित होते हैं, इसीसे उनको झूठा माना जायेगा। पर केवल एक वस्तु झूठी नहीं हुई है—वह वस्तु ब्रह्म है। ब्रह्म क्या है, यह बात आज तक कोई मुँह से बोल कर नहीं समझा सका है।”

“एक पिता के दो लड़के थे। ब्रह्म विद्या सीखने के लिये पिता ने उन दोनों को आचार्य को सौंप दिया। कई वर्ष बाद वे गुरु गृह से लौटे और घर आकर पिता को प्रणाम किया। पिता की इच्छा हुई कि देखें इन्हें कैसा ब्रह्मज्ञान हुआ है। बड़े लड़के से उन्होंने पूछा—“बेटा तुमने तो सब कुछ पढ़ा है, अब यह बताओ कि ब्रह्म कैसा होता है?” बड़ा लड़का वेदों से बहुत-से मन्त्रों की आवृत्ति करता हुआ ब्रह्म का स्वरूप समझाने लगा। पिता चुप रहे। फिर उन्होंने छोटे लड़के से वही प्रश्न किया पर वह सिर झुकाने चुप रहा, मुँह से कोई बात न निकली। तब पिता ने प्रसन्न होकर कहा—“बेटा तुम्हीं ने कुछ समझा है, ब्रह्म क्या है—“यह मुँह से नहीं कहा जा सकता।”

“मनुष्य सोचता है कि हम ईश्वर को जान गये, एक चींटी चीनी के गोदाम में गई। एक दाना खाकर उसका पेट भर गया और दूसरा दाना मुँह में लेकर अपने घर को जाने लगी। जाते समय सोच रही थी कि अबकी बार समूचे गोदाम को ले आऊँगी? भुद्रजीव भी ब्रह्म

के बारे में इसी प्रकार की बातें सोचा करते हैं, वे नहीं जानते कि ब्रह्म वाणी और मन दोनों से परे है।

गीता का अर्थ क्या है ? जब चैतन्य देव दक्षिण में तीर्थ-भ्रमण कर रहे थे तो उन्होंने देखा कि एक आदमी गीता पढ़ रहा है। एक-दूसरा आदमी थोड़ी दूर पर बैठे उसे सुन रहा है और सुनकर रो रहा है—आँखों से आँसू बह रहे हैं। चैतन्य देव ने पूछा—“क्या तुम यह सब समझ रहे हो ?” उसने कहा—“प्रभु ! इन श्लोकों का अर्थ तो मैं नहीं समझता हूँ।” चैतन्य ने पूछा—“तो फिर रोते क्यों हो ?” भक्त ने जवाब दिया—“मैं देख रहा हूँ कि अर्जुन का रथ है और उसके सामने भगवान् और अर्जुन खड़े हुए बात कर रहे हैं। बस यही देखकर मैं रो रहा हूँ।” इसलिये गीता केवल किताब से पढ़ी नहीं जाती, जब मन से आसक्ति दूर हो जाती है तभी उसका सच्चा आशय समझ में आता है।

“ब्रह्म ज्ञान की चर्चा उठने पर परमहंस जी ने कहा— पहले हृदय मंदिर में उनकी प्रतिष्ठा करो। भाषण, लेक्चर आदि जी चाहे तो उसके बाद करना। खाली ‘ब्रह्म-ब्रह्म’ कहने से क्या लाभ यदि हृदय के भीतर विवेक-वैराग्य नहीं है।

“किसी गाँव में पद्मलोचन नाम का एक लड़का था। लोग उसे पदुआ कह कर पुकारते थे। उसी गाँव में एक जीर्ण मंदिर था, पर उसके भीतर इस समय देवता की कोई मूर्ति नहीं थी। मन्दिर की दीवारों पर पीपल और तरह-तरह के पेड़ पैदा हो गये थे। मन्दिर के भीतर चमगादड़ अड्डा जमाये थे। फर्श पर धूल और चमगादड़ों की विष्टा पड़ी रहती थी। मन्दिर में कोई आता-जाता नहीं था।

“एक दिन संध्या के बाद लोगों ने मंदिर की तरफ से शंख की आवाज सुनी। मंदिर की तरफ से भों-भों शंख बज रहा था। गाँव वालों ने सोचा कि किसी ने मंदिर में देवता की मूर्ति पधरा दी होगी और संध्या के बाद आरती हो रही होगी। लड़के, बूढ़े, औरतें, मर्द सब दौड़ते हुए मंदिर की तरफ चले कि देवता के दर्शन करेंगे, आरती देखेंगे। उनमें से एक ने मंदिर का दरवाजा धीरे से खोला तो देखा कि पद्मलोचन एक तरफ खड़ा हुआ भों-भों शंख बजा रहा है। देवता की प्रतिष्ठा नहीं हुई थी, मंदिर में झाड़ू तक नहीं लगाया गया था। चमगादड़ों की विष्टा भी पड़ी हुई थी। तब उस मनुष्य ने चिल्लाकर कहा—

“तेरे मंदिर में माधव कहाँ हैं, पदुआ तूने तो व्यर्थ ही में शंख फूँककर हुल्लाद मचा दिया।”

“इसी प्रकार यदि हृदय-मंदिर में माधव की प्रतिष्ठा करनी हो, यदि ईश्वर का लाभ करना चाहे, तो सिर्फ भों-भों शंख फूँकने से क्या होगा। पहले चित्त शुद्ध करना चाहिये। मन शुद्ध हुआ तो भगवान् उस पवित्र आसन पर स्वयं आ विराजेंगे।”

भक्तों ने पूछा कि हम ईश्वर को किस उपाय से देख सकते हैं ? परमहंस जी ने कहा कि “जब तुम उनके लिये व्याकुल होकर रोना सीख लोगे तो वे अपने आप मिल जायेंगे। जिस प्रकार कोई

स्त्री अपने छोटे बच्चे को खिलौनों से बहलाकर घर के काम-काज में लगी रहती है। पर जब बालक खिलौने फेंक कर जोर-जोर से रोने लगता है तो माँ रोटी बनाना बन्द कर दौड़ आती है—बच्चे को गोद में उठा लेती है। उसी प्रकार भक्त जब ईश्वर को सच्चे हृदय से पुकारते हैं तो वे स्वयं उनके पास आ जाते हैं।”

दूसरे भक्त ने पूछा—“महाराज, ईश्वर के स्वरूप पर इतने भिन्न-भिन्न मत क्यों हैं। कोई कहता है साकार और कोई कहता है निराकार। साकारवादियों में तो अनेकों रूपों की चर्चा सुनाई पड़ती है, यह कैसा गोरखधन्धा है ?”

परमहंस जी ने कहा—“जो भक्त जिस प्रकार देखता है वह वैसा ही समझता है। वास्तव में गोरखधन्धा कुछ भी नहीं है। यदि कोई ईश्वर को एक बार प्राप्त कर सके तो वे स्वयं समझा देते हैं। जब तुम किसी मुहल्ले में गये ही नहीं तो उसकी खबर कैसे जान सकते हो ? इस सम्बन्ध में एक दृष्टान्त है कि एक आदमी शौच के लिये जंगल में गया। उसने देखा कि पेड़ पर एक बड़ा सुन्दर-सा कीड़ा बैठा है। लौट कर उसने अपने एक साथी से कहा—“देखो जी आज हमने अमुक पेड़ पर एक बड़ा सुन्दर लाल रंग का कीड़ा देखा था।” दूसरे आदमी ने जवाब दिया कि “जब मैं शौच के लिये गया था तो मैंने भी उसे देखा था। पर उसका रंग लाल नहीं था वरन् हरा था।” तीसरे ने कहा—“उसे तो हमने भी देखा है, पर उसका रंग तो पीला है।” इसी प्रकार कुछ लोग और भी थे जिनमें से किसी ने कीड़े का रंग भूरा किसी ने बैंगनी किसी ने आसमानी बतलाया। इस पर सबके सब लड़ने लग गये। तब इसका फैसला करने को सब मिलकर उस पेड़ के पास पहुँचे ! वहाँ एक आदमी बैठा था। पूछने पर उसने कहा—“मैं इसी पेड़ के नीचे रहता हूँ। इस कीड़े को मैं खूब पहचानता हूँ। तुमने जो कुछ कहा यह सब सत्य है। यह कभी लाल, कभी हरा, कभी पीला, कभी आसमानी न जाने कितने रंग बदलता है। यह बहुरूपिया है और कभी मैं देखता हूँ कि इसका कोई रंग ही नहीं है।”

“आशय यह कि जो मनुष्य सर्वदा ईश्वर चिन्तन करता है, वही जान सकता है कि उसका स्वरूप क्या है। वही यह भली प्रकार जानता है कि भगवान् तरह-तरह के रूपों में दर्शन देते हैं, अनेक भावों में देख पाते हैं, वे सगुण भी हैं और निर्गुण भी। अर्थात् ईश्वर को कोई किसी खास रंग या रूप में बाँध नहीं सकता।

भावना सर्वोपरि है, विधि-विधान नहीं

कल जन्माष्टमी का उत्सव था। आज राधा-गोविन्द जी के मन्दिर में नन्दोत्सव है। दक्षिणेश्वर के काली मन्दिरों की सजावट आज देखते ही बनती है। भक्तजनों के झुंड के झुंड गोविन्द जी के दर्शनों के लिये आ रहे हैं। कीर्तन अपनी चरम सीमा पर है। भक्ति रस की धारा प्रवाहित हो रही है।

दोपहर के भोग के पश्चात् गोविन्द जी के विग्रह को शयन के लिये भीतरी प्रकोष्ठ में ले जाते समय पूजक क्षेत्र-नाथ का पाँव फिसल जाने से रंग में भंग हो गया। वह मूर्ति सहित फर्श पर जा गिरे, जिससे मूर्ति का एक पाँव टूट गया। भक्ति रस की धारा मन्द पड़ गयी उसके

स्थान पर भय और आशंका के मेघ मँड़ाने लगे। मन्दिर में बड़ा कोलाहल मच उठा। अपने-अपने मन से सभी भावी अमंगल की सूचना दे रहे थे। सबके चेहरों पर भय की रेखायें खिंच गयीं। निश्चय ही कोई सेवा अपराध हुआ है। उसका दण्ड अमंगल के रूप में सबको भोगना होगा।

रानी रासमणी ने सुना तो वह एक दम सिहर उठीं। अब क्या होगा? किन्तु जो कुछ हो चुका था, उसे टाल सकने की सामर्थ्य किस में थी। अब क्या किया जाय, इसके लिये पण्डितों की सभा बुलायी गयी। पण्डित लोगों ने ग्रन्थ देखे, सोच-विचार किया और यह विधान दिया— भग्न विग्रह को गंगा में विसर्जित करके उसके स्थान पर नयी मूर्ति की स्थापना की जाय।

रानी रासमणी को पंडितों का यह निष्ठुर विधान रुचा नहीं किन्तु उसके हाथ की बात भी क्या थी। ब्राह्मणों की सम्मति को टालना उसके बस में कहाँ था। निदान नयी मूर्ति बनवाने का आदेश दे दिया गया। रानी उदार हो गयी। भला इतनी श्रद्धा और प्रेम से जिन गोविन्द जी को इतने दिन पूजा जाता रहा, उन्हें थोड़ी-सी बात पर जल में विसर्जित कर देने का कारण उसकी समझ में नहीं आया।

जामाता मधुरबाबू रानी की इस उदासी को ताड़ गये। उन्होंने सम्मति दी— रानी माँ क्यों न इस विषय में छोटे भट्टाचार्य (स्वामी रामकृष्ण परमहंस) की राय भी जान ली जाय?

रानी स्वामी रामकृष्ण पर विशेष श्रद्धा रखती थीं। उनकी अनूठी निष्ठा व भक्ति के कारण वे उनके द्वारा दिये जाने वाले निर्णय को स्वीकार करने की स्थिति में भी थीं। रानी ने अपने मन की व्यथा रामकृष्ण से कह सुनायी। सुनकर उन्होंने रानी से प्रश्न किया— यदि आप के जामाताओं में से किसी एक का पाँव टूट जाता तो वह उनकी चिकित्सा करवाती या उनके स्थान पर दूसरे को ले आतीं?

“मैं अपने जामाता की चिकित्सा कराती, उन्हें त्याग कर दूसरा नहीं ले आती।”

“बस उसी प्रकार विग्रह के टूटे पैर को जोड़ कर उसकी सेवा-पूजा यथावत् होती रहे तो उसमें दोष ही क्या है।”

श्री रामकृष्ण परमहंस के इस सहज विधान को सुन कर रानी हर्षित हो उठीं। यद्यपि उनकी यह व्यवस्था ब्राह्मणों के मनोनुकूल नहीं थी। उन्होंने उसका विरोध भी किया पर अब रानी का धर्म-संकट समाप्त हो चुका था। उसे स्वामी जी की बात ही पसन्द थी। उसने ब्राह्मणों के विरोध की चिन्ता नहीं की। स्वामी जी ने टूटे विग्रह के पाँव को ऐसा जोड़ दिया कि कुछ पता ही नहीं चलता। पूजा-सेवा उसी प्रकार चलती रही।

एक दिन किन्हीं जमींदार महाशय ने उनसे पूछा— मैंने सुना है आपके गोविन्द जी टूटे हैं। इस पर वे हँस कर बोले— “आप भी कैसी भोली बातें करते हैं जो अखण्ड मंडलाकार हैं, वे कहीं टूटे हो सकते हैं।

भगवान् लोभ-मोह रहित हैं

रामकृष्ण परमहंस के शिष्य मथुरा बाबू ने एक मन्दिर बनवाया और उसमें विष्णु भगवान् की मूर्ति स्थापित करा दी गई। मूर्ति बड़ी

लुभावनी थी। वस्त्राभूषण से साज-सँवार की गई थी। कुछ ही दिन बीते होंगे कि चोर मूर्ति के कीमती आभूषणों को चुरा ले गये। प्रतिमा अब उतनी आकर्षक नहीं लगती थी। मथुरा बाबू उदास होकर बोले कि भगवान् आपके हाथ में गदा और चक्र दो-दो हथियार लगे रहे फिर भी चोर चोरी कर ले गये। इससे तो हम मनुष्य अच्छे। कुछ तो प्रतिरोध करते ही हैं। पास खड़े रामकृष्ण भी यह वार्तालाप सुन रहे थे। वे बोल पड़े— “मथुरा बाबू! भगवान् को गहनों और जेवरों का तुम्हारी तरह लोभ और मोह नहीं है और फिर उनके भण्डार में कमी किस बात की है जो रात भर जागते और तुच्छ गहनों की रख-वाली करते।”

अहंकार का बीज

रामकृष्ण परमहंस के दो शिष्य इसी बात पर परस्पर उलझ पड़े कि उनमें से कौन वरिष्ठ है। विवाद तय न होने पर गुरुदेव के पास जाकर उन्होंने पूछा— “गुरुदेव! हम दोनों में से कौन बड़ा है?” बस इतनी-सी बात के लिये उलझ रहे थे तुम लोग— परमहंस ने कहा— “तुम्हारे प्रश्न का उत्तर तो बहुत सरल है। जो दूसरे को बड़ा समझता है, वही बड़ा भी है और श्रेष्ठ भी। यह समाधान पाकर वे दोनों मन में बहुत लज्जित हुए। उस दिन से बड़ा बनने की ललक और अहंकार का बीज ही मन से मिट गया।

निराभिमानता की मूर्ति

स्वामी रामकृष्ण बगीचे में बैठे हुए ईश्वर चिन्तन में लीन थे। इतने ही में डॉ० महेन्द्रनाथ सरकार उधर आये और उन्होंने स्वामी जी को बाग का माली समझकर फूल तोड़ लाने को कहा। स्वामी जी मान-अपमान से परे निर्मल स्थिति में थे, उन्होंने तत्काल फूल तोड़ कर डॉक्टर साहब को दे दिए। दूसरे दिन ये डॉक्टर साहब स्वामी जी को देखने आये तब उन्हें अपनी भूल मालूम हुई और उनकी निराभिमानता पर द्रवित हो गये।

वस्तुतः महान् सन्त साधु व्यक्तियों की पहचान उनके अभिमान शून्य विनय युक्त स्वभाव से ही की जाती है।

निस्पृह माँ

रामकृष्ण परमहंस की माता एक बार कलकत्ता आई और कुछ समय स्नेहवश पुत्र के पास रहीं। दक्षिणेश्वर मन्दिर की स्वामिनी रासमणि ने उन्हें गरीब और सम्मानास्पद समझ कर तरह-तरह के कीमती उपहार भेंट किए। वृद्धा ने उन सभी को अस्वीकार कर दिया और मान रखने के लिए एक इलायची भर स्वीकार की। उपस्थित लोगों ने कहा— “ऐसी निस्पृह मातायें ही परमहंस जैसे पुत्र को जन्म दे सकती हैं।”

मुक्त एवं स्वतंत्र आत्माएँ

रामकृष्ण परमहंस अपने शिष्यों के साथ टहलते हुये एक नदी के तट पर पहुँचे। वहाँ मछुए जाल फेंक कर मछलियाँ पकड़ रहे

थे। एक मछुए के पास स्वामी जी खड़े हो गये और शिष्यों से कहा—तुम लोग ध्यानपूर्वक इस जाल में फँसी मछलियों की गतिविधि देखो।

शिष्यों ने देखा कि कुछ मछलियाँ तो ऐसी हैं जो जाल में निश्चल पड़ी हैं, उन्होंने निकलने की कोई कोशिश ही नहीं की, कुछ मछलियाँ निकलने की कोशिश तो करती रहीं पर निकल नहीं पाई और कुछ जाल से मुक्त होकर पुनः जल में क्रीड़ा करने लगीं

परमहंस ने शिष्यों से कहा—जिस प्रकार मछलियाँ तीन प्रकार की होती हैं उसी प्रकार मनुष्य भी तीन प्रकार के होते हैं। एक श्रेणी उनकी है जिनकी आत्मा ने बन्धन स्वीकार कर लिया है और इस भव-जाल से निकलने की बात सोचते ही नहीं, दूसरी श्रेणी ऐसे व्यक्तियों की है जो वीरों की तरह प्रयत्न तो करते हैं पर मुक्ति से वंचित ही रहते हैं और तीसरी श्रेणी उन मनुष्यों की है जो चरम प्रयत्न द्वारा आखिर मुक्ति प्राप्त कर ही लेते हैं।

परमहंस की बात समाप्त हुई एक शिष्य बोला “गुरुदेव ! एक चौथी श्रेणी भी है जिसके सम्बन्ध में आपने कुछ बताया ही नहीं।”

“हाँ चौथी प्रकार की मछलियों की तरह ऐसी महान् आत्माएँ भी होती हैं जो जाल के निकट ही नहीं आतीं फिर उनके फँसने का प्रश्न ही नहीं उठता।”

पूर्ण समर्पण

श्री रामकृष्ण परमहंस शिष्यों को उपदेश दे रहे थे। वह समझा रहे थे कि जीवन में आये अवसरों को व्यक्ति साहस तथा ज्ञान की कमी के कारण खो देते हैं। अज्ञान के कारण उस अवसर का महत्त्व नहीं समझने पाते। समझकर भी उसके पूरे लाभों का ज्ञान न होने से उसमें अपने आपको पूरी शक्ति से लगा नहीं पाते। शिष्यों की समझ में यह बात ठीक ढंग से न आ सकी। तब श्रीरामकृष्ण देव बोले—“नरेन्द्र ! कल्पना कर तू एक मक्खी है। सामने एक कटोरे में अमृत भरा रखा है। तुझे यह पता है कि यह अमृत है, बता उसमें एकदम कूद पड़ेगा या किनारे बैठकर उसे स्पर्श करने का प्रयास करेगा।”

उत्तर मिला—“किनारे बैठकर स्पर्श का प्रयास करूँगा। बीच में एकदम कूद पड़ने से अपने जीवन-अस्तित्व के लिए संकट उपस्थित हो सकता है। साधियों ने नरेन्द्र की विचारशीलता को सराहा। किन्तु परमहंस जी हँस पड़े। बोले—“मूर्ख ! जिसके स्पर्श से तू अमरता की कल्पना करता है, उसके बीच में कूदकर, उसमें स्नान करके, सरावोर होकर भी मृत्यु से भयभीत होता है।”

“चाहे भौतिक उन्नति हो या आध्यात्मिक जब तक आत्मशक्ति का पूर्ण समर्पण नहीं होता सफलता नहीं मिलती” यह रहस्य शिष्यों ने उस दिन समझा।

ध्यान की बात

स्वामी रामकृष्ण परमहंस के समय दक्षिणेश्वर में श्री प्रताप हाजरा नाम के एक महाशय रहते थे। उन्होंने साधुओं जैसा जीवन अपना रखा था। वे कभी-कभी रामकृष्ण परमहंस के साथ कलकत्ता जाकर सत्संग का लाभ उठाया करते थे।

एक बार वे स्वामी जी के साथ कलकत्ता जाकर जब लौटे तो अपना अंगोछा वहीं एक भक्त के घर भूल आये।

स्वामी रामकृष्ण को जब यह पता चला तो उन्होंने हाजरा महाशय से कहा, “ऐसे भुलक्कड़ स्वभाव के कारण तो तुम कभी-कभी भगवान् को भी भूल जाते होंगे। जो नित्य प्रति के सांसारिक व्यवहार में सावधान नहीं रह सकता, वह आध्यात्मिक क्षेत्र में सावधानी बरत सकता है, इसमें सन्देह है।

हाजरा महाशय स्वामी जी के कथन का आशय न समझ कर सफ़ाई देते हुए बोले, “क्या बताऊँ महाराज ! भगवान् के भजन में लीन रहने से मुझे कुछ याद ही नहीं रहता।”

स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने हाजरा महाशय की झूठी आत्म श्लाघा समझ ली। वे दुःखी होकर सोचने लगे साधु का नाम धरा कर इतनी आत्मप्रशंसा ! फिर प्रकट में बोले, “हाजरा तू धन्य है। जो थोड़े से जाप से ही इतना पहुँच गया कि सांसारिक विषयों की याद ही नहीं रहती। एक मैं ऐसा तुच्छ प्राणी हूँ जो दिन-रात भगवान् के चरणों में ही ध्यान दिये रहता हूँ फिर भी आज तक न कभी अपना बटुआ कहीं भूला हूँ और न अंगोछा।

अब हाजरा महाशय को अपनी भूल का भान हुआ। वे स्वामी जी के चरणों में गिर कर क्षमा माँगने लगे।

मंत्र-शक्ति का प्रभाव

रामकृष्ण परमहंस से किसी जिज्ञासु ने पूछा—“क्या मन्त्र जप सबके लिए समान फलदायक होते हैं ?” उन्होंने उत्तर दिया—“नहीं। ऐसा क्यों ? के उत्तर में परमहंस जी ने जिज्ञासु को एक कथा सुनाई।

एक राजा था। उसका मन्त्री नित्य जप करता। राजा ने जप का फल पूछा तो उसने कहा—वह सबके लिए समान नहीं होता। इस पर राजा को असमंजस हुआ और वह कारण बताने का आग्रह करने लगा। मन्त्री बहुत दिन तक तो टालता रहा, पर एक दिन उपयुक्त अवसर देखकर समाधान कर देने का ही निश्चय किया।

मन्त्री और राजा एकान्त वार्ता कर रहे थे। एक छोटा बालक और वहाँ खड़ा था। मन्त्री ने बच्चे से कहा—“राजा साहब के मुँह पर पाँच चपत जमाओ, मन्त्री की बात पर बच्चे ने ध्यान नहीं दिया और जैसे का तैसा ही खड़ा रहा। इस अपमान पर राजा को बहुत क्रोध आया और उसने बच्चे को हुक्म दिया कि मन्त्री के मुँह पर जोर से पाँच चोट लगाओ। बच्चा तुरन्त बढ़ा और उसने तड़तड़ चोट लगा दी।

मन्त्री ने निश्चिन्ततापूर्वक कहा— राजन् ! मन्त्र शक्ति इस बच्चे की तरह है जिसे इस बात का विवेक रहता है कि किस का कहना मानना चाहिए, किस का नहीं। किस पर अनुग्रह करना चाहिए किस पर नहीं।

उपयुक्त वस्तु ही माँ को अर्पित

रामकृष्ण परमहंस को दक्षिणेश्वर में पुजारी का स्थान मिल गया। ईश्वर भक्त को ईश्वर की पूजा-उपासना के अतिरिक्त और चाह ही क्या होती है ? गुजारे के लिये बीस रुपये बाँधे गये जो पर्याप्त थे।

पन्द्रह दिन तो तब बीते जब मन्दिर कमेटी के सम्मुख उनकी पेशी हो गई और कैफियत देने के लिये कहा गया। एक के बाद एक कितनी ही शिकायतें उनके विरुद्ध पहुँच चुकी थीं। किसी ने कहा कि यह पुजारी कैसा ? स्वयं चखकर भगवान् का भोग लगाता है, फूल सूँघकर भगवान् के चरणों में अर्पित करता है। पूजा के इस ढंग पर कमेटी के सदस्यों को भी आश्चर्य हुआ आखिर उन्होंने एक दिन बुलाकर पूछ ही लिया क्यों रामकृष्ण इसमें कहाँ तक सत्यता है कि तुम फूल सूँघकर देवता पर चढ़ाते हो ?

“मैं बिना सूँघे भगवान् पर फूल क्यों चढ़ाऊँ ? पहले देख लेता हूँ कि उस फूल में कुछ सुगन्ध भी आ रही है या नहीं” रामकृष्ण ने सफाई देते हुए कहा फिर तो दूसरी शिकायत भी सत्य होगी कि भगवान् को भोग लगाने से पहले अपना भोग लगा लेते हो वह दूसरा प्रश्न था।

“मैं अपना भोग तो नहीं लगाता।” पर मुझे अपनी माँ की याद है कि वे भी ऐसा ही करती थीं जब कोई चीज बनातीं तो चखकर देख लेती थीं और तब मुझे खाने को देती थीं। मैं भी चखकर देखता हूँ पता नहीं जो चीज किसी भक्त ने भोग के लिए लाकर रखी है या मैंने ही बनाई है वह भगवान् के देने योग्य है भी या नहीं। रामकृष्ण परमहंस का सीधा उत्तर था।

असन्तुलन की भरपायी

रामकृष्ण परमहंस के गले में कैसर हो गया और वे उसका भारी कष्ट सहते हुए मरणासन्न स्थिति में जा पहुँचे।

उनके एक भक्त ने कहा— आप भवानी से प्रार्थना क्यों नहीं करते जिससे वे आपका कष्ट दूर कर दें। उत्तर में उन्होंने कहा कि एक तो मैंने जीवन भर देना ही देना जाना है। माता को भी समर्पण किया। माँगने की आवश्यकता ही अनुभव नहीं हुई। अब चलते-चलते दानियों में से नाम कटाकर याचकों में गणना क्यों कराऊँ ? आत्म सम्मान क्यों गंवाऊँ।

इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि दुःखियों को अपना पुण्य फल देकर उनके कष्ट घटाता रहा जितना पुण्य जमा था उससे अधिक खर्च कर डाला। उस घाटे की भरपाई के लिए याचकों वाला कष्ट

भार मुझे ही सहना होगा। विधि विधान मूल्य पाकर ही किसी को कुछ देता है। भले ही किसी की जेब से उसे चुकाया जाय। कैसर कष्ट सहकर उसी असन्तुलन की भरपाई कर रहा हूँ। जो पीड़ितों को कष्ट मुक्त करने के लिए पेशगी खर्च किया था।

नारीमात्र में मातृ दर्शन

सुधीर बोस रामकृष्ण परमहंस के मुँहलगे शिष्य थे। वे बिना संकोच के कई बार ऐसी बातें कह बैठते थे जिससे पीछे नीची आँखें करनी पड़ें। एक दिन उन्होंने परमहंस जी से पूछा— “जब आप विवाहित ही हैं तो पत्नी के साथ दाम्पत्य जीवन का निर्वाह क्यों नहीं करते ?

परमहंस गम्भीर हो गये बोले— “मैं नारी मात्र में मातृशक्ति का दर्शन करता हूँ।” शारदा माता भी उसी समुदाय में से एक हैं इसलिए मुझे माता तुल्य प्रतीत होती हैं। माता के साथ दम्पति जीवन कैसे बने। सुधीर ने आँखें नीची कर लीं। परमहंस की महानता का पहली बार अनुभव हुआ।

ईश्वर की प्रतीति

केशव चन्द्र रामकृष्ण परमहंस के बड़े तार्किक शिष्य माने जाते हैं। रामकृष्ण जितने सीधे थे, केशव चन्द्र उतने ही तेज और अव्वल नम्बर के तार्किक। वे रामकृष्ण से भी तर्क करते रहते और अधिकांश समय यही सिद्ध करने की कोशिश करते कि “कहाँ है ईश्वर ? किन्तु देखा है ?” एक दिन तर्क इतनी जोरों से चल पड़ा कि शिष्यों की भीड़ इकट्ठी हो गई।

रामकृष्ण की प्रत्येक बात को केशव चन्द्र काट देते थे। किन्तु देखते ही देखते बात उलटी हो गई। केशव चन्द्र बिल्कुल नास्तिकों जैसे वक्तव्य देने लगे।

रामकृष्ण उठे और नाचने लगे। किन्तु केशव चन्द्र को बेचैनी होने लगी कि अब क्या करें ? यदि रामकृष्ण प्रतिवाद करें तो वाद विवाद आगे बढ़े। किन्तु वे तो हार कर केशव चन्द्र की बातें सुनकर नाचने लगते। धीरे-धीरे केशव चन्द्र के सभी तर्क चुक गये। अब केशव चन्द्र ने रामकृष्ण से पूछा कि ? तो फिर ! आप भी मानते हैं और मेरी बातों से सहमत हैं कि “ईश्वर नहीं है।”

रामकृष्ण ने कहा कि “तुम्हें न देखा होता तो शायद मान भी लेता किन्तु तुम्हारी जैसी विलक्षण प्रतिभा जहाँ पैदा होती है तो बिना ईश्वर के कैसे होगी ? तुम्हें देखकर यह प्रमाण और पक्का हो गया कि ईश्वर जरूर है। ईश्वर निराकार है। वह तो प्रतिभा प्रतिभासम्पन्न प्रज्ञा के रूप में ही हो सकता है।”

कहते हैं, केशव चन्द्र उस दिन तो भीड़ में से उठ कर चले गये। किन्तु फिर लौटे तो पक्के आस्तिक होकर और रामकृष्ण के ही होकर रहे।

जगत जननी का ही सर्वत्र दर्शन

स्वामी विवेकानन्द जी के गुरु श्री रामकृष्ण परमहंस तब २४-२५ वर्षीय नव-युवक थे। यद्यपि उनके क्रिया-कलाप सिद्ध पुरुषों के से थे तथा माता शारदा मणि के साथ रहते हुए भी वे ब्रह्मचारी ही थे— तथापि लोगों को उनके चरित्र की परीक्षा लेने की बात सूझी।

रानी रासमणि के जमाता श्री मधुसूदास जी रामकृष्ण देव को लेकर मछुआ बाजार की एक सुन्दर वेश्या के यहाँ गये। वहाँ जाकर उन्हें तो एक ऐसे कमरे में बैठा दिया जहाँ आठ-दस नव-युवतियाँ अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य एवं आवेशों के साथ उपस्थित थीं। स्वामी जी को पहुँचाकर वे स्वयं यहाँ से चले गये— तब कहीं जाकर परमहंस देव की समझ में सारी बात आई। सुन्दरियाँ अपने हाव-भाव तथा उत्तेजक मुद्राओं द्वारा उन्हें अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करने लगीं।

बचाव का कोई उपाय न देख, परमहंस देव ने 'माँ' 'माँ' की रट लगा दी। और "आनन्दमयी माँ" कहकर सभी को प्रणाम करने लगे। उनके नेत्रों से प्रेमाश्रु उमड़ने लगे और वे शीघ्र ही समाधि अवस्था में पहुँच गये।

सभी नर्तकियाँ यह देखकर घबरा गईं और अपना उद्देश्य भूल गईं। थोड़ी देर बाद वे प्रकृतिस्थ हुए। सामने मधुरा बाबू लज्जावनत खड़े थे। सिर उठाये भी ऊपर न उठता था।

सत्संग की शक्ति

रामकृष्ण परमहंस की धर्म-पत्नी शारदामणि महिलाओं का अलंग सत्संग चलाती थीं। उनमें अधिकांश धार्मिक प्रकृति की और सम्भ्रान्त घरों की महिलाएँ आती थीं।

एक महिला सत्संग में ऐसी भी आने लगी जो वेश्या के रूप में कुख्यात थी। इस प्रकार अन्य महिलाएँ नाक-भौं सिकोड़ने लगीं और उसे न आने देने के लिए माताजी से आग्रह करने लगीं।

इस पर माताजी ने कहा— सत्संग गंगा है। वह मछली, मेढकों के रहने पर भी अशुद्ध नहीं होती। तनिक-सी मलीनता से ही जो अशुद्ध हो जाय वह गंगा कैसी? तुम लोग सत्संग की शक्ति पहचानो और अपने को गंगा के समतुल्य मानो।

यदि पात्र सोने का हो तो

तोतापुरी जी ने अपने चमकते हुए पीतल के लोटे की तरफ संकेत करते हुए कहा "देखिए, यह लोटा कैसा चमचमा रहा है। यदि इसे रोज माँजा न जाय तो इस पर मैल चढ़ जायेगा। यही दशा मन की भी है। यदि ध्यान धारण आदि द्वारा मन को निरन्तर स्वच्छ न किया जाय, तो उस पर भी मैल चढ़ जायेगा और उसकी दमक का स्थान मलिनता ले लेगी।"

परमहंस देव ने हँसकर कहा "किन्तु महाराज! यदि यही लोटा सोने का हो— तब तो मलिन होने की कोई सम्भावना नहीं" तोतापुरी समझ गये, परमहंस का मन वास्तव में स्वर्ण क्रांति जैसा ही देदीप्यमान तथा अपरिवर्तनशील है।

000



धार्मिक नवचेतना के उन्नायक प्रख्यात संत—महात्मा

सन्त रैदास की साधना

‘सन्त काल’ उस समय को कहा जाता है जिन दिनों यवन काल के उत्पातों से जनता किर्कतव्यविमूढ़ हो रही थी। आन्तरिक फूट, आदर्शों में विडम्बना का समावेश, संगठन का अभाव आदि कितने ही कारण ऐसे आ जुटे थे कि बहुसंख्यक जनता मुट्ठी भर विदेशी विधर्मियों द्वारा बुरी तरह पद-दलित की जा रही थी। उत्पीड़न और अपमान के इतने कड़ुए घूट आये दिन पीने पड़ रहे थे कि चारों ओर अन्धकार के अतिरिक्त और कुछ दीख ही न पड़ता था। लोग हताश होकर पराजित जाति जैसी हीनता को स्वीकार करने लगे थे। लँगड़ा, लूला प्रतिरोध सफल न हो सका तो उसे ईश्वरीय कोप मान कर चुप बैठे रहने में ही लोग अपनी भलाई सोचने लगे। ऐसी परिस्थितियों में आशा की एक नवीन किरण के रूप में भारत में ‘सन्त मत’ पनपा।

नानक, गुरु गोविन्दसिंह, रामानन्द, कबीर, ज्ञानदेव, एकनाथ, तुकाराम, तुलसीदास, सूरदास, रामदास, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, रामतीर्थ, कबीर, दादू, रैदास, चैतन्य आदि अनेक सन्त-महात्मा उन्हीं परिस्थितियों में उत्पन्न हुए और उन्होंने धर्म और ईश्वर पर से डगमगाती हुई निराश जनता की आस्था को पुनः सजीव करने का सफल प्रयत्न किया। रैदास इसी माला की एक उज्ज्वल मणि थे।

सन्त रैदास हरिजन कुल में उत्पन्न हुए। उनके पिता चमड़े का व्यापार करते थे। जूते भी बनाये जाते थे। रैदास बचपन से ही बड़े उदार थे। घर में सम्पन्नता थी। वे सोचते थे कि सम्पन्न लोगों को अपनी सम्पदा में दूसरे अभाव-ग्रस्तों को भी भागीदार बनाना चाहिए अन्यथा संग्रह किया हुआ अनावश्यक धन उनके लिए विपत्ति रूप ही सिद्ध होगा। वे प्रतिदिन एक जोड़ा जूता अपने हाथ से बनाकर असमर्थों को दान करते, जिससे वे कुश-कटकों और शीत-धूप से पैरों को बचाते हुए अपना कर्म करते रह सकें।

यह उदारता युवक रैदास के पिताजी को पसन्द न आई। दूसरे अन्य असंख्य लोगों की तरह वे अपने बेटे को ‘कमाऊ’ देखना चाहते थे। कमाऊ होना ही तो सब से बड़ा गुण माना जाता है। पिता ने उन्हें रोका, न माने तो बिना छप्पर का एक बाड़ा रहने के लिये देकर उन्हें और उनकी स्त्री को घर से निकाल दिया। पराई कमाई पर निर्भर रहने की अपेक्षा परिश्रमपूर्वक स्वावलम्बी जीवन रैदास को पसन्द आया और वे पूरे परिश्रम तथा मनोयोगपूर्वक बढ़िया जूते बनाने लगे। इसी से अपना गुजारा करते और एक जोड़ी जूता नित्य दान भी करते।

गृहस्थ रहते हुए भी मनुष्य महात्मा हो सकता है इसका अनुकरणीय उदाहरण रैदास ने प्रस्तुत किया और वे उसमें पूर्ण सफल

भी रहे। गुजारे के लिए आठ घण्टा श्रम करने से काम चल सकता है। आठ घण्टा नित्य-कर्म और भोजन विश्राम के लिए पर्याप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त आठ घण्टा समय लगभग सभी के पास शेष रहता है। प्रबुद्ध लोग उसका सदुपयोग करके अभीष्ट लक्ष्य की ओर तेजी से बढ़ते चले जाते हैं जबकि प्रमादी लोग इस मूल्यवान समय को बर्बाद करके मौत के दिन ही पूरे कर पाते हैं। रैदास प्रबुद्धों की श्रेणी में थे। उन्होंने बचे हुए समय को तप और साधना में लगाने का क्रम बनाया। उनके व्यक्तित्व से प्रभावित अगणित लोग उनके पास आते और उनकी शिक्षाएँ प्राप्त करके अपना पथ निर्धारित करते। उनके घर में सत्संग का क्रम चलता ही रहता। जूते बनाते हुए भी वे धर्म चर्चा करते रहते।

“मन चंगा तो, कठौती में गंगा” कहावत किसने नहीं सुनी? वस्तुतः आध्यात्मिकता के ठोस लाभ प्राप्त करने के इच्छुकों के लिये यह एक वाक्य ही सिद्धि दाता मंत्र है। इस मंत्र के मंत्र दृष्टा थे हरिजन संत रविदास—उन्हें कहीं-कहीं रैदास भी कहते हैं।

बनारस की बात है एक दिन एक स्त्री गंगा स्नान करने गई। वहाँ उसके हाथ का एक कंगन पानी में खिसक गया। स्त्री बड़ी दुःखित हुई। संत रविदास, जो जन्म से चर्मकार थे, के विरोधियों को इस बात का पता चला तो वे इसी बात को लेकर संत से झगड़ा करने जा पहुँचे। प्रतिक्रियावादियों ने सन्त रविदास के पास जाकर कहा—चर्मकार होकर आप अपने आप को सच्चा भक्त और गंगा जी का सेवक कहते हैं तो आज अमावस्या के दिन भी गंगा स्नान करने क्यों नहीं गये? सन्त रविदास बोले—“मन चंगा तो कठौती में गंगा” अरे भाई व्यक्ति का अन्तःकरण शुद्ध और पवित्र हो तो गंगा अपने पास ही है। धार्मिक कर्मकाण्ड का मूल मन्तव्य अपनी भावनाओं को निर्मल और पवित्र बनाये रखना है यदि भावनायें शुद्ध हैं तो (अपने बगल में रखे कठोते के पानी की ओर संकेत करते हुये) इस कठौतों में ही गंगा जी हैं।

विरोधियों की घात लग गई। बोले—तुम तो अपने आप को बहुत शुद्ध और पवित्र मानते हो, तुम्हारे लिये गंगा यहीं है तो इस बेचारी स्त्री का कंगन कठोते से ही निकाल कर दे दीजिये न? कहते हैं सन्त रविदास ने कठौते में हाथ डाला और उस स्त्री का कंगन उसी में से निकाल कर दे दिया?

घटना कहाँ तक सच है इस विवाद में पड़ने की अपेक्षा सन्त रविदास के जीवन की यह घटना यह बताती है कि आध्यात्मिक सिद्धियों का मूलाधार पवित्र हुई आत्मा और निर्मल मन ही है यदि अन्तःकरण अपवित्र और अशुद्ध है तो व्यक्ति ने भले ही जन्म किसी

२.२ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग-१

अतिशय सनाहद कुल में लिया हो पर वह उन विशेषताओं एवं महत्ताओं से वंचित ही बना रहेगा जो एक सच्चे अध्यात्मवादी में होनी चाहिये।

संत रविदास का जन्म वाराणसी में सं. १४५६ विक्रमी में चमार वंश में हुआ उनके पिता का नाम रघुजी और माता का नाम विनिया था। हिन्दू जाति का अंग होने पर भी जिस तरह अन्य अनेक हरिजन जातियों को सवर्णों के आगे दबकर रहना पड़ता है इस परिवार का जीवन भी कुछ ऐसा ही था। बनारस जो कि ब्राह्मणवाद का गढ़ माना जाता है जहाँ **“जन्मना जायतो ब्राह्मणः”** की भ्रान्त धारणा आज भी सवर्णों के प्रमाद और मिथ्या गर्व का कारण बनी हुई है। इस पूर्वाग्रह ने जहाँ प्रमाद में पड़े सवर्णों को आध्यात्मिकता के महत्वपूर्ण लाभों से वंचित रख दिया वहाँ जातीय संगठन को छिन्न-भिन्न कर दिया। हजारों हरिजन ईसाई बन गये, हजारों बौद्ध तथा मुसलमान, हिन्दू-हरिजनों की उपेक्षा न हुई होती तो आज पाकिस्तान नहीं होता। दुर्भाग्यवश तब यह बात किसी की समझ में नहीं आई थी, आज भी लोग नहीं समझ रहे— ऐसे समय में संत रविदास का जन्म एक प्रकार से परमात्मा की ओर से स्थापित उदाहरण था कि **“जाति पाँति पूछे नहीं कोय, हरि को भजै सो हरि का होय”** अर्थात् भगवान् को हर कोई प्राप्त कर सकता है वहाँ छूत-अछूत का कोई भेद नहीं, यह मात्र मानवीय संकीर्णता है।

रविदास का मन बाल्यावस्था से ही आध्यात्मिकता की ओर मुड़ता जा रहा था। माता-पिता ने उनकी शादी करनी चाही, पहले तो रविदास ने इन्कार किया और अपना जीवन सेवा साधना में बिताने का निश्चय किया पर माता-पिता इतने ऊँचे आदर्शों की बात नहीं समझते थे, समझते भी थे तो उन्हें एक बात मालूम थी, कि अपने अनेक ऋषि-मुनि भी गृहस्थ थे और गृहस्थ में रह कर ही उन्होंने अनेक सिद्धियाँ सामर्थ्य प्राप्त की थीं। सो उन्होंने कहा— तुम्हें भी सांसारिक कर्तव्यों का पालन करते हुये भगवान् को प्राप्त करना चाहिये। रविदास विचारशील थे उन्होंने इस तर्क को मान लिया। माता-पिता ने एक समृद्ध परिवार की कन्या लोणा के साथ उनका विवाह कर दिया। विवाह सामान्यतः आत्मोन्नति का बाधक माना जाता है पर संत रविदास ने अपने आप को प्रस्तुत करके यह दिखा दिया कि बाधक तो मनुष्य की कामनायें और वासनायें हैं। यदि मनुष्य अपनी तृष्णाओं और महत्वाकांक्षाओं को नियंत्रण में नहीं रख सकता तो जो आसक्ति, मोह और मिथ्याचार वह अपने कुटुम्ब के साथ कर सकता है वही वह समाज के अन्य व्यक्तियों में आरोपित कर सकता है। क्योंकि शरीरयापन के लिये उसे अन्ततः मनुष्य समाज पर ही तो निर्भर रहना पड़ेगा।

सन्त रविदास १२० वर्ष जिये। जीवन के आखिरी प्रहर तक धर्मपत्नी लोणा उनके साथ रही पर उन्होंने अपने जीवन को इस तरह संयमित, सुव्यवस्थित बनाया कि पारिवारिक जीवन में भी सुख-शान्ति का अभाव नहीं होने पाया और आत्मोन्नति में भी कोई बाधा नहीं पड़ी। वे कहा करते थे, असली वस्तु तो मनो-निग्रह है यदि मन को आत्मा का गुलाम बना लिया जाये तो घर-बाहर सर्वत्र वैराग्य

ही वैराग्य है यदि उसे इन्द्रियों का दास बना रहने दिया जाय तो चाहे कोई उच्च भौतिक और आत्मिक सम्पदायें ही लेकर क्यों न जन्मा हो उसका पतन ही सुनिश्चित है।

रविदास का जीवन संघर्षों से प्रारम्भ हुआ और संघर्षों में ही बीता उससे वे न तो निराश हुये न संत्य पर से निष्ठा डिगाई। **“हरिजन को भगवान् की भक्ति का अधिकार नहीं है।”**— इस भ्रान्त धारणा वाले सवर्णों ने उन्हें प्रारम्भ से ही यातना देना प्रारम्भ किया। सवर्णों के इस अनुचित दबाव का लाभ उस समय मुसलमानों को मिलता था। वे बहककर अछूतों को मुसलमान बना लेते थे। संत रविदास एक ओर अपने लोगों को समझाते और कहते तुम सब हिन्दू जाति के अभिन्न अंग हो तुम्हें दलित जीवन जीने की अपेक्षा मानवीय अधिकारों के लिये संघर्ष करना चाहिये— दूसरी ओर वे कुलीनों से टक्कर लेते और कहते वर्ण-विभाजन का सम्बन्ध परमार्थ से नहीं, मात्र सामाजिक व्यवस्था से है। उनकी इस सच्चाई में अटूट निष्ठा का ही फल था, कि रामानन्द जैसे महान् सवर्ण सन्त एक दिन स्वयं ही उनकी कुटिया में पधारे शिष्य गुरुओं की खोज किया करते हैं पर वहाँ गुरु स्वयं ही सत्पात्र शिष्य को खोजता हुआ उसके घर पहुँचा। उन्हें दीक्षा देकर न केवल उन्हें वरन् उनके आदर्शों की प्रामाणिकता को खरा सिद्ध कर दिया।

सन्त रविदास गुरु प्रदत्त मंत्र और उपदेश के सहारे आत्म-विकास करने लगे। उनके जीवन में अनेक चमत्कारी घटनाओं के प्रसंग सुने जाते हैं। सन्त रविदास कथाओं के माध्यम से लोगों को धर्मोपदेश दिया करते थे। उनकी सीधी-सच्ची मधुर वाणी में अमृतोपम उपदेश सुनने के लिये हजारों लोग एकत्रित होते, उसमें से अधिकांश सवर्ण होते। एक दिन एक सेठ जी भी उपस्थित हुये। कथा के अन्त में प्रसाद वितरण हुआ। भगवान् के प्रसाद को ठुकराना पाप है इस भय से सेठजी ने प्रसाद हाथ में तो ले लिया पर संत रविदास हरिजन थे उनके हाथ के प्रसाद से उन्हें घृणा हो आई बाहर आकर उन्होंने प्रसाद एक ओर फेंक दिया उधर एक कोढ़ी बैठा था, प्रसाद उसके शरीर पर गिरा और वह कोढ़ी कुछ ही समय में चंगा हो गया जब कि अपनी ही घृणा और आत्महीनता के शिकार सेठ जी स्वयं ही उस कठिन रोग से ग्रस्त हो गये, अन्त में उन्हें पुनः संत की शरण में जाना पड़ा। मन की बात जानने वाले रविदास ने सेठ जी से कहा वह जल तो मुलतान गया। अर्थात् अब वह प्रसाद मिलना कठिन है पर पीछे दया वश उन्होंने सेठ जी को भी अच्छा कर दिया।

इसी प्रकार उनके आह्वान पर एक भगवान् की मूर्ति स्वयं ही उनके सम्मुख प्रकट हुई— यों यह चमत्कार आज के वैज्ञानिक युग में कोई महत्त्व नहीं रखते पर भावनाओं की शुद्धता और आत्मा के प्रताप से परिचित व्यक्ति ऐसे तथ्यों को नकारते भी नहीं— अध्यात्म एक सर्वसमर्थ सत्ता है उस शक्ति के लिये संसार का कोई भी चमत्कार असंभव नहीं। विशाल ब्रह्माण्ड में अगणित ग्रह-नक्षत्र अपनी-अपनी मर्यादा में चल रहे हैं। यह सब आध्यात्मिकता का ही तो चमत्कार है। फिर सन्त रविदास ने इतना कर दिखाया हो तो उसमें क्या आश्चर्य ?

इस प्रकार धर्म प्रचार से एक ओर जहाँ उनकी ख्याति बढ़ रही थी दूसरी ओर उनके विरोधी भी बढ़ते जाते थे। ईर्ष्या की डाकिन ने मानवीय प्रगति में कितनी बाधा पहुँचाई है, सत्पुरुषों और निर्दोषों को कितना सताया है, अकारण कितने ही लोगों को दूसरों की उन्नति देख कर जल-भुन कर खाक होने के लिए विवश किया है, इसे देखते हुए यही प्रतीत होता है कि इस की सर्पिणी से बढ़कर और कोई व्यापक बुराई शायद ही मनुष्य का अहित करने में समर्थ हो सकी हो। उच्च वर्ण कहलाने वाले लोगों को रैदास की प्रतिष्ठा असह्य लगती, वे उनसे मन ही मन कुढ़ते, निन्दा, व्यंग्य और उपहास करते तथा तरह-तरह के लांछन लगाने में पीछे न रहते। रैदास इस पर हँस भर देते और कहते हाथी अपने रास्ते चला जाता है उसे किसी के धूलि फेंकने या चिढ़ाने से विचलित होने की जरूरत नहीं होती। धैर्य, साहस और सच्चाई जिसके साथ है उसका सारा संसार विरोधी होकर भी कुछ बिगाड़ नहीं सकता। उन्होंने अपना धर्म-प्रचार जारी रखा।

उन दिनों उच्च वर्ण के लोग भी आतंक से डर कर और प्रलोभन में खिंचकर धड़ाधड़ विधर्मी बन रहे थे, फिर छोटे वर्ण वालों के लिए तो उस ओर लुढ़कने लगना और भी सरल था। छोटी कहलाने वाली जातियाँ और भी तेजी में विधर्मी बनने लगी थीं। शासन का प्रलोभन और उच्च वर्ण वालों का तिरस्कार यह दुहरा दबाव उनके मन को डोँबाडोल करने लगा था। इन परिस्थितियों में सन्त रैदास ने हिन्दू धर्म की महत्ता, आस्तिकता एवं ईश्वर विश्वास की आस्था को बढ़ाने के लिए कार्य आरम्भ किया और असंख्यों हरिजन उस प्रेरणा से प्रभावित होकर विचलित होने से बच गये। उन्होंने अपनी वाणियों में अपने आदर्शों का भली-भाँति प्रतिपादन किया है— अपना धर्म छोड़ कर विधर्मी बनने के लिए लोगों को उन्होंने कहा—

**हरि-सा हीरा छोड़ि के, करै आन की आस ।
ते नर नरकै जायगे, सत भाषै रैदास ॥**

विधर्मियों की पराधीनता के लिए भर्त्सना करते हुए उन्होंने भारतीय-समाज को ललकारा और कहा—

**पराधीन का दीन क्या, पराधीन बेदीन ।
पराधीन पर दास को, सब ही समझैं हीन ॥**

सन्त रैदास सच्चे ईश्वर भक्त थे। वे पूजा किये बिना जल तक ग्रहण न करते थे। आपने अपने ही स्थान पर भगवान् का मन्दिर बनाया जिसमें निरन्तर भजन, कीर्तन और उपदेश होते रहते थे।

उन्होंने अपने गुरभाई कबीर, घन्ना, पीपा आदि के साथ मिलकर सारे भारत का भ्रमण किया और मिराशाग्रस्त जनता को आशा का सन्देश पहुँचाया। ईश्वर पर विश्वास और धैर्य रख कर आशाजनक भविष्य के लिए कमर कस कर काम करने का मार्ग बताया। उनके अनेकों शिष्य हुए जिनमें प्रसिद्ध भक्तनारी मीराबाई भी एक थीं। ईश्वर भक्ति के माध्यम से सन्त काल के महात्माओं ने संगठन, आशा और उत्साह की जो धारा प्रवाहित की वह उन परिस्थितियों में सर्वथा उपयुक्त ही थी। खुले प्रतिरोध का कोई कार्यक्रम तो उन दिनों चल

नहीं सकता था। सन्त मत के माध्यम से सिख गुरुओं ने कितना बड़ा काम किया यह सर्वविदित है। सीधा संघर्ष न सही संघर्ष की भूमिका में सभी सन्तों का बड़ा महत्वपूर्ण योग रहा है। सन्त रैदास ने हरिजन कुल में जन्म लेकर पिछड़े लोगों में धैर्य और स्थिरता की जो भावना उत्पन्न की उससे हिन्दू-धर्म की कितनी भारी सेवा सम्भव हुई आज उसका मूल्यांकन कर सकना भी हमारे लिए कठिन है।

अध्यात्म के सच्चे प्रतिनिधि— संत तुकाराम

यों तो समाज में साधु-संतों के रूप में हजारों रंगे स्यार देखने में आते हैं और हजारों अनपढ़, मूर्ख और गँवार उनकी पूजा करते देखे जाते हैं। यह रंगे स्यार इन अन्धविश्वासी मूर्खों की श्रद्धा का लाभ उठाकर खूब गुलछरें उड़ाते हैं।

लोग इन रंगे स्यारों की हजारों अवांछनीय हरकतें देखते हैं किन्तु फिर भी उनकी पूजा-अर्चना करने में संकोच नहीं करते। इसका कारण यह नहीं है कि अंध श्रद्धालुओं को उनसे कोई लाभ है और भला ये धूर्त साधु संन्यासी उनको लाभ पहुँचा भी क्या सकते हैं? उलटे उनका शोषण कर कुछ हानि ही पहुँचाते हैं। इसका कारण वास्तव में यह है कि समाज को सच्चे साधु-संन्यासियों ने इतनी सुख-शांति पहुँचाई है कि देश में उनके वेष तथा नाम की पूजा होने लगी है।

समाज और संसार के हित साधन करने और उसकी तापतप्त आत्मा को शीतल करने के लिए, उसे कुमार्ग से सुमार्ग पर चलाने के लिए जिन महात्माओं ने अपने सर्वस्व को, सुख-सुविधा को, परिवार-परिजनों को त्याग कर तपस्यापूर्ण जीवन अपनाकर अपने को तिल-तिल बलिदान कर दिया है, भला वे साधु-महात्मा जन-आदर के पात्र क्यों न बनते? अब यह एक अन्य अभिशाप है कि उनके नामों और कर्मों का लाभ उठा कर, उन जैसा वेष बनाकर और बातें करके अपना वैयक्तिक स्वार्थ साधन करते हैं, और अविवेकी जन-समुदाय उनकी परीक्षा किये बिना, उनके कर्तृत्वों को देखे बिना उनकी अंध भक्ति करने लगता है।

महाराष्ट्र के संत तुकाराम एक ऐसे ही सर्वस्व-त्यागी महात्मा थे, जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन समाज का हित करने में लगा दिया। उनके लिखे हुए अभंग ताप-तप्त जन-मानस को अपने चन्दन जैसे शीतल भावों से शांत करते हैं। विषाद, निराशा और असहायता के समय उनको प्रकाश देकर जीवन में आगे का मार्ग दिखलाते हैं। कौन कह सकता है कि संत तुकाराम जैसे महात्माओं ने अपने गद्य-पद्यात्मक उपदेशों का संग्रह यदि समाज को न दिया होता तो उन परिस्थितियों में समस्त जन-साधारण की क्या दशा हुई होती?

वैसे संसार के किसी भी समाज में कवितायें रचने वालों तथा उपदेश देने वालों की कभी कमी नहीं रही है, किन्तु संतों को छोड़ कर अन्य किसी की वाणी ने दुःखियों का दुःख दूर नहीं कर पाया।

भाषा के उन्हीं शब्दों में अन्य कवि तथा उपदेशक भी अपने विचार व्यक्त किया करते हैं, जिनमें कि एक संत । तब क्या बात है कि संतों की वाणी का प्रभाव जन-मानस पर ही नहीं बल्कि उसकी आत्मा को स्थायी रूप से प्रभावित करता है और परम्परागत अपना प्रभाव बनाए रहता है । बात यह नहीं है कि जन-साधारण किसी अन्य कवि अथवा उपदेशक की वाणी की जान-बूझ कर उपेक्षा करते हैं अथवा हठात् उन पर विश्वास नहीं करना चाहते ।

बात वास्तव में यह है कि जहाँ अन्य लेखक अथवा वक्ता अपने निवास पर वास करते हुए ही कल्पना के बल पर रचनायें करके जनमानस को प्रभावित करना चाहते हैं, साथ ही अपनी कृतियों का धन अथवा मान सम्मान के रूप में कुछ मूल्य भी चाहते हैं । उनकी कृतियों में उनका अपना व्यक्तित्व प्रधान रहता है और उनके सोचने, समझने तथा लिखने का सार बहुधा बौद्धिक ही रहता है । उनमें आत्मा की पुकार तथा मन की कसेक बहुत कम रहती है ।

इसके विपरीत एक संत संसार का दुःख दूर करने के लिए अथवा दुःख पीड़ित मानवता को देखकर विरक्त होकर अपना सारा सुख, सारी सुविधा, परिजन तथा प्रियजनों को त्याग कर चल देता है और जन-साधारण के बीच पर्य-ताप तथा परितापों से पीड़ित मानवता के क्लेशों को अपनी आत्मा में सच्चाई के साथ अनुभव करता है और उसकी पवित्र आत्मा से जो शब्द अनायास निकल पड़ते हैं वही अकृत्रिम शब्द उसकी रचनायें अथवा उपदेश बनकर जन-मानस में घर बना लेते हैं, अपना एक स्थायी प्रभाव डालते हैं । यही कारण है कि लोग अन्य कवियों की कला-कृतियों की उपेक्षा संतों की टूटी-फूटी वाणी में की गई सीधी-सादी रचनाओं को अधिक मात्रा में कंठहार बना लेते हैं । किसी आपत्ति, दुःख अथवा निराशा के समय कलापूर्ण कृतियों के स्थान पर इन्हीं का सहारा लेते हैं ।

संसार के दुःखानि में दग्ध जीवों के लिए शांति-शीतल भागीरथी लाने वाले संतों में संत तुकाराम का विशेष स्थान है । छत्रपति शिवाजी के निर्माता समर्थ गुरु रामदास का जो स्थान महाराष्ट्र में है उससे कम आदरपूर्ण स्थान संत तुकाराम का नहीं है । यद्यपि उनके दिवंगत होने के बाद उनके भक्तों तथा अनुयायियों ने उनके साथ अनेक चमत्कारपूर्ण किंवदन्तियों को जोड़ कर उन्हें अतिमानव सिद्ध करने का प्रयत्न किया है किन्तु वास्तविकता यह नहीं है कि संत तुकाराम कोई चमत्कारी अथवा अलौकिक पुरुष थे । हाँ यदि वे अतिमानव थे तो इस अर्थ में कि उन्होंने अपना सर्वस्व त्याग कर अपने को समाज की सेवा करने में तिल-तिल गला दिया । संसार की सुखशांति के लिए ही उन्होंने भगवान् की भक्ति की और उसी के लिए जिये तथा मरे । उन्हें अपनी व्यक्तिगत सुख-शान्ति, सिद्धि, समृद्धि अथवा मोक्ष आदि की कोई इच्छा नहीं थी ।

संत तुकाराम का जन्म पूना में इन्द्रायणी नदी के तट पर देहु नामक ग्राम में हुआ । इनके जन्म काल के विषय में मतभेद पाया जाता है । तब भी कतिपय विश्वस्त विद्वान् इनका जन्म सम्वत् १५३० ई० अर्थात् शके १५९० बतलाते हैं । यद्यपि इनका जन्म

शुद्ध कुल में बतलाया जाता है तथापि इन्होंने अपने तप-त्याग तथा परमार्थ साधन से अपने में ब्राह्मणत्व उत्पन्न कर महाराष्ट्र में अतुल सम्मान प्राप्त किया ।

पहले-पहल जब इन्होंने भगवद्भजन-कीर्तन तथा पूजा-पाठ प्रारम्भ किया, गाँव के रूढ़िवादी तथा संकीर्ण दृष्टिकोण वाले सर्वर्षों ने इनका घोर विरोध किया । इनको तरह-तरह के त्रास दिये । किन्तु भगवद्भजन का रस अनुभव कर लेने वाले तुकाराम तनिक भी विचलित न हुए । वे रूढ़िवादियों का तिरस्कार तथा दण्ड सहन करते हुए भी भगवान् के भजन-कीर्तन में लगे रहे । उन्होंने न तो अपने पर किये जा रहे अत्याचार का प्रतिवाद किया और न किसी विरोधी की निन्दा की । संत तुकाराम अच्छी तरह समझते थे कि रूढ़िवादियों के पास विवेक की कमी होती है । वह परम्परा के पालन में बुद्धि से काम न लेकर अपने अंधविश्वासों से प्रेरित रहा करते हैं । उन्हें पूरा विश्वास था कि आज अज्ञानवश जो लोग उनके सत्कर्म का विरोध करते हुए दण्ड और क्लेश दे रहे हैं एक दिन उनको सदबुद्धि प्राप्त होगी और ये लोग अपने किये पर पछतायेंगे ।

संत तुकाराम सब कुछ शांतिपूर्वक सहते रहे, यहाँ तक कि कुरीतिवादियों का अत्याचार उनके अपने ध्येय पथ से विचलित न कर सका तो उन्होंने जबरदस्ती उन्हें गाँव से बाहर निकाल कर गाँव में प्रवेश वर्जित कर दिया । इस अकारण निर्वासन का भी उन्होंने कोई प्रतिकार नहीं किया । बल्कि गाँव के बाहर एक शिला पर बैठे हुए तेरह दिन तक भगवद्भजन करते रहे ।

सन्त तुकाराम का यह घोर तप देखकर विरोधवादियों का आसन हिल गया और उन्होंने सन्त तुकाराम को एक सच्चा महात्मा मानकर अत्याचार करना बन्द कर दिया और गाँव में प्रवेश का प्रतिबन्ध उठा लिया ।

भजन के प्रभाव से भगवान् की यह अनुकम्पा देखकर उनका ध्यान और भी अधिक परमात्मा की ओर लग गया । इधर ज्यों-ज्यों वे भगवान् में तन्मय होते गये त्यों-त्यों हृदय में अहिंसा, सत्य तथा जन-सेवा के भाव बढ़ते चले गये । जिससे दीन-दुःखियों की सक्रिय सेवा करना उनके भगवद्भजन का एक विशेष अंग बन गया । अब उन्होंने अपने परमार्थ चिन्तन को दीन-दुःखियों की सेवा करने में क्रियात्मक रूप दे दिया । वे राह चलते बटोहियों के सिर का बोझ अपने सिर पर ले लेते और उनको उनके गन्तव्य स्थान तक पहुँचा देते । किसानों के खेतों की रखवाली करते, उन्हें खेत जोतने, बोने में मदद करते । किसी के बैलों तथा किसी की गायों के लिए घास काट लाते और अपने हाथ से बड़े प्रेम से खिलाते । तीर्थ-यात्रियों के सूजे हुए पैरों को अपने हाथ से धोते और घण्टों तक उनकी सिकाई करते रहते । वे पैदल गाँव-गाँव की यात्रा करते और जहाँ भी किसी रोगी, अपाहिज अथवा अनाथ, दीन-दुःखी को देखते वहीं रम जाते और दिन-रात उनकी सेवा-सुश्रूषा करते ।

अपने इस प्रकार के सेवा कार्यों से सन्त तुकाराम बड़े ही जन-प्रिय बन गये । अब ग्रामवासी दिन-भर का अपना काम करने के बाद

उन्हें चारों ओर से घेरकर बैठ जाते, उनके उपदेश सुनते और मिलकर कीर्तन भजन करते ।

संत तुकाराम के सामूहिक कीर्तन-भजनों का इतना प्रभाव पड़ा कि ग्राम-ग्राम के अपने आपसी झगड़े खत्म हो गये । लोग मिलजुल कर एक-दूसरे की सहायता करने लगे । सभी जाति तथा वर्णों के लोग उनके पास आते, भ्रातृत्व भाव से भरकर मिल-जुल कर कीर्तन करते । उनमें ऐसा प्रेम उत्पन्न हो गया कि पूरे के पूरे गाँव एक परिवार की तरह दीखने लगे । जहाँ पहले लड़ाई-झगड़े होते रहते थे वहाँ अब प्रेम की गंगा बहने लगी ।

संत तुकाराम लोगों को भक्ति का उपदेश देते, त्याग और वैराग्य की प्रेरणा करते । किन्तु उनके त्याग का मार्ग निवृत्ति नहीं प्रवृत्ति था । वे कभी किसी को घर-बार त्याग कर सन्त होने के लिए नहीं कहते और न कभी इस बात की प्रेरणा करते कि वे जीवन के आवश्यक कर्तव्य को त्याग कर केवल भजन, कीर्तन में ही लगे रहें । उन्होंने लोगों को पश्चिम और पारस्परिकता का महत्त्व समझाया और कर्तव्य के प्रति निष्ठावान बनने की प्रेरणा दी ।

धीरे-धीरे तुकाराम की कीर्ति पूरे महाराष्ट्र में फैल गई । एक बार छत्रपति शिवाजी उनके दर्शनों के लिए आये और उनका कीर्तन सुनकर सारा राज-काज छोड़कर वैरागी होने को तैयार हो गये । किन्तु सन्त तुकाराम ने उन्हें प्रवृत्ति मार्ग का सच्चा स्वरूप समझाकर अपना कर्तव्य करते रहने की प्रेरणा दी । वे जानते थे कि निवृत्ति एक विशेष प्रकार के संस्कारवान लोगों के लिए ही सम्भव है । साधारण स्थिति के लोग तो निवृत्ति-मार्गी बनकर और भी अधिक भटक जाते हैं ।

इस प्रकार तेतालीस वर्ष की आयु तक महाराष्ट्र में एक नवजीवन का जागरण कर के एक दिन स्वयं कीर्तन करते-करते परम धाम चले गये ।

संत तुकाराम का जीवन परदुःखकतरता एवं करुणा से लबालब भरा था । घटना १६३२ की है अकाल का वह चौथा वर्ष था । चार वर्ष से वर्षा ऋतु में भी सूर्य उसी तरह चमकता था जैसे चैत-वैशाख में । सुबह से ही सूरज की तीखी किरणें लोगों के चेहरों को झुलसाती और पेट की भूख तल को निचोड़े डालती थी जैसे पानी में भिगोये कपड़े को सुखाने के पूर्व धोबी निचोड़ देता है । किसान नंगे आकाश की ओर सूनी आँखों से ताकते रह जाते— शायद कोई बदली उठे और बरसने लगे पर बदली तो क्या धुआँ भी उठता नहीं दिखाई देता था । धुआँ उठे भी तो कैसे, किसी के घर में अनाज के थोड़े से दाने होते तो कोई पकता भी । लोग गाँव से निकल कर आस-पास के जंगलों में जाते और कन्दमूल ढूँढ़ते । कहीं मिल जाते तो उन्हें ही अपने कमजोर दाँतों से होले-होले चबा लेते ।

पूना के पास देहू नाम का एक गाँव, उस गाँव में थी एक साहूकर की दुकान । साहूकर कहीं दूर देश से थोड़ा अनाज लाया, एक ही दिन में सारा अनाज बिक गया । बिक क्या गया— लोगों के पास कुछ था तो उसे लेकर पहुँच गये साहूकर के पास और जितना हिस्से में आया उतना अनाज उठा लाये । साहूकर भी कितना उदारमना था । उसने अकाल के इन दिनों में अपने घर भरने की बात नहीं सोची

थी, बात सोची थी कि गाँव के प्रत्येक व्यक्ति तक उसके हिस्सा का अनाज पहुँच जाये । चाहता तो वह ऐसे समय में खूब पैसा लूट सकता था । पर उसके सामने अपनी सम्पन्नता का आकर्षण फीका पड़ गया था, भूख से बिलबिलाती आँखों का सूनापन देखकर उसने गाँव भर में कहलवा दिया था कि साहूकर के यहाँ अनाज आया है । सभी लोग पहुँच जायें और अनाज ले जायें ।

जिनके पास कुछ था, वे तो कुछ लेकर पहुँच गये थे । जिनके पास कुछ नहीं था उन्हें साहूकर की दुकान पर जाने में संकोच हो रहा था, पर भूख हर तरह का संकोच तोड़ देती है, उसकी आँच में काँच की तरह स्वाभिमान भी चटख जाता है । सो जिनके पास कीमत चुकाने के लिए नहीं था वे भी साहूकर की दुकान पर पहुँच गये और साहूकर ने उन्हें निराश भी नहीं किया । इस प्रकार आनन-फानन में दुकान का सारा अनाज उठ गया । तब एक स्त्री आती है— साहूकर की ओर निहारती है । उसकी आवाज़ भी नहीं निकल रही है । पेट में अन्न नहीं है तो बोलकर कहे भी कैसे ? और साहूकर की आँखों में विवशता तैर आती है ।

उस विवशता को देखकर स्त्री की आँखों की याचना और भी घनीभूत हो उठी । साहूकर अपनी जगह से उठ— शायद बिखरे हुए दाने समेट कर थोड़ा-अनाज जुट जाय । लेकिन समेटा तो पहले ही जा चुका था । साहूकर जब खाली हाथ दुकान पर आता है तो देखता है स्त्री मर चुकी है । कितनी कारुणिक स्थिति उत्पन्न हुई होगी उस समय— कहा नहीं जा सकता और साहूकर के अन्तःकरण से एक अभंग फूट पड़ती है— ‘मुझे शर्म आ रही है । यह स्त्री अन्न की आशा में आई थी— मेरे यहाँ अनाज नहीं है और मुझ से आशा टूट जाने के कारण वह मर गई है ।’

यह अभंग मराठी साहित्य की अमूल्य निधि है । इस अभंग के रचनाकार की वाणी महाराष्ट्रीय तथा मराठी साहित्य के मर्मज्ञों के लिए वेदवाणी बन गई । उक्त अभंग के स्रष्टा थे साहूकर सन्त तुकाराम जिनकी देहू में अनाज की दुकान थी और १६२८ में महाराष्ट्र में अकाल चला आ रहा था । तुकाराम अपनी सारी सम्पत्ति इसी अकाल की भेंट चढ़ा चुके थे । उन्होंने गाया है । “अकाल के कारण लोगों का धन निःशेष हुआ, उनका आत्मसम्मान खो गया, एक स्त्री ‘अन्न-अन्न’ करती हुई भूख से तड़फती दम तोड़ गई और शर्म से मेरा माथा जमीन में गढ़ गया । मैं भी क्या करूँ, मैं इस दुःख से ऊब गया हूँ । सारा व्यवसाय ही चौपट हो गया है ।” तुकाराम को व्यवसाय के चौपट हो जाने का रंज नहीं था, रंज था लोगों को भूख से तड़प-तड़प कर मरते देखने का ।

तत्कालीन समाज में घर-परिवार के उत्तरदायित्वों से विरक्त होकर वैराग्य और भक्ति के गीत गाना ही साधु-संन्यासियों का आदर्श था । किन्तु तुकाराम समाज में रहे, समाज के कठोर यथार्थ से सामना किया और कठिन परिस्थितियों— तोड़ डालने वाली विपत्तियों को उन्होंने सहा और सन्त परम्परा में एक नई कड़ी जोड़ी । इस प्रकार कठिन परिस्थितियों और विकट प्रतिकूलताओं में भी पारिवारिक और

२.६ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

सामाजिक उत्तरदायित्वों को भली प्रकार निभाते हुए सन्त परम्परा के आदर्शों का अनुकरण करने वाले सन्त तुकाराम का जन्म महाराष्ट्र में पूना के पास देहू नामक गाँव में हुआ था। साहूकारी पैतृक व्यवसाय था— अच्छी तरह परिवार चलता था। गाँव में भी खुशहाली थी। बड़ा भाई पिता के कारोबार में हाथ बँटाता था सो तुकाराम को प्रारम्भ में पारिवारिक चिन्ताओं से मुक्त ही रहना पड़ा। अपने समय का उपयोग वे गीता, रामायण के अध्ययन में करते थे और जब भी सुनते कि गाँव में कोई महात्मा आया है तो तुरन्त जा पहुँचते उसके पास। परिवार के लोगों को तुकाराम की साधु-संगति से चिन्तित होना स्वाभाविक था। वे सोचते कहीं बेटा घर-बार छोड़कर किसी दिन खुद भी साधु न हो जाय। कभी वे टोक कर तुकाराम की मनःस्थिति का परिचय भी लेते तो तुकाराम कहते— “मैं तो गीता, रामायण पर महात्माओं से चर्चा करने जाता हूँ। गीता में तो भगवान् ने अर्जुन को संन्यासी होने से रोक कर सांसारिक कर्तव्यों में प्रवृत्त किया था। फिर उसके उपदेश का मुझ पर विपरीत प्रभाव कैसे हो सकता है।”

सुनकर कुछ देर के लिए तो घर वालों का समाधान हो जाता पर पीछे फिर वही आशंका होने लगती। तुकाराम अपनी निष्ठा को प्रमाणित करते हुए घर वालों को आश्वस्त नहीं कर सके और परिजनों को आश्वस्त करने का अवसर भी आया तो ऐसे समय जबकि उनकी निष्ठा का दर्शन करने वाले माता-पिता ही नहीं रहे थे। तब तुकाराम ने किशोरावस्था में पदार्पण ही किया था कि उनके माता-पिता दोनों का ही देहान्त हो गया। परिवार की जिम्मेदारी बड़े भाई पर आ पड़ी। कारोबार इतना फैला हुआ था कि उसे सम्हालना भी बड़ा श्रमसाध्य था पर बड़े भाई के स्वभाव में वैसी श्रमशीलता भी नहीं थी और नहीं थी दायित्वों को अनुभव करने की क्षमता।

माता-पिता तुकाराम पर शंका किया करते थे कि कहीं घर-बार छोड़ कर संन्यासी न हो जाय। उनके बारे में तो वह शंका सही नहीं निकली। घर-बार छोड़कर चले गये उनके बड़े भाई की पत्नी और उसके बच्चों सहित घर के अन्य सदस्यों और अपने स्त्री-बच्चों का भार भी तुकाराम के कंधों पर आ गया। तुकाराम ने उस उत्तरदायित्व को बड़ी कुशलता से सम्हाला और कारोबार भी भली-भाँति चलाने लगे। आकस्मिक रूप से इतने बड़े परिवार का बोझ कंधों पर आ जाने से सामान्य मनोबल का व्यक्ति घबड़ा उठता है परन्तु तुकाराम ने बिना घबड़ाये ही इन बड़ी जिम्मेदारियों को अपने ऊपर ले लिया।

लेकिन परीक्षा अभी बाकी थी। धर्म और अध्यात्म दर्शन का स्वाध्याय निष्कर्ष और साधु-संगति का प्रभाव कितना गहरा होता है— इसकी परख अभी भी शेष थी। आस्तिकतावादी आस्था के अनुसार सुख और दुःख दोनों का स्वागत करने की मनःस्थिति अभी विकसित हुई है या नहीं— भगवान् शायद यह देखना चाहता था। तुकाराम ने तो सीख रखा था—

**सुख सपना-दुःख बुदबुदा, दोनों एक समान ।
सबका आदर कीजिये जो भेजे भगवान् ॥**

और इस सीख को उन्होंने अपने आचरण में भी उतारा था। कारोबार ठीक चल रहा था कि सन् १६२८ में उस क्षेत्र में पहली बार बारिश नहीं आई लोगों के हाथ तंग हो गये। अब की बार नहीं तो अगली बार ऋण चुका दिया जायेगा— इस आशा में तुकाराम पूर्ववत् ग्राहकों से व्यवहार करते रहे। किन्तु अगली बार भी वर्षा नहीं हुई और उसके अगली बार भी नहीं। इस तरह तीन साल गुजर गये। पास की सम्पत्ति चुकने लगी, लोगों से उधार पटाने के लिए तकजा भी करें तो कैसे, मानवीय आदर्शों से संस्कारित मन इसकी अनुमति नहीं देता था। तीसरे वर्ष गाँव में बीमारी भी फैली। उस बीमारी की चपेट में तुकाराम की पत्नी भी आ गई। वह दमे की मरीज तो पहले से ही थी सो पिछली और नई बीमारी के सम्मिलित आक्रमण ने तुकाराम को चिरविरही बना दिया।

पत्नी का देहान्त हुए अभी अधिक समय भी नहीं हुआ था कि तुकाराम के बच्चे भी चल बसे। उनके लिए सारी दुनिया सूनी हो गई। निराशा और एकाकीपन के ऐसे क्षणों में अक्सर लोग आत्महत्या कर लेते हैं अथवा पलायनवादी वैरागी बाना धारण कर लेते हैं। पर तुकाराम दूसरी मिट्टी के बने थे। उन्होंने न तो पलायनवाद का रास्ता अपनाया और न खोई हुई वस्तुओं को प्राप्त करने तथा नया परिवार बसाने की आतुरता दर्शाई बल्कि अकाल से पीड़ित जनसमुदाय की सेवा का धर्म मार्ग ही उन्होंने अपनाया। यद्यपि उनके सामने अपने स्वयं के परिवार की कोई जिम्मेदारी नहीं थी किन्तु बड़े भाई का परिवार तो था ही। उसके निर्वाह की व्यवस्था तुकाराम को अपना कर्तव्य लगा और कारोबार ठप्प पड़ जाने पर भी तुकाराम उसके लिए प्रयत्न करते रहे।

अकाल के दिनों में उन्होंने उच्च कहे जाने वाले वर्ग की नैतिकता को भी निकट से देखा जो केवल दूसरों को उपदेश देने के लिए प्रयुक्त की जाती है। उन्होंने गाया है कि लोग तिलक और टोपी तो इस तरह दिखाते हैं जैसे वे दुनिया में एक ही गोस्वामी हैं जबकि भीतर विषय वासना टूँस-टूँस कर भरी पड़ी है।

समाज के शीर्षस्थ व्यक्तियों की इस दोहरी नैतिकता को ढोंग बताते हुए तुकाराम ने न केवल ऐसे लोगों की आलोचना ही की वरन् समाज में नैतिकता और आदर्शवादिता की प्रतिष्ठा के लिए जन-जागृति का कार्य भी किया। अकाल खत्म हो जाने पर उनका कारोबार भी धीरे-धीरे सम्हाल गया किन्तु तुकाराम पूर्ववत् अपने गाँव वालों की सेवा में, उनका नैतिक स्तर ऊँचा उठाने में लगे रहे। जीवन के उत्तरार्द्ध में परिवार के बड़े बच्चे घर-गृहस्थी और कारोबार सम्हालने योग्य हो गये तो तुकाराम परिवार के सीमित दायरों से बाहर आकर समाज को ही अपना परिवार बनाने के लिए बाहर आ गये। कहते हैं उन्हें इसी विजनवास में आत्म साक्षात्कार हुआ। उस समय उनकी स्थिति सिद्ध अवधूतों की-सी थी— “आकाश मण्डप है, पृथ्वी आसन है, मन जहाँ रमता है— वहाँ क्रीड़ा करता है। देह की सेवा के लिए कम्बल और कमण्डल पर्याप्त है। हवा के निमित्त से समय भी ध्यान में आता है। हरिकथा के भजन में मनचाहा विस्तार किया जा सकता है और उसके विविध प्रकार बनाकर रुचि से खाये जा सकते

हैं यहाँ अपने ही मन से संवाद हो सकता है तो अपने से ही विवाद किया जा सकता है ।”

इस स्थिति को प्राप्त होने पर भी तुकाराम समाज सेवा से विमुख नहीं हुए । समाज को शिक्षा देने और लोकशिक्षण का कार्य करने में वे पहले की भी अपेक्षा अधिक लगे रहते । उनके हृदय में संतप्त और संतुष्ट मानवता के लिए जो पीड़ा थी और उपचार था वह अभंगों के रूप में व्यक्त होता रहा । यद्यपि उनके द्वारा समाज का मार्गदर्शन होते देख तथाकथित उच्च वर्ग नाराज भी हुआ किन्तु तुकाराम अपने आचरण और उपदेश से तथा अपनी ईमानदारी और पर-दुःखकतरता से विरोधियों को भी जीतते रहे । पारिवारिक और सामाजिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए सन्त परम्परा का सच्चा अनुकरण करते रहे । सन् १६४९ में उनका पटरपुरा में देहान्त हो गया । आज भी फाल्गुन मास में उनकी निधन तिथि पर वहाँ एक बड़ा मेला लगता है । लोग दूर-दूर से संत तुकाराम को श्रद्धांजलि अर्पित करने आते हैं ।

संत तुकाराम के जीवन के कुछ अद्भुत प्रसंग

ईश्वर की कृपा

संत तुकाराम जन्मजात शूद्र थे । उनका ईश्वर भक्ति करना तथा भक्ति गीत लिखना तात्कालिक सवर्ण पंडितों की दृष्टि में अनुचित ही नहीं—एक अपराध था ।

एक निकटवर्ती पंडित श्री रामेश्वर भट्ट ने उन्हें बुलाया और कहा “कि तुम्हें शूद्र होने के नाते यह सब कुछ नहीं करना चाहिए । न ईश्वर भक्ति, न भजन कीर्तन और न अभंगों की रचना ।”

तुकाराम अत्यन्त ही सरल स्वभाव के—आवश्यकता से अधिक नर्म तथा बहुत ही सीधे-सादे व्यक्ति थे । उन्होंने रामेश्वर भट्ट की बात स्वीकार कर ली । और पूछा—“किन्तु जो अभंग रचे जा चुके हैं—उनका क्या होगा ?” तब उस हृदयहीन पंडित ने कहा—“उन्हें नदी में बहा दो ।”

अनासक्त योगी—तुकाराम ने सचमुच ही अपने अभंगों की पोथी इन्द्रायणी में प्रवाहित कर दी ! उस दबाव में वे ऐसा कर तो गये, पर मन मर्माहत हो गया कि वे विठ्ठल मन्दिर के सामने तेरह दिन तक बिना अन्न-जल ग्रहण किए पड़े रहे और सोचते रहे “मेरी भक्ति में ही कहीं कोई त्रुटि है जो भगवान् मुझसे प्रतिकूल हो गये हैं ।”

दुःखी मन की पुकार—जो मन सत्य के प्रकाश से उद्भासित हो—कभी खाली नहीं जाती । तेरहवें दिन तुकाराम को स्वप्न हुआ कि “पोथियाँ नदी किनारे पड़ी हैं—जाकर उठा ला” “तब उनके स्वप्न का हाल सुनकर उनके भक्तगण जयघोष करते हुए गये और पोथियाँ किनारे पर से उठा लाये ।”

अनुभूति

सन्त तुकाराम अपने प्रारम्भिक जीवन में जब अत्यन्त ही अभावग्रस्त हो गये तो उन्होंने लिखा “हे भगवान् ! अच्छा ही हुआ जो मेरा दिवाला निकल गया । अकाल पड़ा यह भी अच्छा ही हुआ । स्त्री तथा पुत्र भोजन के अभाव से मर गये और मैं भी हर तरह से दुर्दशा भोग रहा हूँ यह भी ठीक ही हुआ । संसार में अपमानित हुआ, यह भी अच्छा ही हुआ । गाय, बैल, द्रव्य सब चला गया, यह भी अच्छा ही है । लोक-लाज भी जाती रही यह भी ठीक ही है क्योंकि इन्हीं बातों के फलस्वरूप तो तुम्हारी मधुरिमामय, शांतिपूर्ण गोद मिली ।”

भगवान् का दिया

सन्त तुकाराम को कहीं से कुछ गन्ने प्राप्त हुए । वे उन्हें लेकर घर आ रहे थे । रास्ते में बच्चे मिलते गये । बालक सन्त की सरल प्रकृति को जानते थे । वे गन्ने माँगते गये और सन्त उन्हें एक-एक बाँटते गये । घर पहुँचते-पहुँचते केवल एक गन्ना शेष रहा । शेष रास्ते में बालकों को ही बाँट गये ।

तुकाराम की पत्नी को गन्ना घर आने की पूर्व सूचना मिल चुकी थी, वह बहुत गन्ने घर आने की आशा लगाये बैठी थी । हाथ में केवल एक ही देख कर उसका कर्कश स्वभाव और भी उग्र हो गया । कारण पूछा तो तुकाराम ने सारी बात सरलतापूर्वक बता दी । क्रुद्ध पत्नी ने वह एक गन्ना भी उनकी पीठ पर दे मारा । गन्ने के दो टुकड़े हो गये ।

हँसते हुए सन्त तुकाराम ने कहा—देवि, तुमने ठीक बाँटवारा कर दिया । इन दो टुकड़ों में एक तुम ले लो, दूसरा मुझे दे दो । जो कुछ थोड़ा बहुत भगवान् ने दिया है उसे मिल-बाँट-कर खाना ही ठीक है ।

अद्भुत सहनशीलता

एक आदमी सन्त तुकाराम का कीर्तन सुनने तो नित्य ही आता—पर उनसे बहुत द्वेष रखता । वह मन ही मन किसी अवसर पर सन्त तुकाराम को नीचा दिखाने की ताक में रहा करता था ।

एक दिन तुकाराम की भैंस उसके बाग के कुछ पौधे चर आई । बस वह आकर लगा गालियाँ सुनाने । इस पर भी जब सन्त उत्तेजित न हुए तो उसे और भी गुस्सा आया और एक काँटों वाली छड़ी लेकर तुकाराम को इतना पीटा, कि रक्त बहने लगा । फिर भी तुकाराम को न क्रोध आया—न प्रतिरोध ही किया ।

सन्ध्या समय जब वह व्यक्ति नित्य की भाँति कीर्तन में नहीं आया—तो सन्त स्वयं उसके घर गये और स्नेहपूर्वक भैंस की गलती की क्षमा माँगते हुए उसे कीर्तन में ले आये ।

वह व्यक्ति तुकाराम की महानता देखकर उनके चरणों में आ पड़ा ।

परीक्षा

भगवत्भजन में लीन हुआ मन ऐसे ही भासित होता है जैसे तपा हुआ कुन्दन। फिर वहाँ वासना का एक भी कण जम नहीं पाता।

जिस समय सन्त तुकाराम भंडारा पर्वत पर अपनी साधना में लीन थे— एक स्त्री अपने रूप-पाश में बाँधने के उद्देश्य से वहाँ आई। सन्त तुकाराम ने एक अभंग में उसे जो उद्बोधन दिया उसने उस स्त्री का मन ही पलट दिया। वे कहते हैं “परस्त्री मेरे लिए रुक्मिणी माता के समान है, इसलिए हे माता! तुम जाओ और मेरे लिये कुछ प्रयत्न मत करो, हम तो विष्णु के दास हैं। मुझसे तुम्हारा यह पतन नहीं देखा जाता। तुम आगे कभी ऐसी अपवित्र बात मुख से मत निकालना।” और उस कामासक्ता रमणी को इस प्रकार रुक्मिणी माता बनाकर सन्त ने उसे विदा कर दिया।

धार्मिक नवचेतना के प्रचारक— महाप्रभु चैतन्य

अब से लगभग साढ़े चार सौ वर्ष पूर्व दिल्ली में मुसलमान शासकों का आधिपत्य था। कहने को तो ये समस्त देश के ‘सम्राट’ थे पर उनका वास्तविक अधिकार दिल्ली और उसके आस-पास सौ दो सौ मील तक ही रहता था। शेष भागों पर ‘सूबेदार’ लोग शासन करते थे जो सम्राट के शक्तिशाली होने पर कुछ रुपया ‘कर’ (खिराज) के रूप में देते रहते थे अन्यथा अपने प्रदेश के खुद मुखतार मालिक बने बैठे रहते थे।

उन दिनों बंगाल पर पठान सूबेदार का शासन था। अब हुकूमत जम जाने के कारण यद्यपि वे पहले की तरह मारकट तथा लूटमार नहीं करते थे, पर तो भी हिन्दुओं के साथ उनका व्यवहार कठोर और स्वार्थपूर्ण ही रहता था। हिन्दुओं का धन, मान, इज्जत सुरक्षित नहीं थे। कोई भी उद्दण्ड मुसलमान हाकिम चाहे जब उनको सता सकता था, उनसे जबरदस्ती धन वसूल कर सकता था, उनके धर्म पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष आघात कर सकता था।

ऐसे ही जमाने में एक दिन नदिया (बंगाल) के काजी चाँद खाँ ने हिन्दुओं द्वारा किये जाने वाले ‘हरिकीर्तन’ को बन्द करने की आज्ञा दे दी। यद्यपि उसके पास कुछ मुसलमान और हिन्दू नागरिकों ने शिकायत की थी कि रात में हरिकीर्तन वालों के शोर के कारण हमारी नींद में बाधा पड़ती है, पर अन्तरंग रूप से भी वे स्वयं भी यह पसन्द नहीं करते थे कि हिन्दुओं के धार्मिक क्रिया-कलाप और धर्मोत्सव वगैरह अधिक बढ़ें। क्योंकि इससे हिन्दुओं के संगठन और शक्ति की वृद्धि होती थी, जिसे वे अपने लिये अहितकर समझते थे।

चैतन्य देव (सन् १५४२ से १५९०) ने इस तथ्य को अच्छी तरह समझ लिया और निश्चय किया कि सरकारी आज्ञा को चुपचाप मान लेने से हिन्दुओं की कमजोरी जाहिर होगी और तब वे पूर्वापेक्षा भी अधिक दबाये जायेंगे। इसलिये सब उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर घोषणा करा दी कि कल संध्या के समय हरिकीर्तन का एक

विशाल जलूस नगर के मुख्य-मुख्य मार्गों में भ्रमण करता हुआ धर्म-प्रचार करेगा। दूसरे दिन नगरवासियों ने इस जलूस का स्वागत करने के लिये सब रास्तों को बन्दनवारों और केले के स्तम्भों से सजा डाला और स्थान-स्थान पर उसकी आरती करके अपनी आन्तरिक श्रद्धा व्यक्त की। जलूस धीरे-धीरे चल कर कांजी के घर के सामने पहुँचा और वहाँ तुमुल ध्वनि से कीर्तन करने लगा। काजी भयभीत होकर घर के भीतर जा छिपा, पर चैतन्य ने उसे आश्वासन देकर बुलाया और प्रेमपूर्वक भेंट की। काजी ने उनका सद्व्यवहार और जनता पर प्रभाव देखकर कीर्तन सम्बन्धी आज्ञा को वापस ले लिया और सब लोग धर्म की जय-जयकार करते हुये वापस चले आये।

जिस समय की यह घटना है उस समय चैतन्य की आयु तेईस-चौबीस वर्ष की ही थी। पर इसी आयु में अपनी अपूर्व विद्या, बुद्धि तथा परिश्रम द्वारा उन्होंने नदिया के समस्त पण्डितों में अन्यतम स्थान प्राप्त कर लिया था। केशव काश्मीरी नाम का एक भारत प्रसिद्ध पण्डित उनसे शास्त्रार्थ में पराजय स्वीकार कर चुका था। उन्होंने न्यायशास्त्र पर भी एक सर्वोच्च ग्रन्थ लिखा था, पर अपने एक मित्र रघुनाथ की मान रक्षा के निमित्त उसे गंगा जी में डुबा दिया। शारीरिक दृष्टि से भी प्रकृति ने उनको अनुपम सौन्दर्य प्रदान किया था और रंग इतना गोरा था कि उनका एक नाम ‘गोरांग’ भी प्रसिद्ध हो गया था। उनकी पत्नी ‘विष्णुप्रिया’ भी वैसी ही लावण्यमयी थी और इस दम्पति में प्रगाढ़ प्रेम था, नदिया उस समय बंगाल का प्रमुख विद्या और शास्त्र-चर्चा का केन्द्र था और उसे ‘बंगाल की काशी’ के नाम से पुकारा जाता था। समस्त प्रान्त के विद्यार्थी वहाँ विद्याध्ययन करने को आते थे और चैतन्य (निर्माई पण्डित) की ख्याति सुनकर उन्हीं के पास पढ़ने में अपना सौभाग्य समझते थे। इससे उनको कीर्ति और धन का भी अभाव न था।

गृहस्थ-जीवन का त्याग

पर जिस समय समाज और धर्म की विपन्न अवस्था का ख्याल उनके मन में आया तब वे अपने जीवन की समस्त सफलताओं को भूल गये। यद्यपि उस अवसर पर उन्होंने अपने बुद्धिबल और व्यवहार कुशलता से सफलता प्राप्त कर ली, पर विधर्मियों के प्रभाव से हिन्दू-जाति किस प्रकार संकटग्रस्त हो रही है यह भी उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया। उन्होंने निश्चय जान लिया कि यदि उसे किसी उपाय से जागृत और संगठित न किया गया तो उसका अस्तित्व ही सन्देह में पड़ जायेगा। सारी परिस्थिति पर विचार करके वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि जब तक कुछ सच्चे धर्मानुयायी और आत्म-त्याग करने को तैयार व्यक्ति इस कार्य का भार न उठायेंगे तब तक जाति की रक्षा हो सकना सम्भव नहीं।

जब एक बार वे इस निर्णय पर पहुँच गये, तो आगे का मार्ग स्पष्ट ही था। महापुरुष ऐसे अवसरों पर दूसरे लोगों की राह नहीं देखते। वे जानते हैं कि इस प्रकार की गूढ़ और गम्भीर स्थिति का ठीक-ठीक स्वरूप समझ सकना और उसके लिये अपने कर्तव्य का निर्णय कर सकना हर एक व्यक्ति का कार्य नहीं है, जनता में से यदि कुछ लोग साहस करके इस कार्य में सहयोग देने को तैयार होंगे, कष्ट

सहन के लिये आगे बढ़ेंगे तो यह भी तभी सम्भव है जब पहले कोई आगे बढ़कर उनका मार्गदर्शन करे। उन्होंने अपने को ही इस योग्य समझा और गृह-त्याग के लिये तैयार हो गये। साथ ही उन्होंने यह भी निश्चय कर लिया कि देश तथा समाज की वर्तमान परिस्थिति में इस प्रकार का प्रचार कार्य बिना संन्यास ग्रहण किये नहीं हो सकता। संन्यासी ही बिना कौड़ी-पैसा लिये देश भर में भ्रमण कर सकता है और सब श्रेणियों के व्यक्ति उसी की बातों को श्रद्धापूर्वक सुन सकते हैं।

पर-पत्नी के प्रेम और माता की ममता को देखते हुए यह कार्य प्रकट रूप से कर सकना सम्भव न था। अतएव वे रात्रि के समय बिना किसी से कुछ कहे चुप-चाप चल दिये। चौबीस वर्ष की पूर्ण युवा अवस्था में घर के सब सुखों और प्रेम-बन्धनों को एक क्षण में त्याग कर कंटकाकीर्ण सेवा मार्ग पर चल देना सामान्य बात न थी। इसको देख कर हमको बुद्ध के राजपाट त्याग की ही बात याद आती है। बुद्ध ने तो फिर भी एक पुत्र हो जाने पर घर छोड़ा था, पर चैतन्य ने तो उसकी भी चिन्ता न की।

घर से निकलते ही वे गंगा पार करके केशव भारती के आश्रम में पहुँचे और उनसे संन्यास की दीक्षा देने की प्रार्थना की। प्रथम तो वे इनकी नवीन वयस को देखकर तैयार न हुये, पर जब इनके दृढ़ निश्चय को किसी प्रकार बदलना सम्भव न जान पड़ा, तब उन्होंने दीक्षा दी और इनका भक्तिभाव देखकर 'कृष्ण-चैतन्य' नाम रखा। कुछ समय तक आस-पास के प्रदेश में भ्रमण करके वे फिर नदिया आये और अपने परम हितैषी अद्वैताचार्य के यहाँ ठहरे। कुछ लोग वहीं पर उनकी माता को बुला लाये पुत्र का मुड़ा हुआ सिर और गेरूआ वस्त्र देखकर माता को कष्ट तो हुआ, पर वे महान् पुत्र की माता थीं। इससे धैर्य-धारण करके कहने लगीं 'चैतन्य ! तेरा मार्ग मंगलमय हो, तू अब हमारा न रहकर सम्पूर्ण विश्व का बन गया है। तेरे द्वारा अनेकों का कल्याण होगा। हमारी रक्षा तो भगवान् करेंगे ही, वे विश्वम्भर हैं। इसलिये तू निश्चिन्त होकर अपने सेवा-मार्ग पर चलना।'

माता की धर्मसम्मत वाणी सुनकर चैतन्य बहुत सन्तुष्ट हुये। फिर उन्होंने पत्नी को भी प्रबोध किया और अपने सहकारी नित्यानन्द (निताई) को लेकर पुरी के लिये रवाना हो गये। उड़ीसा की सीमा पर रक्षकगण बंगाल से आने वाले यात्रियों को बहुत तंग किया करते थे, पर चैतन्य देव के समदर्शी मनोभाव को देखकर वे ऐसे प्रभावित हुए कि बड़ी विनय के साथ उनको मार्ग दे दिया। पुरी में भी वे अधिक समय तक नहीं ठहरे क्योंकि कर्मक्षेत्र उनकी पुकार कर रहा था। वे अपने साथ केवल एक सेवक कृष्णदास को लेकर भारत भ्रमण के लिये चल दिये। समाज और धर्म के संगठन का अभियान आरम्भ करने से पूर्व 'देश-दर्शन' कर लेना परमावश्यक था। शंकराचार्य से लेकर तुकाराम तक सभी धर्माचार्यों और सन्तों ने इसी परिपाटी का पालन किया है। क्योंकि जब तक जनता की नब्ज को अच्छी तरह टटोला न जाय, उसके रोग का ठीक-ठीक निर्णय न कर लिया जाय तब तक उसके लिये उपयुक्त चिकित्सा का निर्णय किया जाना

भी किस प्रकार सम्भव है ? गुरु नानक ने तो, जो चैतन्य के ही समकालीन थे पन्द्रह वर्ष तक देश भ्रमण करके अपने सिख-समुदाय का संगठन बनाया था।

पुरी से चलकर चैतन्य देव गोदावरी, तटवर्ती विद्यानगर होते हुये कृष्णा, कावेरी, ताम्रपर्णी आदि नदियों पर बसे हुये अनेक नगरों तथा तीर्थों का भ्रमण करते रहे। इसी प्रकार चलते-चलते वे सेतुबन्धु रामेश्वर पहुँचे। वहाँ से पश्चिमी घाट के समानान्तर यात्रा करते हुए त्रिवेन्द्रम, मैसूर, कर्नाटक, नासिक, पंढरपुर आदि अनेक स्थानों का अवलोकन किया। फिर बम्बई प्रदेश में होकर द्वारिका पहुँच और विजय नगरम् (दक्षिण भारत) होकर पुरी को लौट आये।

इस यात्रा में वे लगातार तीर्थस्थानों में एकत्रित धार्मिक जनता को उपदेश करते रहते थे और विशिष्ट भक्तजनों से मिलकर उनको धर्म रक्षा की प्रेरणा देते थे। उस समय अपना संदेश देश के विभिन्न स्थानों में पहुँचाने का यदि कोई मार्ग था तो वह तीर्थ ही थे, वहीं दूर और समीप के धर्म-प्रेमी व्यक्ति इकट्ठे मिल सकते थे। उनसे वार्तालाप करके ही अपने कार्यक्रम को उन्हें समझाना और उनकी समस्याओं तथा परिस्थितियों की जानकारी प्राप्त करना सम्भव था। इस प्रकार चैतन्य देश के एक बड़े भाग की स्थिति से अवगत हो गये, लोगों की विचारधारा को समझ लिया और यह भी अनुमान कर लिया कि उनको जागृत और संगठित करने को कौन-सा मार्ग उपयुक्त रहेगा। उन्होंने यह भी जान लिया कि अपने प्रचार-कार्य के लिये सर्वोत्तम और केन्द्र स्वरूप स्थान पुरी ही हो सकता है। वहाँ के लोग कृष्ण भक्त हैं, बंगाल में भक्त-जन भी काफ़ी आया करते हैं और भारत के चार धामों में से एक प्रसिद्ध धाम होने से देश भर के व्यक्ति वहाँ एकत्रित हुआ करते हैं, जिनके द्वारा अपना सन्देश बहुत कम समय में देशव्यापी बनाया जा सकता है। इसलिये चैतन्य ने अपने हरिदास आदि प्रमुख सहकारियों को पुरी में ही रख कर प्रचार कार्य आरम्भ किया।

कुछ समय पश्चात् उनका ध्यान उत्तर प्रदेश की तरफ गया। कृष्ण भक्ति के प्रभाव से बंगाल तथा उड़ीसा के अनेक भक्त मधुरा वृन्दावन की यात्रा को आया करते थे और पश्चिमी भारत के तीर्थ यात्री भी वहाँ पर्याप्त संख्या में आते थे। पुरी का केन्द्र महत्त्वपूर्ण अवश्य था पर वह देश की पूर्ववर्ती अन्तिम सीमा पर होने से, पश्चिम भारत को बहुत कम प्रभावित करता था। इसलिये प्रथम यात्रा से लौटने के कुछ समय बाद ही उन्होंने वृन्दावन की भी यात्रा की। प्रयाग में उनकी भेंट बल्लभाचार्य से हुई। भक्ति-मार्ग के इन दोनों महारथियों में जो विचार-विनिमय हुआ वह अवश्य महत्त्वपूर्ण रहा होगा। वृन्दावन उस समय थोड़े-से साधुओं का ही निवास स्थान था। चैतन्य ने यहाँ पर अच्छी तरह भ्रमण करके एक ऐसा सार्वजनिक तीर्थ स्थापित करने की योजना बनाई, जहाँ सामान्य जनता सदैव आती रहे और भगवत् भक्ति के साथ धर्मनिष्ठा और जातीयता की रक्षा की प्रेरणा ग्रहण करती रहे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने अपने सुयोग्य सहकारी रूप-सनातन को यहाँ स्थायी रूप से नियुक्त कर दिया और इसमें सन्देह नहीं कि आज वृन्दावन ने जो महिमा प्राप्त की है उसका बहुत

कुछ त्रेय चैतन्य और उनके अनुयायियों को ही है। इस प्रकार बीस-पच्चीस वर्ष तक प्रचार कार्य करके चैतन्य ने भारत के बड़े भू-भाग की जनता में इतनी धार्मिक नवचेतना उत्पन्न कर दी कि वह अपने धर्म पर सुदृढ़ हो गई और विधर्मियों का प्रभाव उस पर पड़ने का सन्देह बहुत कुछ दूर हो गया। चैतन्य द्वारा प्रचारित कीर्तन-प्रथा ने इस दिशा में बहुत कार्य किया। बंगाल तो उसका घर बन ही गया, धीरे-धीरे उसने बिहार और उत्तर प्रदेश में भी प्रवेश किया। आज हम अपने चारों तरफ कीर्तन का जो प्रचार और प्रभाव देख रहे हैं, यद्यपि वह चैतन्य के आदर्शों से बहुत हट गया है, कुछ लोगों ने उसे एक पेशे की तरह बना लिया है, तो भी जनता के एक भाग में धार्मिक भावना को फैलाने का वह एक बड़ा माध्यम है।

चैतन्य महाप्रभु एक परम भक्त थे, इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं। किन्तु उनको केवल भक्त और कीर्तनकार मानकर रह जाना उनके व्यक्तित्व का अपूर्ण अंकन है। वे भक्त होने के साथ-साथ समाज के महान् सेवक और धर्म के रक्षक थे। जहाँ एक ओर उनकी भक्ति का उद्देश्य आत्मोद्धार था वहाँ दूसरी ओर वे उसके प्रभाव का उपयोग जन-जागरण के लिये किया करते थे। यदि वे केवल आत्म-कल्याण तक सीमित रहने वाले स्वार्थी भक्त होते तो संन्यास लेने के बाद किसी से कोई सम्बन्ध न रखते और दिन-रात भगवत्-चिन्तन करते हुए अपने में ही मग्न रहते। किन्तु इसके विपरीत महाप्रभु चैतन्य ने सारे देश की पैदल यात्रा करके जन-जन में धर्मभावना का जागरण कर उन्हें मुसलमान शासकों के अत्याचार से होने वाली निराशा से बचाया।

वह समय बड़ा विषम था। हिन्दू धर्म भयंकर संक्रांति काल से गुजर रहा था। मुसलमान शासक न केवल राजनीतिक अत्याचार करते थे अपितु वे हिन्दुओं पर धार्मिक अत्याचार भी कर रहे थे। वे अपनी शक्ति तथा आतंक का उपयोग हिन्दू जनता को मुसलमान बनाने में कर रहे थे। हिन्दू राजाओं की शक्ति विलासिता, स्वार्थपरता और विमृखलता के कारण नष्ट हो चुकी थी। हिन्दू जनता और हिन्दू धर्म का उस समय कोई रक्षक न दिखलाई देता था। उस निराश्रय पूर्ण संक्रांति काल में हिन्दू जनता में धर्म तथा भगवान् के प्रति अनास्था उत्पन्न होने लगी थी, जिसका लाभ उठाकर मुसलमान उन्हें आसानी से धर्मभ्रष्ट करते जा रहे थे।

महाप्रभु चैतन्य ने हिन्दू और हिन्दू धर्म की उस दुर्दशा को देखा। उनकी समाजभावी आत्मा उसकी रक्षा के लिए तड़प उठी। उनके पास एक भगवन्नाम और तीव्र भगवत्भक्ति के सिवाय और कोई साधन तो था नहीं। किन्तु एक यही साधन संसार के समस्त साधनों से शक्तिशाली सिद्ध होता है, यदि उसका उपयोग सच्चाई के साथ जनकल्याण में किया जाये।

महाप्रभु चैतन्य ने गम्भीरतापूर्वक उस संकट और उसके उपायों पर विचार किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यदि हिन्दू जनता में धर्म के प्रति उखड़ी आस्था और भगवान् के प्रति भक्ति भावना का पुनर्स्थापन कर दिया जाय तो उनकी निराशा, निरुत्साह और निराश्रय

की भावना नष्ट हो जाये और उसके स्थान पर निर्भयता, साहस, विश्वास और आत्मगौरव का तेज आ जाये। ऐसी दशा में धर्म परिवर्तन के लिए प्रेरित अथवा आतंकित कर सकना सरल न रहे। जब जिसमें आत्मतेज और आत्मगौरव का उदय हो जाता है तब प्राण देकर भी आत्मत्व की रक्षा करने को तत्पर रहता है। उपर्युक्त निष्कर्ष पर पहुँचते ही उन्होंने अपने आत्म-प्रभाव से निराश जनता का हृदय परिवर्तन तथा धर्म मार्ग में उनका नेतृत्व करने का निश्चय कर लिया। इस व्रत पालन के संकटों से वे पूरी तरह अवगत थे, तथापि जन-सेवा की प्रबल भावना लेकर वे कर्तव्य मार्ग पर, हथेली पर सिर लेकर उस आतंक और अत्याचार के अन्धकार में प्रकाश करने के लिये निकल पड़े।

श्री चैतन्य ने अध्यापक के आदरपूर्ण पद, सुख-साधनपूर्ण घर, रूप लावण्य से भरपूर यौवन का आकर्षण और पतिव्रता पत्नी का पावन प्रेम—सब कुछ धर्म और जनकल्याण के लिए त्याग दिया और संन्यास लेकर जन-जागरण का अलख जगाने के लिये चल पड़े।

महाप्रभु चैतन्य की वाणी बड़ी ही मधुर और प्रभावशालिनी थी। उनके गाये कीर्तन तथा भजनों से लोगों पर जादू हो जाता था। अस्तु उन्होंने अपनी इस विशेषता का उपयोग जनता के हितार्थ करना शुरू किया। उन्होंने अपने एक मित्र श्रीवास पंडित के घर एक कीर्तन केन्द्र स्थापित किया और वहीं नित्य सायंकाल नियमित रूप से हरिकीर्तन करने लगे। लोगों को आकर्षित करने का उनका उद्देश्य पूरा हुआ। लोग आ-आ कर उनके कीर्तन में सम्मिलित होने लगे। महाप्रभु नित्य ही, आयोजन समाप्त होने के बाद लोगों को धर्म की महत्ता और आत्म-गौरव की भावना पर उपदेश देते। भगवान् की शरण लेकर निर्भय रहने को कहते और अपने घरों पर नियमित रूप से कीर्तन का आयोजन जमाने की प्रेरणा देते, जनता में उत्साह का संचार होने लगा जिसके फलस्वरूप नदिया नगर के घरों पर मृदंग-मंजीरा के साथ हरिनाम की गूँज उठने लगी और मृतप्रायः हिन्दू धर्म श्वास लेता-सा विदित होने लगा।

हिन्दुओं में धर्म-जाग्रति के लक्षण देख कर नदिया का काजी चाँद खाँ बौखला उठा और उसने उठती हुई धर्म भावना का दमन करने के लिए हरिकीर्तन बन्द करने की आज्ञा निकाल दी। पुनः आतंक का वातावरण छा गया और लोग भयभीत हो गये। भक्तों की कीर्तन मंडली के सदस्य अपने नेता चैतन्य प्रभु के पास गये और दुःखी स्वर से बोले—यदि इस प्रकार प्रतिबन्ध लगता और अत्याचार होता रहा तो हम लोग हरिकीर्तन किस प्रकार कर सकेंगे? इससे तो यही अच्छा है कि यह नगर छोड़ कर कहीं ऐसे स्थान पर चलें जहाँ पर स्वतन्त्रतापूर्वक भगवान् का नाम ले सकें।

श्री चैतन्य देव ने भक्तों की निराश वाणी सुनी और बोले—भक्तों को इस प्रकार पलायनवादी भाव शोभा नहीं देता। विघ्न यदि नदिया में आ सकता है तो दूसरे स्थान पर भी आ सकता है। विघ्न का उपाय पलायन नहीं है। उसका उपाय है दृढ़तापूर्वक उसका सामना करना। यदि हरिनाम का कीर्तन करने से आप लोगों में किसी विघ्न-बाधा का सामुख्य करने का भी साहस नहीं आ सका

तब तो यही मानना होगा कि आपकी भक्ति अधूरी है। किसी भगवत् भक्त के लिये भय अथवा आतंक का क्या मूल्य? आप लोग निर्भय तथा निश्चिन्त रहें। हरिकीर्तन करना, भगवान् का नाम लेना कोई नहीं रोक सकता। हम सब इसी नगर में रहेंगे और सार्वजनिक कीर्तन द्वारा काजी के अन्यायपूर्ण प्रतिबन्ध को तोड़कर भगवत्शक्ति का प्रभाव प्रकट कर देंगे।

दूसरे दिन श्री चैतन्य देव ने नगर-कीर्तन की योजना बनाई और भगवत्भक्तों को आदेश दिया कि आज ही नगर में कल के नगर-कीर्तन की घोषणा कर दी जाये और कह दिया जाये कि सब लोग कल सायंकाल हमारे घर पर एकत्र हो जायें वहीं से कीर्तन प्रारम्भ करते हुए सारे नगर में सार्वजनिक रूप से कीर्तन करेंगे। प्रकाश के लिये सब लोग एक-एक मशाल और जिसके पास ढोल, मृदंग और झाँझ मंजीरा हों लेता आये। भक्तों ने सारे नगर में महाप्रभु की इस घोषणा का सम्वाद फैला दिया और लोग दूसरे दिन के समारोह में लग गये।

नियत समय पर श्री चैतन्य देव के निवास से कीर्तन का जलूस उठा और लोग जय ध्वनि और स्वर ताल के बाधों पर हरिनाम का संकीर्तन करते हुए चल दिये और राज-मार्गों पर घूमने लगे। वह अभूतपूर्व समारोह देखने के लिये स्थान-स्थान पर अपार भीड़ लग गई। नगर-वासियों ने उस कीर्तन मंडली का अनुपम स्वागत किया। जिधर से वह कीर्तन मंडली निकलती थी उधर ही सैकड़ों लोग उसमें सम्मिलित हो जाते थे और हरिनाम जपते हुए साथ चलने लगते थे। देखते ही देखते कीर्तन का वह जलूस सैकड़ों हजारों का हो गया। नगर में एक अभूतपूर्व जागरण की हलचल छा गई।

काजी को समाचार मिला और उसने अनेक सैनिक उस जलूस को भंग करने और कीर्तन बन्द कर देने के लिए भेजे। सैनिक आये और क्रोधपूर्वक काजी की आज्ञा सुनाते हुए कीर्तन बन्द कर देने के लिए धमकाने लगे। श्री चैतन्य देव ने सैनिकों की ओर अपनी तेजपूर्ण दृष्टि से देखा और कहा—“तुम लोग चलकर काजी से कहो कि हम लोग उन्हीं के घर कीर्तन करने आ रहे हैं। महाप्रभु का वह तेज और निर्भय वाणी देखकर सैनिकों का साहस टूट गया और उन्होंने जाकर काजी को सारा समाचार सुनाया”। काजी झल्ला उठा और बोला—आने दो देखूंगा उस फकीर को।

किन्तु जब उसने दूर से कीर्तन के विशाल जलूस को गाते-बजाते आते देखा तो वह इतना डर गया कि तुरन्त घर के भीतर जाकर छुप गया। श्री चैतन्य देव अपनी मण्डली के साथ आये और सीधे काजी के घर में जा कर उसके चौक में कीर्तन करने लगे। भगवान् का आश्रय और उसका बल लेकर चलने वाले की गति कौन रोक सकता है।

दो घण्टे जमकर कीर्तन करने के बाद श्री चैतन्य देव ने एक नौकर से कहा, अपने मालिक से जा कर कहो कि हम सब तो उनके घर पर उनसे मिलने आये हैं और वह घर में घुसे बैठे हैं यह कहाँ की रीति है? नौकर ने जा कर काजी को समाचार दिया। जब उसे विश्वास हो गया कि यह कीर्तनकार उसे कोई हानि नहीं पहुँचायेंगे तो वह बाहर निकल कर आया और महाप्रभु से माफ़ी माँगते हुए बोला—मैं समझ

था कि आप सब लोग मुझसे नाराज हैं और दण्ड देने के लिए आ रहे हैं। इसी डर से मैं घर के भीतर भाग गया था।

श्री चैतन्य देव ने काजी के साथ बड़ा भद्र व्यवहार किया पूछा—“काजी साहब! अब क्या भगवान् का नाम लेने पर भी बन्धन लगाया जायेगा? जिस परमात्मा ने हम आप सब को उत्पन्न किया उसका नाम लेने से रोकना तो उचित नहीं है।” आपने किस विचार से ऐसा प्रतिबन्ध लगा दिया है? काजी ने अपनी गलती मानते हुए बतलाया कि दरअसल बात यह थी कि नगर के लोगों ने कीर्तन के खिलाफ मेरे पास शिकायत की थी कि इससे शहर में अशान्ति का अंदेश है। इसलिये शान्ति की रक्षा में मैंने उस पर प्रतिबन्ध की आज्ञा निकाल दी थी। किन्तु देखता हूँ कि लोगों की यह शिकायत झूठ थी। आप सब लोग खुशी से कीर्तन करिये और उस दुनिया के मालिक का नाम लीजिये, मैं अभी उस प्रतिबन्ध को रद्द किये देता हूँ और ऐसा कहकर उसने प्रतिबन्ध की आज्ञा रद्द करते हुए फरमान निकाल दिया। यह श्री चैतन्य देव के सत्य एवं साहस की अन्याय और आतंक पर पहली विजय थी। उनका आन्दोलन और उद्देश्य सफल हो गया। हिन्दू जनता के हृदय से भय का भूत निकल गया और लोग साहसपूर्वक अपने धर्म-कर्मों का पालन करने लगे। किन्तु केवल नदिया ही तो पूरा देश नहीं था। श्री चैतन्य देव को तो पूरे देश में ही जन-जागरण की लहर उठनी थी। निदान वे सब के मना करने पर भी सारी ममता-मोह त्याग कर जन-कल्याण की दिशा में चल पड़े।

सबसे पहले वे जगन्नाथपुरी गये और कुछ दिन वहाँ जन-जागरण का काम करने के बाद अकेले ही पैदल सम्पूर्ण भारत में जाग्रति का शंख फूँकने के लिये चल दिये। गोदावरी के तट पर बसे विद्यानगर के हिन्दू राजा और वहाँ की जनता में धार्मिक प्रेरणा भरकर वे कृष्णा, कावेरी और त्रिवेणी नदियों के तट पर बसे नगरों में अलख जगाते, कीर्तन मंडलियाँ स्थापित करते, साहस और निर्भयता का मन्त्र फूँकते। हिन्दू धर्म की महत्ता तथा महिमा बतलाते और भगवान् वासुदेव में अखण्ड विश्वास जमाते सेतुबन्ध रामेश्वरम् में जाकर जनता में धर्म-आन्दोलन उठाने लगे।

सेतुबन्ध रामेश्वरम् से चलकर वे पश्चिमी घाट को जगाते हुए त्रिवेन्द्रम, मैसूर, कर्नाटक, नासिक और पंढरपुर की जनता की मोह निद्रा भंग कर द्वारिकापुरी गये। अनन्तर दक्षिण भारत को प्रबुद्ध तथा सावधान करने के बाद वे पुनः जगन्नाथपुरी आ गये। इस प्रकार दो-तीन वर्ष तक देश की चारों दिशाएँ अपने सन्देशों तथा उपदेशों द्वारा एकात्मभाव में बाँध कर श्री चैतन्य देश के अन्तर में भ्रमण करते और जन-जागरण का मन्त्र फूँकते वृन्दावन आये। यहाँ पर उन्होंने बल्लभाचार्य जैसे महान् भक्तों तथा धर्म प्राण विद्वानों को एक संगठन सूत्र में बाँधा और उन्हें जनता की निराशा दूर करने और साहसपूर्वक अन्याय का सामना करने की प्रेरणा देने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार महाप्रभु चैतन्य देव सारे देश को जगाकर और भक्तों, विद्वानों, राजाओं तथा सामान्य जनता को एक धर्म-सूत्र में बाँध कर जगन्नाथपुरी में स्थायी रूप से रहने और भगवान् का भजन करने लगे। भक्ति

और समाज सेवा के समन्वय से उनको शीघ्र ही भगवान् के दर्शन हो गए ।

उस समय यद्यपि चैतन्य की आयु ४८ वर्ष की ही थी, पर उन्होंने भावावेश में इतने वेग से कार्य किया था, कि उनकी जीवनी शक्ति समाप्त होने लग गई थी । धर्म-जागरण का कार्य भी अन्य सहयोगी भली प्रकार चलाने लग गये । यह देखकर चैतन्य ने अपनी लीला सम्भरण कर लेना ही उचित समझी । सन् १५९० में ४८ वर्ष की आयु में ही एक दिन कथा सुनते-सुनते वे भावावेश में उठकर जगन्नाथ जी की मूर्ति के सम्मुख पहुँचे और प्रार्थना करते-करते कुछ क्षणों में प्राण त्याग दिये ।

यदि ऐसी भक्ति मुझे भी मिली होती

आरती का पुनीत समय था शंख और घण्टे की आवाज से भगवान् जगन्नाथ का मन्दिर गूँज रहा था । महाप्रभु चैतन्य गरुड़-स्तम्भ के पास खड़े भगवान् की आरती को बड़ी तन्मयता से गा रहे थे । मन्दिर में भक्तों की भीड़ बढ़ती जा रही थी । बाद में आने वालों को मूर्ति के दर्शन नहीं हो पा रहे थे । एक उड़िया स्त्री जब दर्शन करने में असमर्थ रही तो झट गरुड़ स्तम्भ पर चढ़ गई और एक पैर महाप्रभु के कन्धे पर रखकर आरती देखने लगी ।

महाप्रभु ने तो इस बात को सहन कर भी लिया परंतु उनका शिष्य गोविंद भला क्यों सहन करता ? वह उस स्त्री को डाँटने लगा पर महाप्रभु ने ऐसा करने से मना किया । 'क्यों बाधक बनते हो भगवान् के दर्शन कर लेने दो । इस माता को दर्शन की जो प्यास भगवान् ने दी है यदि मुझे भी प्राप्त होती तो मैं धन्य हो जाता । इसकी तन्मयता तो देखो कि इसे यह भी ध्यान नहीं रहा कि पैर किसके कन्धे पर हैं ?'

महाप्रभु का इतना कहना था कि वह धम्म से नीचे आ गिरी और उनके चरणों में गिर कर क्षमा माँगने लगी । महाप्रभु ने अपने चरण हटाते हुए कहा— 'अरे ! तुम यह क्या कर रही हो, मुझे तुम्हारे चरणों की बन्दना करनी चाहिए ताकि तुम जैसा भक्ति-भाव मैं भी प्राप्त कर सकूँ ।'

महाप्रभु चैतन्य के जीवन में आध्यात्मिकता का वास्तविक स्वरूप— लोकसेवा का लक्षण पूरी तरह प्रकट हुआ था । उन्होंने अपना सारा जीवन दुःखी-दरिद्रों तथा गिरे हुएओं को ऊँचा उठाने में लगाया ।

उक्त वृद्धा को उन्होंने पैरों में से उठाकर खड़ा किया और स्वयं पैर छूने लगे । उन्हें पैर छूते देखकर आसपास के लोगों ने, जो उन्हें पहचान गये थे महाप्रभु से कहा— 'यह क्या करते हो महाराज । इस नीच बुढ़िया के पैर छू रहे हो ।'

'क्या हुआ भाइयो'— चैतन्य बोले— अपने से अच्छे और श्रेष्ठ लोगों को आदर सम्मान देने में कोई बुराई थोड़े ही है । वैसे भी यह 'वृद्धा मुझसे आयु में बड़ी है । मैं इनके पैर छू रहा हूँ तो कौन-सा पाप कर रहा हूँ । यह तो लक्ष्मी का ही अवतार है ।'

भक्ति भाव से गद्गद वाणी को सुनकर आसपास एकत्र लोग धन्य-धन्य कह उठे ।

परम भागवत् सन्त नामदेव

मनुष्य लोहे-पत्थर से नहीं, भावना से बना परिवर्तनशील प्राणी है । मनोभूमि बदले तो उसे बदलते देर नहीं लगती । आलसी और उद्योगी, सज्जन और दुर्जन, दुर्गुणी और सद्गुणी, घृणित और सम्मानास्पद स्थिति मनुष्य की आदतों पर निर्भर रहती है और ये आदतें यदि चाहे तो कोई भी मनुष्य आसानी से बदल सकता है ।

सन्त नामदेव का आरम्भिक जीवन कुत्सित प्रकार का था । डाकू और लुटेरे की तरह वे अपना जीवनयापन करते थे । उनका आतंक चारों ओर रहता था, लोग नामदेव का नाम सुनते ही काँपने लगते थे । इनके उपद्रवों की शिकायत से सरकार भी क्षुब्ध हुई और उन्हें पकड़ने के लिए अस्सी घुड़सवार भेजे । कहते हैं कि इन सबका उन अकेले ने सफलता कर दिया ।

दुर्दांत दस्युओं में भी अन्तरात्मा रहती है और वह जब कभी पलटती है तब बुरे से बुरे आचरण के व्यक्ति को सुधरते देर नहीं लगती । पूर्वकाल में बाल्मीकि, अँगुलीमाल, बिल्बमंगल, अग्रपाली, अजामिल, सदन आदि पतित जीवन व्यतीत करने वाले लोगों ने अपनी अन्तरात्मा की पुकार पर दुर्जनता का मार्ग छोड़ कर सज्जनता अपनाई तो वे देखते-देखते दुरात्मा से महात्मा बन गये । नामदेव का परिवर्तन भी इसी प्रकार आत्मा की पुकार सुनने वाले लोगों की शृंखला का एक उदाहरण माना जा सकता है ।

ईश्वर विश्वास और आस्तिकता की भावना जब मन में जमी तो दुष्टता के लिए जीवन में स्थान ही कैसे रहता ? जो ईश्वर को घट-घट वासी जानेगा वह सब में समाये हुए परमात्मा के साथ दुर्व्यवहार कैसे कर सकेगा ? यों झूठे भक्त 'मुख में राम बगल में छुरी' का बानक भी बना लेते हैं । पाप निर्भय होकर करते हैं और कुछ पूजा-पाठ करके यह आशा लगाये रहते हैं कि यह सब कुछ तो भजन के प्रताप से छूट ही जायेगा फिर अनीति का लाभ उठाने से डरें क्यों ? यह मान्यता तो झूठे और बहके हुए भक्तों की रहती है । जिसके अन्तःकरण में एक कण भी सच्ची ईश्वर भक्ति का उत्पन्न हो जायेगा वह सब में अपने प्रभु की झाँकी देखेगा और उनके साथ प्रेम एवं सज्जनता का व्यवहार करेगा । नामदेव जब ईश्वर भक्ति की ओर सच्चे मन से झुके तो उन्हें अनीति का मार्ग छोड़ना ही पड़ा । आस्तिक के लिए दुरात्मा बने रहना संभव नहीं, नामदेव की ईश्वर भक्ति ने उन्हें न तो दुष्ट रहने दिया और न डाकू ।

गुरु की तलाश में नामदेव भटक रहे थे तो भगवान् पाण्डुरंग ने उन्हें निर्देश किया कि विसोवा खेचर नामक कोढ़ी को वे गुरु बनावें । नामदेव ने वैसा ही किया । वे कोढ़ी को गुरु बनाकर उसकी सच्चे मन से सेवा करने लगे । आरम्भ में तो उन्हें यह निर्देश अटपटा लगा पर पीछे कुछ ही दिन में इस ईश्वरीय आशा का रहस्य उनकी समझ में आ गया । पीड़ितों, अपेक्षितों और तिरस्कृतों की सेवा के बिना किसी का अन्तःकरण पवित्र नहीं हो सकता और जिसका हृदय पवित्र न होगा वह न तो गुरु ज्ञान का अधिकारी बन सकेगा और न उसे ईश्वरीय प्रकाश का अनुभव ही होगा । सेवा भावना की अधिकता

सन्त हृदय की पहली विशेषता है। गुरु-दीक्षा के रूप में भगवान् पाण्डुरंग ने विसोवा कोढ़ी की सेवा करने का आदेश दिया और सेवा धर्म को अपनाते हुए नामदेव ने जो ज्ञान पाया वह जीवन को सार्थक बनाने में अत्यन्त उपयोगी भी सिद्ध हुआ। मनोरंजन के लिए या कोई स्वार्थ सिद्ध करने के लिए आज के लोगों की तरह यदि उन्होंने भी गुरु दीक्षा ली होती तो संभवतः उनको भी खाली हाथ रहना पड़ता और निराशा के अतिरिक्त और कुछ भी हाथ न लगता।

नामदेव धान्य-कुधान्य का बड़ा ध्यान रखते थे। अभाव-ग्रस्त जीवन व्यतीत करते हुए भी वे किसी का दान स्वीकार न करते थे। उनकी धर्मपत्नी पश्चिमपूर्वक जो कमाती उसी में से वे जो दे जाती उसी से रूखा-सूखा खाकर फटा-टूटा पहन कर कर्म चलाते। कई उदार लोग उनकी निर्धनता का पता चलने पर सहायता भेजते पर वे किसी का भी दान स्वीकार न करते और कहते जिसका अन्न खाया जाता है उनके लिए अपना भजन भी चला जाता है। फिर यदि किसी की अनीति की कमाई हुई तो उसे खाने पर अपना मन भी कलुषित होगा।

प्राणि मात्र में भगवान् की झाँकी करना और प्रत्येक के साथ प्रेम एवं आत्मीयता का व्यवहार करना यही तो ईश्वर भक्ति की कसौटी है। इस कसौटी पर भक्त नामदेव सदा खरे उतरते रहे। एक दिन वे रोटी बना रहे थे कि अचानक एक कुत्ता आया और उनकी बनाई हुई रोटियाँ मुँह में दबा कर भागा। नामदेव उसके पीछे चुपके से घी की कटोरी लेकर जा पहुँचे और कुत्ते से कहा—‘मेरे भगवान्! आपको भोग लगाने के लिए यह घी भी मैंने मँगा रखा था फिर आप रूखी रोटी क्यों खाते हैं?’ नामदेव ने कुत्ते को प्रेमपूर्वक खिलाया और उसकी रोटियाँ घी से चुपड़ दीं। यह तो एक घटना मात्र है। उनके जीवन की प्रत्येक गतिविधि प्राणि-मात्र में भगवान् को देखने और उनके साथ आत्मीयता का व्यवहार करने की नीति पर चलती थी। सच्चे सन्तों की अनादि परम्परा रही भी यही है।

जाति के दर्जी होने के कारण दूसरे लोग उन्हें समय-समय पर तिरस्कृत करते रहते थे पर इससे वे कभी खिन्न न हुए। ‘जो भूल करता है उसे दुःखी होना चाहिए, मेरी मान्यता तो प्राणिमात्र में एक आत्मा देखने की है, जो इस सत्य के विपरीत जाति वंश के आधार पर किसी को छोटा माने तो यह उनका अविवेक है। किसी की भूल का दण्ड मैं क्यों सहूँ’ यह कहकर उन तिरस्कार करने वालों की बात को उपहास में उड़ा देते थे और अपने मन को कभी छोटा न होने देते थे। लोग कुछ भी कहते रहें उन्होंने न अपने को किसी से ऊँच माना और न नीच। सन्तों की उपयुक्त समता पर उनकी अगाध आस्था थी वह जीवन भर वैसी ही बनी रही।

सन्त नामदेव ने धर्म-प्रसार को अपना आवश्यक धर्म कर्तव्य बनाया और वे महाराष्ट्र से लेकर पंजाब तक भागवतधर्म का उपदेश जन-साधारण को करते रहे। तत्कालीन पण्डित लोग दान-पुण्य, पाठ-पूजा, कथा-कीर्तन और स्नान-दर्शन मात्र से ही भगवान् की प्राप्ति होने का प्रतिपादन करते थे। सदाचार और कर्तव्य-पालन को उन्होंने व्यर्थ मान रखा था और कहते थे कि इन कर्मकाण्डों से ही जब पाप नष्ट हो सकते हैं तो उन्हें छोड़कर घाटे में रहने की क्या आवश्यकता

है? नामदेव के प्रतिपादन में यह अन्तर था कि वे कर्मकाण्ड को उपयोगी और आवश्यक तो मानते थे पर सदाचार एवं कर्तव्यपालन को प्रथम स्थान देते थे और स्पष्ट कहते थे कि दुरात्मा का भजन विडम्बना मात्र रह जाता है। भागवतधर्म से उनका प्रयोजन उसी आस्था से था जो उपासना के साथ-साथ सच्चरित्रता एवं परमार्थ की प्रेरणा भी देती हो।

सच्चे भगवद्भक्त की तरह नामदेव ने भागवतधर्म को अपने जीवन में उतारा और उसी की शिक्षा दूसरों को भी दी। संसार में अधिक संख्या निहित स्वार्थों से ग्रसित संकीर्ण लोगों की होती है, वे ऐसे सत्य को सहन नहीं कर पाते जो उनकी मान्यताओं से भिन्न हो। सत्य का प्रतिपादन करने के अपराध में उन्हें विरोध और निन्दा का सामना करते रहना पड़ा। शूद्र समझे जाने वाले वंश में उत्पन्न होना भी एक जन्मजात अपराध की तरह उन्हें तथाकथित पण्डितों का कोप-भाजन बनाये रहा। पर इससे क्या? सचाई का सूर्य चमकता ही रहा। उस पर धूल उड़ाने वाले अपनी दुरभिसन्धियों में कृतकार्य न हो सके। विवेकशील जौहरियों ने उनकी परख तब भी की थी और सन्त नामदेव ऊँचे सन्त-महात्माओं की श्रेणी में अब भी विद्यमान हैं। वे आज शरीर समेत भले ही न हों पर यह सन्देश तो देते ही रहेंगे कि आदमी बदल सकता है, उसे बदलना चाहिए। जब दुर्दान्त दस्यु से कोई व्यक्ति उच्च श्रेणी का सन्त बन सकता है तो गुण, कर्म, स्वभाव के साधारण परिवर्तनों में तो किसी मनस्वी व्यक्ति को कुछ भी कठिनाई न होनी चाहिए।

भाई रे भक्ति की शक्ति अपार

महाराष्ट्र हो या पंजाब सन्तों की विशाल दृष्टि से अनंत आकाश में बालक के छोटे वाले गेंद के समान तैरती हुई सारी पृथ्वी ही भर है—यह सोचकर विश्वमंगल का भाव लिये आस्तिकता और आध्यात्मिता का प्रचार करते हुये योगी श्री नामदेव महाराष्ट्र से पंजाब की ओर चल पड़े। पंजाब में भी उनके ज्ञान-यज्ञ का विस्तार और प्रसार होने लगा। आध्यात्मिकता को सरल और सरस बनाने के लिए उन्होंने कीर्तन को माध्यम बनाया। वे स्वयं भावविभोर होकर कीर्तन करते थे सो जहाँ भी उनका कीर्तन होता रस बरसने लगता।

एक दिन की बात है सन्त नामदेव का पंजाब के एक गाँव में कीर्तन चल रहा था—घटना सिखों के प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ—‘ग्रन्थसाहब’ से उद्धृत की जा रही है—मुसलमान नवाब उनके आस्तिक भाव को साम्प्रदायिकता और कुक्र मानकर पहले ही जला-भुना बैठा था। पड़ौस में ही कीर्तन की बात से तो वह आग-बबूला हो गया। उसने दो सिपाहियों को समझा-बुझाकर भेजा। क्रूर सिपाही एक गाय को लेकर पहुँचे। भरे कीर्तन के बीच गाय की हत्या कर बोले—तुम्हारी भक्ति में कुछ शक्ति हो—तुम्हारी आस्तिकता सच्ची हो, तो इस मरी गाय को जिला दो?

नामदेव ने गाय की लाश देखी तो बड़े दुःखी हुये बोले—भाई मुझ से द्वेष था तो मुझे मारते—गाय ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा था—मेरी क्या शक्ति सब भगवान् का खेल है जिलायेगा तो वही कहकर उन्होंने

भगवान् विठ्ठल देव का आह्वानपरक 'बिरहा' गाया और शुरू कर दिया भावपूर्ण कीर्तन। सभी लोग स्वर में स्वर मिलाकर कीर्तन करने लगे। विद्युत् की-सी तड़ित शक्ति का अवतरण और कीर्तन की तन्मयता। दोनों के बीच अलौकिक घटना घटी और लोग देखकर आश्चर्यचकित रह गये कि गाय की साँस चलने लगी है धीरे-धीरे वह उठ खड़ी हो गई और पीछे कई वर्ष तक स्वस्थ रह कर जीती रही। सिपाही तो वहाँ ठहरे भी नहीं, नामदेव को प्रणाम कर वहाँ से चलते बने।

तथाकथित सभ्य जगत में चतुर्गई की चर्चायें और दाँव-पेच चला करते हैं जो एक मनुष्य का हृदय दूसरे से तोड़ते हैं, इसी प्रकार आध्यात्मिकता के जगत में भी मनमुग्धकारी तरह-तरह के करतब चलते रहते हैं। कोई उन्हें योगसिद्धि कहता है, कोई सत्य और धर्म का प्रभाव, भक्त लोग उसे ईश्वर की अनन्य कृपा मानते हैं। अपनी-अपनी निष्ठा को अपनी-अपनी अनुभूति। काम सब एक ही तत्त्व करता है। किसी को वह काम, भक्ति द्वारा सम्पन्न होता दिखाई देता है किसी को साधना की शक्ति द्वारा। वस्तुतः बातें दोनों एक हैं। तथापि सतोगुणी होने के कारण भक्ति को बड़ा मानते हैं।

पंढरपुर की तीर्थयात्रा के समय सन्त नामदेव और योगी ज्ञानदेव (ज्ञानेश्वर) की भेंट हो गई। दोनों ने साथ-साथ तीर्थ यात्रा का निश्चय किया। तीर्थाटन से लौटते हुए जब वे बीकानेर से दस-बारह मील दूर कौलायत जी स्थान से गुजर रहे थे, तीव्र गर्मी के कारण उन्हें प्यास सताने लगी। ओठ सूख गये, दम घुटने लगा—कुआँ तो दिख गया पर बहुत नीचा और उस पर भी पानी नहीं। किया क्या जाय ? श्री ज्ञानेश्वर तो योगी थे, उन्होंने योगाभ्यास द्वारा विलक्षण सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। लक्ष्मी शक्ति का आह्वान किया और जिस प्रकार लंकानगरी में प्रवेश के समय 'मसक समान रूप कपि धरी'—मच्छर जैसा छोटा रूप पवनसुत हनुमान ने रखा था उन्होंने भी अत्यन्त लघुरूप बनाया और कुयें में प्रविष्ट कर गये। उसकी सतह को भेद कर उन्होंने जल पी लिया और ऊपर आकर नामदेव से बोले—आप कहीं तो आपको भी पानी ला दूँ।

नामदेव प्यासे थे, ज्ञानदेव की सहायता स्वीकारने में उन्हें कठिनाई भी न थी पर उनकी दूर-दृष्टि ने अनुभव किया—सिद्धियाँ अहंकार की पोषक होती हैं कहीं ऐसा न हो मैं श्री ज्ञानदेव के अहंकार बढ़ाने और उनके आत्मविकास में बाधा उत्पन्न करने का भागी बनूँ। जब परमात्मा सर्व समर्थ है तो अपने शरीर-यन्त्र को शक्ति-सिद्धियों के अहंकार में क्यों फँसाया जाये। भक्त को तो हर क्षण भगवान् स्वर्ग और मुक्ति ऋतम्भरा प्रज्ञा, भक्ति और वैराग्य जैसी बहुमूल्य सम्पदायें दे सकते हैं तो एक लोटे पानी में क्या रखा है उनके लिये। बच्चा निर्धन होता है पर जब तक माँ रहती है वह निर्धनता कहाँ अनुभव करता है। सोचना है चाहे जब चाहे जितनी आवश्यक वस्तुयें ले लूँगा। नामदेव के अन्तःकरण का स्रोत उमड़ा और अभंग (भक्ति गीत) लहराने लगा, बायुमण्डल में तानपूरा बजा, नामदेव विह्वल-नाचने लगे। शब्द भाव का स्थूल रूप है—शब्द की शक्ति से मोटरें चल सकती हैं, इस्पात काटा जा सकता है, सूक्ष्म ऑपरेशन किये

जा सकते हैं तो भाव से तो न जाने क्या-क्या किया जा सकता है। स्थूल की अपेक्षा द्रव अधिक शक्तिशाली होता है और सूक्ष्मतर होने पर भी गैसों द्रव से भी शक्तिशाली। प्लाज्मा पदार्थ की चौथी और गैसों भी सूक्ष्मतर स्थिति है उसकी शक्ति गैसों से भी अधिक अकूत है। सूक्ष्मता के इस परिवेश में भावनाओं की शक्ति की थाह तरंगों की प्रतिक्रिया थी कि जैसे ही सन्त नामदेव ने भगवान् का आह्वान कर उन्हें अपना प्यासे होने का कष्ट निवेदन किया न उन्हें लक्ष्मी प्रयोग करना पड़ा न अणिमा, कुयें की तली से जल-स्रोत फूटा और उमड़ पड़ा ऊपर की ओर जलधारा ऊपर फूट पड़ी—नामदेव ने भी पिया और ग्रामवासियों ने भी। आज भी इस क्षेत्र में लोग लोक-गीतों में नामदेव की भक्ति के इस प्रभाव को गाते और उसका स्मरण कर पुलकित होते हैं।

एक और ऐसी ही घटना है सन्त नामदेव के जीवन की जो भक्ति की महान् शक्ति का प्रतिपादन करती है। शिवरात्रि पर्व था महाराष्ट्र के औढ़िया नामक स्थान में नामदेव भगवान् शंकर के दर्शनों के लिये गये। खेल में संलग्न बच्चा जब तक माँ को नहीं देखता तब तक माँ के प्रति उसके भाव भी प्रसुप्त से रहते हैं। माँ भी अपने काम से लगी रहती है पर खेल के बीच कभी उधर माँ आ गई तो बच्चा अपने अच्छे-अच्छे खिलौने, फल-फूल, मिठाई छोड़कर तड़फ उठता है दोनों हाथ ऊँचे कर अपनी जननी के स्नेह वात्सल्य के लिये। माँ भी छपक कर बच्चे को गोद में उठा कर प्यार करती है, चूमती-चाटती है। भले ही वह आत्म-शक्ति की प्रतिक्रिया हो पर मूर्ति स्थापना का उद्रेक होना ही तो है। नामदेव भगवान् के मन्दिर पर चढ़ गये—भाव उमड़ने लगे तभी मन्दिर के प्रबन्धक दौड़े और बोले—नीच। हरिजन (श्री नामदेव दर्जी या छीपी जाति के थे) तू ऊपर मंदिर में क्यों चढ़ आया ? हमारे धर्म की यह भूल बड़ी दुःखद है कि एक ओर तो वह अद्वैत आत्मा का प्रतिपादन करता है दूसरी ओर केवल मात्र सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से बनाई गई वर्ण-व्यवस्था का आत्मभेद, ऊँच-नीच, छूत-अछूत का कुत्सित रूप दे देता है। इस मध्यकालीन साम्प्रदायिकता ने ही हिन्दू-जाति के संगठन और उसके समर्थ स्वरूप को नष्ट किया। भगवान् के लिये तो दुनिया के सभी लोग सन्तानवत प्रिय हैं कोई भेदभाव क्यों करे। नामदेव को धक्के मारकर नीचे उतार दिया गया, नामदेव ने अपने अपमान का ख्याल तो भुला दिया स्वयं पिछवाड़े खड़े होकर कीर्तन करने लगे। न जाने कौन-सी शक्ति थी जिस पर सारा महाराष्ट्र और देश चकित है कि भगवान् शिव की मूर्ति ने अपना मुँह फेर लिया और अपने भक्त को दर्शन दिया। इस घटना का बोध-स्वरूप आज भी इस मन्दिर का 'नादिया' शिवजी के सम्मुख न होकर पीठ पीछे प्रतिष्ठित है। सच्ची भक्ति के प्रभाव से लोग नत-मस्तक हुये और श्री नामदेव के लिये मन्दिर के द्वार खोल दिये गये।

संतों के जीवन-वृत्त अद्भुत घटनाओं से भरे हुये हैं उन घटनाओं का आधार वह शक्ति ही है जो भक्ति द्वारा अस्तित्व में आती और ऐसे चमत्कार पूर्ण करतब दिखा जाती है।

ज्ञान धारा बहाने वाले दक्षिण के भगीरथ संत ज्ञानेश्वर

भक्ति मार्ग के प्रवर्तक प्रसिद्ध धार्मिक संत स्वामी रामानन्द काशी से रामेश्वरम् की यात्रा पर निकले थे। मार्ग में एक गाँव पड़ता था आलन्दी। स्वामी रामानन्द ने वहाँ अपना डेरा डाला और कुछ दिनों तक रुक जनसाधारण को ज्ञान-कर्म और भक्ति त्रिवेणी में मज्जित कराते रहे। स्वामी रामानन्द एक मारुति मन्दिर में ठहरे हुए थे, उसी मन्दिर में गाँव की एक युवती स्त्री भी प्रतिदिन दर्शन और पूजन के लिए आया करती थी। संयोग से एक दिन स्वामीजी का उससे सामना हो गया। स्त्री ने रामानन्द जी को प्रणाम किया तो बरबस उनके मुँह से निकल गया— 'पुत्रवती भव।'।

आशीर्वाद सुनकर युवती पहले तो हँसी फिर एकाएक चुप हो गयी। स्वामी जी को कुछ समझ में नहीं आया उन्होंने पूछा— 'देवी तुम हँसी क्यों हो ? फिर एकाएक चुप क्यों हो गयी ?'

उस युवती ने कहा— 'मेरी हँसी और फिर चुप्पी का कारण यह है कि आप जैसे महात्मा का आशीर्वाद बिल्कुल निष्फल जायेगा।'।

'क्यों बेटी तुम्हारी कोई सन्तान नहीं है क्या— माथे पर सिन्दूर और हाथों में चूड़ियाँ देखकर स्वामी जी ने उसके सधवा होने का अनुमान लगाते हुए कहा। तो स्त्री बोली — 'सन्तान हो भी तो कैसे स्वामी जी। मेरे पति तो वैराग्य धारण कर संन्यासी हो गये हैं। सुना है उन्होंने आप ही से ही दीक्षा ली है।'।

'मुझसे'— स्वामी जी ने चिन्तामग्न होकर पूछा। चिन्ता इसलिए थी कि एक ऐसा व्यक्ति जिसने पहले तो गृहस्थ धर्म अंगीकार किया और इस धर्म में अभी ठीक से निर्वाह भी नहीं हुआ था कि उसने पलायन कर लिया और मुझसे ही दीक्षा ग्रहण की। कुछ सोचते हुए स्वामी जी ने पूछा— 'बेटी तुम्हारा नाम क्या है और तुम्हारे पति किस नाम से पुकारे जाते हैं।'।

'मेरा नाम रुक्मिणी है और मेरे पति विट्ठल पन्त कहे जाते हैं— युवती ने कहा— 'वे एक दिन गंगा स्नान की कह कर गये और फिर कभी नहीं लौटे। लौटे तो उनके समाचार कि उन्होंने संन्यास ग्रहण कर लिया है। तभी से मैं भी आठ पहर में केवल एक बार भोजन करती हूँ। पीपल की प्रदक्षिणा करती हूँ। इस बात को बारह वर्ष हो गये हैं।'।

रुक्मिणी अभी २९-३० के लगभग की थी। इसका अर्थ 'क्या' कि विट्ठल पन्त के कारण यह असमय में ही तापस वेश धारण करने के लिए विवश हो गयी थी। स्वामी जी ने कहा— समझ गया। समझ गया। इतने ही वर्ष पूर्व विट्ठल पन्त वे मुझसे संन्यास दीक्षा ली थी और चैतन्याश्रम स्वामी नाम धारण किया था।

फिर उन्होंने अपनी रामेश्वर यात्रा का विचार निरस्त करते हुए कहा— अब मैं काशी ही जाऊँगा और चैतन्याश्रम को वापस तुम्हारे पास भेजूँगा। जो व्यक्ति सन्तानहीन युवती पत्नी को छोड़कर संन्यास ग्रहण करता है, शास्त्रों की दृष्टि से वह आश्रम व धर्म की मर्यादा भंग

करने वाला पातकी है। उसे दीक्षा देने वाला गुरु भी उस दोष का भागी बनता है।

स्वामी जी के इस निश्चय की सुनकर रुक्मिणी ने भी उनके साथ काशी चलने का विचार व्यक्त किया। अपने माता-पिता की सम्मति लेकर वह उनके साथ काशी गयी। स्वामी जी ने चैतन्याश्रम को बुलाकर सारा हाल पूछा तथा उसे समझा-बुझाकर रुक्मिणी के साथ आलन्दी भेज दिया। चैतन्याश्रम फिर गृहस्थ होकर विट्ठल पन्त हो गये। इन्हीं दम्पति ने सन १२७३ में ज्ञानदेव को जन्म दिया जो संत ज्ञानेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हुए थे।

सन्त ज्ञानेश्वर का जन्म ऐसी परिस्थितियों में हुआ जब उनके माता-पिता समाज से बहिष्कृत कर दिये गये थे। स्वामी रामानन्द ने तो विट्ठल पन्त को संन्यास छोड़कर गृहस्थ धर्म का पालन करने की आज्ञा दे दी थी और इसे शास्त्रोचित भी बताया था पर महाराष्ट्र के पण्डित इसे सहन नहीं कर पा रहे थे। उस समय किसी संन्यासी का संन्यास छोड़कर गृहस्थाश्रम में लौट आना एक बहुत अद्भुत बात थी और इसे किसी भी रूप में सहन नहीं किया जाता था। समझा जाता था कि इससे संन्यासाश्रम का भी अपमान होता है और गृहस्थाश्रम पर भी कलंक लगता है। इसलिए वहाँ के ब्राह्मण पण्डितों ने मिलकर यह निर्णय लिया कि उन्हें जाति और समाज से बहिष्कृत कर दिया जाय।

विट्ठल पन्त जब बहिष्कृत कर दिये गये तो उनकी आलोचना भी खूब हुई। पर गुरु द्वारा दी गयी व्यवस्था के कारण लोकप्रवाद से वे जरा-भी विचलित नहीं हुए। उलटे उनके स्वाध्याय, आत्म चिन्तन और ईश्वर भजन में लगने वाला समय बढ़ता गया। पत्नी भी पति के पद-चिह्नों पर चलने लगी। इस प्रकार एक तरह से सारा परिवार ही भगवद्भक्त बन गया। उस समय विट्ठल पन्त की दशा अत्यन्त शोचनीय चल रही थी। न कहीं काम मिलता और न कोई शिक्षा देता था। फिर भी परम सन्तोषी वृत्ति के विट्ठल पन्त और उनकी पत्नी रुक्मिणी कई बार पेट की आग को पानी से बुझा लेते।

ज्ञानेश्वर अपने पिता की दूसरी सन्तान थे। उनसे पूर्व निवृत्ति नाथ का जन्म हो चुका था। बाद में एक भाई और बहिन जन्मे। इस प्रकार चार सन्तानों का पेट भरना बड़ा कठिन काम था। इस पर उनके भविष्य की चिन्ता अलग से। यह तो निश्चित था कि बहिष्कृत परिवार की सन्तान होने के कारण चारों भू भी समाज में प्रतिष्ठा नहीं मिलती। न मिली ही। जब ज्ञानदेव के बड़े भाई निवृत्ति नाथ सात वर्ष के हुए तो विट्ठल पन्त ने उनका उपनयन कराने का विचार किया। उन्हें पता था कि संस्कार के समय कोई ब्राह्मण नहीं आयेगा। फिर भी उन्होंने अपनी ओर से अनुनय-विनय किया। कोई नहीं आया और निराश होकर विट्ठल पन्त ने पूरे परिवार को लेकर व्यंवकेश्वर चलने का निश्चय किया।

वहाँ अप्रत्याशित रूप से प्रसिद्ध योगी गहिनीनाथ ने निवृत्ति नाथ को दीक्षा दी। इसके बाद पूरा परिवार अपने गाँव आ गया। वहाँ कुछ दिनों तक रहे। फिर विट्ठल पन्त और रुक्मिणी अपने चार बच्चों को अनाथ छोड़कर प्रयाण कर गये। सब बालक अनाथ और असहाय

होकर भिक्षावृत्ति से अपना गुजारा करने लगे। पिता की तरह शास्त्राध्ययन और सत्संग चर्चा में उनकी भी बड़ी रुचि थी। उनकी कुशाग्रबुद्धि को देखकर जहाँ पैठण के ब्राह्मण बड़े प्रभावित होते थे वहीं उनकी दुर्दशा देखकर उन्हें दया भी आती थी।

कुछ ही वर्षों में ज्ञानदेव ने शास्त्रों का अध्ययन करने के साथ समाज की स्थिति का भी खुली आँखों से अध्ययन कर लिया। इससे उनकी समझ में यह तथ्य भली-भाँति आ गया कि इन दिनों समाज में वर्ण, जाति और आश्रम के अनुसार बड़ा भेद-भाव प्रचलित था। और इस भेद-भाव के शिकार न केवल वही लोग हुए हैं बल्कि निम्न जाति के कहे जाने वाले लोग उनसे भी गयी गुजरी स्थिति में हैं। ज्ञानदेव अपने अनुभव भाइयों को भी बताते हैं और सुझाते कि इन भेद-भावों को दूर किया जाना चाहिए। यह सुधार कार्य किस प्रकार हो इसका उचित उपाय यही समझा गया कि समाज में रहते हुए सौम्य और नम्र उपायों से ही काम लिया जाय।

इधर पैठण के ब्राह्मणों ने भी अच्छी उदारता का परिचय दिया। उन्होंने निर्णय दिया कि माता-पिता के अपराधों का दण्ड उनकी सन्तानों को देना अन्यायपूर्ण है इसलिए इन चारों भाई-बहनों की शुद्धि कर समाज में ले लेना चाहिए। तदनुसार सन् १२८८ में पैठण के ब्राह्मणों ने इन चारों बालकों की शुद्धि करवा कर समाज में सम्मिलित कर लिया। शुद्धि कराकर ज्ञानेश्वर अपने भाई-बहिन सहित वेवा से आ गये और वही रहने लगे। यहीं रहकर ज्ञानेश्वर जी ने भगवद्गीता पर १२९८ में एक सुन्दर भाष्य लिखा। जो 'ज्ञानेश्वरी गीता' के नाम से मराठी साहित्य और धर्म ग्रन्थों के भाष्यसाहित्य में आज भी अपना महत्त्व रखता है।

यों ज्ञानेश्वरजी के सम्बन्ध में अनेक चमत्कारिक घटनायें प्रचलित हैं। पता नहीं वे कितनी सत्य हैं और कितनी असत्य। पर ज्ञानेश्वरी-गीता के नाम से उन्होंने जो ग्रन्थ धार्मिक जनता को दिया वह अपने आप में एक बहुत बड़ा चमत्कार है। लगभग ८००० पृष्ठों के इस वृहद् ग्रन्थ में गीता का भावार्थ मराठी के ओवी छन्दों में बड़े सुन्दर ढंग से विश्लेषित किया गया है अब से लगभग ७०० वर्ष पूर्व लिखी गई इस ज्ञानेश्वर गीता में ४६ भाषाओं के शब्द आये बताये जाते हैं। इसी से पता चलता है कि ज्ञानेश्वर जी ने अल्पायु में ही कितनी भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

जिस समय ज्ञानेश्वर जी ने गीता पर अपनी भावार्थ दीपिका टीका लिखी उस समय उनकी आयु केवल १५ वर्ष की बतायी जाती है। इतनी कम आयु में गीता जैसे गूढ़ग्रन्थ पर सुलझा हुआ भाष्य लिख देना एक चमत्कार ही कहा जायगा। ज्ञानेश्वरी पूरी करने के बाद वे तीर्थयात्रा के लिए निकल पड़े। तीर्थयात्रा का उद्देश्य था लोगों को गीता के माध्यम से अधिक आत्म-कल्याण और ईश्वर प्राप्ति का सरल सुगम मार्गदर्शन दिखाना। कहते हैं कि उनके समकालीन प्रसिद्ध सन्त नामदेव भी इस तीर्थयात्रा में साथ थे। उनके बड़े भाई निवृत्ति नाथ—जिन्हें वे अपना गुरु मानते थे, सोपानदेव और मुक्ताबाई तो साथ थे ही। संघ में कई ओर लोग हो गये थे।

जगह-जगह जाकर उन्होंने सर्व-साधारण को गीता का भावार्थ समझाया। इस ग्रन्थ की भाषा उन्होंने प्रयत्नपूर्वक इतनी सरल रखी

कि जन-साधारण को आसानी से वे तथ्य समझ में आ जायें। जहाँ-जहाँ भी वे जाते भिक्षा-वृत्ति पर निकलते समय गीता सुनने के लिए भी लोगों को निमंत्रित कर देते। पहले दिन जितने लोग उन्हें सुनने आते दूसरे दिन सोता बनकर आने वालों की संख्या उससे बढ़ी-चढ़ी ही रहती। क्योंकि ज्ञानेश्वर के वक्तव्यों की भाषा सीधी-सादी होने के साथ-साथ वे कहते समय भावविभोर भी हो उठते। इसके अतिरिक्त वे अविश्वासी और दुराग्रही प्रवृत्ति के लोगों को अध्यात्म की शक्ति सामर्थ्य बताने के लिए विलक्षण कार्य भी कर बैठते। एक-बार कहते हैं उनके प्रतिपादनों की गूढ़ता देखकर कुछ लोगों ने उन पर संदेह किया था कि ये कहीं रटी-रटाई बातें तो नहीं हैं। ज्ञानदेव पर आपेक्ष करते हुए किसी ने कहा था, 'नाम से क्या होता है? यह भैया जारहा है।' इसको भी ज्ञानदेव कह सकते हैं।

इस पर ज्ञानदेव बोले—हाँ-हाँ ठीक है। इसमें और मुझमें कोई भेद नहीं है। इसमें भी मेरी ही आत्मा है।

इतना सुनने पर उस व्यक्ति ने भैसे की पीठ पर कस कर तीन कोड़े लगाये उस समय ज्ञानेश्वर जी ने सर्वात्मभाव की सिद्धि का अद्भुत परिचय था। कहते हैं कि भैसे की पीठ पर कोड़े पड़ते ही उसके निशान ज्ञानदेव की पीठ पर उभर आये थे और उन घावों से खून-बहने लगा था। इस प्रकार के बुद्धिमत्तापूर्ण उत्तरों और चमत्कारिक दृश्यों ने उपस्थित जनता को ज्ञानेश्वर जी के पक्ष में कर दिया। अब उन्हें पण्डितों की हठधर्मिता की कोई चिन्ता नहीं रही। उससे भी अधिक उन्हें सफलता मिल चुकी थी। वह थी पण्डितों के अनुचित प्रभाव और अवाञ्छनीय धारणाओं में लगाव का तिरोधान।

कुछ लोग भले ही मान्यताओं के सम्बन्ध में दुराग्रह करते रहे, उससे हानि तो तब है जब जन-साधारण में उनका प्रभाव बना रहे। सन्त ज्ञानेश्वर इस स्थिति को बदलने में बहुत कुछ सफल हो गये थे, इसलिए उन्होंने मूढ़ पण्डितों से उलझना छोड़ दिया। इस घटना के बाद वे कुछ दिनों तक अपने भाई-बहनों सहित पौण ग्राम में ही रहे और धर्म के वास्तविक स्वरूप का लोगों में प्रचार करने लगे।

पौण में लोग उनकी विद्या-बुद्धि और धर्म-दर्शन में प्रवेश से बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने विवेक और परमार्थ को ही धर्म का सच्चा स्वरूप निरूपित किया। लोगों के प्रश्न और जिज्ञासाओं का समुचित समाधान करने में उन्होंने अद्भुत कुशलता प्राप्त कर ली। ज्ञानबुद्धि के लिए धर्मशास्त्रों का अध्ययन और मनन-चिन्तन का क्रम भी चलता रहा। फलस्वरूप उनके विद्या भण्डार में वृद्धि होने लगी।

धर्म प्रचार के लिए उन्होंने उस समय की प्रचलित पद्धति ही अपनाई। कथा-वार्ता और कीर्तन-प्रवचनों के माध्यम से उन्होंने शास्त्रीय सिद्धान्तों को नया सन्दर्भ देना आरम्भ किया। वे प्रतिपादित करते थे कि धर्म और ईश्वर विश्वास ही सब सुखों का केन्द्र तथा कष्ट-कठिनाइयों के निवारण का मार्ग है। दुःख-कष्टों के निवारण में प्रभु विश्वास सहारे का काम देता है। इस सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के अभाव में धर्म लोगों को अति भावुक और अन्ध ब्रह्मालु बना देता है। इस कारण लोग ईश्वर को अपनी कामना पूर्ति तथा अस्वाभाविक लाभों का आधार बना लेते हैं। सन्त ज्ञानेश्वर ने इस प्रकार की

मान्यताओं का खण्डन ही किया और कहा कि ईश्वर की सहायता आत्म बल की वृद्धि, धैर्य-धारण और सद्भावनाओं की प्रेरणा के रूप में ही प्राप्त की जा सकती है।

पौष से चलकर वे जब नेवा ग्राम में पहुँचे तो वहाँ के लोगों ने उनका अद्वितीय सन्त और प्रखर ज्ञान सिद्ध महात्मा के रूप में स्वागत किया। अन्ध श्रद्धा और कामना पूर्ति के लिए कई लोगों ने उनसे सहायता की याचना भी की परन्तु ज्ञानेश्वर जी ने पुरुषार्थ और प्रयत्न को ही सफलता का मार्ग बतलाया। नेवा गाँव में एक स्त्री इस कामना से उनके पास आई कि वे उसके मृत पति को जिन्दा कर दें। सन्त ज्ञानेश्वर ने उस स्त्री से पति का नाम पूछा। स्त्री को आशा बँधी कि अब उसका पति जीवित हो जायेगा और उसने नाम बता दिया। मृत व्यक्ति का नाम था— 'सच्चिदानन्द'। ज्ञानेश्वर ने तुरन्त कहा— "सच्चिदानन्द तो अमर है। वह कभी मर ही नहीं सकता।"

स्त्री यह सोचकर लौट गई कि उसका पति इतना कहने मात्र से जीवित हो गया होगा। परन्तु घर आकर उसने अपनी आशा के विपरीत पति को उसी अवस्था में पाया। वह फिर ज्ञानेश्वर के पास लौट कर आई। तब उन्होंने जन्म-मरण को प्रकृति का सहज-स्वाभाविक तथा आत्मा की अमरता के सम्बन्ध में विस्तार से समझाया। इन उपदेशों को सुनकर उस स्त्री का शोक सचमुच ही दूर हो गया। उनके वे उपदेश बाद में 'सच्चिदानन्द-विजय' नामक ग्रन्थ के रूप में पद्यमय लिपिबद्ध कर लिए गये।

सन्त ज्ञानेश्वर के सम्बन्ध में कई चमत्कारपूर्ण घटनाएँ भी लोक-श्रुतियों के रूप में मिलती हैं जिन्हें उन्हें अति मानवी स्वरूप देने के लिए कल्पना रंजित कर दिया गया है अन्यथा उन्होंने धर्म-साधना और ईश्वर-भक्ति की चमत्कारिक सिद्धियों का सदा विरोध ही किया। भगवान् की दी हुई विशेषताओं और योग-साधना के फलस्वरूप अर्जित की गई सिद्धियों और चमत्कारों का उपयोग अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए प्रदर्शन के रूप में करना उनकी दृष्टि में आत्म-कल्याण में बाधक ही था।

चांगदेव नामक एक सिद्ध सन्त उन दिनों ताप्ती नदी के किनारे आश्रम बनाकर रहते थे। वे कई विद्याओं के ज्ञाता तथा परक़या प्रवेश, अणिमा, महिमा आदि सिद्धियों के स्वामी थे। ताप्ती के तटवर्ती इलाकों में उनकी बड़ी ख्याति थी। सन्त ज्ञानेश्वर ने इन तटवर्ती क्षेत्रों में प्रवेश किया तो स्वाभाविक ही उनकी कীরति फैली। चांगदेव को उनकी प्रसिद्धि से बड़ी ईर्ष्या हुई। अपना प्रतिस्पर्धी जानकर उन्हें अपमानित करने के लिए चांगदेव ने एक शिष्य को कोरा कागज देकर उनके पास भेजा। ज्ञानेश्वर ने उस कागज को उपस्थित कई लोगों के सामने खोला और चांगदेव के भावों को समझकर उसके जवाब में एक कविता लिखी। जिसमें अद्वितीय ब्रह्मज्ञान और चांगदेव के प्रति सम्मानप्रद भावनाएँ व्यक्त की गई थीं।

अपने व्यवहार के प्रत्युत्तर में इतना सद्व्यवहार करते देखकर चांगदेव का हृदय पिघल गया और वे अपने चौदह सौ शिष्यों के साथ सन्त ज्ञानेश्वर के पास आये। सन्त जी उनके आगमन का समाचार सुनकर उनका स्वागत करने के लिए कई मील दूर तक स्वयं चल कर आये।

चांगदेव और भी प्रभावित हुए और बाद में तो उनके शिष्य ही बन गये। सन्त ज्ञानेश्वर ने अपने इस नये शिष्य को चमत्कारों का प्रदर्शन छोड़कर आत्म-कल्याण की साधना में प्रवृत्त होने का उपदेश दिया।

सन्त ज्ञानेश्वर ने अपने सदाशयतापूर्ण व्यवहार और आत्मीयता के प्रभाव से कई लोगों को सही मार्ग पर लगाया। वास्तव में मनुष्य जितना कहता है उससे कहीं अधिक सुना और समझा जाता है क्योंकि उसकी वाणी में उसके हृदय में बसने वाली भावना तथा सम्पर्क में आने वालों के प्रति व्यवहार और सद्गुण ही बल तथा प्रभाव उत्पन्न करते हैं। सन्त ज्ञानेश्वर ने अपने को और मस्तिष्क को ही नहीं व्यवहार और हृदय को भी साधा था। इसी कारण लोग उनके उपदेशों से अधिक उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होते थे।

धर्म प्रचार के लिए वे अपने शिष्यों सहित देश भर की यात्रा पर भी निकले थे। वे घूम-घूम कर ही लोगों को धर्म का उपदेश देते थे। दिल्ली पर उन दिनों कट्टर-पन्थी 'सुल्तान जलालुद्दीन खिलजी' का राज्य था, जो हिन्दू धर्म का कट्टर विरोधी था। उसके शासन में उपासना, पूजा-पाठ, यज्ञ, कीर्तन-भजन आदि सर्वथा निषिद्ध था। सन्त ज्ञानेश्वर को यह सब पता था। फिर भी उन्होंने दिल्ली की सीमा में प्रवेश करते हुए भी अपना यह क्रम चालू रखा। भजन-कीर्तन करते हुए वे राजधानी की सड़कों पर घूमने लगे। मौलवियों ने पहले तो मना किया परन्तु जब वे नहीं माने तो उनकी शिकायत सुल्तान से कर दी। सुल्तान ने उन्हें पकड़वाकर बुला लिया। ज्ञानेश्वर जी की तेजस्वी वाणी, अगाध ज्ञान और आदर्श व्यक्तित्व से प्रभावित होकर जलालुद्दीन खिलजी ने हिन्दू धर्म पर लगे सभी प्रतिबन्ध हटा लिए और सब लोगों को अपने धर्म और उपासना की खुली छूट दे दी।

इसी प्रकार सतपुड़ा के एक लुटेरे भील का हृदय परिवर्तन भी उनकी यात्रा के दौरान हुआ था और वह डाकू सन्त ज्ञानेश्वर का निष्ठावान शिष्य बन गया था। सन्त ज्ञानेश्वर ने घूम-घूमकर धर्म का सही मर्म सर्वसाधारण को समझाया तथा उसे स्वयं भी अपने जीवन में उतारा।

उनकी मान्यता थी कि पूजा-पाठ तब तक अधूरा ही है, जब तक हृदय में सेवा और सद्भावनाएँ नहीं जागें। स्वयं गिरी हुई अभावग्रस्त स्थिति से ऊँचे उठे थे। बिना किसी का सहारा लिए स्वयं के प्रयासों से फिर भी गिरे हुए लोगों के प्रति उनके हृदय में पर्याप्त सहानुभूति और उन्हें ऊँचा उठाने के लिए सहयोग देने की भावना थी। इसके लिए उन्होंने स्वयं भी प्रयत्न किया। चारित्रिक और आत्मिक दृष्टि से गिरे हुए लोगों को ऊँचा उठाया और दीन-दुःखियों के प्रति सेवा-सहयोग की हवा बनाई। श्रद्धाभिव्यक्ति के लिए कई धनवान और सम्पन्न व्यक्ति उन्हें धन-सम्पदा भेंट करने आते रहते थे। अर्पित पैसों की ओर से आँख मूँद कर उसे दीन-दुःखियों की सहायता में लगाने के लिए वे ज्यों का त्यों वापस कर देते।

प्रवचन और उपदेशों द्वारा ही नहीं, लेखनी और क्रियाओं द्वारा भी उन्होंने मानव मूल्यों के प्रतिपादक धर्म का प्रचार किया। भविष्य

में भी लोग इन सिद्धान्तों को भूल न जायें, इसका समुचित प्रबन्ध किया। इसी उद्देश्य से उन्होंने साहित्य भी लिखा। उनकी रचित ज्ञानेश्वरी गीता, अमृतानुभव योग वाशिष्ठ-टीका आदि पुस्तकें आज भी आध्यात्मिक साहित्य की अमूल्य सम्पदा मानी जाती हैं। ये सब कृतियाँ उन्होंने अपनी यात्राओं और प्रवासों के समय ही लिखीं।

आषाढ़ और कार्तिक कृष्ण पक्ष की एकदशी को पंढरपुर में प्राचीनकाल से भारी मेला लगता है। इस अवसर पर देश-देशान्तर से हजारों की संख्या में लोग आते हैं। उन्हें धर्म के सच्चे स्वरूप से परिचित कराने का सहज-सुलभ अवसर जानकर सन्त ज्ञानेश्वर भी इस मेले में गये। स्थान-स्थान से आये दूर-दूर के लोगों ने उनके सान्निध्य का लाभ उठाया। इस मेले में कुछ विरोधियों ने उनसे पूछा कि—“आप महान् सन्त और ज्ञानी हैं तो घर बैठकर ही क्यों नहीं पुजते? इधर-उधर भटकते रहने की क्या जरूरत है?”

ज्ञानेश्वर जी ने कहा—“जगह-जगह घूमकर लोगों को ज्ञान और सन्मार्ग दिखाना तो मेरा धर्म है। कुँआ प्यासे के पास नहीं जाता, इसलिए वह छोटा ही रह जाता है। सुखे तथा जरूरत के क्षेत्रों में नदी बहती है तो वह अणु से विभु, क्षुद्र से महान् और छोटी जलधारा से सागर बन जाती है। यह समझकर ही मैं भी अपना जीवन लक्ष्य प्राप्त करने के लिए यत्र-तत्र भटकता रहता हूँ।” कितना सटीक उत्तर था उनका। सन्त महापुरुषों की लोक-हित साधना भी उनके आत्म-कल्याण में सहायक बन जाती है।

कहा जाता है कि ज्ञानेश्वर जी ने एक बार गधे के मुँह से भी वेद ऋचाओं का पाठ करवाया था। तीर्थ यात्रा द्वारा गाँव-गाँव में भक्तिमार्ग का प्रचार कर ज्ञानेश्वर जी वापस पंढरपुर लौटे। उन्होंने आत्म-कल्याण के लिए जिस मार्ग का उपदेश दिया उसमें ज्ञानकर्म और भक्ति का अद्वितीय समन्वय है। अपने-अपने मत की पुष्टि के लिए अधिकांश आचार्यों ने किसी एक पर ही अधिक जोर दिया है। जैसे शंकराचार्य ने ज्ञान को ही सर्वाधिक प्रधानता दी है तथा कर्म और भक्ति को गौण बताया है लेकिन ज्ञानेश्वर ने ज्ञान, भक्ति और योग तीनों विषयों का समुचित विश्लेषण करते हुए साधक से अपनी रूचि के अनुकूल मार्ग अपनाने की प्रेरणा दी है।

ज्ञानेश्वर जी ने अपनी ज्ञानधारा प्रयाग से लेकर वृन्दावन, पंजाब, मारवाड़, काशी, गिरनार आदि स्थानों पर बहाई और मार्ग में पड़ने वाले ग्रामों तथा स्थानों को उस ज्ञान गंगा में स्नान कराते गये। तीर्थ यात्रा पूरी कर लेने के बाद पंढरपुर में ही उन्होंने सन् १२९६ में समाधि ले ली। ज्ञानेश्वरी गीता के अतिरिक्त योगवाशिष्ठ पर भी उन्होंने अमृतानुभव नाम की एक टीका लिखी है। उनके उपदेशों से समाज में पिछड़े और निम्नकुल के लोगों में आत्मविश्वास का भाव जागा। बड़े-बड़े शास्त्रियों और धर्मगुरुओं ने उन्हें जब सर्व धर्म के लाभ से ही वंचित कर रखा था तब ज्ञानेश्वर जी ने उनके लिए ईश्वरीय राज्य का द्वार खोला और धार्मिक क्षेत्र में समानता का आदर्श स्थापित किया।

लोक-सेवी महात्मा— स्वामी विवेकानन्द

देश-विदेशों में श्री रामकृष्ण मिशन नाम से जो संस्था अपनी शाखाओं द्वारा लोक-सेवा के महान् कार्य कर रही है, उसके संस्थापक स्वामी विवेकानन्द का घरेलू नाम नरेन्द्रनाथ था। उनका जन्म श्री विश्वनाथ दत्त के आत्मज के रूप में १२ फरवरी, १८६३ को कलकत्ता में हुआ था।

प्रारम्भिक शिक्षा घर पर पूरी करने के बाद उन्हें कलकत्ता के मैट्रोपोलिटन इन्स्टीट्यूट में प्रवेश कराया गया। स्वामी विवेकानन्द को प्रारम्भ से ज्ञान प्राप्त करने की बड़ी लगन थी। वे मन लगाकर पढ़ते थे और तब तक किसी प्रसंग को न छोड़ते थे जब तक उसे पूरी तरह समझ कर हृदयंगम न कर लेते थे। अनेक बार उनके अध्यापकों ने उनसे कहा—नरेन्द्र! तुम हर बात पर तर्क बहुत किया करते हो। जो बात बताई जाये उसे सुन कर मान लिया करो।

बाल विवेकानन्द ने निवेदन किया कि आप की आज्ञा शिरोधार्य है। विभिन्न प्रकार से बात जानने के लिये तर्क करने में मेरा मन्तव्य यही रहता है कि बात मेरी समझ में पूरी तरह आ जाये। ऐसी किसी बात पर तर्क नहीं करता जो सामान्यतः मेरी समझ में आ जाती है। आगे से जिज्ञासा होने पर तर्क न करूँगा। गुरु की आज्ञा मान लेने में सब प्रकार से हित ही है। अध्यापक विवेकानन्द के कथन से सन्तुष्ट हो गये और कह दिया कि नरेन्द्र! जब तक तुम्हारी जिज्ञासा सन्तुष्ट तथा शंका समाधान न हो जाये तब तक किसी भी बात को तर्कों के साथ पूछ और समझ सकते हो। विवेकानन्द का सतर्कतापूर्ण अध्ययन चलता रहा और उनकी सच्ची जिज्ञासा ज्ञान के रूप में परिणित होकर उन्हें आयु एवं अध्ययन के अनुपात से आलोकित करती रही।

बाल विवेकानन्द जिस समय कलकत्ता में मैट्रिक परीक्षा की तैयारी कर रहे थे बहुत बीमार हो गये। बीमारी की दशा में भी वे अपने अध्ययन में पूर्ववत् ही लगे रहे जिससे उनका स्वास्थ्य निराशाजनक स्थिति में पहुँच गया। स्वास्थ्य के विषय में चिन्ता प्रकट करते हुए एक दिन उनके कक्षा अध्यापक ने कहा—नरेन्द्र! तुम्हारा स्वास्थ्य बहुत गिर गया है, जिसे उन्नत करने के लिये आवश्यक है कि तुम कुछ समय के लिये अध्ययन से अवकाश लेकर विश्राम करो।

अध्यापक की बात सुनकर विवेकानन्द ने दुःखी होकर कहा—‘गुरुदेव! यदि अध्ययन से अवकाश लेकर बैठ रहूँगा तो मैं उस ज्ञान को कैसे प्राप्त कर सकूँगा जिसे पाने के लिये लालायित हूँ। ज्ञान रहित अन्धेरा जीवन मृत्यु से बुरा होता है ऐसा मैंने अनेक पुस्तकों में पढ़ा है। अध्यापक ने नरेन्द्र को समझाते हुए कहा—यह बात ठीक है कि अज्ञान का अन्धकार मृत्यु के अन्धकार से भयानक होता है। फिर भी संसार की सारी उपलब्धियाँ शरीर के साथ ही हैं। जब आरोग्य के अभाव में शरीर ही अक्षम हो जायेगा तब न तो तुम

ज्ञान प्राप्त कर सकोगे और न उसका कोई उपयोग ही कर सकोगे । ज्ञान पाकर उसका उपयोग लोक-मंगल के लिये न कर सकना भी ज्ञान न पाने के समान है । इस अस्वस्थ अवस्था में ज्ञान का एक बिन्दु पाने में जीवन के अनेक बिन्दु नष्ट हो जायेंगे । फिर अस्वस्थ अवस्था में हठपूर्वक पाया हुआ ज्ञान उतना निर्विकार एवं प्रसादपूर्ण नहीं होता, जितना कि उसको स्वभावतः होना चाहिये ।

घर आकर विवेकानन्द ने अपने अध्यापक का परामर्श माता को बताया । आँखों में आँसू और मुख पर निराशा की छाया लिये विवेकानन्द से माता ने कहा—इसमें निराश होने की क्या आवश्यकता, अभी तेरी आयु ही क्या है ? थोड़े दिन विग्राम करके स्वास्थ्य सँभाल ले । अनन्तर पुनः अध्ययन करने लगना । गुरुजनों की बात मान कर नरेन्द्र ने विद्यालय छोड़ दिया । किन्तु वह चौदह वर्षीय किशोर विवेकानन्द इस व्यवधान से प्रसन्न न हो सका जिससे विग्राम की अवस्था में भी स्वास्थ्य का कोई लाभ न हुआ । निदान माता ने उसके पिता को स्थिति से अवगत कराया ।

विवेकानन्द के पिता उस समय मध्य प्रदेश में काम कर रहे थे । उन्होंने नरेन्द्र को अपने पास बुला लिया । सावधानीपूर्वक जब श्री विश्वनाथ दत्त ने नरेन्द्र को स्वास्थ्य लाभ की ओर बढ़ा दिया तब उसे स्वयं थोड़ा-थोड़ा पढ़ाने लगे । उन्हें पता था कि अनाध्यास से प्राप्त विद्या भी चली जाती है ।

दो वर्ष तक अपने पास रखकर स्वास्थ्य एवं शिक्षा वृद्धि कर श्री विश्वनाथ दत्त ने नरेन्द्र को पुनः 'मैट्रोपोलिटन इन्स्टीट्यूट' कलकत्ता में पढ़ाने के लिए भेज दिया । इस स्वास्थ्य सम्बन्धी व्यवधान से नरेन्द्र मैट्रिक की परीक्षा में दो साल पिछड़ गये । इसका उन्हें बहुत खेद था । किन्तु जो समय निकल जाता है वह किसी प्रकार वापस नहीं लाया जा सकता । उसकी क्षतिपूर्ति केवल इस उपाय से हो सकती है कि सामान्य अनुपात से कुछ अधिक समय काम किया जाय । स्वास्थ्य के प्रत्येक नियम का सावधानीपूर्वक पालन किया जाये जिससे कि समय की क्षतिपूर्ति में अस्वास्थ्य बाधा रूप न बन सके ।

इस समय तक नरेन्द्र की आयु सोलह वर्ष की हो गई थी । वह पहले से अधिक सावधान, संयमित एवं संतुलित रह कर इस संकल्प के साथ अध्ययन में लग गया कि उसे हर पश्चिम के मूल्य पर मैट्रिक उत्तमोत्तम श्रेणी में पास करना है । पुरुषार्थी नरेन्द्र का संकल्प पूरा हुआ और वह स्कूल में सर्वप्रथम उत्तीर्ण हुआ ।

मैट्रिक पास कर नरेन्द्र ने जिस समय कॉलेज में प्रवेश लिया उस समय उसके हृदय ने पुलकित होकर कहा अब मैं उस क्षितिज के निकट आ गया हूँ जहाँ से ज्ञान के गहन स्तरों का उद्घाटन होता है । यदि मैं अपने पश्चिम के बल पर ईश्वरीय कृपा के समान ज्ञान की प्राप्ति कर सकूँ तो संसार का अंधकार दूर करने में जीवन का एक-एक क्षण लगा दूँगा । इस शिव संकल्प की अनुभूति ने नरेन्द्रनाथ के हृदय में एक ऐसे उत्तरदायित्व का जागरण कर दिया जिससे उनका मानसिक स्तर सामान्य से उठ कर असामान्य स्थिति की ओर बढ़ गया । उनकी आत्मा में महानता का रोमांच होने और मन में कल्याण की कामनायें कल्लोल करने लगीं । उन्होंने आनन्द में आँख मूँद कर

परमात्मा को धन्यवाद दिया और मन ही मन अपने आप से कहा—नरेन्द्र ! लोक-सेवा की मंगल कामना में इतना सुख है तब न जाने उसका प्रतिपादन करने में कितना सुख और संतोष होगा ! कर्तव्य ध्वनित हो चुका है उसका पालन करना और फलस्वरूप मानव जीवन की धन्यता प्राप्त करना अब तेरे हाथ में है । नवयुवक नरेन्द्रनाथ के इस मानसिक परिवर्तन को किसने देखा ? उसकी उस आत्मा ने जो लोक-कल्याण की भावना से तड़प उठी और उस भविष्य ने जो उनको स्वामी विवेकानन्द के रूप में पूजने की प्रतीक्षा कर रहा था । विश्वकल्याण के शिव संकल्प के साथ जीवन में जाग उठने वालों को ऐसे कौन श्रेय हैं जो पूर्ण रूप से न मिल जाते हों ।

लोक-कल्याण के लिये नरेन्द्र नाथ ने जिस ज्ञान की आवश्यकता समझी उसे प्राप्त करने के लिये उन्होंने पाश्चात्य दर्शनों के साथ भारतीय दर्शन का अध्ययन किया । अनेक वर्षों तक दर्शनशास्त्रों में निमग्न रहने के बाद जब उन्होंने भली प्रकार जान लिया कि अंग्रेजों ने जिस भारतीय तत्त्वज्ञान को दिमागी उड़ान कह संसार में हेय स्थान दिलाने का प्रयत्न किया है, भारत का वह तत्त्वज्ञान संसार में सबसे अधिक सत्य है, शाश्वत एवं श्रेष्ठ है । तब उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे संसार को भारतीय तत्त्वज्ञान से अवगत करायेंगे और अंग्रेजों की इस दुरभिसन्धि को निर्मूल कर देंगे जो कि वे भारतीयों को जड़, अन्ध-विश्वासी तथा अविवेकी कह कर स्वराज्य के अयोग्य बतलाते हुए विश्व-मत को भारत के पक्ष में होने से रोकते हैं ।

इसके पूर्व कि वे संसार में भारत का आलोकित पक्ष प्रस्तुत करने के लिये आध्यात्मिक अभियान प्रारम्भ करते उन्होंने किसी सुयोग्य गुरु की छाया में योगाभ्यास द्वारा अपनी आत्मा तथा ज्ञान को प्रामाणिक बना लेना चाहा । निदान उन्होंने स्वामी रामकृष्ण परमहंस की शरण ली और उनकी कृपा से तेज-पूर्ण तपस्या के साथ ज्ञान-सागर को अपनी आत्मा में भर लिया ।

अभी तक जो नरेन्द्रनाथ अपने गुरु के सम्मुख आध्यात्मिक विद्यार्थी थे गुरुदेव के विसर्जित होने के साथ ही संन्यास धारण कर धर्म सेनानी बन कर स्वामी विवेकानन्द के रूप में बदल गये । गुरु के प्रति स्वामी विवेकानन्द की अनन्य श्रद्धा ने उन्हें स्वामी रामकृष्ण परमहंस का तरुण संस्करण बना दिया । जिन्हें देखकर न जाने कितने तरुण देश-धर्म की सेवा करने के लिए तपस्वी बन गये ।

तभी अमेरिका के शिकागो शहर में संसार का सर्वधर्म सम्मेलन हुआ जिसमें स्वामी जी ने भारतीय धर्म का प्रतिनिधित्व किया और अपने ज्ञानपूर्ण ओजस्वी भाषण द्वारा न केवल अमेरिका बल्कि इंग्लैण्ड को आश्चर्यचकित बनाकर भारतीय तत्त्व ज्ञान की यथार्थता का समर्थक बना दिया । अनेक मास अमेरिका तथा इंग्लैण्ड में सम्मान एवं साधुवाद पाकर जब स्वामी विवेकानन्द भारत लौटे तब उनके साथ अनेक ऐसे शिष्य थे जो इससे पूर्व भारतीय धर्म को असम्पूर्ण का विश्वास सिद्ध करने में ही जीवन की क्षमतायें लगा रहे थे ।

धार्मिक विजय कर देश में लौटने पर स्वामी विवेकानन्द की शिष्य बनने की परम्परा लग गई जिनमें अधिकतर सुशिक्षित एवं सम्पन्न परिवार के तरुण ही थे जो कि आध्यात्मिक लाभ के लिये संसार के

भोगों को छोड़कर उन महात्मा की शरण में आये थे। शिष्यों का अनुरोध था कि स्वामी विवेकानन्द आश्रम बना कर रहें और उन सब को योग साधना की शिक्षा देकर मुक्ति मार्ग की ओर बढ़ावें। किन्तु वे लोग सेवा का संकल्प छोड़कर मठाधीशों की तरह रहने को तैयार न हुए।

स्थानीय पूजा की मोहमयी मान्यता को ठोकर मारकर स्वामी विवेकानन्द ने दीन-दुःखियों, अनाथों तथा विधवाओं की सेवा करने के लिए अनेक मठ स्थापित किये, जिनमें वे आश्रयहीनों को आश्रय और शिष्यों को लोक-सेवा का शिक्षण एवं प्रशिक्षण करते थे। ज्ञानगरिमा की साकार प्रतिमा स्वामी विवेकानन्द ने एकान्त-साधना द्वारा प्राप्त होने वाले आत्मानन्द को अंगीकार न कर सिद्ध कर दिया कि सच्चे योगी और वास्तविक परमार्थी लोक-कल्याण तुलना में परम पद का कोई मूल्य नहीं मानते।

सन् १८८८ में रामकृष्ण मठ का कार्य अन्य गुरु भाइयों के सुपुर्द करके अपने उस महान् जीवन कार्य को सिद्ध करने के लिये निकल पड़े। उनका पहला कार्यक्रम यह था कि एक बार समस्त देश का भ्रमण करके जनता की दशा और प्रवृत्तियों का अध्ययन किया जाय, जिससे उसके उद्धार और प्रगति का ठीक-ठीक मार्ग निश्चय किया जा सके। उन्होंने यह प्रवास ब्रजभूमि से आरम्भ किया और राजस्थान, गुजरात, बम्बई, प्रान्त, मैसूर, मद्रास में कभी पैदल, कभी रेल द्वारा यात्रा करते हुये ठेठ कन्याकुमारी तक जा पहुँचे। इस यात्रा में उनको लगभग चार वर्ष लगे और अनेक राजा, महाराजाओं तथा जन-साधारण से उनका परिचय हुआ और सब प्रकार के भेद-भावों को त्याग कर साम्यभाव करने का अवसर मिला। संन्यास का सिद्धान्त है कि ब्राह्मण से लेकर चांडाल तक को समदृष्टि से देखा जाय और वैसा ही व्यवहार किया जाय। स्वामी जी ने संन्यास ग्रहण किया था पर अभी उसे व्यवहार में लाने का अवसर यहीं मिला था। वृन्दावन को जाते हुये मार्ग में उन्होंने एक व्यक्ति को हुक्क पिते देखा तो उनके मन में भी चिलम पीने की इच्छा हो आई। पर जब उस व्यक्ति से चिलम माँगी तो उसने यह कह कर देने से इंकार कर दिया कि मैं तो जाति का मेहतर हूँ। यह सुनकर इनको भी संकोच हुआ और आगे चल दिये। पर कुछ ही क्षण बाद उनको ध्यान आया कि क्या यही मेरा संन्यास है कि मैं अब भी मेहतर को नीच मान रहा हूँ। वे फिर वापस लौट आये और उस मेहतर से आग्रहपूर्वक चिलम माँग कर पी।

इसी प्रकार जब वे खेतड़ी में भ्रमण कर रहे थे तो एक गाँव में उनको तीन दिन तक अन्न-पानी नहीं मिला, यह देखकर एक वृद्ध चमार को बड़ा तरस आया और वह रात में चुपचाप उनके पास पहुँचा और खाने के सम्बन्ध में पूछने लगा। स्वामी जी ने उससे रोटी लाने को कहा पर उसने उत्तर दिया कि मैं चमार हूँ। अगर आपको रोटी खिलाऊँगा तो मालूम होने पर मुझे गाँव से निकाल दिया जायेगा। पर स्वामी जी के आश्वासन देने पर वह रोटी ले आया। कुछ समय पश्चात् जब स्वामी जी खेतड़ी के राजा के अतिथि बने तो उन्होंने इस घटना का जिक्र महाराज से किया। राजा ने चमार को बुलाया जिससे पहले तो वह बहुत डरा और रोकर क्षमा-प्रार्थना करने लगा।

पर राजा ने उसे धैर्य देकर अच्छा इनाम दिया और जन्म भर के गुजारे की व्यवस्था कर दी।

स्वामी विवेकानन्द को सौराष्ट्र में भ्रमण करते समय किसी ने बताया कि सन् १८९३ में अमेरिका के शिकागो नगर में एक धर्म संसद का आयोजन किया जाने वाला है। उनके मन में विचार आया कि यदि पराधीन भारत विदेशी धर्म मंच से अध्यात्म का प्रकाश विभिन्न देशों को दे सके तो बड़े ही गौरव की बात होगी। एक दिन कन्याकुमारी के दर्शन कर वे समुद्र की लहरों में तैरने का आनन्द ले रहे थे कि पास में ही एक शिलाखण्ड दिखाई दिया। उस पर बैठ कर वे ध्यान-मग्न हो गये। साधना के बाद उठे तो उनमें शिकागो जाने का दृढ़ संकल्प था।

मद्रास में जाकर उन्होंने लोगों से अपने संकल्प की विधिवत् घोषणा कर दी और वह दिन निकट ही आ गया जिस दिन जलपोत में सवार हो शिकागो की ऐतिहासिक यात्रा करनी थी। ३१ मई, १८९३ को उनके जलपोत ने भारत से विदा ली। वह वेनकूवर पहुँचे यहाँ से रेलगाड़ी द्वारा शिकागो तक की यात्रा पूर्ण की। शिकागो पहुँच कर स्वामी जी को जो जानकारी मिली वह बड़ी निराशाजनक थी। धर्म संसद का आयोजन तो सितम्बर माह में होना था पर वक्ताओं के नाम रजिस्टर्ड हो चुके थे और किसी मान्यता प्राप्त संस्था के प्रतिनिधियों को ही उस संसद में सम्मिलित होने का अधिकार था।

स्वामी जी तो किसी मान्य संस्था के प्रतिनिधि बन कर आये नहीं थे, फिर आयोजन में तो अभी दो माह शेष रह गये थे उनके पास इतना धन कहाँ था जो दो माह का समय किसी प्रकार बिता सकें। इस प्रकार की कठिनाइयों के मध्य वह तनिक भी विचलित नहीं हुए। वह तो किसी और ही धातु के बने थे। स्वभाव से ही आशावादी तथा साहसी थे। बोस्टन अमेरिका का कम खर्चीला स्थान था अतः वह वहीं चले गये। उन्होंने सोचा कि जब तक अपने पास थोड़े-बहुत पैसे हैं तब तक वहाँ गुजारा किया जायगा। इसके बाद कुछ और व्यवस्था सोच ली जायेगी।

स्वामी जी का देदीप्यमान चेहरा और मधुर वाणी सभी को अपनी ओर आकर्षित कर लेती थी। उनका व्यक्तित्व ही चुम्बकीय था। वह रेल यात्रा कर रहे थे कि धनी परिवार की एक महिला उनके स्वभाव को देखकर मन्त्र-मुग्ध-सी हो गई। उस महिला का कृषि फार्म मेटकाफ नामक स्थान में था जहाँ स्वामी जी को आतिथ्य स्वीकार कर जाना पड़ा।

अब तक स्वामी जी का नाम रजिस्टर्ड न हुआ था। हार्वर्ड विश्वविद्यालय में ग्रीक साहित्य के प्राध्यापक प्रोफेसर जान हेनरी राइट जब स्वामी जी से प्रथम बार मिले तो वे बड़े प्रभावित हुए। उन्हें ऐसा लगा कि वे ऐसे उद्भट विद्वान् तथा विचारक से अपने जीवन में प्रथम बार ही भेंट कर रहे हैं। उन्होंने अपनी ओर से ही स्वामी जी से निवेदन किया कि वे संसद में हिन्दू धर्म का प्रतिनिधित्व करें। प्रतिनिधि-चयन-समिति के अध्यक्ष उनके मित्र थे अतः उन्होंने अध्यक्ष महोदय को स्वामी जी का परिचय कराते हुए कहा कि मेरे विश्व-विद्यालय के समस्त प्राध्यापकों की विद्वत्ता से भी अधिक विद्वत्ता

स्वामी जी में है। अन्त में स्वामी जी को विदा करते समय प्रो. जान ने शिकागो तक का एक टिकट भी खरीद कर दिया।

स्वामी जी कठिनाइयों से जूझने वाले थे, घबराने वाले नहीं। पास में एक भी पैसा न रहा तो रात भर भूखे पड़े रहे। सर्दी के दिन, जोर का हिमपात, बचाव के लिए कुछ भी नहीं मिला तो सड़क के किनारे पर पड़े दूटे सन्दूक में बैठकर ही सर्दी बचा ली। सुबह उठ कर द्वार-द्वार भिक्षा माँगी तो बदले में मिला एक भारतीय सन्त को अपमान और अपशब्द क्योंकि स्वामी जी पराधीन देश के निवासी थे। सहायता देना तो दूर रहा कितने ही व्यक्ति तो उनसे बात करना तक पसन्द नहीं करते थे।

सोमवार ११ सितम्बर, १८९३ शिकागो कला संस्थान का कोलम्बस हाल और समय ठीक दस बजे का। आश्चर्य भी इस बात का कि एक धर्म मंच पर विश्व के दस धर्मों के प्रतिनिधि एकत्रित थे। विश्व के इतिहास में यह एक अभूतपूर्व घटना थी। मंच के मध्य में रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के आचार्य कार्डिनल गिवन्स बैठे थे। उनके बाईं ओर रोमन कैथोलिक, प्रोटेस्टेण्ट, प्रेस्बिटेरियन आदि ईसाई धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के पादरीगण काली पोशाक में तथा दायीं ओर पूर्वी देशों के प्रतिनिधि विभिन्न प्रकार की रंग-बिरंगी पोशाकों में विराजमान थे। लंका से श्री धर्मपाल बौद्ध भिक्षु तथा जैन धर्म की ओर से गाँधी जी के एक सम्बन्धी पहुँचे थे। ब्रह्म समाज का प्रतिनिधित्व करने वाले थे बंगाल के प्रतापचन्द्र मजुमदार तथा बम्बई के नागरकर। श्रीमती ऐनी बेसेन्ट और श्री चक्रवर्ती ने थियासोफ्री सोसाइटी का प्रतिनिधित्व किया। पर इन सबके मध्य सर्वाधिक आकर्षित करने वाले थे स्वामी विवेकानन्द।

जो 'सिस्टर्स एण्ड ब्रदर्स ऑफ अमेरिका' ही बोल पाये थे कि सारा हाल करतल ध्वनियों से गुँज उठा। सारे श्रोता उनके सम्मान में खड़े हो गये। वैसे अब तक कितने ही विद्वानों के भाषण सुने जा चुके थे पर जो आत्मीयता और मधुरता स्वामी जी के प्रथम शब्दों में थी वह अन्य किसी के भाषण में सुनने को न मिली थी। स्वामी जी स्वयं आश्चर्य में पड़ गये कि अभी तक मैं कुछ कह भी नहीं पाया हूँ फिर भी यह जन-समूह में हर्ष ध्वनि क्यों? स्वामी जी का यह प्रथम भाषण बहुत ही संक्षिप्त था। आमतौर से बोलने के पूर्व लोगों की यह धारणा थी कि पराधीन देश का कोई पिछड़ा व्यक्ति अपनी बात शिक्षित समाज के सम्मुख क्या रख सकेगा? पर छोटे-से भाषण ने भी लोगों को अपनी धारणा बदलने के लिए विवश होना पड़ा।

स्वामी जी ने कहा जिस प्रकार विभिन्न स्रोतों से निकलने वाली और विभिन्न मार्गों से प्रवाहित होने वाली सभी सरिताएँ समुद्र में ही जाकर मिलती हैं उसी प्रकार अपनी रुचि की विभिन्नता के कारण टेढ़े अथवा सीधे मार्ग पर चलकर हम सब पहुँचते एक ही परमतत्त्व के पास हैं। इसके बाद तो स्वामी जी के भाषण को सुनने के लिये सैकड़ों मील से व्यक्ति आने लगे और स्वामी जी के नम्बर की प्रतीक्षा बड़ी आतुरता से करते थे। संसद के व्यवस्थापक भी कम चालाक

न थे उन्होंने स्वामी जी के प्रति सामान्य जनता का जब यह झुकाव देखा तो उनका कार्यक्रम सबसे अन्त में रखा जाने लगा जिससे अन्त तक सारा प्रवचन हाल भरा रहता था। जहाँ अन्य वक्ताओं को आधे घण्टे बोलने का समय निर्धारित किया गया था वहाँ स्वामी जी पर से समय का यह प्रतिबन्ध हटा लिया गया।

उन दिनों स्वामी जी के शिकागो कार्यक्रमों के समाचार भी दैनिक पत्रों में प्रकाशित होते थे। न्यूयार्क हेरल्ड के सम्पादकीय लेख में तो यह लिखा था कि स्वामी जी का व्यक्तित्व धर्म संसद के समस्त वक्ताओं में अद्वितीय है। ऐसे विद्वान् का भाषण सुनकर हम अनुमान लगा सकते हैं कि भारत अध्यात्म और विद्वता की दृष्टि से कितना बढ़ा-चढ़ा देश होगा, फिर ऐसे देश में ईसाई मिशनरियों को धर्म प्रचार के लिये भेजना कितनी बड़ी मूर्खता है।

भारत से दूर दो वर्षों तक स्वामी जी इस नई दुनिया का भ्रमण करते रहे और सैकड़ों स्थानों पर धर्म-जिज्ञासुओं को अध्यात्म का सन्देश सुनाते रहे पर उनके भाषणों में पिष्टपेषण नाम की कोई चीज न थी। प्रत्येक भाषण नये विचारों से ओत-प्रोत रहता था। सन् १८९७ में वे भारत लौटे। यहाँ ५ वर्ष तक देश के कोने-कोने में जाकर सन्देश देते रहे कि देशवासियों उठो, जागो और जब तक उद्देश्य की पूर्ति न हो जाय तब तक रुको मत।

स्वामी विवेकानन्द के प्रेरणावादी कथा प्रसंग

स्पष्टवादी

किशोरवस्था में ही विवेकानन्द एक ऐसे गुरु की खोज में थे जिन्होंने स्वयं ईश्वर को देखा हो और उन्हें भी दिखा सके। वह जिस साधु-सन्त को देखते उसी से प्रश्न करते— “क्या आपने भगवान् को देखा है?”

एकबार उन्हें रामकृष्ण परमहंस के दर्शन हुए। उनके व्यक्तित्व और प्रवचनों से विवेकानन्द जी बहुत प्रभावित हुये। स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने दक्षिणेश्वर के काली मन्दिर में उन्हें मिलने के लिये बुलाया।

विवेकानन्द उनसे मिलने गये तो देखा कि एक से एक बड़े आदमी उनकी सेवा में तत्पर हैं और वे उन्हें ईश्वर सम्बन्धी उपदेश कर रहे हैं। बालक विवेकानन्द उस प्रभावपूर्ण वातावरण में जरा-भी नहीं झिझके और श्री रामकृष्ण परमहंस से प्रश्न कर दिया— “क्या आपने भगवान् को देखा है?”

बालक का यह दुःसाहस देखकर श्रीरामकृष्ण के भक्तों ने बुरा माना और कहा— बालक! तुम्हें भगवान् से ऐसा प्रश्न नहीं करना चाहिये, स्वामी जी तो स्वयं भगवान् स्वरूप हैं।

बालक विवेकानन्द ने दृढ़तापूर्वक उत्तर दिया— “मैं बिना ठीक से समझे किसी बात पर अन्धविश्वास नहीं करता।” श्रीरामकृष्ण उनकी इस स्पष्टवादिता से बहुत प्रसन्न हुये।

साथी की रक्षा

बालक विवेकानन्द अपने साथियों के साथ मेला देखकर आ रहा था। रास्ते में उसका एक साथी एक ताँगे के सामने इस प्रकार आ गया कि उसको दबते देखकर सभी चीख-पुकार करने लगे।

तभी वे बिजली की तरह दौड़कर घोड़े के सामने इस प्रकार खड़े हो गये कि सहसा घोड़ा एक तरफ मुड़ गया और वह अपने साथी को खींच कर किनारे ले आये।

सहज शालीनता

स्वामी विवेकानन्द रेल के जिस डिब्बे में सफर कर रहे थे उसी डिब्बे में कुछ अंग्रेज यात्री भी थे। उन अंग्रेजों को साधुओं से बहुत चिढ़ थी। वे साधुओं की भर पेट निन्दा कर रहे थे। साथ वाले साधु यात्री को भी गाली दे रहे थे। उनका विचार था कि वह साधु अंग्रेजी नहीं जानता होगा। उन दिनों अंग्रेजी जानने वाले साधु होते भी नहीं थे।

बड़े स्टेशन पर हजारों स्वागतार्थी उपस्थित थे जिनमें विद्वान् एवं अधिकारी भी थे। अंग्रेजी में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर स्वामी जी अंग्रेजी में ही दे रहे थे। ऐसी अच्छी अंग्रेजी बोलते देखकर अंग्रेज यात्री स्तब्ध रह गये और अवसर मिलने पर नम्रतापूर्वक पूछने लगे कि आपने हम लोगों की बातें सुनीं और बुरा माना होगा। स्वामी जी ने अपनी सहज शालीनता से कहा—

“मेरा मस्तिष्क अपने ही कार्यों में इतना अधिक उलझा हुआ था कि आप लोगों की बातें सुनते हुए भी उन पर ध्यान देने और उनका बुरा मानने का अवसर ही नहीं मिला।”

मनुष्य की पहचान

गेरुआ वस्त्रधारी स्वामी विवेकानन्द न्यूयार्क की सड़क पर चले, तो पीछे कैतूहलप्रिय भीड़ चलने लगी। लोग उनका हँसी-मजाक बनाते और उनकी वेशभूषा पर टिप्पणी करते जा रहे थे। थोड़ा चलने के बाद, स्वामी जी रुके। भीड़ की ओर मुँह किया और बोले— “सज्जनों! आपके देश में सम्भवतः सभ्य होने की परख वेशभूषा से की जाती है। किन्तु जिस देश से मैं आ रहा हूँ, वहाँ मनुष्य की पहचान उसके कपड़ों से नहीं, चरित्र से होती है।”

उन तेजस्वी वचनों को सुनकर भीड़ स्तब्ध-सी रह गई। स्वामी जी आगे बढ़ गये।

भागो मत—सामना करो

दुष्ट परिस्थितियों की तरह काशी के बन्दर भी बड़े दुष्ट होते हैं। एक बार मैं काशी में किसी जगह जा रहा था। उस स्थान पर बहुत से बन्दर रहते थे जो आने-जाने वालों को अकारण तंग करने में बड़े विख्यात थे।

मेरे साथ भी उन्होंने वही किया। मेरा रास्ते से गुजरना उन्हें अच्छा न लगा, वे चिल्लाकर मेरी ओर दौड़े और पैरों में काटने लगे। उनके हाथ से छुटकारा पाना असम्भव प्रतीत हुआ। तेजी से भागा पर जितना

भागता बन्दर भी उतना दौड़ते और काटते। तभी एक अपरिचित स्वर सुनाई दिया— “भागो मत सामना करो।” बस मैं खड़ा हो गया और ऐसी जोर की डाट बताई कि एक घुड़की में ही बन्दर भाग खड़े हुए।

जीवन में जो कुछ भयानक है उसका हमें साहसपूर्वक सामना करना पड़ेगा। परिस्थितियों से भागना क्यारता है। क्यार पुरुष कभी विजयी नहीं होगा। भय, कष्ट और अज्ञान का जब हम सामना करने को तैयार होंगे तभी वे हमारे सामने से भागेंगे। यह शिक्षा मुझे उन बन्दरों से मिली।

धर्म की महत्ता आचरण में

स्वामी विवेकानन्द विश्व भ्रमण पर थे। वे अपने उपदेशों से भारतीय संस्कृति व धर्म की श्रेष्ठता का शंखनाद कर रहे थे। इसी बीच जापान के एक विद्वान् ने उनसे पूछा— “भारत में गीता, रामायण, वेद, उपनिषद् आदि का इतना उच्च ज्ञान व दर्शन उपलब्ध है; फिर भी भारतवासी पराधीन और निर्धन क्यों बने हुए हैं?” इस पर स्वामी विवेकानन्द ने उत्तर दिया— सर्वश्रेष्ठ व शक्तिशाली बन्दूक होते हुए भी उसके उपयोग की विधि उसका मालिक न जाने तो बन्दूक से वह अपनी रक्षा नहीं कर सकता। यही विडम्बना है कि अपने श्रेष्ठ धर्म व संस्कृति के होते हुए भी भारतवासी तदनु रूप उसका आचरण नहीं करते। धर्म की महत्ता उसके आचरण में निहित है।

जरूरतमंदों की सेवा ही सबसे बड़ा धर्म

कलकत्ता में स्वामी रामकृष्ण मठ की स्थापना हो चुकी थी। उनके सारे भक्त सन्यास लेकर मठ में प्रवेश कर चुके थे। मठ का सारा काम मठ में लगी जमीन से चलता था।

तभी कलकत्ता में प्लेग का प्रकोप हुआ। लोग बुरी तरह मरने और बीमार होने लगे। स्वामी विवेकानन्द जी से यह देखा न गया और उन्होंने मठ को सुश्रूषा शिविर में बदल दिया।

सारे अध्यात्म साधकों को सेवा कार्यों में लगा दिया और कहा— आज भगवान् ने अपने सच्चे भक्तों और सच्चे सन्यासियों की परीक्षा ली है। आज मनुष्य और महामारी के बीच संग्राम छिड़ गया है। आज मठ के प्रत्येक सन्यासी को अपनी सच्चाई का प्रमाण देना है। ऐसी सेवा करो, इतनी परिचर्या करो, इतनी सहानुभूति बरसाओ कि मठ में आया हुआ कोई भी रोगी मृत्यु से पराजित न होने पाये। धन की कमी होने पर मठ की भूमि बेच दूंगा। चिन्ता न करना।

स्वामी जी की प्रभावोत्पादक पुकार पर सन्यासी जीवन के देवदूतों की भाँति रोगियों की सेवा में जुट गये।

पहले स्वयं को जानो

स्वामी विवेकानन्द के प्रवचनों से प्रभावित होकर किसी ने कहा— “लगता है आपकी पहुँच ईश्वर तक है। आप मुझे उस तक पहुँचा दीजिए। उसको मिलने का स्थान बता दीजिए।”

स्वामी जी ने कहा— “आप अपना पता मुझे लिखा जाइये । जब ईश्वर को फुरसत होगी तब उसे आपके घर ही भेज दूँगा ।”

वह व्यक्ति अपने मकान का पता लिखाने लगा ।

स्वामी जी ने कहा— “यह तो ईंट-चूने से बने घरों के पता है । आप स्वयं अपना पता बताइये कि आप कौन हैं ? किस प्रयोजन के लिए नियत थे और क्या कर रहे हैं ? ”

व्यक्ति इनके प्रश्न में छिपी दार्शनिकता का संकेत समझा और इस नतीजे पर पहुँचा कि पहले आत्म सत्ता के स्वरूप और उद्देश्य का पता लगाना चाहिए बाद में ही ईश्वर से मिलने की बात बनेगी ।

तप द्वारा विश्वहित में संलग्न पौहारी बाबा

हमारे शास्त्रों में मानव जीवन का सबसे उच्च उद्देश्य आत्मज्ञान बतलाया है । खाना-पीना, सोना-जगना, जीना-मरना तो सभी प्राणियों में स्वभावतः पाया जाता है । मनुष्य की विशेषता यही है कि वह इस प्राकृतिक-जीवन में रहते हुये अन्तर-जीवन को भी विकसित करे । इसी के लिये भजन-पूजन, साधना-उपासना आदि की अनेक प्रणालियाँ निकाली गई हैं, जिनके द्वारा मनुष्य को भौतिक-जगत की संचालिका आत्मशक्ति का ज्ञान हो सकता है और वह साधारण सांसारिक भोगों के संकीर्ण-जीवन से ऊपर उठकर एक विशाल और उच्च जीवन-क्षेत्र में प्रवेश करने में समर्थ होता है ।

इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये महापुरुषों ने विभिन्न प्रकार की बहुसंख्यक साधन प्रणालियाँ निर्धारित की हैं । इनमें सबसे प्रसिद्ध योग-साधन ही बतलाया गया है, पर ‘योग’ की भी सोलह शाखाएँ हो गई हैं जो एक-दूसरे से बहुत भिन्न जान पड़ती हैं । इनमें से कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग का नाम तो सर्वत्र प्रसिद्ध है और गीता में भी उनका पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है । एक ही स्थान पर तीन प्रकार की प्रणालियों का उपदेश होता देखकर अनेक व्यक्ति विवाद करने लगते हैं कि इनमें से किसको अधिक उत्तम अथवा उपयुक्त माना जाय ? पर जो मनुष्य इस प्रकार के वाद-विवाद में न पड़कर सच्चे हृदय से किसी भी प्रणाली का अनुसरण करके उसे अपने जीवन में कार्य रूप में स्थान देने लगता है, उसे कुछ ही समय में अनुभव हो जाता है कि ये सब भेदभाव बाहरी हैं और समस्त प्रणालियों का वास्तविक लक्ष्य एक ही है । इसी तथ्य को दृष्टिगोचर रखकर गीताकार ने कहा है—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु सयुक्तः कृत्स्न कर्मकृत् ॥४१८॥

अर्थात् ‘जो कर्म में अकर्म (अर्थात् विभ्रान्ति या शान्ति) का अनुभव करता है और अकर्म (अर्थात् शान्ति) में कर्मपरायण बना रहता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान है, वही योगी है और उसी ने सब कर्म किये हैं ।’

पिछले सौ वर्षों में हमारे देश में जिन अनेक उच्चकोटि के महात्माओं का आविर्भाव हुआ है उनमें पौहारी बाबा इसी श्रेणी में थे ।

उन्होंने किसी विशेष प्रणाली का आग्रह न रखकर साधारण भाव से आत्म-साधन को ही अपना लक्ष्य बनाया । सबसे पहले उनके चाचा लक्ष्मी नारायण ही उनके गुरु बने और वे उनके आश्रम में रहकर विद्याभ्यास और धार्मिक नियमों का पालन करने लगे । फिर जहाँ सुविधा मिली शास्त्रों का अध्ययन करते रहे और पन्द्रह-सोलह वर्ष की अवस्था में इन विषयों के विद्वान् हो गये ।

इसी समय संवत् १९१३ में उनके चाचा का देहान्त हो गया और उसके स्थान पर इनको मन्दिर और आश्रम की देखभाल और पूजा-पाठ का भार ग्रहण करना पड़ा । वे कुछ समय तक इस कार्य को करते रहे, पर इससे अध्यात्म-मार्ग में विशेष प्रगति न होते देखकर उनका चित्त अशान्त रहने लगा । इससे एक वर्ष बाद वे अपने एक गुरु भाई को मन्दिर का भार देकर देश भ्रमण के लिये चल दिये । अनेक तीर्थों का भ्रमण करते हुये जब वे गिरनार पर्वत पर पहुँचे तो वहाँ एक सिद्ध योगी से इनकी भेंट हो गई । उसने इन्हें शिष्य बनाकर योग की शिक्षा दी । वहाँ से ये दक्षिण भारत के तीर्थों की यात्रा करके दो-तीन वर्ष बाद पुनः अपने आश्रम में वापस आ गये ।

अब उनका साधन-कार्य विधिवत् होने लगा । सुबह से लेकर दस बजे तक का समय वे स्नान, संध्या और पूजा-पाठ में लगाते । जब वे गंगा के जल में खड़े होकर हाथ जोड़कर स्तोत्र पढ़ते तो यही जान पड़ता कि मानो देवगण अभी उनके सामने खड़े हो जायेंगे । पूजा समाप्त करके योगाभ्यास में प्रवृत्त होते और चार-पाँच घण्टा तक योग की विभिन्न क्रियाएँ करते रहते । इसके पश्चात् वे स्वयं रसोई बनाकर रामचन्द्र जी की मूर्ति के सम्मुख भोग लगाते । वे पाक विद्या में निपुण थे और भोग के लिये उत्तमोत्तम पदार्थ बनाते थे, पर उन सब पदार्थों को स्वयं न खाकर दीनजनों को या परिचित व्यक्तियों को बाँट देते थे और स्वयं बहुत साधारण भोजन बनाकर खाते थे । इस प्रकार कई वर्ष तक करने के पश्चात् उनको विचार आया कि इस प्रकार कई घण्टा रसोई बनाने में व्यर्थ चले जाते हैं, इसलिए यह नियम धीरे-धीरे कम करना चाहिये । तब वे चाहे जब भोजन न बनाकर थोड़े से विल्वपत्र दूध के साथ उबाल कर खा जाते या पचास-साठ मिर्च पीसकर पानी के साथ पी जाते । किसी दिन पूर्ण उपवास ही कर डालते । इस प्रकार उनका भोजन घटते-घटते नाम मात्र को रह गया ।

कुछ समय पश्चात् उन्होंने आश्रम में एक गुफा बनवाई और उसमें बैठकर समाधि-योग करने लगे । अब वे कई-कई दिन तक गुफा से बाहर नहीं निकलते थे और न किसी तरह का भोजन लेते थे । इससे लोगों में उनका नाम ‘पौहारी बाबा’ (पवन का आहार करने वाले) प्रसिद्ध हो गया । उन्होंने अपनी कुटी से भी बाहर निकलना बन्द कर दिया था । बाहर के स्थानों से जो स्त्री-पुरुष उनके दर्शनों के लिये आते उनके लिये एकदशी का दिन नियत कर दिया था । इस प्रकार वे सांसारिक कार्यों से यथासंभव दूर रहकर अपना समय साधना में ही व्यतीत करने लगे ।

पर इसका यह अर्थ नहीं कि पौहारी बाबा प्राचीन ढंग के एक भजनानन्दी साधु ही थे और उनको लोक-कल्याण, समाज-सेवा आदि

विषयों का कोई ज्ञान न था। सुप्रसिद्ध देशभक्त सन्यासी स्वामी विवेकानन्द जी इन पौहारी बाबा के निकट कई महीने तक रहे थे, और उन्होंने अपने अनुभव के आधार पर अमरीक में भाषण देते हुये यह कहा था कि “मैंने भारतवर्ष में गुरुदेव रामकृष्ण परमहंस के पश्चात् किसी अन्य महापुरुष में महान् आध्यात्मिक शक्ति और ज्ञान के दर्शन किये तो वे पौहारी बाबा ही थे।” पर उन्होंने लोक-सेवा का कोई बड़ा कार्य सार्वजनिक रूप से नहीं उठाया तो इसका कारण यही था कि वे नम्रतावश अपने को उस योग्य नहीं मानते थे। एक बार बातचीत करते हुये स्वामी विवेकानन्द ने उनसे कहा कि “आप संसार को धर्म मार्ग दिखलाने के लिये अपनी गुफा से बाहर क्यों नहीं निकलते?” इस पर उन्होंने उस दुष्ट मनुष्य का दृष्टान्त सुनाया जिसने अपनी नाक काटे जाने पर इसी को साधना का अंग बतलाया था और धीरे-धीरे एक ‘नकटा सम्प्रदाय’ की स्थापना ही कर दी थी! उन्होंने हँसते हुये स्वामी जी से कहा कि क्या आप चाहते हैं कि मैं भी ऐसा ही कोई ‘नकटा-सम्प्रदाय’ स्थापित कर जाऊँ? पर जब इसके बाद भी स्वामी जी उनसे सार्वजनिक जीवन में भाग लेने का आग्रह करते रहे तो उन्होंने गम्भीरतापूर्वक कहा— “तुम्हारी क्या ऐसी धारणा है कि केवल स्थूल-शरीर द्वारा ही दूसरों की सहायता की जा सकती है? क्या शरीर के क्रियाशील हुए बिना केवल मन से दूसरे लोगों की सहायता नहीं की जा सकती?”

एक-दूसरे अवसर पर जब उनसे प्रश्न किया गया कि “श्रेष्ठ ज्ञानी और सिद्ध योगी होते हुए भी आप मूर्ति पूजा और होम आदि क्यों करते हैं? ये कर्म तो साधना के आरम्भिक अंग ही माने जाते हैं।” तब उन्होंने कहा— “क्या प्रत्येक कर्म अपने कल्याण की दृष्टि से ही किया जाता है? ज्ञानी मनुष्य भी बहुत से साधारण कृत्य दूसरों को उपदेश देने और उन्हें धर्म मार्ग पर स्थिर रखने के उद्देश्य से किया करते हैं।”

इस प्रकार पौहारी बाबा अपने ढंग से लोकोपकार और सेवाधर्म के पथिक थे। आश्रम के कार्यों की कुछ देख-रेख और वृद्धि करते हुये भी उससे पूर्णतः निस्पृह रहते थे और उनमें उसके प्रति किसी प्रकार की ममता-मोह का भाव न था। एक बार एक वैष्णव साधु उनके पास आकर उनकी भर्त्सना करने लगा कि “तुम साधु और त्यागी होकर भी आश्रम की माया में क्यों फँसे हुये हो? तुमने वैराग्य धारण करके इतनी बड़ी सम्पत्ति और सामग्री क्यों इकट्ठी कर रखी है? इस सबको मुझे देकर तुम अज्ञात रूप से कहीं चले जाओ।” पौहारी बाबा ने उसकी बात को तुरन्त स्वीकार कर लिया और अपनी कुटी की चाबी चुपचाप उसे देकर रात के समय वहाँ से चल दिये। प्रातःकाल जब शिष्यों तथा अन्य आश्रमवासियों ने बाबा को वहाँ न पाया तो बड़ा कोलाहल मचा और इस घटना का कारण उस साधु को समझकर उसे मारने-पीटने लगे। पर पौहारी बाबा का कहीं पता नहीं लगा। कई महीने बाद किसी जानकार व्यक्ति से उनकी खबर मिली और तब उनको बड़ी कठिनाई से समझाकर आश्रम में फिर से लाये।

एक बार कोई चोर उनके आश्रम में चोरी करने आया और जो कुछ मिला उसे गठरी में बाँध लिया। इतने में पौहारी बाबा जाग गये और यह देखकर चोर गठरी छोड़कर भागने लगा। ये भी गठरी लेकर चोर को पीछे दौड़े और बहुत दूर जाकर उसे पकड़ लिया। इन्होंने चोर को पोटली देकर उससे क्षमा माँगी कि वे जग जाने से उसके कर्म में बाधक बने। वे बार-बार उससे यही प्रार्थना करते रहे कि “तुम इस सामान को ले जाओ, यह तुम्हारा ही है।”

अपने जीवन के अन्तिम दस वर्षों में वे प्रायः एकान्त में ही रहे और इस बीच में शायद ही किसी ने उनको देख पाया हो। उनकी गुफा में दरवाजे के पीछे एक ताक में थोड़ा आलू और मक्खन रख दिया जाता था और जब वे समाधि से उठकर ऊपर वाले कमरे में आते तो इन चीजों को ले लेते थे। कभी वे पाँच-पाँच, सात-सात दिन तक गुफा से बाहर नहीं निकलते थे और भोजन सामग्री जैसी की तैसी ही रखी रहती थी। वे प्रायः रात के समय ही गुफा से निकलते थे और उसी समय आवश्यकतानुसार गंगा के उस पार जाकर कुछ योग-क्रिया भी किया करते थे। एक बार अकस्मात् किसी के आ जाने से इस क्रिया में विघ्न पड़ गया जिससे उनकी तबियत बिगड़ गई। लोगों ने अनेक बार जानना चाहा कि उनको क्या कष्ट है पर उन्होंने कुछ बतलाया नहीं। वे जीवनमुक्त स्थिति में पहुँच जाने के कारण शरीर के रहने या न रहने का कोई महत्त्व नहीं समझते थे और इसके लिये स्वयं चिन्ता करना या किसी अन्य को कष्ट देना उन्हें स्वीकार न था। अन्त में संवत् १९५५ के ज्येष्ठ मास की सप्तमी को उन्होंने अपनी कुटी के भीतर हवन कुण्ड को प्रज्ज्वलित करके अन्य सामग्री के साथ अपनी देह की आहुति भी दे दी। कितने ही लोगों के देखते-देखते उनका प्राण ब्रह्मरन्ध्र को फोड़कर बाहर निकल गया। सर्व साधारण ने इन घटना के विषय में तरह-तरह के अनुमान लगाये और कुछ ने इस कार्य को अनुचित भी बतलाया पर उनके सुपरिचित स्वामी विवेकानन्द ने यही कहा कि “जब पौहारी बाबा ने यह ज्ञान लिया कि उनके जीवन का अन्तिम क्षण समीप आ गया है, तो उनकी मृत्यु के पश्चात् भी उनके कारण किसी को कष्ट न हो, इसलिए उन्होंने स्वस्थ शरीर और मन से आर्योचित रीति से अपना अन्तिम संस्कार भी स्वयं ही कर लिया।”

वास्तव में महापुरुषों के चरित्र की अनेक घटनायें गूढ़ अर्थ रखती हैं और उनका रहस्य न समझ सकने के कारण सामान्यजन उनकी विपरीत आलोचना करने लगते हैं। पौहारी बाबा ने आजन्म अपना यह सिद्धान्त रखा कि दूसरों की यथाशक्ति अधिक से अधिक सेवा और भलाई करते रहना, पर अपनी किसी प्रकार की सेवा किसी से न कराना।

अपने आरम्भिक जीवन में उन्होंने पर्याप्त पश्चिन्न करके आश्रम की उन्नति करके उसे इस योग्य बनाया कि उससे अतिथियों और आस-पास वालों की सेवा की जा सके और इसके बाद धीरे-धीरे उसकी व्यवस्था दूसरों को देकर स्वयं पृथक् होते चले गये। अंत में पूर्ण निष्काम भाव का उदाहरण उपस्थित करते हुए वे आश्रम या उसकी सम्पत्ति के सम्बन्ध में एक शब्द भी बोले बिना विश्व-सत्ता में लीन हो गये।

योग मार्ग के प्रबल प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ

“जहाँ दो कोस तक चारों ओर जनशून्य स्थान मिले, वहीं आसन लगा ।” अपने समर्थ शिष्य को दीक्षा देने के बाद मत्स्येन्द्रनाथ जी ने आदेश दिया । यह हिमप्रान्त जनशून्य क्या प्राणिशून्य था । नेपाल में मुक्तिनाथ से काफी आगे दुर्गम पर्वतमालाओं में स्थित है यह शालिग्राम क्षेत्र । दामोदर कुण्ड के पास की इस भूमि को बरफ ने अपनी लम्बी-चौड़ी सफेद चादर से ढक रखा था ।

कितना कठिन है देहाध्यास । आज भी जहाँ जाने के लिए विशेष पोशाक, विशेष जूते और अनेकों औषधियाँ जरूरी पड़ती हैं । जहाँ आँखों पर चश्मे का नीलावरण न हो तो बर्फ पर प्रतिबिम्बित सूर्य की किरणें आधे क्षण में अन्धा बना दें । नासिका किसी चिकने लेप से ढकी न हो तो हिमदंश ने उसे कब गला दिया, पता ही न लगे । ऐसे विकट क्षेत्र में उन दिनों जो केवल काली कोपीन लपेटे नग्नदेह नंगे पाँव जा पहुँचा हो, उसकी कठिनाइयों का क्या ठिकाना ?

“बहुत बाधक है देह की अनुभूति ।” उन जैसे के लिए भी मन को देह से हटाकर एकाग्र कर पाना कठिन हो रहा था । प्राणायाम से प्राप्त उष्मा थोड़ी देर में चुक जाती । तब, ऐसा लगने लगता कि सर्दी हड्डी में बलात घुस कर उन्हें टुकड़े-टुकड़े कर देगी । नाड़ियों के फटने की असह्यवेदना मन को चंचल होने के लिए विवश कर देती । पुनः प्राणायाम का सहारा लेना पड़ता ।

“देह जब लक्ष्य की ओर जाने नहीं देती तब क्यों न देह को ही लक्ष्य बनाकर पहले उस ओर से निश्चित हो लिया जाय ।” सर्वथा नया नहीं था यह तर्क । अवधूत गुरु दत्तात्रेय ने रसेश्वर—सम्प्रदाय की स्थापना इसीलिए की थी और वह सिद्ध रसेन्द्र प्रक्रिया से अपरिचित न थे ।

शुभ शशांक धवल विप्र पारा आज अप्राप्य है और सुलभ कभी था ही नहीं । किन्तु महायोगी के लिए दुष्प्राप्य क्या ? रस प्रक्रिया आरंभ कर दी गयी । आधिदैविक शक्तियों ने स्वयं को असमर्थ पाया उस महासाधक के सामने । जहाँ छिद्र होता है, विघ्न वहीं आते हैं । प्रमादरहित पूर्व जागरूक गोरखनाथ के समीप विघ्न कहाँ से जाते ?

सहसा वह आसन से उठ खड़े हुए । उन्होंने जल और बिल्व पत्र हाथ में लिया । धरती और गगन को अपने पदाघात से पीड़ित करती भगवती छिन्नमस्ता दौड़ती आ रहीं थीं । “गोरखनाथ” जी अत्यन्त विनीत स्वर में बोले “माता ! आप कोई रूप ले लें, अपने शिशु पर निष्करुण नहीं हो सकतीं ।”

क्षण भर में चारों ओर शान्ति छा गई । महादेवी का हस्त स्थिति मस्तक गले पर आ लगा । उनके बगल में खड़ी दोनों मूर्तियाँ उनमें लीन हो गई । वे दिगम्बरा निरूपा अब पाटल अरुण वस्त्रों में किंचित श्याम रंग लिए त्रिपुर भैरवी बन चुकी थीं ।

“शंकर इदि स्थिता करुणामयी अम्बे ।” गोरखनाथ ने सविधि स्तवन किया । किन्तु वह रूप त्रिपुर सुन्दरी नहीं बना । कोई

चिन्ता की बात नहीं थी । त्रिपुर भैरवी महाकाल शिव के हृदय में स्थित होने से अतिशय करुणामयी हैं । साधक के लिए सिद्धिप्रदा हैं ।

“तुमने महाशक्ति की अर्चना के बिना ही यह कर्म प्रारम्भ कर दिया । यह भी याद है तुम्हें कि समय कौन-सा है । इस समय रस सिद्धि कदाचित ही होती है । तुम केवल इसे अपने तीन शिष्यों को दे सकोगे ।” भगवती सीमा निर्धारित कर अन्तर्ध्यान हो गयीं ।

रस को संस्कारित करने का श्रम तथा संकट को जिसने स्वीकारा उस कौमारी शक्ति को तो वंचित नहीं किया जा सकता । सिद्ध रस के सेवन ने उन्हें अमर योगिनी बना दिया । विभिन्न योग सम्प्रदाय के अनेक ग्रन्थों में अनेक नामों से उनका उल्लेख है ।

रसेन्द्र का सेवन करके देह सिद्ध हो गई । अब उन्होंने फिर से दामोदर कुण्ड के पास एक हिमशिला पर आसन जमाया । प्रकृति की शक्तियाँ अब उनकी देह पर अपना प्रभाव छोड़ने में असमर्थ थीं । ध्यान में अब देह की बाधा नहीं थी ।

“दम्भी कहीं का ?” एक प्रबल अट्टहास के बीच गुँजते इन शब्दों ने उनका ध्यान तोड़ दिया । बिखरी जटाएँ, अंगार जैसी आँखें, दिगम्बर, मलिनकाय, भारी-भरकम डील-डौल वाला पागल इस निर्जन में कहाँ से आ गया । सबसे बड़ा आश्चर्य यह था कि वह अपना ध्यान किसी भी तरह नहीं जमा पा रहे थे । सैकड़ों वज्रध्वनियाँ करते शिलाखण्ड जहाँ थोड़ी-थोड़ी देर में टूटते हों, उस प्रचण्ड कोलाहल में सर्वथा अप्रभावित रहने वाले इस योगी को इस पागल के अट्टहास ने विचलित कर दिया था । उसे लगता था किसी ने उसके बल को बलपूर्वक बाहर निकाल कर पटक दिया है ।

“आप कौन हैं ?” गोरखनाथ जी ने पूछा । वे अपनी आँखों की पलकें भी नहीं झपका पा रहे थे ।

“अपने बाप का परिचय पूछता है, मूर्ख कहीं का ।” पागल ने हाथ की तलवार से उन पर प्रहार किया । किन्तु योगी की सिद्ध देह से टकराकर तलवार एक तीव्र झंकार ध्वनि के साथ पागल के हाथ से छूट कर दूर जा गिरी । उनके शरीर पर कोई चिह्न नहीं बना था ।

“दम्भी तेरा गुरु” यह पागल गुरुदेव को पता नहीं क्या अपशब्द कहेगा । गुरु के अपमान की संभावना को वह सहन नहीं कर पाये । उन्होंने झपट कर तलवार उठाई और पूरी ताकत से पागल पर चोट की । पर यह क्या ? आघात के वेग ने उन्हें स्वयं एक हिमशिला पर पटक दिया । पागल के शरीर में से तलवार ऐसे निकल गई, जैसे हवा में चलाई गयी हो ।

“आप कौन ?” वह हतप्रभ थे, ऐसा कौन है जो उनकी सर्वज्ञ दृष्टि की पकड़ में नहीं आ रहा । “मैं झूठ नहीं कहता । अपने दम्भ के कारण तू अविश्वासी बन गया है ।” पागल का स्वरूप बदल गया और वह अपने गुरु को पहचान कर उनके चरणों में गिर पड़े ।

“आपको छोड़कर ऐसा शक्तिसपन्न धरती पर और कोई नहीं ।” उनकी आँखों से झरती अश्रुधारा गुरु चरणों को धो रही थी । “वज्रदेह पाने का मेरा गर्व गल गया । मुझ पर अनुग्रह करें देव !

मेरा दम्भी ।” “माँ को अपने अबोध शिशु की चिन्ता रहती है और गुरु का हृदय माँ से भी कहीं ज्यादा ममत्त्व लिए होता है । तू क्या समझता है मत्स्येन्द्र अपना कर्तव्य भूल गया । एक बार जिसे शिष्य स्वीकार किया उसे परम सिद्धि तक पहुँचाना तो मेरा कर्तव्य था । तेरे हर क्रियाकलाप पर मेरी दृष्टि रही है । छिन्नमस्ता को तूने प्रसन्न कर लिया पर यदि चामुण्डा आती तो ?” सचमुच आना तो चामुण्डा को था । उनकी वज्र देह पीपल के पत्ते की तरह काँप उठी । शिववत् ताण्डव करने वाली उग्र भैरवी को वे कैसे शान्त करते ? वे तो कोई मर्यादा नहीं मानती ।

“चामुण्डा पीठ से चला आ रहा हूँ मैं ।” गुरु हँसे “मेरी अर्चा की उपेक्षा वह नहीं कर सकती ।” शिष्य का मस्तक अपने समर्थ गुरु के चरणों पर था ।

“किन्तु तू दम्भी है” मत्स्येन्द्रनाथ कह रहे थे । “मेरी इच्छा थी कि तू इस निर्जन में थोड़े दिनों तप करता । तप अपार शक्ति का द्वार खोल देता है ।”

‘दम्भ !’ गुरु मुख से अपने लिए अनेक बार निकले इस शब्द का आशय वह नहीं समझ पा रहे थे । दम्भ तो दूसरों के सामने अपना बड़प्पन दिखाने के लिए किया जाता है । इस निर्जन भूमि में उनके आचरण को कौन देखने वाला है ?

“तप का मूल है तितिक्षा और तितिक्षा कहते हैं शीत, उष्ण, सुख, दुःख आदि द्वन्द्वों को प्रसन्नतापूर्वक सहन करने को । तितिक्षा की आग में पक कर शरीर और मन निर्द्वन्द्व होते हैं । समत्व का परम लाभ प्राप्त करते हैं ।” मत्स्येन्द्र का स्वर खिन्न था । वज्रदेह से कौन-सा तप करेगा तू ? जब शरीर पर किसी सर्दी-गर्मी का प्रभाव ही नहीं है, तब यहाँ तेरा रहना तप का दम्भ नहीं तो और क्या है ।”

वह चुप थे । उनके समीप कोई जवाब नहीं था । गुरु थोड़ा रुक कर बोले “मुझ से भी यही भूल हुई थी । व्योमदेह पाने के बाद मैं प्रसन्न हुआ था । अब जानता हूँ वह मेरी हार थी । माया ने मुझे देह की ओर आकृष्ट कर पंगु कर दिया ।”

“परमात्मसत्ता करुणा की निर्झरिणी है । देह को यदि वज्र या व्योम जैसा बनना जरूरी होता तो उसने ऐसा करने में संकोच न किया होता ।” शिष्य की ओर देखते हुए परम गुरु बोले “देह की दुर्बलता कष्ट अनुभव करने की क्षमता ही मानव को तप एवं तितिक्षा के साधन देती है, जिसमें सम्पूर्ण सृष्टि को बदल डालने की शक्ति है ।”

“अब से मेरी तरह संसार में रहकर लोक-कल्याण के लिए स्वयं को नियोजित करो । मनुष्य जीवन को ऊर्ध्वगामी बनाने के लिए जो मान-अपमान सहना पड़े उसमें समान रहो । यह तुम्हारा—मानसिक तप है । शारीरिक तप के लिए तो तुमने स्वयं को अयोग्य बना लिया ।” “महाशिव की इच्छा पूर्ण हो ।”

शिष्य गोरखनाथ गुरु के पीछे चल पड़ा । उसका मन ‘तितिक्षा दुःख सम्पर्षः’ के सूत्र पर मनन करने में लग गया था । अब उसे बोध हो गया था कि कैसे वह अपने पथ से विचलित हो गया था । सही समय पर गुरु ने आकर उसे मार्गदर्शन न दिया होता तो संभवतः

अपने ही अहंकार में चूर वह लक्ष्य से भटक कर न जाने किधर चल दिया होता ।

व्यावहारिक जीवन जीते हुए, संघर्ष करते हुए, दुःखों का सामना करते हुए जो तपकर कुन्दन की तरह दमकता है, वही सही अर्थों में तपस्वी है ।

देश एवं धर्म साधना के साधक महर्षि अरविन्द

स्वामी विवेकानन्द ने मानव अन्तरात्मा को जाग्रत करने के लिए जो प्रबल प्रयत्न किए थे उनका प्रभाव सारे भारतवर्ष पर—विशेषतया बंगाल पर पड़ा । अध्यात्म कार्यरत या भगोड़ों की बपौती नहीं वरन् शूरीयों और सत्पुरुषों की जीवन नीति है, यह उपदेश करते हुए स्वामी जी देशव्यापी प्रचार कार्य में लगे थे । तेजस्वी नवयुवक उनसे बहुत प्रभावित हुए । धर्म, संस्कृति समाज और राष्ट्र के प्रति निष्ठा पैदा करना और मानवता के महान् उत्तरदायित्वों को समझते हुए महापुरुषों जैसी जीवन-नीति के लिए भावनाशील व्यक्तियों को तैयार करना स्वामी जी का लक्ष्य था । उस कषाय वस्त्रधारी महात्मा ने भारत के सच्चे सपूत की तरह उस अध्यात्म का प्रसार किया जिससे मृतकों में भी जीवन उत्पन्न होता है । स्वामी रामदास ने जिस प्रकार यवन कल में सारे महाराष्ट्र को जाग्रत करके स्वतन्त्रता संग्राम के सैनानी पैदा किये थे उसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने देश भर में, विशेषतया बंगाल में ऐसी लहर उत्पन्न की, जिससे प्रभावित होकर भावनाशील लोग गौरवास्पद जीवन जीने के लिए आतुर हो उठे । यही भावना बंगाल के क्रान्तिकारी आन्दोलन के रूप में फूटी । यह प्रकट तथ्य है कि अंग्रेजों के विरुद्ध क्रान्तिकारी संघर्ष में बंगाल ही अग्रणी रहा ।

आत्मदर्शी नेताओं द्वारा झकझोर कर जाग्रत की गई नई पीढ़ी भारत के अतीत को वापस लाने के लिये जिन दिनों छटपटाहट अनुभव कर रही थी, उन्हीं दिनों १५ अगस्त, १८७२ में कलकत्ता में अरविन्द का जन्म हुआ । उस समय स्वराज्य की बात करना भी अपराध था पर अरविन्द की सतत् साधना फलित हुई । ७५ वर्ष के तप ने ठीक उनके जन्म दिन पर ही भारत में अपना पूर्ण स्वतन्त्रता का लक्ष्य प्राप्त कर लिया ।

अरविन्द के पिता सुप्रसिद्ध सिविल सर्जन डॉक्टर कृष्णधन घोष, अपने इस बालक को उच्च शिक्षा दिलाकर सरकार में कोई बड़ा अफसर बनाना चाहते थे । अतएव ७ वर्ष की आयु में ही इंग्लैण्ड पढ़ने भेज दिया । १८ वर्ष की आयु में उसने सिविल सर्विस की परीक्षा दी । और आई. सी. एस. प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर ली । इस अवधि में अपने निरन्तर अध्यवसाय के द्वारा उन्होंने अंग्रेजी के अतिरिक्त जर्मन, लैटिन, ग्रीक, फ्रेंच और इटली की भाषाओं में निपुणता प्राप्त कर ली ।

आई. सी. एस. पास करने पर उन्हें भारत सरकार द्वारा कोई उच्च पद दिया जाने वाला था । पर उनका जन्म गुलामी का पट्टा

बाँधकर ऐश-आराम की जिन्दगी बिताने के लिए नहीं हुआ था। उन्हें कुछ बड़े काम करने थे। सोचा यदि अफसरी मिल गई और फिर उसी में फँस गए तो प्रलोभन के बन्धन तोड़कर बाहर निकलना कठिन होगा। अतएव घुड़सवारी की परीक्षा देने से इन्कार कर दिया, इस प्रकार वे जानबूझ कर असफल बनने के लिए अड़ गये।

हीनताग्रस्त मस्तिष्क दूसरों के अन्धानुकरण में अपनी बड़ाई समझते हैं। जैसा कि आज अँग्रेजों के चले जाने पर भी उनके रहन-सहन, आहार-विहार, भाषा, भेष, नकल बनाने में अपना बड़प्पन अनुभव करते हैं। अरविन्द ऐसे ओछे न थे। १८ वर्ष वे इंग्लैण्ड में रहे और उन्होंने अँग्रेजों के जातीय गौरव और उपयुक्त गुणों को सीखा, स्वतन्त्र देश में रहकर उन्हें स्वतन्त्रता प्राणप्रिय लगने लगी। भारत लौटते तो उनके कण-कण में भारत को इंग्लैण्ड जैसा स्वतन्त्र, सम्पन्न और प्रबुद्ध बनाने की आकांक्षा भरी हुई थी।

अरविन्द की प्रतिभा और व्यक्तित्व से बड़ौदा नरेश बहुत प्रभावित हुए और उनकी नियुक्ति शिक्षा शास्त्री के रूप में हो गई। १३ वर्षों तक वे प्रधानाध्यापक और वाइस प्रिंसिपल और निजी सचिव का काम योग्यतापूर्वक करते रहे। इस बीच उन्होंने सहस्रों छात्रों में जातीय जीवन की भावनाएँ भरीं और उन्हें चरित्रवान देशभक्त बनाया।

इंग्लैण्ड से लौटते ही उन्होंने बंगाल में क्रान्तिकारी आन्दोलन की नींव जमाने का कार्य आरम्भ कर दिया। संगठन के अतिरिक्त प्रचार को माध्यम बनाया। बम्बई के अँग्रेजी साप्ताहिक 'इन्दु-प्रकाश' में 'पुरानों के बदले नये दीपक' शीर्षक लेखमाला चालू रख कर भारत के नव-निर्माण के लिए प्रत्येक देशभक्त का आह्वान किया। उन दिनों पत्र कम निकलते थे, जो निकलते थे वे चाव से पढ़े जाते थे। इन लेखों का भारी प्रभाव पड़ा और उन्हें अनेकों साथी सहयोगी मिलने लगे। उन्होंने 'तरुण संघ' की स्थापना की जिसमें आगे चलकर भारत के कितने ही स्वतन्त्र क्रान्तिकारी संगठन सम्मिलित हो गए। राष्ट्रीय दैनिक 'वन्दे मातरम्' के सम्पादक बने और क्रान्तिकारी दैनिक 'युगान्तर' का संचालन किया। उन्होंने क्रान्तिकारी योजना बनाने के लिए सुयोग्य विचारकों की एक 'अनुशीलन समिति' बनाई जो भारत की और संसार की परिस्थितियों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करके योजना तैयार करती और 'तरुण संघ' के सदस्य उन्हें कार्यान्वित करने में लग जाते। उन दिनों एक तरह से भारत में स्वाधीनता संग्राम की क्रान्तिकारी योजनाओं का समग्र संचालन वे स्वयं ही कर रहे थे।

अरविन्द के जीवनोद्देश्य का परिचय पाणिग्रहण के दिनों अपनी पत्नी को लिखे गये पत्रों में भली प्रकार मिल जाता है। उन्होंने एक पत्र में अपनी सहधर्मिणी को लिखा— "तुम चाहो तो मुझे सनकी कह सकती हो, मुझे एक नहीं तीन तरह का पागलपन है। एक पागलपन यह है कि मुझे जो कुछ ईश्वर ने दिया है उसमें से केवल निर्वाह योग्य अपने लिये केवल बाकी सबका सब जनता जनार्दन को लौटा देना चाहता हूँ। इस गये-गुजरे समाज का अंग होते हुये भी यदि मैं अपने इस आराम या संग्रह की बात सोचूँ तब वह मेरे

लिये चोरी, बेईमानी की तरह ही एक घृणित काम होगा। दूसरा पागलपन यह है कि— मैंने निश्चय किया है कि मैं ईश्वर को प्राप्त करके रहूँगा। आज के सम्प्रदायवादियों के आडम्बरों पर मेरा कोई भरोसा नहीं, तो भी यह पक्की निष्ठा है कि ईश्वर है और उसे कोई भी सच्चा मनुष्य प्राप्त कर सकता है। मैं मार्ग तलाश करूँगा, उस पर चलूँगा और कितना ही श्रम, समय एवं कष्ट क्यों न हो मैं अपना ईश्वर प्राप्त कर लक्ष्य प्राप्ति करके रहूँगा। तीसरा पागलपन यह है कि भारत माता को अपनी सगी माता जैसी भावना से पूजना चाहता हूँ। उसका सच्चा भक्त बनना चाहता हूँ और इस मातृ-भक्ति के लिये बड़े से बड़ा बलिदान करने की प्रसन्नता अनुभव करना चाहता हूँ।" सचमुच उनकी यह तीनों सनकें अन्तकाल तक बनी रहीं और वे एक साधारण बंगाली से बढ़कर विश्व की महान् विभूति इन सनकों के आधार पर ही बन सके।

लार्ड कर्जन ने बंगाल को दो भागों में बाँट देने के लिये जो 'बंग-भंग' योजना रखी उससे सारा देश तिलमिला उठा। बंगाल में उसके प्रतिरोध के लिये सक्रिय आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। अरविन्द घोष उसका नेतृत्व करने लगे। विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार, राष्ट्रीय स्वयं सेवकों का संगठन, अदालतों का बहिष्कार, शिक्षा का विस्तार तथा अँग्रेजों को आतंकित करने के अन्य उपाय इस आंदोलन के अंग थे। उन्होंने नेशनल कॉलेज की स्थापना में प्रमुख भाग लिया और मात्र ७५ रु० मासिक वेतन पर काम करते रहे। कांग्रेस में उन्होंने प्रवेश किया और नेताओं की अग्रिम पंक्ति में जा पहुँचे।

सरकार उनके क्रान्तिकारी विचारों और कार्यों से आतंकित हो उठी। २ मई सन् १९०८ को कलकत्ता के मानिक तल्ला बाग में तलाशी हुई, जिसमें बम, पिस्तौल और कारतूसों का भण्डार मिला, चालीस युवक पकड़े गये जिनमें अरविन्द घोष भी थे। अलीपुर षडयन्त्र केस का यह मुकदमा सेशनजज की अदालत में एक वर्ष तक चला। देशबन्धु चितरंजनदास की योग्यता और परिश्रम से अरविन्द इस मुकदमे से छूट गये। पीछे हाईकोर्ट ने हाथ मलते हुए अपने फैसले में लिखा— 'प्रमुख अपराधी और षडयन्त्रकारी तो इस मुकदमे में अरविन्द घोष थे जिन्हें पहले ही मुक्त कर दिया गया।'।

जेल में उन्हें एकान्त काल कोठी में रखा गया, जिसका अनुभव करते हुए उन्होंने लिखा है— "एकान्त में रहने वाला या तो सन्त बन जाता है या फिर पूरा शठ हो जाता है।" इनके इस कथन की सच्चाई भारत में जहाँ-तहाँ फैले एकान्तवासी 'शठों' के रूप में प्रत्यक्ष देखी जा सकती है। पर वे सन्त ही बने।

कलकत्ता के बमकेस से छुटकर पाने के कुछ ही समय पश्चात् वे पाण्डिचेरी (मद्रास) चले गये, जिससे वहाँ अँग्रेजी पुलिस की छेड़खानी से बचकर निर्विघ्न रूप से योगाभ्यास कर सकें। आरम्भिक वर्षों में उनको आर्थिक अभाव से अपना समय एक छोटे मकान में व्यतीत करना पड़ा जिसमें स्नान तक की सुविधा न थी। पर १९२० में फ्रंस के प्रसिद्ध दार्शनिक पाल रिचार्ड तथा उनकी पत्नी मीरा रिचार्ड आश्रम में आकर रहने लगे। मीरा एक कुशल महिला थीं, उसकी

२.२८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

व्यवस्था से आश्रम की व्यवस्था का बहुत कुछ सुधार हो गया और उसकी आर्थिक दशा भी कुछ वर्षों में संतोषजनक हो गई।

पूर्ण योग का प्रचार

पाण्डिचेरी के आश्रम में अरविंद का मुख्य लक्ष्य लोगों को एक ऐसी योग प्रणाली की शिक्षा देना था जिससे वे सुनिश्चित रूप से अध्यात्म के उच्च स्तरों तक पहुँच सकें। इसका नाम उन्होंने 'पूर्ण योग' रखा था। उनका कहना था कि "विश्व में जितनी भी हास और विकास की क्रियाएँ चल रही हैं वह परम आत्मा का क्रमबद्ध योग है। इसी अर्थ में श्रीकृष्ण को 'योगेश्वर' कहा गया है और ईश्वर की इस शक्ति को ही योगमाया कहते हैं। व्यक्ति विशेष इस योग की ओर अनजाने ही खिंच आता है और बाद में उसे यह मालूम हो जाता है कि उसको इसमें अमुक काम करना है तो फिर वह योग में 'सचेतन' होकर हिस्सा लेता है और अनंत के साथ सहयोग का आनंद प्राप्त करने लगता है।"

अपने विचारों तथा योग-प्रणाली का प्रचार करने के लिए उन्होंने 'आर्य' नामक मासिक पत्र भी प्रकाशित किया जिसका उद्देश्य था (१) अस्तित्व की उच्चतम अवस्थाओं का विधिवत् अध्ययन, (२) ज्ञान के विशाल समन्वय की रचना। पूर्व और पश्चिम की सभी मानवता विरोधी धार्मिक परंपराओं का परिष्कार। इस कार्य को बौद्धिक और वैज्ञानिक अनुशासन के साथ पूरा करना।

'आर्य' के प्रथम पाँच-छः वर्षों में जो लेख मालायें प्रकाशित हुई वे अध्यात्मिक दृष्टि से बहुत महत्त्व की हैं। उनमें से 'देवी जीवन,' 'योग समन्वय,' 'वेद-रहस्य,' 'मानव एकता का आदर्श,' 'सामाजिक विकास का मनोविज्ञान' आदि कितने ही निबन्ध तो एक स्थायी निधि के समान हैं। श्री अरविंद ने इन निबन्धों तथा अन्य रचनाओं में जो विचार प्रकट किए हैं, वे एक प्रकार से भविष्य के स्वप्न थे। सन् १९४७ की १५ अगस्त को भारतीय स्वतंत्रता-दिवस पर उन्होंने कहा था—

"मेरा एक स्वप्न एशियावासियों के पुनरुत्थान और मुक्ति का था, जिससे वे मानव सभ्यता की प्रगति में अपना महान् योग दे सकें। दूसरा स्वप्न था सारे संसार का एक संघ स्थापित होने का, जिसका बाह्य आधार मानव मात्र का श्रेष्ठ, समुज्ज्वल और शिष्ट जीवन हो।" कहना न होगा कि ये दोनों बातें अधिकांश में पूरी हो चुकी हैं या उनकी सम्भावना निरंतर बढ़ती जाती है।

आगे चलकर उन्होंने भावी परिवर्तनों की जो रूपरेखा खींची वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उन्होंने कहा— "जो कुछ प्रयत्न किए जा रहे हैं, उनके मार्ग में आपत्तियाँ आ सकती हैं, उन प्रयत्नों को नष्ट कर सकती हैं, फिर भी अंतिम परिणाम निश्चित है। कारण यह कि एकीकरण ही प्रकृति की आवश्यकता और अनिवार्य गति है। मानव की जड़ता और मूर्खतापूर्ण स्वार्थभाव उसमें बाधक बन सकता है, पर प्रकृति की आवश्यकता और दैवी इच्छा के आगे ये चीजें सदैव टिकी नहीं रह सकतीं। पर इसकी प्राप्ति के लिए केवल बाहरी आधार

ही पर्याप्त नहीं है। इसके लिए अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण तथा पारस्परिक अनुराग की भी आवश्यकता है। इसका अर्थ यह नहीं कि लोगों की राष्ट्रीय भावना सर्वथा जाती रहेगी, पर वह अपने आप में पूर्णता प्राप्त कर लेगी और उसकी युद्धप्रियता नष्ट हो जायेगी।"

"एक और स्वप्न है, संसार को भारत की तरफ से आध्यात्मिकता का उपहार, जिसका श्रीगणेश हो चुका है। यह आंदोलन बढ़ता ही जायेगा। जमाने के संकटों के साथ-साथ संसार की अधिकाधिक आँखें उसकी ओर आशा से देख रही हैं और बहुसंख्यक लोग उसके समीप 'क्रियात्मक ज्ञान' प्राप्त करने आ रहे हैं।

श्री अरविंद को संसार का त्याग किये कई वर्ष हो चुके हैं और इस बीच में एक नहीं अनेक ऐसी विशेष घटनाएँ हो चुकी हैं जिनसे उपर्युक्त परिवर्तनों की आशा बढ़ती जाती है। जहाँ इस बीच में युद्ध की अभूतपूर्व तैयारियों की गई हैं, वहाँ विश्व संघ का प्रभाव भी बढ़ा है और कई बार उसने महायुद्ध की संभावना को टाला है। अरविंद के कथनानुसार बहुसंख्यक लोगों की जड़ता और स्वार्थ भावना के कारण इस आदर्श की प्राप्ति में बाधाएँ अवश्य पड़ेंगी, पर अंत में नये समाज और संसार का आगमन निश्चित है। वह नया संसार कैसा होगा इसकी भी थोड़ी-सी झाँकी श्री अरविंद ने इन शब्दों में कराई है—

"अंतिम स्वप्न है विकास की ओर एक नया कदम, जिससे मनुष्य वर्तमान की अपेक्षा उच्च और विशाल चेतना की ओर अग्रसर हो सके और उन समस्याओं का हल खोज सके, जिनको हल करने में वह आज तक परेशानी और क्लिष्टव्यविमूढ़ता का अनुभव करता रहा है। यह एक ऐसा आदर्श है जिसका प्रभाव भारत और पश्चिम के मस्तिष्कों पड़ने लगा है। इस कार्य में अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक कठिनाइयाँ हैं, पर वे दूर की जा सकती हैं और जगन्मयता की इच्छा हुई तो ये कठिनाइयाँ बिल्कुल दूर हो जायेंगी। इस कार्य का आरम्भ आत्मा और अंतर्चेतना द्वारा इसी देश में हो सकता है। यद्यपि इसका लक्ष्य सार्वभौम होगा, पर इसका केन्द्र भारत में ही रह सकता है।"

वास्तव में अरविंद घोष ने एक ऐसे नये संसार का स्वप्न देखा था जो आज नहीं है, पर भविष्य में उत्पन्न होने वाला है। वर्तमान संसार अधिकांश में भौतिकवाद पर आधारित है, इसलिए लोगों का ध्यान धन, सम्पत्ति तथा अन्य सांसारिक सामग्री पर रहता है। जब उसमें किसी कारण कमी पड़ती है तभी सब में खींचतानी और कलह होने लगती है, पर भावी जगत का आधार अध्यात्म रहेगा और उसमें बहुत से कार्य आत्मशक्ति से सम्पन्न कर लिए जायेंगे, इसलिए उस समय आजकल के लड़ाई-झगड़ों का अंत हो जायेगा और मनुष्य एक ऐसे उच्च धरातल पर पहुँच जायेगा जिसकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती।

श्री अरविंद की साधना जैसे-जैसे बढ़ती गई वैसे-वैसे ही उनका सम्बन्ध बाह्य जगत से कम होता गया। अंत में उनकी सिद्धि का दिन आ पहुँचा और २४ नवम्बर, १९२६ को उन्होंने संसार से पूर्णरूप से अवकाश ग्रहण कर लिया। उसके पश्चात् उन्होंने किसी से भी

मिलना बिल्कुल बंद कर दिया। शिष्यों तथा साधकों का जो मार्ग-दर्शन करते थे वह 'माताजी' (मीरा रिचार्ड) द्वारा होने लग गया।

इस प्रकार सन् १९२६ से १९५० तक श्री अरविंद एकांतवाद में एक ऐसी साधना में निमग्न रहे, जिसका उद्देश्य आध्यात्मिक मार्ग के अन्यान्य साधकों को आत्म-साक्षात्कार के मार्ग पर आगे बढ़ाना था। वे स्वयं तो योग के अंतिम लक्ष्य तक पहुँच कर सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त कर चुके थे, पर साथ ही अपनी साधना द्वारा एक ऐसा मार्ग भी प्रस्तुत करना चाहते थे, जिस पर चलकर मुमुक्षु व्यक्ति सांसारिक बंधनों को काट कर फेंक सकें। संसार को आगे बढ़ाने के लिए यह एक बहुत बड़ा कदम था। इसलिए ५ दिसम्बर, १९५० को ७८ वर्ष की आयु में जब उनका देहावसान हुआ तो लोगों ने इसे एक बड़ी क्षति समझा। उस अवसर पर भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने जो उद्गार प्रकट किए थे उनसे श्री अरविंद की महत्ता पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है—

“श्री अरविंद प्राचीन ऋषियों की भाँति साहसी और निर्भीक विचारक थे। वे केवल विचारक ही न थे साथ ही उन विचारों को कार्य रूप में भी परिणत करते थे। लिखित और मौखिक शास्त्रों का अध्ययन करके उन्होंने अपनी साधना द्वारा उसे और भी दृढ़ रूप दे दिया था। उनके भौतिक शरीर को तो अब कोई देख न सकेगा, पर जो संदेश वे छोड़ गये हैं, वह न केवल भारतवासियों को वरन् सारे संसार को प्रेरणा देता रहेगा। भारत उनकी स्मृति की पूजा और प्रतिष्ठा करता रहेगा और उन्हें महान् मुनियों तथा देवदूतों में स्थान देगा।”

उनकी भावी भारत की परिकल्पना यह थी “हमें देश तथा मानवता के लिए मन प्राण लगाकर अथक् परिश्रम करना होगा। अभी तक यह आदर्श एक छोट्टा-सा बीज मात्र है और जो जीवन इसे मूर्त रूप देता है वह स्वयं एक नन्हा-सा केन्द्र मात्र है, किन्तु हमारी ध्रुव आशा है कि बीज एक महान् वृक्ष बनेगा और केन्द्र एक सदा विस्तृत होती हुई रचना का हृदय होगा। इस विसर्जित होते हुए जगत की अस्त-व्यस्तता में जन्म लेने के लिए नई मानवता संघर्ष कर रही है जो भावना हमें प्रेरणा दे रही है उसमें वे दृढ़-विश्वास के साथ हम उस नई मानवता का, भावी भारत के ध्वजवाहकों का दर्शन करते हैं। यह विशद भारतीय अध्यात्म ही थके-माँदे शरीर का जीर्ण देव संस्कृति का कथा-कल्प करके उसे नया जीवन देगा। वह दिन जल्दी ही आएगा।

त्याग का परिणाम

उस समय भारत में स्वतन्त्रता आन्दोलन जोर पकड़ रहा था। सरकारी शिक्षा संस्थानों में शिक्षा प्राप्त करने का भी बहिष्कार होना आवश्यक था, किन्तु उस समय आन्दोलनकारियों के पास न इतना धन था और न साधन ही थे जिससे वे महाविद्यालय चला सकें। कुछ रुपया इकट्ठा हुआ। महाविद्यालय की रूपरेखा बनाई गई किन्तु, उसके संचालन के लिए भी तो योग्य अनुभवी व्यक्ति की आवश्यकता थी, जो बिना काफ़ी चेतन के सम्भव नहीं था। विद्यालय की ओर से केवल ७५ रु. मासिक वेतन पर संचालक का विज्ञापन किया गया।

सभी ने सोच रखा था इतने-से वेतन पर कौन अच्छा आदमी आवेगा? सब निराश ही थे कि अचानक एक आवेदन-पत्र आया और वह भी एक योग्य अनुभवी व्यक्ति का जिसकी स्वप्न में भी आशा नहीं की जा सकती थी। बड़ौदा कॉलेज के अध्यक्ष श्री अरविन्द घोष ने, जिन्हें उस समय अन्य सुविधाओं के साथ सात-सौ पचास रुपया मासिक वेतन था, उसे छोड़कर बंगाल में स्थापित इस नव-राष्ट्रीय महाविद्यालय के लिए ७५ रु. मासिक वेतन पर काम करना स्वीकार कर लिया। जहाँ इतना त्याग आदर्श किसी संस्था का संचालक उपस्थित करे वहाँ छात्रों के चरित्र एवं भावनाओं पर क्यों प्रभाव न पड़ेगा? उस विद्यालय के छात्रों ने आगे चलकर स्वतन्त्रता आन्दोलन में भारी भाग लिया और उनमें से कितने ही चोटी के राजनैतिक नेता बने।

महर्षि रमण—आत्मान्वेषण ही जिन्हें इष्ट था

घर में किसी अतिथि का आगमन हुआ। १५ वर्षीय किशोर ने स्वागतार्थ उनसे पूछा “आप कहाँ से आ रहे हैं?” अतिथि ने उत्तर दिया ‘अरुणाचल से।’ ‘अरुणाचल’ शब्द का सुनना था कि किशोर का रोम-रोम एक अपूर्व आनन्द से भर उठा। जाने कौन-सी तरंगें इस शब्द के साथ जुड़ी हुई थीं कि उसकी विलक्षण प्रतिक्रिया इस किशोर पर हुई।

माँ अवगमाल और पिता सुन्दर अय्यर वेंकटरमण के घर इस बालक का जन्म सन् १८७९ में हुआ था। सुन्दर अय्यर वेंकटरमण मदुरा में वक्त्रालत करते थे। ये एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण थे, वैसी ही उनकी पत्नी साध्वी एवं धर्मनिष्ठ थी। इनके संस्कारों का बालक के जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा। माता-पिता बालक के प्रथम गुरु होते हैं। स्वाभाविक है सुसंस्कृत परिवार का बालक सुसंस्कृत होगा ही।

पढ़ने के लिए इसे कई पाठशालाओं में भेजा गया पर यह जिस प्रकार की शिक्षा चाहता था, उसे वहाँ नहीं मिलती थी, इस कारण प्रायः शिक्षा के प्रति उदासीन ही रहा करता था। इसे सन्तों की जीवनियाँ बड़ी अच्छी लगती थीं। उसने तमिल सन्तों का जीवन चरित्र पढ़ा। उसके मन में वैसा ही बनने की अकांक्षा उत्पन्न हुई। यही बालक आगे चलकर महर्षि रमण के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उपनिषद् काल के आत्मान्वेषी ऋषियों की परम्परा को पुनर्जीवित करने का श्रेय महर्षि रमण को ही दिया जा सकता है।

ज्यों-ज्यों ये बड़े होते गए इनका चिंतन बढ़ता गया। सत्रह वर्ष की आयु में इन्होंने मृत्यु पर चिन्तन किया। मृत्यु के बाद इस शरीर के नष्ट हो जाने पर क्या चेतना समाप्त हो जाती है? या कहीं अन्यत्र चली जाती है? इसका उत्तर पाने के लिये वे चिंतन करते-करते थक गए। पर कोई निष्कर्ष नहीं निकल सका। मैं मर जाऊँगा। क्या यह शरीर ही ‘मैं’ हूँ, शरीर हूँ तो मरता क्यों हूँ? आदि प्रश्नों के उत्तर वे नहीं पाते थे।

ज्यों-ज्यों इनकी आयु बढ़ी त्यों-त्यों इनका चिन्तन और भी गहन होता गया। इसका परिणाम यह हुआ कि ये पढ़ाई में पिछड़ गये। उन्हें प्रायः गृह कार्य पूरा करके न लाने के कारण अध्यापक की डाँट सहनी पड़ती थी। इनके बड़े भाई नाग स्वामी इनकी इस दशा को देखकर इन पर कुपित हो जाते थे। इस बालक को इस विद्या से तृप्ति नहीं हो पाती थी। वह तो शाश्वत सत्य को जानने के लिये भटक रहा था। उसे इस प्रकार की विद्या से विराग हो गया। उनका मन्दिरों में आना-जाना बढ़ गया। वे घण्टों देव प्रतिमा के सम्मुख बैठकर उनसे अपने वास्तविक स्वरूप का दिग्दर्शन कराने की प्रार्थना करते रहते।

उन्हें लगा कि उन्हें 'अरुणाचल' बुला रहा है। वहीं उनकी सारी जिज्ञासा शान्त हो सकती है। इस खोज के लिये प्रयोगशाला वहीं बनाई जा सकती है। सत्रह वर्ष की आयु में वे घर छोड़कर इन प्रश्नों के उत्तर खोजने के लिये अरुणाचल के लिये चल पड़े।

जितना बड़ा उद्देश्य होता है उतना ही साहस और श्रम भी आवश्यक होता है। जिन रहस्यों को वे खोजना चाहते थे वे इतने गूढ़ थे कि उसके लिए सारा जीवन समर्पित करना पड़ता है। इस प्रकार का साहस बिरले ही कर पाते हैं।

अरुणाचल पहुँच कर वे अपनी गहन साधना में लीन हो गए। इन्होंने अपनी समस्त चित्तवृत्तियाँ समेट कर एकाग्र कर लीं अपने ध्येय में सफल होने के लिये उन्होंने मन्दिर के गर्भ-गृह में प्रवेश किया जहाँ वर्षों से जहरीले कीड़े-मकोड़ों का साम्राज्य तो था ही साथ ही धुप्प अंधेरा भी था। यह विचलित न हुए। इनका एक ही लक्ष्य था कि अपने विषय में चरम सत्य की खोज करनी है। इसके लिये उन्होंने अन्य सब कामनाएँ त्याग दीं।

इनका सारा शरीर काला पड़ गया, केश बढ़कर जटा का रूप धारण कर गए, नाखून बढ़े-बढ़े हो गये पर इनका चिन्तन क्रम बन्द नहीं हुआ।

माता अवगम्मा अपने पुत्र को देखने के लिये आई। उस समय ये मौन धारण किए हुए थे। इनकी यह दशा देख माँ का हृदय रुक न सका वे रो पड़ीं तथा इन्हें घर चलने का आग्रह करने लगीं। इन्होंने माता को लिखकर बताया कि जो हो रहा है ठीक है आप चिन्ता न करें।

अरुणाचल आने पर महर्षि कहीं नहीं गए समस्त प्राणियों में एक ही दिव्य चेतना का अनुभव इन्होंने यहाँ किया। उसी आत्म-तत्त्व को सब में देखकर उसकी सत्यता को अपने जीवन-क्रम के द्वारा सिद्ध किया।

मौन भी वाणी से अधिक मुखर हो सकता है आँखों की भाषा में भी कहा सुना जा सकता है। महर्षि स्वयं इसके अनुपम उदाहरण थे। कई शंकराचार्य लेकर लोग इनके पास आते थे ये इन्हीं भाषाओं में आत्मा की स्फुरण के द्वारा उनका समाधान कर देते थे। इनसे लाभ उठाने वालों में गणपति शास्त्री, कृपालि शास्त्री, शुद्धानन्द

भारती, शेषाद्रि स्वामी, योगी रंगनाथ, हम्फ्रीस, पाल ब्रंटन आदि व्यक्ति भी थे।

शरीर भाव से महर्षि बिल्कुल शून्य थे वे चिदानन्द आत्मा के जीवित जाग्रत स्वरूप थे। स्कन्दश्रम में एक बार योगी रंगनाथ ने देखा महर्षि के पावों में अगणित कोंटे चुभे हुए थे। वे निकालने का आग्रह करने लगे। महर्षि ने कहा "कोंटे तो चुभेंगे ही तुम कब तक निकालते रहोगे।"

सभी प्राणियों को आत्म रूप समझने वाले महर्षि रमण का आत्म तत्त्व ऊपर से ओढ़ा हुआ नहीं था। उन्होंने अपने इस सत्य स्वरूप को केवल देखा ही नहीं उसे पा भी लिया था। सभी प्राणियों में एक ही चेतन तत्त्व है इसका उदाहरण रमणाश्रम में उन्होंने प्रस्तुत किया था। आश्रम के बन्दर, गिलहरी, मोर, साँप, गाय और कुत्ते महर्षि रमण की तरह ही महत्त्वपूर्ण अंग थे।

महर्षि रमण तपस्या करने के लिये पर्वत की एक कन्दरा में गये थे। उस कन्दरा पर कितने ही समय से जीव-जन्तुओं का साम्राज्य था। उन्हें इस नवागन्तुक पर बड़ा क्रोध आया। वर्षों से जो मकान केवल उनकी ही बापौती था अब उसका दूसरा अधिकारी आ पहुँचा, यह जानकर उनके एकाधिकार में विघ्न आ उपस्थित हुआ। यह प्राणी शरीर में उन्हें बड़ा लम्बा-चौड़ा और भयानक लगा।

वे सब अपनी सामर्थ्य के अनुसार इनको कष्ट देने लगे। महर्षि को कोई दुःख नहीं हुआ। वे जानते थे कि यह स्थान तो उन्हीं का है। मैंने तो यहाँ आने की अनधिकार चेष्टा की है। इनके एकान्त में विघ्न उपस्थित किया है। वे नहीं चाहते थे कि अपने एकान्त के लिये इन प्राणियों के अधिकारों का हनन करें, पर विवश थे। अपने को उनका अतिथि मानकर रहने लगे। अतिथि अपनी सब कामनाओं का त्याग कर देता है। उसे कोई दाल-सब्जी या रोटी जैसी कि गृह स्वामी खिलाता है, अस्वीकार ही नहीं करता वरन् प्रशंसा भी करता है। जहाँ वह सुलाता है वहीं सोता है जैसा कुछ व्यवहार करता है स्वीकार करता है। यही नीति महर्षि ने अपनाई।

इनका स्वागत सत्कार गृहस्वामी करने लगे। जब ये साधना करने बैठते तो कोई छिपकली ऊपर आ कूदती और भाग जाती। मच्छर अपना राग अलापने लगते, यही नहीं तीन बार तो बिच्छुओं ने डंक मारा। इस स्वागत को वे निर्विकार भाव से ग्रहण करने लगे। वे ध्यानस्थ हो जाते उनके क्रिया-कलाप चलते रहते उन्होंने अपने शरीर में पत्थर की-सी दृढ़ता उत्पन्न कर ली। उन्हें न विष व्याप्त हुआ न इन प्राणियों की इन हरकतों का कुछ प्रभाव ही हुआ।

कुछ दिन बाद स्वामी जी को इन लोगों ने अपने परिवार का ही मान लिया। मनुष्य के प्रति जो इन प्राणियों में धारणा थी वह इनके व्यवहार को देखकर समाप्त हो गई। वे मनुष्य को प्रेम हीन प्राणी मानते थे। जो सदा इनकी अकारण हत्या करता था। लेकिन स्वामी जी में उन्होंने ऐसा कुछ भी न पाया, तो परायेपन की दीवार टूट गई।

एक विषधर सर्प उनके स्कन्दाश्रम में आया। उन दिनों महर्षि की माता जी भी वहाँ थीं। वे उसे देखकर डर गईं पर महर्षि ने उसे बड़े स्नेह से देखा। उसे विश्वास हो गया। वह महर्षि के चरणों पर लेट गया। इसके बाद वह प्रायः आया करता व उनके चरण स्पर्श करता।

एक मादा कौआ तो अपने बच्चों का भार ही महर्षि पर छोड़ देती थी। वह दिन को भोजन की तलाश में जाती तो बच्चे उनके पास छोड़ जाती। वे उनकी देख-भाल करते और जब उन्हें भूख लगती वे चिंचियाते तब उन्हें भोजन देते और पानी पिलाते।

महर्षि के वहाँ निवास से कई प्राणी अपने परम्परागत वैमनस्य को भुलाकर मित्र बन गए। यह साँप आश्रम के एक मोर का मित्र बन गया और जब मोर पंख फैलाकर नाचता तो साँप भी अपना फन फैलाकर लहराने लगता।

आश्रम के पशु-पक्षी उनके बन्धु-बांधव बन चुके थे वे प्रायः उन्हें प्रेम से सहलाते उनसे बात करते और प्रतिदान में उनसे भी स्नेह पाते थे। प्राणी मात्र में एकत्रता की यह अनुभूति ही उन्हें साधना पथ पर शीघ्रता से आगे बढ़ाने में सहायक हुई थी।

महर्षि रमण एक बार शिलाखण्ड पर बैठे थे। एक सर्प रेंगाता हुआ आया और उनके पैर पर चढ़कर चला गया। शिष्यों ने पूछा, “सर्प ने कगड़ा क्यों नहीं?” महर्षि ने उत्तर दिया, “क्या सर्प भूमि पर फन से प्रहार करता है?” सर्प के लिए भूमि कोई अवरोध, वैषम्य या अहंकार पैदा नहीं करती। सर्प के कगड़ने का कारण जीव का अहंकार, उससे उत्पन्न विषमता, भेद और उससे उत्पन्न अवरोध है। जहाँ अहंकार नहीं वहाँ शत्रुता नहीं है। महर्षि मौन रहते थे पर उनके समीप आने वालों और प्रश्न पूछने वालों को मौन भाषा में ही उत्तर मिल जाते थे। उनकी दृष्टि नीची रहती थी। पर कभी किसी को आँख से आँख मिलाकर देखा तो इसका अर्थ होता था, उसकी दीक्षा हो गई। उन्हें ब्रह्मज्ञान का लाभ मिल गया। ऐसे ब्रह्मज्ञानी बड़भागी थोड़े से ही थे।

आरम्भिक दिनों में वे अरुणाचल के कतिपय अनुकूल स्थानों में निवास करते रहे। पीछे उन्होंने एक स्थान स्थायी रूप से चुन लिया। आरम्भ में उनकी साधना का कोई नियत स्थान और समय नहीं था। पीछे वे नियम-बद्ध हो गये, ताकि दर्शनार्थी आगन्तुकों को यहाँ-वहाँ तलाश में न भटकना पड़े।

महर्षि रमण सिद्ध पुरुष थे। मौन ही उनकी भाषा थी। उनके सत्संग में सब को एक जैसे ही सन्देश मिलते थे मानो वे वाणी से दिया हुआ प्रवचन सुन कर उठे थे। सत्संग के स्थान में उस प्रदेश के निवासी कितने ही प्राणी नियत स्थान और नियत समय पर उनका सन्देश सुनने आया करते थे। बन्दर, तोते, साँप, कौए सभी को ऐसा अभ्यास हो गया कि आगन्तुकों की भीड़ से बिना डरे झिझके अपने नियत स्थान पर आ बैठते थे और मौन सत्संग समाप्त होते ही उड़कर अपने-अपने घोंसलों को चले जाया करते थे।

संस्कृत के कितने ही विद्वान् उनकी सेवा में आये तथा अपने-अपने समाधान लेकर वापस गये। उन्हीं लोगों ने रमण गीता आदि कतिपय संस्कृत पुस्तकें लिखीं जिनमें महर्षि की अनुभूतियों तथा शिक्षाओं का उल्लेख मिलता है।

वे सिद्ध पुरुष थे पर उन्होंने जान-बूझकर कभी सिद्धियों का प्रदर्शन नहीं किया। भारत में योगियों की खोज करने वाले पाल ब्रंटन ने बड़े सम्मानपूर्वक उनकी कितनी ही अलौकिकताओं का उल्लेख किया है।

भारत को स्वतन्त्रता दिलाने में जिन तपस्वियों का उल्लेख किया जाता है उनमें योगीराज अरविन्द, रामकृष्ण परमहंस और महर्षि रमण के नाम प्रमुख हैं।

रमण महर्षि की समदृष्टि

भारतवर्ष के मद्रास प्रांत में उत्तरी भारत की अपेक्षा एक भिन्न प्रकार की सभ्यता तथा संस्कृति के दर्शन होते हैं, जिसे विद्वान् लोग ‘द्रविड’ के नाम से पुकारते हैं। यद्यपि वहाँ के निवासी भी हिन्दू हैं और वेदों का वहाँ उत्तर भारत की अपेक्षा बहुत अधिक प्रचार है, तो भी उनके रीति-रिवाज, रहन-सहन, पूजा-पाठ, भजन-ध्यान आदि सभी बातों में उत्तरी प्रांतों की अपेक्षा बहुत विलक्षणता पाई जाती है। यद्यपि उत्तर भारत में प्रचलित वैष्णव सम्प्रदायों के सभी आचार्य दक्षिण भारत में ही उत्पन्न हुये थे पर वहाँ के निवासी प्रायः शैव हैं और शिव की पूजा का जितना प्रचार वहाँ है, उतना अन्य प्रांतों में देखने में नहीं आता।

इसी मद्रास या तमिल प्रांत में हाल ही में एक ऐसे महापुरुष का आविर्भाव हुआ था जो आध्यात्मिक दृष्टि से एक दैवी पुरुष थे और जिनके आकर्षण से भारतवर्ष ही नहीं विदेशों के भी अध्यात्म प्रेमी व्यक्ति खिंचकर चले आते थे। इस भौतिकवाद के युग में भी अच्छे-अच्छे आधुनिक शिक्षा प्राप्त व्यक्ति इस जंगल में रहने वाले, अल्पशिक्षित और नंगे व्यक्ति के दर्शन करने और उपदेशों को सुनने के लिये पहुँच जाते थे। वहाँ के धार्मिक व्यक्ति तो उनको शिवजी के पुत्र स्कन्द जी का अवतार मानने लगे थे और अरुणाचल महादेव के साथ उनकी भी पूजा करते। इनका नाम था महर्षि रमण।

कहते हैं कि महर्षि रमण के पूर्वजों के वहाँ किसी समय एक संन्यासी भिक्षा माँगने आया। उसे वहाँ एक दाना भी नहीं दिया गया, उल्टे दो-चार खरी-खोटी बातें सुनाई गईं। इस पर संन्यासी को भी गुस्सा आ गया और उसने श्राप दिया कि तुम्हारे वंश में भी कोई न कोई मेरे समान भीख माँगने वाला पैदा होता रहेगा। तब से वास्तव में इनके वंश में ऐसी घटना स्पष्ट दिखलाई पड़ रही थी। रमण के एक बाबा संन्यासी थे। उनके एक चाचा ‘वेंकटेश्वर्यर’ भी योगी बन गये थे। महर्षि रमण के पिता एक अच्छी स्थिति के वकील थे और इनकी शिक्षा की व्यवस्था भी उत्तम थी पर ये घर के सब बन्धनों को

तोड़ कर और घर वालों के, विशेषतया माता के, आग्रह की भी उपेक्षा करके संन्यासी बन गये।

घर से निकलने पर साधन करते हुये, रमण को बहुत विघ्नों का सामना करना पड़ा था। वे न तो अधिक बोलते थे और न किसी से कुछ माँगते थे, अधिकांश समय ध्यान में आँखें बन्द किये बैठे ही रहते थे, इसलिये लोगों ने उनको एक पागल समझ लिया था। आस-पास के आवारा लड़के उन पर धूल, मिट्टी, कंकड़, पत्थर फेंकते रहते थे। इससे उनको बड़ा कष्ट होता, तपस्या में बाधा पड़ती और चोट भी लग जाती। इनसे बचने के लिये वे मंदिर के नीचे की अंधेरी कोठरी में जा बैठते तो वहाँ तरह-तरह के कीड़े-मकोड़े काटते जिससे बदन में घाव हो जाते। अन्त में कुछ लोगों ने उनकी तपस्या के महत्त्व को समझा और वे उपद्रवकारियों से उनकी रक्षा करने लगे। फिर भी स्वामी जी कभी जीव को हानि नहीं पहुँचाते थे और सबको आत्मवत् समझते थे। अरुणाचल पहाड़ की गुफा में रहते समय तीन बार बिच्छुओं ने उनको डंक मारा, पर उन्होंने बिच्छुओं को मारने के बजाय जीवित ही छोड़ दिया। एक बड़ा काला नाग भी प्रायः इनके पास होकर निकल जाता था और कभी-कभी तो इनके ऊपर चढ़ने लगता था, पर उससे भी इन्होंने कभी कुछ नहीं कहा। आस-पास में रहने वाले गिलहरी, कौए, चिड़िया तो उनसे ऐसे निर्भय हो गये थे कि पास में आकर हाथ से दाना, फल आदि खाते रहते थे। एक बन्दर का बच्चा भी दूसरे बड़े बन्दरों के भय से इनकी शरण में चला आया और इनके पास ही रहने लगा। एकाध बार उसने इनको भ्रमवश मार भी दिया, पर इन्होंने उसे क्षमा प्रदान कर दी।

इस प्रकार अज्ञान पशु-पक्षी तो स्वामी जी के शुद्ध और अहिंसात्मक मनोभाव को देख कर उनके मित्र बन जाते थे, पर मनुष्य तो इस दृष्टि से पशुओं से भी नीचे गिरा हुआ है। एक दिन रात के समय कुछ चोर स्वामी जी के आश्रम में उनको लूटने के लिये आ पहुँचे उस समय स्वामी जी के साथ अन्य पाँच-सात साधू भी आकर रहने लगे थे और उन सबके खाने-पीने के लिये थोड़ा-सा सामान वहाँ एकत्रित हो गया था। चोरों ने समझा था कि अन्य मंदिर-मठों की तरह यहाँ भी गहरी रकम जमा होगी, पर जब सब जगह ढूँढ़ने पर भी उनको छः रुपया से अधिक नहीं मिला तो वे बड़े गुस्से में आये और उन्होंने स्वामी जी तथा अन्य साधुओं को डण्डों से मारा। चोरों ने कई बार स्वामी जी पर लाठी तानकर पूछा “बताओ, तुमने अपना धन कहाँ छुपाया है?” पर स्वामी जी के पास धन होता तब तो वे बतलाते। अन्त में चोर लौट गये।

थोड़ी देर बाद आश्रम का एक साधू, जो चोरों के आते ही दौड़ गया था, पुलिस वालों को लेकर वहाँ आया। पुलिस ने कहा कि “आप चोरी की रिपोर्ट लिखाइये।” पर महर्षि ने इस बात पर ध्यान न दिया और केवल यही कहा कि “कुछ अज्ञानीजन आश्रम में चोरी

करने चले आये थे, पर जब उनको यहाँ बहुत कम सामान मिला तो निराशा के साथ लौट गये।” बाद में पुलिस के बड़े अफसर स्वयं इस घटना की तहकीकात करने को आये, पर स्वामी जी ने उनसे भी अपने पीटे जाने या चोरों की दुष्टता की कोई बात नहीं कही।

महर्षि के आश्रम से थोड़ी ही दूर एक गाँव में कोई अध्यापक रहता था। महर्षि की कीर्ति सुनकर उसने इरादा किया कि वह भी उनके समान ही त्यागी और तपस्वी बन जायेगा और तभी उनके पास जायेगा। पर संसार त्याग का सच्चा भाव हँसी-खेल तो है नहीं। फलतः वैराग्य तो दूर रहा उसके चित्त में बुरी-बुरी भावनाओं का उदय होने लगा। झक मार कर वह महर्षि की शरण में गया। महर्षि में अन्य लोगों के मन की बात जानने की स्वाभाविक शक्ति थी। इस अध्यापक को देखकर वे मुस्कराने लगे और यह भाव प्रकट किया कि “पंख आने के पहले ही उड़ने की कोशिश नहीं करनी चाहिये, अन्यथा नीचे गिरना पड़ेगा। सभी साधक एक ही मार्ग पर नहीं चल सकते। पहले तो साधक को उचित है कि परहित को ही स्वार्थ समझ कर समाज सेवा की शक्ति प्राप्त करे। जब इसमें कृत कार्य हो जाय तब एकान्त में रहकर साधना की अभिलाषा करे।”

कुछ समय बाद इसी अध्यापक ने अपने कौटुम्बिक जीवन से ऊब कर आत्महत्या का विचार किया। यदि यह न हो सके तो संन्यासी होकर वन में निकल जाने का निश्चय था। वह इस सम्बन्ध में महर्षि की सम्मति जानने के लिये इनके पास आया। उस समय ये आश्रम वासियों के भोजन के लिये पत्तलें बना रहे थे। अध्यापक के कुछ कहने से पूर्व ही स्वामीजी कहने लगे— “देखो, पत्तल बनाना आसान नहीं है। पत्ते बीनने पड़ेंगे, सीकें लानी होंगी और बड़ी सावधानी से पत्तों को एक-दूसरे से जोड़ना होगा। तब कहीं जाकर भोजन करने के लिये पत्तल तैयार मिलेगी। उसका पूरा उपयोग करने के बाद ही उसको फेंक देना चाहिए। अध्यापक ने स्वामी जी का आशय समझ लिया कि मनुष्य शरीर बड़ी कोशिश से मिलता है, उससे आत्मोन्नति का पूरा-पूरा लाभ उठाने के पहले उसको छोड़ना नहीं चाहिये।”

वेदान्त को अपने जीवन माध्यम से समझाने वाले—स्वामी रामतीर्थ

घटना सन् १९०१ की है। मथुरा में एक धर्म सम्मेलन का आयोजन हुआ। इस सम्मेलन के आयोजक आचार्य शिवगण ने सभी धर्मों के प्रतिनिधि विद्वानों को आमन्त्रित किया पर सम्मेलन का अध्यक्ष बनाया स्वामी रामतीर्थ को जिनका न कोई मठ था और न कोई आश्रम। तीसरे दिन की बात है। ईसाई धर्म के प्रतिनिधि फादर स्कॉट ने अपने धर्म का विवेचन करते हुए हिन्दू धर्म पर कुछ भौण्डे आक्षेप किये। श्रोतागणों में क्षोभ उत्पन्न हो गया, लोग शोर मचाने, पर स्वामीजी ने सबको शान्तिपूर्वक बैठे रहने का आग्रह किया।

फ़ादर स्कॉट जब अपना भाषण समाप्त कर चुके तो स्वामी रामतीर्थ उठे और उन्होंने फ़ादर स्कॉट के आक्षेपों का इतना नम्र-समाधान किया कि पादरी स्कॉट को बड़ी लज्जा अनुभव हुई और उन्होंने अपनी गलती स्वीकार करी तथा उपस्थित जनसमुदाय से क्षमा माँगी। यह प्रभाव स्वामी जी की वाणी से अधिक उनके व्यक्तित्व का था अन्यथा सैकड़ों लोग हैं जो अपने वाक्यातुर्य से लोगों को हतप्रभ करते हैं पर उनकी वाणी का जरा-भी असर नहीं पड़ता, स्वामी जी की स्वयं यह मान्यता रही है जितना तुम बोलते हो उससे ज्यादा तुम्हारा व्यक्तित्व सुना जाता है और स्वामी जी ने वेदान्त को जो तब तक चर्चा और परिसम्वाद का विषय ही समझा जाता था अपने जीवन और आचरण में उतार कर निज के व्यक्तित्व को इतना तेजस्वी तथा प्रखर बना लिया था कि उसके आगे हर कोई नतमस्तक हो उठता था।

स्वामी रामतीर्थ का जन्म उत्तरी सीमा प्रान्त में स्थित गुजरावाला जिले के मुरली वाला गाँव में २२ अक्टूबर, १८७३ ई. को हुआ। उनके पिता का नाम हीरानन्द था और बालक का नाम रखा गया तीर्थराम। तीर्थराम का जन्म होने के कुछ माह बाद ही उनकी माँ का देहान्त हो गया। परिवार की आर्थिक स्थिति बहुत ही साधारण थी। अतः उनको उच्च शिक्षा नहीं दिला सके। जब तक वह गाँव में रहे तब तक वहाँ के एक मौलवी से उर्दू पढ़ते रहे।

परिवार की आर्थिक स्थिति भले ही दयनीय हो पर हीरानन्द जी की आकांक्षा थी कि अपने पुत्र को पढ़ा-लिखाकर योग्य बनायें इसलिए उन्होंने नौ वर्ष की आयु में तीर्थराम को अपने एक मित्र धन्ना भगत की देखरेख में शहर में रख दिया और हाईस्कूल में भर्ती करवा दिया। भगत धन्ना कसरती पहलवान थे और अविवाहित थे। साथ ही अध्यात्म में भी उनकी रुचि थी। तीर्थराम उनसे धर्म और अध्यात्म आदि विषयों पर चर्चा करते थे, धन्ना भगत के सान्निध्य का तीर्थराम पर बहुत प्रभाव पड़ा।

पन्द्रह वर्ष की आयु में तीर्थराम ने एण्ट्रेस की परीक्षा पास की और पंजाब भर में प्रथम आये। इस सफलता ने उनकी प्रतिभा को प्रमाणित किया और परीक्षा बोर्ड ने उन्हें प्रोत्साहित करने के लिए छात्रवृत्ति दी। लेकिन हीरानन्द जी तीर्थराम को और अधिक पढ़ाना नहीं चाहते थे। तीर्थराम ने अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध आगे पढ़ाई जारी रखने का निश्चय किया और कॉलेज में भर्ती हो गए। कॉलेज की पढ़ाई के लिए स्कूली खर्चा और भोजन वस्त्र के व्यय का प्रबन्ध तो आवश्यक था वह कहाँ से पूरा हो। तीर्थराम ने इसका सहज रास्ता निकाल लिया। उन्होंने छात्रवृत्ति से तो स्कूल की फीस और पुस्तक आदि का खर्च चलाने का निश्चय किया तथा भोजन, वस्त्र के लिए ट्यूशन द्वारा खर्च चलाने का रास्ता निकाल लिया। अपनी मर्जी के खिलाफ कॉलेज में भर्ती होने के कारण हीरानन्द जी ने तो उन्हें कोई भी किसी भी तरह की मदद न करने की ठान ली थी। पर तीर्थराम जी की आवश्यकतायें थीं ही कितनी जिन्हें पूरा

करने के लिए ज्यादा परिश्रम करना पड़े और वे अपना काम बड़ी मितव्ययिता तथा सादगी से चलाते रहे। उन्होंने अपनी आवश्यकताओं को इस स्तर का रखा जो आसानी से पूरी हो सकती थीं। कदाचित्त कभी कोई कमी पड़ती भी तो वे उसे बड़ी सूझबूझ के साथ निभा लेते थे। इस तरह की कई घटनाओं का उल्लेख उनके जीवनी लेखकों ने किया है जिनसे विदित होता है कि घोर अभाव के दिनों में भी वे अपने आपको किस प्रकार परिस्थितियों के अनुकूल ढाल लेते थे। उनकी आमदनी औसतन तीन पैसे रोज थी और उसी में वे सन्तोषपूर्वक गुजारा कर लेते थे। लाहौर जैसे शहर में तीन पैसे रोज पर गुजारा करना बड़ा ही कष्टसाध्य था। वे सुबह के वक्त एक दुकान पर दो पैसे की रोटी खरीद लेते। दाल मुफ्त मिलती थी। उसी से काम चल जाता था। कुछ दिनों तो इसी तरह बीत गये पर बाद में दुकानदार ने अपना नियम बदल दिया और तीर्थराम से कह दिया कि दाल मुफ्त नहीं मिल सकती। इस पर विवश होकर तीर्थराम ने शाम का खाना बन्द कर दिया और सुबह एक वक्त ही भोजन करने लगे। उनके पास कड़के की सर्दी में भी पहनने के लिए कोट नहीं था न ही पतलून और न नेकटाई ही थी। पहनने के लिए केवल खद्दर की एक कमीज और एक पायजामा भर था।

पैरों में साधारण से देशी जूते थे। एक बार वे किसी दुकान से कुछ सामान खरीद रहे थे। सामान खरीद कर दुकान से उतर ही रहे थे कि पाँवों से एक जूता खिसक गया और नाली में गिर गया। नाली गहरी थी और उसमें काफी पानी था सो जूता उसमें डूबकर बह गया। निर्विन्द भाव से तीर्थराम एक जूता हाथ में लिये घर आये और उन्होंने बेमेल का दूसरा जूता दूसरे पाँव में डालकर काफी दिनों तक काम चलाया। इस हालत में देखकर तीर्थराम के कई सहपाठी उनकी हँसी उड़ाते थे पर तीर्थराम को इसकी कोई परवाह नहीं थी। बाद में जब उनके पास पैसे आ गये तो उन्होंने नये जूते खरीदे।

इस प्रकार तपोमय जीवन व्यतीत करते हुए ही तीर्थराम बड़ी लगन के साथ पढ़ते रहे। सभी वर्ग की परीक्षाओं में वे सदा प्रथम ही आते रहे पर अपनी योग्यता का लाभ अपने लिए उठाने की उनमें जरा भी भावना नहीं थी। जब वे एम. ए. की परीक्षा का फ़ार्म भर रहे थे तो लाहौर कॉलेज के अंग्रेज प्रिन्सीपल ने उनकी सच्ची लगन और योग्यता, प्रतिभा से प्रभावित होकर एक दिन तीर्थराम से कहा—“क्या मैं आपको नाम आई. सी. एस. (इण्डियन सिविल सर्विज) की परीक्षा के लिए भेज दूँ?”

तीर्थराम कुछ समय तक विचारमग्न रहे। उनकी आँखों में आँसू भर आये और डबडबाती आँखों से ही बोले—“मैंने इतनी मेहनत से ज्ञान का जो खजाना पाया है उसे धनवान बनने के लिए खर्च नहीं करना चाहता। उच्च पदों पर आसीन रहकर मैं अपनी इस प्रतिभा का क्या उपयोग करूँगा? मैंने तो यह ज्ञान इसलिए कमाया है कि इस दौलत को बाँट कर अपने आपको तथा अन्य औरों को सुखी बनाऊँ।”

‘तो एम. ए. पास करने के बाद क्या करोगे’— तीर्थराम से पूछा— प्रिन्सीपल ने । वे अपने इस होनहार शिष्य के इन विचारों को सुनकर न केवल आश्चर्यचकित रह गये थे वरन् बेहद प्रभावित भी हुए थे ।

प्रिन्सीपल का यह प्रश्न सुनकर तीर्थराम ने कहा— ‘यदि कोई विचार है तो यही कि अपना सारा जीवन और हर एक साँस प्रभु की सेवा में लगा दूँ तथा मानव मात्र की सेवा करता रहूँ ।’

स्वामी रामतीर्थ के अन्तःकरण में सच्चा सेवा-भाव था और जन-सेवा की उत्कट लगन थी । विद्यार्थी जीवन में उन्होंने तप साधना तथा कठोर व्रतों को निभाना आरम्भ कर दिया था । शिक्षा पूरी करने के बाद उन्होंने कॉलेज में अध्यापन कार्य अपनाया । साथ ही उन्होंने सार्वजनिक जीवन में भाग लेना भी आरम्भ कर दिया । सन् १८९७ में लाहौर में कांग्रेस अधिवेशन हुआ । तीर्थराम जी भी उसमें शामिल हुए और उन्होंने बड़े-बड़े नेताओं के भाषण सुने, पर उन्होंने अनुभव किया कि भाषणों से देश का कोई उद्धार नहीं हो सकता । इन्हीं दिनों भारत के सामाजिक और धार्मिक क्षितिज पर स्वामी विवेकानन्द का अवतरण हुआ । तीर्थराम जी स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व तथा कृतित्व से बहुत प्रभावित हुए और उनके सम्पर्क में आकर उन्होंने भी अध्यात्म के प्रयोगों को ही अपना लक्ष्य बना लिया ।

एक दिन वे अपने साथ बिना कोई सामान लिये घर से निकले और उत्तराखण्ड के जंगलों में चल पड़े । काफ़ी दिनों तक उन्होंने उत्तराखण्ड के वन प्रान्तों का भ्रमण किया । वहाँ की जलवायु का उन पर विपरीत प्रभाव हुआ । इस भ्रमण के दौरान ही उनका नारायण स्वामी से साक्षात्कार हुआ । नारायण स्वामी ने अपने युग के इस विभूतिवान व्यक्तित्व को पहचाना और शिष्य भाव से स्वामी रामतीर्थ की सेवा-सुश्रूषा करने लगे । इन्हीं नारायण स्वामी ने स्वामी रामतीर्थ के देहान्त के बाद उनके विचारों के व्यापक प्रचार-प्रसार का कार्य सम्भाला तथा उनके प्रयासों से ही देश भर में स्वामी रामतीर्थ के भाषण और उपदेश विभिन्न भाषाओं में प्रकाशित हो सके थे ।

१९०१ में मथुरा में धर्म सम्मेलन हुआ । स्वामी तीर्थराम इस धर्म सम्मेलन के अध्यक्ष बनाये गये । उन्होंने जिस कुशलता से सम्मेलन का संचालन किया वह प्रस्तुत लेख के प्रारम्भ की पंक्तियों में बताया जा चुका है । धर्म सम्मेलन सम्पन्न हो चुकने के बाद उन्होंने मथुरा में कुछ समय तक एकान्तवास किया और अप्रैल, १९०२ में टेहरी चले गये । टेहरी नरेश को जब उनके आगमन का समाचार मिला तो उन्होंने स्वयं स्वामी रामतीर्थ से भेंट की और उनके लिए गंगा किनारे एक कुटी बनवा दी ।

उन्हीं दिनों समाचार पत्रों में जापान की राजधानी टोकियो में एक विश्व-धर्म सम्मेलन होने की सूचना छपी, सूचना में आयोजित सम्मेलन को उसी स्तर का बताया गया था जैसा कि १८९३ में अमेरिका में हुआ था और स्वामी विवेकानन्द ने उसमें हिन्दू धर्म की

विजय दुन्दुभि बजायी थी । टेहरी नरेश ने इस सम्मेलन में स्वामी रामतीर्थ को भेजने का निश्चय किया और उनसे इस तरह का आग्रह भी किया । स्वामी राम तुरन्त इस आग्रह को मान गये और आवश्यक तैयारियों के बाद जापान को प्रस्थान किया । वे जापान के लिए जहाज से रवाना हुए, रास्ते में जहाज जहाँ-कहाँ भी रुका लोगों ने स्वामीजी का हार्दिक स्वागत किया ।

जापान में स्वामी जी लगभग दो सप्ताह ठहरे । उनके भाषणों को वहाँ हर किसी ने पसन्द किया । एक बार किसी जापानी ने स्वामीजी से पूछा कि आपने स्त्री-बच्चों को क्यों छोड़ा तो उन्हें उत्तर दिया कि अपने छोटे से परिवार को एक बहुत बड़ा और विशाल परिवार बनाने के लिए । इसी तरह उन्होंने अपने कृत्यों द्वारा भी जापानियों को बहुत कुछ सिखाया । जिस सर्वधर्म सम्मेलन की बात सुनकर स्वामीजी जापान गये थे वह गलत निकली, इसकी पुष्टि हो जाने के बाद भी स्वामी जी स्वदेश वापस आने को उत्सुक नहीं हुए और अपना प्रचार अभियान चलाते रहे ।

जापान में प्रचार कार्य सम्पन्न कर वे अमेरिका रवाना हुए और वहाँ लगभग दो वर्ष तक रहे । अमेरिका में उनके सैकड़ों व्याख्यान हुए । कई व्यक्ति उनसे प्रेरणा प्राप्त कर उनके मार्गदर्शन से आत्मविकास की साधना में संलग्न हुए । उनके अमरीकी शिष्यों ने ही उनके व्याख्यानों के नोट्स लिये, स्वामी नारायण भी उनके साथ ही रहते थे और वे भी प्रस्तुत कार्य में आवश्यक सहयोग दिया करते थे ।

अमेरिका से वापस भारत लौटते समय स्वामी जी कुछ समय यूरोप के अन्य देशों तथा मिस्र में रुके । मिस्र में इस्लाम धर्म के अनुयायियों ने भी उनके व्याख्यानों को बड़े ध्यानपूर्वक सुना और अनुभव किया कि इस्लाम धर्म के मूल सिद्धान्तों की इतनी सुन्दर व्याख्या कोई व्यक्ति आजीवन अध्ययन करता रहकर भी शायद ही कर सके ।

भारत आने के बाद उन्होंने कुछ समय तक देश के विभिन्न भागों का भ्रमण किया और लोगों को व्यावहारिक वेदान्त की शिक्षा दी । बाद में उत्तराखण्ड चले गये और वहीं उन्होंने अपना स्थायी निवास बना दिया । सन् १९०६ की दीपावली थी । उन दिनों उन्होंने एक लेख लिखा जिसमें मौत का आह्वान किया गया था । उससे कुछ दिन पूर्व ही उन्होंने अपने शिष्य नारायण स्वामी से कहा था कि— ‘राम की तबियत अब संसार से ऊब गयी है । अतः वह शीघ्र ही इस संसार को त्यागने वाला है और दीपावली को ही तेतीस वर्ष की आयु में उन्होंने गंगा में जल समाधि ले ली । स्वामी रामतीर्थ जिस समय संसार से विदा होने लगे उस समय मृत्यु को सम्बोधित करते हुए उन्होंने जो भाव व्यक्त किये वे एक अध्यात्मवादी भारतीय के अनुरूप ही थे उन्होंने आनन्द विभोर होते हुए कहा था—

ऐ माँ की गोद के समान शान्तिदायिनी मृत्यु ! आओ और इस भौतिक शरीर को लें जाओ । मेरे पास और बहुत से नये शरीर हैं ।

मैं तारों की चमक और चन्द्रमा की किरणों का शरीर धारण कर सकता हूँ। मैं आत्मा रूप हूँ संसार के सारे शरीर मेरे हैं। सारी सृष्टि ही मेरी देह है और मैं उसका शाश्वत, अविनश्वर और चिर-चेतना देही हूँ। मैं शुद्ध, बुद्ध और निरुपाधि ब्रह्म हूँ ब्रह्म। व्यापक और विकार रहित ब्रह्म।”

प्रेम-पथ के निर्भय पथिक

विद्यालय चल रहा था। छात्रगण दो कतारों में बैठे शिक्षक से पाठ पढ़ रहे थे। पाठ खत्म होने पर अध्यापक ने श्याम पट पर एक लकीर खींची और छात्रों से प्रश्न किया— “बच्चों तुममें से कोई लकीर को बिना मिटाए छोटी कर सकता है।”

सभी छात्र चुप रह गये। किसी के पास कोई उत्तर नहीं था। एक छात्र उठा और श्याम-पट के निकट आया। उसने शिक्षक के हाथ से खड़िया लेकर श्याम-पट पर खींची हुई लकीर के पास ही, उससे एक बड़ी लकीर खींच दी।

अध्यापक उस छात्र के बुद्धिचातुर्य से अवाक रह गये और विद्यार्थियों से बोले— यह याद रखो कि जीवन में महान् बनने के लिए किसी को मिटाना आवश्यक नहीं है। इसके लिए तो हमें स्वयं ही अपने कार्यों द्वारा औरों से आगे बढ़ना होगा।” — यह अध्यापक थे— प्रोफेसर तीर्थराम। प्रायोगिक प्रतीकों के माध्यम से शिक्षा देने की यह उनकी अपनी विधि थी।

बाल्यकाल से ही उनमें विद्याध्ययन के प्रति अटूट लगन थी। फक्ककशी का जीवन व्यतीत करते हुए भी उन्होंने अपनी क्रियात्मक-आराधना में लवलेश कमी नहीं आने दी। उनकी प्रतिभा से प्रभावित होकर उनके प्रिन्सीपल ने उस समय आग्रह किया जब कि वे एम. एस-सी. गणित में सर्वाधिक अंकों से उत्तीर्ण हुए थे कि— “तुम्हारा नाम सिविल-सर्विस की परीक्षा के लिए दे रहा हूँ।” तो तीर्थराम ने कहा— “मैंने अपनी फसल से लाभ उठाने के लिए— उसे बेचने के लिए मेहनत नहीं की है। मैं तो उसे बांटना चाहता हूँ और सेवक बनकर ही रहूँगा।”

खूब समझाया प्रिन्सीपल ने परन्तु वे अपने निश्चय से टस से मस नहीं हुए। फलस्वरूप उसी कॉलेज में अगले सत्र में प्रथम मास में ही वे प्रोफेसर बन गये।

विद्यार्थी जीवन में उन्हें बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इण्टर पास कर लेने के बाद घर वालों ने आगे पढ़ाने से इन्कार कर दिया। परन्तु तीर्थराम तो अपनी विद्या व्यसनी वृत्ति को किसी भी प्रकार मेटना नहीं चाहते थे। इसी बात पर माँ-बाप से मतभेद हो गया। तीर्थराम घर छोड़कर लाहौर चले आये। साथ में पत्नी भी। घर से विरोध रखने वाले पुत्र की पत्नी का खर्च अभिभावक क्यों उठाएँ। वहीं उनका शिक्षण चलता रहा। किन कठिनाइयों से वे अपना तथा अपनी पत्नी का निर्वाह करते हुए पढ़ रहे थे उस समय के बड़े ही मर्मस्पर्शी संस्मरण सरदार पूर्णसिंह ने लिखे हैं। और जब शिक्षा पूरी हुई तो अधिकारी बनने की अपेक्षा अध्यापक बनना पसन्द किया।

अध्यात्म-साधना के प्रति उनके मन में आरम्भ से ही लगन थी। विद्यार्थी-जीवन में एक बार उनसे किसी ने पूछा— ‘तुम एम. ए. कर लेने के बाद क्या करोगे?’

तीर्थराम ने उत्तर दिया— “यदि कोई इच्छा है तो यही कि अपना सारा जीवन और हर एक साँस प्रभु की सेवा में लगा दूँ और मनुष्य मात्र की सेवा करूँ।” — इस उत्तर में उनकी आध्यात्मिक विचार धारा स्पष्टतया परिलक्षित होती है। कोई भी सच्चा आत्मवादी शरीर की सुख-सुविधा और साज-सज्जा पर निर्वाह मात्र से अधिक ध्यान नहीं देता। यही कारण है कि स्वामी जी एम. ए. में जब ६० रु. प्रति मास शिष्य वृत्ति प्राप्त कर रहे थे जब कि और अध्यापन काल में दो सौ रु. वेतन पाने लगे तब की स्थिति में कोई अन्तर नहीं लाए। जो रुपया बचता उसे गरीब विद्यार्थियों की मदद करने में लगाते। गरीबी का उन्हें अच्छा अनुभव था और इसी कारण उनकी सहानुभूति गरीबों से सदैव जुड़ी रही।

शरीर में कभी रोग उत्पन्न हो जाए तो उसकी चिन्ता किए बिना भी अपने काम में लगे रहना उनका स्वभाव बन गया था। एक बार उन्हें गुर्दे का दर्द होने लगा। धीरे-धीरे बढ़ता गया और उन्हें बिस्तर पकड़ लेना पड़ा। कोई और होता तो कराह-तड़प कर ही मर जाता परन्तु स्वामी राम के चेहरे पर वही हँसी-मुस्करान खिली रहती। उर्दू के प्रसिद्ध कवि इकबाल उनके घनिष्ठ मित्रों में से थे। वे उन्हें देखने पहुँचे, जैसी दीन-दयनीय दशा की कल्पना थी ठीक उसके विपरीत स्थिति देखकर आश्चर्यचकित रह गए। स्वामी राम ने कहा— “क्या हुआ अगर शरीर रोगी है। पर आत्मा तो सब जगह है। वह प्रसन्न है। शारीरिक रोग उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते।”

सन् १८९६ में स्वामी विवेकानन्द लाहौर आये। उनके प्रवचनों की व्यवस्था हुई। रामतीर्थ तो इस प्रकार के आयोजनों में अग्रणी रहते ही। वहाँ उनका स्वामी जी से निकट सम्पर्क बना और वे उनके व्यक्तित्व से बड़े प्रभावित हुए। अन्तिम दिन विदाई के अवसर पर रामतीर्थ ने स्वामी जी को एक घड़ी भेंट में दी। विवेकानन्द जी ने उसे कुछ देर तक अपने पास रखा और फिर रामतीर्थ जी की जेब में ही रखते हुये कहा— ‘मैं इसे अपनी जेब में रखूँगा?’ अब तो जैसे रामतीर्थ को अपना वांछित आदर्श प्राप्त हो गया। इस प्रसंग ने उनके सामने जीवन का एक नया आयाम प्रस्तुत कर दिया। वे अपनी ज्ञान-पिपासा को शान्त करने के लिए स्थान-स्थान पर घूमने लगे। हरिद्वार, ऋषिकेश, बद्रीनाथ आदि कई स्थानों पर उन्होंने एकान्त जप और ध्यान साधना की।

नौकरी से भी उनका मन हट गया। मिशन कॉलेज में वे केवल दो घण्टे काम कर निर्वाहोपयोगी जीविका प्राप्त कर लेते थे और सन् १८९९ में उन्होंने नौकरी भी छोड़ दी। सब लोग आश्चर्यान्वित हो उठे। विश्वविद्यालय की कार्यकारिणी ने इनके त्याग-पत्र पर विचार किया। सीनेट के सदस्यों ने रामतीर्थ को हर तरह मनाया परन्तु वे

स्तीफन वापस लेने के लिए राजी न हुए। अन्ततः एक सदस्य के मुँह से निकल गया— “तीर्थराम पागल हो गये हैं।”

इकबाल भी वहीं पर बैठे हुए थे। बोले— “तीर्थराम पागल हो गये हैं तो मेरी समझ में नहीं आता कि दुनिया में फिर अक्ल कहाँ है।”

स्वामी रामतीर्थ ने नौकरी छोड़कर संन्यास ले लिया और वे वेदान्त का प्रचार करने लगे। इस दार्शनिक विचारधारा का जो परिष्कृत रूप उन्होंने सर्व-साधारण के सामने रखा वह आज तक की प्रचलित सभी मान्यताओं से अलग और प्रगतिशील अर्थ रखता है। इसके प्रति उन्हें इतनी दृढ़ आस्था थी कि एक-एक अवसर पर उन्होंने कहा— “भारतवर्ष का पतन वेदान्त के जीवन मूल्यों में अनास्था होने से हुआ है।”

उनके कर्तृत्व और व्यावहारिक वेदान्त के विचारों में सामञ्जस्य ढूँढ़ा जाय तो यही प्रतीत होता है कि स्वामी रामतीर्थ वेदान्त के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं। उनकी धारणा का मूल था— “हर घड़ी ऐसा अनुभव करो कि जो शक्ति सूर्य और नक्षत्रों में अपने को प्रकट कर रही है वही तुम में भी है और तुम उसी के अविभाज्य अंग हो। तुच्छ विचारों और बन्धनों को सर्वथा भूल जाओ फिर तुम अमर जीवन प्राप्त कर सकोगे।” स्वयं को ईश्वर का अंश— अविनाशी राजकुमार, आत्मा स्वीकार कर लेने के बाद कौन मनुष्य, साधक निराश और अकर्मण्य रह सकता है।

जापान के ज़ांगरिकों की कर्मनिष्ठा और परिश्रमशीलता देखकर उन्होंने कहा था कि वेदान्त के दार्शनिक सिद्धान्तों से भले ही आप परिचित न हों परन्तु उसका व्यावहारिक पक्ष आप लोगों की उन्नति का मूल कारण है। उन्होंने ‘प्रेम’ को सब धर्मों का मूल कहा, इसकी शक्ति के बल पर ही उन्होंने स्थान-स्थान पर असंख्य लोगों को प्रभावित किया। प्रेममय होकर ही कोई व्यक्ति पवित्रता की रक्षा कर सकता है क्योंकि प्रेम परमात्मा की उपस्थिति का प्रकाश है। ईश्वर भक्ति का लक्षण वे प्रेम ही मानते थे और कहते थे जब तक किसी साधक के आचार-विचार में यह दिव्य गुण नहीं झलकता तब तक वह अपूर्ण ही है।

परिवार को वे प्रेम की प्राथमिक शाला कहा करते थे। उनके एक अनन्यतम सहयोगी सरदार पूर्णसिंह ने जब परिवार छोड़कर संन्यास लेने की बात कही तो उन्होंने सरदार जी को मना किया और कहा कि जब तक तुम इस प्राथमिक कक्षा में दिव्य प्रेम का अवतरण नहीं कर लेते संन्यास की बात भी नहीं सोचनी चाहिए।

कैसे संयोग की बात है कि जन्म दिन के पर्व पर ही १७ अक्टूबर, १९०६ को अन्धकार की अंधेरी रात में टिमटिमाते हुए दीपों से एक प्रकाश पुन्ज निकला और सचमुच उनकी आत्मा चांद की किरणों को फहन कर देह मुक्त हो गयी।

दृष्टि-भेद नहीं

स्वामी रामतीर्थ संन्यास से पूर्व जिस मुहल्ले में रहते थे उसमें वेश्याएँ भी रहती थीं। मुहल्ले वालों ने सरकार को अर्जी दी कि इन

वेश्याओं को यहाँ से हटाया जाय। अर्जी पर हस्ताक्षर करने के लिए रामतीर्थ से भी कहा गया।

उन्होंने अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा— मैंने आज तक यहाँ कोई वेश्या नहीं देखी। हर घर में इधर तो मुटुल मनोहर बहिनें ही रहती हैं।

ज्ञानमयी श्रद्धा

स्वामी रामतीर्थ बचपन में गाँव के मौलवी साहब से पढ़ा करते थे। प्रारम्भिक पढ़ाई पूरी होने पर उन्हें पाठशाला भेजा गया। तब मौलवी साहब को क्या दिया जाय यह प्रश्न सामने आया। स्वामी जी के पिताजी उन्हें मासिक वेतन के अतिरिक्त इस समय कुछ और भेंट करना चाहते थे तभी स्वामी जी बोल उठे “पिताजी ! इन्हें अपनी बढ़िया दूध देने वाली गाय दे दीजिये। इन्होंने मुझे सबसे बढ़िया दूध विद्या का दूध पिलाया है। शिष्य की इस ज्ञानमयी श्रद्धा से पिता तथा गुरु दोनों ही पुलकित हो उठे।”

आत्मीयतापूर्ण वाणी का प्रभाव

जहाज सेनफ्रान्सिस्को बन्दरगाह पर रुका। जहाज खड़ा होते ही सभी यात्री जल्दी-जल्दी अपना सामान सँभालने लगे। सबमें उतरने की जल्दी और उत्सुकता दिखाई देने लगी। जहाज में एक तरफ एक व्यक्ति शान्तभाव से डैक पर खड़ा था। उसे कुछ देर तक एक अमेरिकन व्यक्ति देखता रहा और अन्त में बोला— “क्यों महाशय, आपको यहाँ नहीं उतरना है क्या ? अपना सामान क्यों नहीं सँभालते ?”

व्यक्ति स्वाभाविक मुस्कराहट की मुद्रा में प्रत्युत्तर देते हुए बोला— “मेरे पास कोई सामान नहीं है।” “तो पास में पैसे तो होंगे ही, जिससे खाने-पीने का काम चलता है ?” यह तुरन्त दूसरा प्रश्न हो उठा। “मैं अपने पास पैसे भी नहीं रखता।” “तब तो यहाँ कोई आपका मित्र होगा, जिसके यहाँ ठहरना होगा ?” यह उस व्यक्ति का तीसरा प्रश्न था।

स्वामी जी युवक को प्रत्युत्तर देते हुए बोले— “हाँ यहाँ हमारा एक मित्र है, जिसके यहाँ हमें रुकना है और जो हमारी सब सहायतायें करेगा।” “वह व्यक्ति कौन है ?” सच्चे वेदान्ती रामतीर्थ जी हँसे और उसके कन्धे पर हाथ रखते हुए बोले— “आप ही मेरे मित्र हैं।”

प्रेम की पवित्रता से भोगता हुआ वह व्यक्ति सचमुच ही उनका परम मित्र बन गया।

सुख और शान्ति का मार्ग

स्वामी रामतीर्थ उन दिनों अमेरिका के दौरे पर थे, एक दिन स्वामी जी का प्रवचन समाप्त होने पर एक महिला आई और विषाद युक्त वाणी में अपने विचार व्यक्त करने लगी। “स्वामी जी ! मेरे एक ही पुत्र था। थोड़े दिन पूर्व उसकी मृत्यु हो गई। मैं विधवा हूँ।

किसी तरह चित्त को शांति नहीं मिलती। आप कोई ऐसा उपाय बताइये जिससे मेरे जीवन को शान्ति मिल सके।'

आपको शान्ति की पुनः प्राप्ति हो सकती है और अपने जीवन में आनन्द का अनुभव कर सकती हैं। पर हर वस्तु का मूल्य चुकाना पड़ता है क्या आप सुख-शान्ति की पुनः प्राप्ति हेतु कुछ त्याग करने को तैयार हैं ?

‘बस आपके आदेश देने की देर है। मैं अपना सर्वस्व न्योछावर करने को तैयार हूँ।’

‘पर इतना ध्यान रखना कि आपके देशवासी भौतिक वस्तुओं पर अधिक ध्यान देते हैं। वहाँ डालर और सेण्ट के त्याग से काम नहीं चलेगा। यदि आप सचमुच तैयार हैं तो मैं कल स्वयं ही आपके निवास स्थान पर उपस्थित होऊँगा। दूसरे दिन स्वामी रामतीर्थ एक हब्शी बालक को अपने साथ लेकर उस महिला के घर पहुँचे और उसे अपने बच्चे के तौर पर पालने के लिए कहा।’

उसे देखकर महिला बोली— “स्वामी जी ! यह हब्शी बालक मेरे घर में प्रवेश कैसे कर सकता है ?” माँ ! यदि इसमें आपको इतनी कठिनाई अनुभव हो रही है तो सच्चे सुख और शान्ति को प्राप्त करने का मार्ग तो और भी कठिन है।”

ज्ञान साधना

स्वामी रामतीर्थ जब जापान गये तो उनकी भेंट वहाँ एक वृद्ध से हुई, जीर्णशीर्ण कपड़ा का यह बूढ़ा ७५ वर्ष की आयु में भी युवकोचित उत्साह से जर्मन भाषा सीख रहा था। स्वामी जी ने पूछा— “बाबा ! इस उम्र में यह भाषा सीखकर आप क्या करेंगे ?” वृद्ध बोला— स्वामी जी ! सीखने के लिये कोई उम्र नहीं होती। मैंने प्राणिविज्ञान में स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की है, जर्मन भाषा में इस विषय पर कई अच्छी पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। मैं उनका जपानी में रूपान्तरण करूँगा ताकि हमारे देशवासी भी उससे लाभान्वित हो सकें।’ उसके उत्साह, राष्ट्र की शैक्षणिक प्रगति के लिये उत्कट लालसा को देख स्वामी रामतीर्थ ने ब्रह्मा से उसके पैर छु लिये और कहा— “मैं समझ गया, अब जापान को आगे बढ़ने से कोई रोक नहीं सकता।”

विचारों का महत्त्व

आध्यात्मवेत्ता स्वामी रामतीर्थ अमेरिका में महिलाओं की शंकाओं का समाधान कर रहे थे। धर्म की अनेक गुत्थियाँ सुलझाते जा रहे थे। तब तक एक युवती पूछ बैठी— “कृष्ण अधिकतर गोपियों के मध्य रहते थे। क्या युवतियों के मध्य घिरा रहने वाला व्यक्ति पवित्र हो सकता है ?” इसमें भी कोई शंका की बात है ? व्यक्ति के चरित्र का सम्बन्ध तो उसके विचारों से है। विचारों की पवित्रता उसे कभी विचलित नहीं होने देती।’

‘मैं इस बात पर विश्वास नहीं करती।’ इतना सुनते ही बिना कुछ कहे सुने स्वामीजी अपना आसन छोड़ भागने लगे। काफी दूर निकल जाने पर वह खड़े होकर पीछे की ओर देखने लगे। उनमें

से अधिकतर महिलाएँ स्वामी जी के पीछे-पीछे दौड़कर आ रही थीं। जब वे सभी महिलाएँ निकट आ गईं तो स्वामी जी ने पूछा— “अच्छा बताइये क्या मैं अपवित्र हो गया।” “नहीं ! बिल्कुल नहीं !! फिर योगिराज कृष्ण को गोपियों से घिरे रहने पर कैसे अपवित्र कहा जा सकता है।”

हम भी बोन्साई न बनें

स्वामी रामतीर्थ जब जापान गये तो उन्होंने कितने ही बगीचों में छोटे देवदारु के पेड़ देखे जो बीस-बीस वर्ष पुराने थे। इतने दिन में तो वह वृक्ष पूरा बढ़ जाता है।

स्वामी जी ने माली से पूछा इनके इतना छोटा रह जाने का क्या कारण है ? उसने बताया इनके बड़े होने पर हम लोग हर साल काटते रहते हैं। उन्हें फैलने नहीं देते इसलिए वे आजीवन बौने ही बने रहते हैं। इन्हें ‘बोन्साई’ कहते हैं।

स्वामी जी इस घटना का अपने प्रवचनों में प्रायः उल्लेख किया करते थे और कहते थे जो लोग अपने सदगुणों की जड़ें फैलने नहीं देते उन्हें काटते ही रहते हैं वे व्यक्ति की दृष्टि में ऐसे ही बौने रह जाते हैं।

अब और कलंक नहीं

स्वामी रामतीर्थ की विद्वता तथा ओजस्वी वाणी से प्रभावित होकर अमेरिका की १८ यूनिवर्सिटियों ने मिलकर उन्हें एल. एल. डी. की उपाधि देने का प्रस्ताव रखा। जिसे उन्होंने सधन्यवाद अस्वीकार करते हुये कहा— ‘स्वामी’ और ‘एम. ए.’ ये दो कलंक पहले ही नाम के आगे-पीछे लगे हुए हैं अब तीसरे कलंक को कहाँ रखूँगा ?

यश, कीर्ति, लोकेषणा, प्रतिष्ठा, प्रशंसा, पूजा, मान, बढ़ाई के फेरे में पड़कर सन्तों और लोक-सेवियों का अहंकार उभरता है। इसलिये सच्चे सन्त मान-बढ़ाई से सदा बचते रहते हैं।

सिख धर्म के गृहस्थ गुरु

किसी व्यक्ति के उच्च आध्यात्मिक भूमिका तक पहुँचने में, जीवन लक्ष्य प्राप्त करने में गृहस्थ धर्म-बाधक नहीं है। गृही और विरक्त दोनों ही स्थिति में रहकर ईश्वर की उपासना और आध्यात्मिक साधना की जा सकती है। इन दोनों मार्गों में से जिसे जो अनुकूल जँचा है उसे उसने स्वीकार किया है। प्राचीनकाल में अनेकों ऋषि गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए साधना संलग्न रहे और बहुतेकों ने एककी जीवन को सुविधाजनक समझकर ब्रह्मचारी या संन्यासी रह कर आत्मिक प्रगति की।

आन्तरिक विकास का सम्बन्ध भावना की उत्कृष्टता से है। सत्यनिष्ठा, सदाचार, दया, निस्पृहता, अनासक्ति, निरहंकरिता, ईश्वर उपासना, परमार्थ भावना आदि सद्वृत्तियों को अपनाने से किसी भी वर्ण आश्रम में रहते हुए मनुष्य लक्ष्य तक पहुँच सकता है। इनके अभाव में वेश धारण कर लेने या घर त्याग देने, अविवाहित रहने

२.३८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

जैसी बाह्य प्रक्रियाओं के ही आधार पर कोई लक्ष प्राप्त करना चाहे तो सम्भव नहीं।

सन्तों के कई सम्प्रदाय ऐसे हैं जिनमें पत्नी न रखने का विधान है, पर कई सम्प्रदाय ऐसे भी हैं जिनमें गृहस्थ जीवन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। सिख धर्म भी उन्हीं सम्प्रदायों में से एक है जिसके गुरुओं और सन्तों ने गृहस्थ धर्म में रहकर आत्म-कल्याण और लोक-सेवा का महत्त्वपूर्ण उदाहरण उपस्थित किया है।

सिख धर्म के संस्थापक और आदि गुरु नानक का विवाह १९ वर्ष की आयु में हुआ। गृहस्थ होने पर भी वे विरक्त की भाँति भावनायें रखे रहे। उनके दो पुत्र हुए। प्रथम उदासीमत के प्रवर्तक श्रीचन्द जी और दूसरे लक्ष्मीदास।

दूसरे गुरु अंगद देव भी गृहस्थ थे। उनकी धर्म-पत्नी का नाम जीवी था। जिससे चार सन्तान हुई दो पुत्र तथा दो कन्यायें।

तीसरे गुरु अमरदास जी हुए हैं, उनकी धर्म पत्नी का नाम रामकुंवर था। उनकी भी चार सन्तानें थीं। दो कन्यायें, दो पुत्र।

चौथे गुरु रामदास जी का विवाह गुरु अमरदास जी की कन्या भानी कुंवर से हुआ। उनके तीन पुत्र हुए, पृथ्वीचन्द्र, महादेव और अर्जुन देव। सबसे छोटे पुत्र अर्जुन देव को उन्होंने अपनी गद्दी सौंपी।

पाँचवे गुरु अर्जुन देव जी के दो विवाह हुए। पहला मोड़गाँव के चन्दनदास खत्री की कन्या रामदेवी जी के साथ, दूसरा कृष्ण चन्द्र की पुत्री गंगादेवी के साथ। प्रथम स्त्री से कोई सन्तान नहीं थी। दूसरी से भी कई वर्षों तक सन्तान नहीं हुई। अन्त में गंगादेवी के गर्भ से एक बालक जन्मा—हरगोविंद सिंह, सिख धर्म के वे ही छठवें गुरु बने।

छठवें गुरु हरगोविन्द जी के तीन विवाह हुए। पहला उल्ले गाँव में नारायणदास की पुत्री दामोदरी के साथ। दूसरा अमृतसर निवासी हरिचन्द की पुत्री नानकी के साथ। तीसरा मंदयाली के दयाराम की पुत्री महादेवी के साथ। प्रथम पत्नी से पुत्र गुरुदत्ता और कन्या बीबी वीरोजी थी। द्वितीय पत्नी से तेग बहादुर और तीसरी पत्नी से तीन पुत्र सूरजमल, हरराम और अटल जी जन्मे। इस प्रकार गुरु हरगोविन्द जी की तीन पत्नियों से पाँच पुत्र और एक कन्या का जन्म हुआ। इसके साथ ही गुरुजी के एक और विवाह का भी पता लगता है। एक मुसलमान काजी की कन्या कौल्ला उनके पास किसी प्रकार आ गई। वह बड़ी रूपवती और बुद्धिमती थी। गुरु साहब उस पर बहुत अनुराग रखते थे। गुरु साहब ने उसके नाम पर अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर के पास एक सरोवर बनवा दिया और उसका नाम कौलसर रखा। गुरु हरगोविन्द जी अपने पौत्र—गुरुदत्त के पुत्र हरराय से विशेष प्रेम रखते थे। अतः उन्होंने उन्हें ही अपना उत्तराधिकारी बनाया।

सातवें गुरु हरराय का विवाह सं० १७०४ में दयाराम की पुत्री कृष्णकौर से हुआ। उससे दो पुत्र हुए, रामराय और हरकिशन। अपने छोटे पुत्र हरकिशन को उन्होंने अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। तब वे केवल पाँच वर्ष के थे। गुरु गद्दी प्राप्त करने के तीन वर्ष बाद ही—आठ वर्ष की आयु में वे स्वर्गवासी हो गये। इसलिए उनका

विवाह न हो सका। इस प्रकार आठवें गुरु हरकिशन जी अविवाहित ही स्वर्गवासी हुए।

नौवें गुरु तेगबहादुरजी का विवाह सं० १६८६ में लालचन्द की पुत्री गुजरी जी से हुआ। उनके पुत्र गुरु गोविन्दसिंह सं० १७१३ में जन्मे।

दसवें गुरु गोविन्दसिंह के दो पत्नियाँ थीं। उनका बड़ा पुत्र अजीतसिंह मुसलमान आक्रमणकारियों के साथ लड़ता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ। दूसरे पुत्र जुझारसिंह ने भी इसी प्रकार की वीरगति प्राप्त की। दो छोटे पुत्र जोरावरसिंह और फतेहसिंह मुसलमानों द्वारा पकड़े गये और उन्हें जीवित ही दीवार में चुनवा कर मारा गया। इस प्रकार दसवें गुरु गोविन्दसिंह जी के चारों पुत्र धर्म के लिए बलिदान हो गये।

इस प्रकार दसों गुरुओं की परम्परा गृहस्थ-धर्म की है। यह उचित एवं युग-धर्म के सर्वथा अनुकूल भी है। विरक्त जीवन जनसमाज से सर्वथा दूर जंगलों में एककी रहने वाले महात्माओं के लिए अनुकूल हो सकता है पर यदि वे जन-सम्पर्क में आते हैं तो उनके चारित्र्यक पतन की भारी संभावना रहती है, जैसी कि आजकल आमतौर से देखी जाती है। आत्म-कल्याण के जो पथिक जनसम्पर्क से दूर नहीं रह सकते हैं उनके लिये गृहस्थ धर्म ही उपयुक्त है। इस दृष्टि से सिख गुरुओं ने एक अनुकरणीय परम्परा की स्थापना की।

धार्मिक ऐक्य के प्रचारक— गुरु नानक

भारत में सम्प्रदायवाद का रोग काफी पुराना है। हम में यदि इतनी उदारता और विचारों की विशालता न हो कि मनुष्यमात्र को—प्रत्येक धर्मावलम्बी को—अपना भाई समझ सकें, तो कम से कम अपने मजहब के मानने वालों से तो बन्धु-भाव रखें। पर हिन्दुओं में इसका भी अभाव हो गया था। वे बौद्ध और जैन जैसे अवैदिक सम्प्रदायों को ही गैर नहीं समझते थे वरन् शैव, वैष्णव, शैव-शाक्त आदि सम्प्रदाय तथा ब्राह्मण, वैश्य आदि जाति के कहे जाने वाले व्यक्तियों को भी एक-दूसरे से अलग और विरोधी मानने लग जाते थे।

मुसलमानों के आक्रमण से पहले ही भारत के इन धार्मिक सम्प्रदायों में वैमनस्य का भाव बहुत अधिक फैल गया था और अनेक स्थानों पर तो इसी के नाम पर निर्दोष लोगों पर अकथनीय अत्याचार और हत्यायें तक की गयी थीं। जिस प्रदेश में जिस सम्प्रदाय वालों की प्रबलता होती अथवा जहाँ का राजा जिस सम्प्रदाय को स्वीकार कर लेता वहाँ अन्य सम्प्रदाय वालों की कम्बख्ती आ जाती थी। या तो उन्हें अपना धार्मिक विश्वास बदलना पड़ता था अथवा विरोधियों के हाथों तरह-तरह की यातनायें उठानी पड़ती थीं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि विदेशी आक्रमणकारियों की सफलता और पराधीनता का एक कारण आपस का यह धार्मिक वैमनस्य भी था।

यह सम्प्रदायवाद का भूत लोगों के सिर पर इतना अधिक सवार हो गया था कि वे धार्मिक उदारता को भूल ही गए थे। यह नहीं समझते थे कि धर्म का पहला लक्षण प्राणिमात्र में सद्भाव रखना, उनके कष्टों में सहायक बनना है, न कि अन्धविश्वास और संकीर्णता के वशीभूत होकर अपनी ढाई चावल की खिचड़ी अलग पकाना और थोड़े-से मतवैभिन्न के लिए अपने सहवासी मनुष्यों पर अत्याचार करना।

गुरु नानक (सन् १४६९ से १५३८) आरम्भ से ही इस भेदभाव को देखकर परेशान होते थे। उनकी समझ में नहीं आता कि जब सब लोग भगवान् को मानते हैं और यह भी स्वीकार करते हैं कि सबको उसी ने बनाया है, तब धर्म के नाम पर झगड़ा किस बात का? इस प्रकार वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि संसार में एक परमात्मा का नाम ही सत्य है और उसकी उपासना सच्चे मन से की जाननी चाहिए, चाहे वह मन्दिर में हो या मस्जिद में, जंगल में हो शहर में।

पिता ने नानक को पढ़ा-लिखा कर संसारी बनाने की कोशिश की, पर उनको तो भगवान् का चस्का लग गया था, इससे संस्कृत, फ़ारसी कुछ भी न पढ़ सके थे। तब उनकी बहिन, जिसका नाम भी नानकी था, उनको संग ले गई और एक मुसलमान शासक दौलत खाँ के मोदीखाने में नौकर करा दिया। उनका विवाह भी करा दिया गया। पर वहाँ भी वे हिसाब-किताब की परवाह न करते थे और जिस किसी को जरूरतमन्द देखते थे उसको दाम न मिलने पर भी सौदा दे देते थे। इससे उनकी यह नौकरी थोड़े ही दिनों में समाप्त हो गई।

इससे कुछ समय बाद वे भारत भ्रमण के लिए चल पड़े और उन्होंने चारों दिशाओं में सैकड़ों मील तक पैदल यात्रा करके देश और समाज की स्थिति का भरपूर अनुभव प्राप्त कर लिया। उन्होंने देखा कि सम्प्रदायों की विभिन्नता, छुआछूत, अंधविश्वास, पाखंडों के कारण हिन्दू समाज छिन्न-भिन्न जर्जर हो रहा है और यही उसकी निर्बलता का मुख्य कारण है। यदि हमको सबल बनकर अपनी रक्षा करनी है, संसार में कुछ करके दिखाना है तो उसके लिये आवश्यक है कि इन पारस्परिक भेद-भावों और अंधविश्वासों को दूर किया जाय। जब तक हम धर्म और ईश्वर के सच्चे स्वरूप को नहीं समझेंगे, तब तक न तो हम अपना कुछ भला कर सकेंगे और न संसार में कुछ काम करके दिखला सकेंगे।

अपने विचारों के प्रचार करने का गुरु नानक का ढंग निराला ही था। वे मुँह से ज्यादा बात नहीं करते थे और न शास्त्रों के प्रमाणों को पेश करते थे। उनके उपदेश क्रियात्मक होते थे। कहा जाता है कि जब वे तीर्थयात्रा करते हुये हरिद्वार पहुँचे और पण्डाओं द्वारा लोगों को तर्पण कराते देखा तो वे भी गंगाजी में खड़े होकर पूर्व के बजाय पश्चिम को पानी उछालने लगे। लोगों ने उनको मूर्ख समझकर पूर्व दिशा में जल देने को बताया। उन्होंने कहा— “मेरा गाँव तो पश्चिम की दिशा में है और मैं चाहता हूँ कि यहाँ जल छोड़कर अपने खेतों की सिंचाई करूँ।” लोगों ने उनकी हँसी उड़ा कर कहा कि कहीं इतनी दूर से खेत सींचे जाते हैं? नानक जी ने उत्तर दिया कि— “अगर तर्पण का जल परलोक में पितरों के पास पहुँच जायेगा

तो मेरा जल दो-तीन सौ कोस के फासले पर खेतों तक क्यों नहीं पहुँच सकता?” लोग निरुत्तर रह गये।

इसी प्रकार जब वे पश्चिमी देशों की यात्रा करते हुये मक्का पहुँचे तो अनजाने में कब्रा की तरफ पैर कर सो गये। किसी मुसलमान मुल्ला ने देखा तो उनको फटकारा— “कैसे बेवकूफ हो जो खुदा के घर की तरफ पैर करके सो रहे हो!” नानक ने कहा— मुल्ला जी! मैं अजनबी हूँ, मेहरबानी करके मेरे पैरों को आप ही उस दिशा में कर दें जिस तरफ खुदा का घर न हो।” मुल्ला सोचने लगा कि— खुदा तो सब जगह व्यापक है, मैं किस तरह उनके न होने की बात कह सकता हूँ? वह चुपचाप वहाँ से चला गया।

नानक गरीबों के साथी थे क्योंकि वे जानते थे कि अमीरों का पैसा जुल्म-जोर से ही इकट्ठा होता है। एक दिन वे किसी गाँव में जाकर एक गरीब किसान की झोंपड़ी में टिक गये। उस दिन वहाँ के जमींदार के यहाँ एक बहुत बड़ा भोज था, जिसमें गाँव के समस्त निवासियों को खाने के लिए बुलाया गया। वह जमींदार किसी काम से बाहर निकला तो देखा कि नानक अपने लिए किसान से रोटी बनवा रहे हैं। उसने कहा— आज तो मेरे यहाँ भोज है, बहुत तरह के पकवान बनाये गये हैं, आप वहीं खाना खाइये। नानक जी ने कहा— “मुझे जो स्वाद पश्चिम की कमाई इन सूखी रोटियों में मिलता है वह लूट-खसोट कर जमा किये हुए धन से बनाये गये पकवानों में नहीं मिल सकता।” जमींदार अपने धन की असलियत को समझ कर कुछ न कह सका।

इस प्रकार गुरु नानक आजीवन लोगों को नेकी और परोपकार की राह पर चलने का उपदेश देते रहे। उन्होंने बतलाया कि— यही सच्चा धर्म है और इसी से ईश्वर प्रसन्न हो सकता है। अन्यथा तरह-तरह के कर्मकाण्डों में लगे रहना, पूजा-पाठ का ढोंग करते रहना और इन बातों के नाम पर आपस में झगड़े, द्वेषभाव, कलह फैलाना किसी प्रकार का धर्म नहीं कहा जा सकता। उनकी इन शिक्षाओं का असर हिन्दुओं के विभिन्न सम्प्रदायों, जाति वालों के साथ सैकड़ों निष्पक्ष मुसलमानों पर भी पड़ा। सन् १५३८ में उनका देहांत होने पर सबने मिलकर उनका अन्तिम संस्कार किया और हजारों कण्ठों से यही आवाज निकली—

**गुरु नानक शाह फकीर ।
हिन्दू का गुरु मुसलमान का पीर ॥**

जिस समय गुरु नानक अपने गाँव से जमींदार दौलतखाँ के यहाँ से नौकरी छोड़ कर सत्-धर्म का प्रचार करने के लिए चलने लगे उस समय दौलतखाँ ने उनका हिसाब कराया। हिसाब किये जाने पर गुरु नानक के सात सौ रुपये जमींदार पर निकले। उसने गुरु नानक से वह धनराशि ले लेने के लिये कहा। किन्तु उन्होंने उसे न लिया और कहा कि वह रुपया गरीबों की मदद करने में खर्च कर दिया जाये। दौलत खाँ उनके इस त्याग से बड़ा प्रभावित हुआ। उसने कई हजार रुपये अपने पास से लेकर गुरु नानक को भेंट किये और उन्हें स्वीकार करने की प्रार्थना की। किन्तु उन्होंने वह धन भी स्वीकार न किया

और गरीबों को बाँट देने के लिये कहा। गुरु नानक के सम्बन्धियों ने समझाया कि वे वह धन लेकर अपने बच्चों को क्यों नहीं दे देते। गुरु नानक ने कहा—“दुनिया के सारे गरीब बच्चे हैं। उनके सामने मेरी दृष्टि में मेरी निजी बच्चों का कोई महत्व नहीं।”

एक बार उनके एक जमींदार शिष्य ने उनको रहने और परिवार के गुजारे के लिए एक गाँव दान किया। गुरु नानक ने उसे स्वीकार कर लिया और उसमें एक बड़ा स्थल बनवाकर संत-समागत तथा सत्संग की व्यवस्था कर दी। स्वयं भी उसी में रहने लगे। गाँव की आमदनी को उन्होंने उस स्थल को ही दान कर दिया। जिसके द्वारा गरीबों को भोजन, महात्माओं को सुविधा और असहायों को सहायता दी जाने लगी।

गरीबों को दिये जाने वाले भोजन की व्यवस्था स्वयं गुरु नानक ही करते थे। वे अपने हाथ से बहुत-सा काम करते थे। स्वयं ही भोजनार्थियों को बुलाकर लाते थे और स्वयं ही अपने हाथ से परोसकर खिलाते थे। सबको खिला लेने के बाद ही जो कुछ बचता था उससे अपना काम चलाते इस नियम के अन्तर्गत बहुत बार कुछ भी न बचता था और गुरुनानक स्वयं भूखे ही रह जाते थे। वे अपने लिये दुबारा भोजन नहीं बनाने देते थे अनेक बार तो उन्हें पाँच-पाँच छः-छः दिन एक साथ ही भूखा रहना पड़ता था। तब भी वे कोई चिन्ता न करते थे।

भौतिक विग्रह की अवधि समाप्त होते देखकर गुरु नानक ने धर्म-प्रचार और जन-सेवा का कार्य आगे चलाने के मन्तव्य से अपनी गद्दी के लिए उत्तराधिकारी खोजने का विचार बनाया। लोगों का विचार था कि गुरु नानक उत्तराधिकार का भार अपने बड़े पुत्र श्रीचन्द्र को सौंपेंगे। किन्तु लोगों का यह अनुमान गलत सिद्ध हुआ। इस विषय में गुरु नानक के सम्मुख बेटे-पोते का प्रश्न नहीं था, प्रश्न था योग्य व्यक्ति का जो उन्हीं की भाँति निस्पृह भाव से निर्वाह कर सके। सच्चे सतगुरु नानक अपने और पराये के भेद-भाव से सर्वथा मुक्त हो चुके थे।

उनकी खोज निरन्तर जारी रही। उन्होंने अनेक लोगों पर दृष्टि डाली। लेकिन कोई शत-प्रतिशत अर्थों में उत्तीर्ण नहीं हुआ। अन्त में एक लोहाना नाम का व्यक्ति उनके पास शिष्य होने के लिये आया। उसने जब गुरु का धर्म-प्रवचन सुना तो वह प्रेम-विह्वल होकर बेहोश हो गया। गुरु नानक ने उसके हृदय के भाव और आत्मा की कोमलता को समझा और होश में आने पर उन्होंने उसका नाम अंगद रखकर अपने पास ही रख लिया।

अंगद जब ज्ञान और आयु में पूर्ण हो गया तो गुरु नानक ने उसे विवाह कर लेने का आदेश दिया। अंगद ने आश्चर्य से कहा कि महाराज मैं तो आपकी और आपके माध्यम से भगवान् की पूजा भक्ति करना चाहता हूँ मुझे इस जाल-जंजाल में पड़ने का आदेश न दें। गुरु नानक ने कहा—अंगद मैं तो गृहस्थों के लिये सत्-धर्म का प्रचार करना चाहता हूँ और चाहता हूँ मेरा हर प्रचारक भी अच्छा गृहस्थ बने। अंगद ने गुरु का आदेश मानकर विवाह कर लिया।

विवाह के बाद गुरु नानक एक दिन अंगद को जंगल में ले गये और कहा—‘अंगद गऊ के लिए थोड़ी-सी घास तो बाँध कर लेता चल। पास में कोई कपड़ा तो था नहीं। अंगद ने तुरन्त ही बहुत सारी घास अपने विवाह के बेशकीमती दुपट्टे में बाँध कर रख ली और चल दिया। गुरु नानक बहुत खुश हुए। उन्होंने सोच लिया कि उन्हें योग्य उत्तराधिकारी मिल गया।

अन्त में गुरु नानक ने विग्रह त्याग किया तो उसके कुछ क्षण पहले अपने हाथ से अंगद को गुरु गद्दी पर अभिषिक्त कर दिया। यहीं अंगद गुरु अंगद देव के नाम से दूसरे गुरु हुए।

गुरु नानक जिस समय सैयदपुर में गये हुए थे, उन्हीं दिनों भारत पर बाबर का आक्रमण चल रहा था। उसका शिविर भी सैयदपुर में लगा हुआ था। नगर लूटा जा रहा था। प्रजा त्राहि-त्राहि कर रही थी, कोई सुनने वाला नहीं था। चारों ओर भय और आतंक छाया हुआ था। गुरु नानक का हृदय यह सब देखकर दुःखी हो उठा और वे प्रजा का कष्ट निवारण करने की युक्ति सोचने लगे।

उन्होंने सोचा यदि किसी प्रकार बादशाह बाबर के पास पहुँच सकूँ तो उसे उसके किये का ज्ञान कराकर ठीक रास्ते पर लाने का प्रयत्न करूँ। उन्होंने बहुत-से उपाय किये पर बाबर के पास जाने का अवसर न मिला। लेकिन वे हताश नहीं हुये और अवसर की तलाश करते रहे। अन्त में लगन पूरी हुई और उन्हें बाबर के पास पहुँचने का रास्ता मिल गया।

उन्होंने देखा कि बाबर के सिपाही जो कुछ लूटते हैं, वह सब एक स्थान पर इकट्ठा करते हैं और उसे गरीब भारतीयों के सिर पर लादकर फिर उसे बाबर के पास ले जाते हैं। गुरु नानक ने तत्काल एक गरीब का वेष बनाया और ऐसी जगह पर पहुँच गये जहाँ पर सिवाही माल लादने के लिए आदमियों को पकड़ रहे थे। गुरु नानक ने जन-कल्याण के लिये अपने मान-अपमान की जरा-भी परवाह नहीं की और हर त्याग करने को तैयार हो गये।

गुरु नानक ने अपने मुख मण्डल का तेज छिपाने के लिये उसे कुछ-कुछ ढँक लिया था और फटे-पुराने कपड़े पहन लिये थे। सिपाहियों ने उन्हें भी एक गरीब आदमी समझा और धक्के मारते हुये सामान लादने के लिये ले गये। गुरु नानक ने उस अपमानपूर्ण बेगार के लिये पकड़े जाने के लिये ईश्वर को धन्यवाद दिया और सिर पर ढेर-सा सामान लाद कर बाबर के पास चल दिये। सैनिक उन्हें जानवरों की तरह हाँकते हुये ले चले।

बाबर के सम्मुख पहुँचकर गुरु नानक ने सामान रखा तभी अपना मुँह ठीक से खोला। जन-कल्याण की भावना से भरे नानक का मुख-मण्डल एक साथ दमक उठा। वह प्रकाश बाबर ने भी देखा और तत्काल उस अनुभवी ने समझ लिया कि हो न हो यह कोई खुदा परस्त (भगवत्-भक्त) फकीर (सन्त) है। उसका अस्तित्व यह सोचकर काँप उठा कि कहीं इस अपमान की पीड़ा से इसकी आत्मा क्षुब्ध होकर उसे बददुआ (शाप) न दे दे। बाबर तत्काल उठा और आदरपूर्वक उन्हें अपनी गद्दी पर ले आया।

पहले तो उसने उनका परिचय पूछा और उसके बाद उनके चरित्र की परीक्षा लेने की ठानी। बाबर ने गुरु नानक की खूब अभ्यर्थना की और उसके बाद उन्हें शान्त पाकर शाही सम्मान की रीति के अनुसार शराब मँगाकर पीने के लिए अनुरोध किया। गुरु नानक हँसे और बोले— बादशाह बाबर ! हमने तो वह आला शराब पी रखी है जिसका नशा जन्म-जन्मान्तर तक नहीं उतरता अब हम यह दुनिया की शराब क्या पियेंगे। जिसका नशा नकली ही नहीं बल्कि आदमी को इन्सानियत से गिरा देने वाला भी होता है।

उनको बाबर ने बहुत-से जवाहरात और कीमती कपड़े मँगाकर उनकी भेंट किये और कहा— ‘अगर आप शराब नहीं पीते तो इन्हें मंजूर कर लीजिये।’ गुरु नानक ने वह भेंट भी नामंजूर करते हुए कहा— इनको तू उन गरीबों को बाँट दे जिन्हें जरूरत है। मेरे पास तो भगवान् नाम का वह धन है जिसकी तुलना में दुनिया की सारी दौलत मिट्टी है।

बाबर ने कहा— ‘आपने न शराब पी और न जवाहरात ही मंजूर किये। कोई तो ऐसी खिदमत (सेवा) बतलाइये जिसको करके मैं अपनी रूह (आत्मा) को खुश कर सकूँ।’ गुरु नानक ने कहा— ‘अगर तू हमारी सेवा ही करना चाहता है तो सारे कैदियों को छोड़ दे और लूट-पाट बन्द करा दे। यही हमारी सबसे बड़ी सेवा होगी।’

बाबर ने तत्काल सारे बन्दियों को मुक्त कर दिया और लूटपाट बन्द करने का आदेश दे दिया। सच्चे सन्त इसी प्रकार जनता के हित के लिये हर कष्ट सहने और हर त्याग करने पर तत्पर रहते हैं।

गुरु नानक ने देखा कि थोथे उपदेशों से समाज का कोई सुधार होने वाला नहीं है इसलिए उन्होंने कोरे उपदेश के स्थान पर व्यवहार द्वारा प्रशिक्षण देने का क्रम अपनाया। उनके जीवन की सबसे प्रमुख विशेषता यह थी कि उन्होंने सामाजिक रूढ़ियों और मिथ्याडम्बरों का खण्डन ही नहीं किया वरन् मूल से उखाड़ने का पूरा-पूरा प्रयास किया। मध्यकालीन सन्त परम्परा के अधिकतर सन्तों ने मात्र शक्ति की घोर निन्दा की है और नारी को नरक की खान बताकर धर्म के मार्ग में बाधक बताया। पर नानक ने उन नारी निन्दकों की कसकर खबर ली और अपनी ओजस्वी वाणी में नारी की महत्ता को प्रतिपादित किया—

भंडि जमीए भंडि निमीए, भंडि भंगीणे—बिआहु।

भंडहु वेद सती भंडहु चले राहु।

सकिउ मंदा आखिर जितु भंडहि राजन।

भंडहु ही अपने बंडे बाझु न कोई।

अर्थात्— स्त्री से मनुष्य का जन्म होता है। उसी से विवाह होता है। इस प्रकार सृष्टि का क्रम स्त्री से ही चलता है। यह राजा तक को जन्म देने वाली है कि फिर उसके महत्त्व को कम क्यों समझा जाय !

सामाजिक विकास को अवरुद्ध कर एकता को तिरोहित करने वाली जातिप्रथा पर भी उन्होंने कड़ा प्रहार किया। उन्होंने सबके सम्मुख स्पष्ट शब्दों में कहा— जिस प्रकार कुम्हार मिट्टी से अनेक

प्रकार के बर्तन बनाया करता है उसी तरह ईश्वर ने पाँच तत्वों से मानव शरीर बनाया है फिर ऊँच-नीच का भेद-भाव क्यों ? सांसारिक व्यक्तियों ! तुम्हें जाति का गर्व नहीं करना चाहिए इससे अनेक प्रकार के बखेड़े उत्पन्न होते हैं।

उनके लिए न कोई हिन्दू था और न मुसलमान वे तो केवल मानवता के उपासक थे। उनकी दृष्टि में सभी धर्मावलम्बी समान थे। मरदाना नाम के मुसलमान ने उनकी शिष्यता ग्रहण की थी और आजीवन उनके साथ रहा। जब वे सुल्तानपुर में थे तब एक फकीर वहाँ से जाते समय अपना निवास उन्हें प्रदान करने का प्रस्ताव करने लगा तो नानक ने तुरन्त उत्तर दिया— निवास पर उसी व्यक्ति का अधिकार होना चाहिए जो बेघर है। उनका यह कथन वर्तमान समस्या के सन्दर्भ में कितना औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है जब देश में करोड़ों व्यक्ति भूमिहीन और घर-हीन हैं।

गुरु नानक को गरीबों के साथ रहने में विशेष आनन्द आता था। उन्होंने मलिक भागो जैसे अमीर व्यक्ति की अपेक्षा लालो नामक एक सामान्य व्यक्ति का आतिथ्य स्वीकार किया था। जब वे सुल्तानपुर के अनाज भण्डार में किसी उत्तरदायी पद पर कार्यरत थे तो कितने ही गरीबों की आर्थिक सहायता करते रहते थे। वे दूसरों के अधिकारों को हड़पने के सख्त विरोधी थे। वे सादा जीवन व्यतीत करते थे और सरल भाषा बोलते थे। उन्हें आडम्बर किसी भी तरह का पसन्द न था। उनके सबद, इतने सरल हैं कि कोई अशिक्षित व्यक्ति भी आसानी से समझ सकता है। उनकी भाषा दार्शनिक ऊहापोहों और तर्क-वितर्कों से मुक्त है। यदि अपने देश की भाषा नीति निर्धारण में उनके सन्देश को ग्रहण कर सकें तो काफी समस्या हल हो सकती है।

नानक देव सामाजिक जीवन से समानता के समर्थक थे। उन्होंने अपने इस आदर्श को लंगर के रूप में सबके सामने रखा था। इसमें बिना किसी भेद-भाव के सभी लोग भोजन कर सकते थे। इससे परस्पर सद्भाव और सामूहिकता में वृद्धि हुई। वे सबका भला चाहते थे। गाँधीजी ने सामाजिक और आर्थिक विकास के रूप में जिस सर्वोदय सिद्धान्त की स्थापना की वह नानक के ‘सरवत्त का भला’ में देखने को मिलता है। उनकी यह शिक्षा राष्ट्र की अनेक समस्याओं के समाधान में सहायक हो सकती है।

हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि वे चरित्र निर्माण के लिए आंतरिक पवित्रता को अधिक आवश्यक मानते थे। उन्होंने सेवा और प्रेम के एक व्यावहारिक धर्म का उपदेश दिया। उनकी अधिकतर शिक्षायें ‘जप जी’ नामक गीत में बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत की गई हैं। इसे सर्व प्रसिद्ध रचना स्वीकार किया गया है। विद्वानों का यह कहना है कि नानक और कुछ भी न होते फिर भी इस रचना के प्रणेता होने के कारण अमर रहते। मुसलमानों में कुरान को और ईसाइयों में बाइबिल को जो गौरव प्राप्त है वह सिक्ख समाज में ‘जप जी’ को है। मध्यकाल में अधिकांश नर रत्नों द्वारा समाज निर्माण के लिए जो सन्देश दिये गये थे वे कविता में ही थे। नानक ने भी कविता

का आश्रय लिया था। जन-साधारण में जिस भाषा में उन्होंने काव्य का सृजन किया वह अविकसित स्थिति में थी फिर भी उन्होंने समृद्ध बनाने के लिए विभिन्न बोलियों के शब्दों का उपयोग किया। पंजाब की चप्पा-चप्पा भूमि से तो वे परिचित थे ही इसके अतिरिक्त उन्होंने लाहौर, एमनाबाद, हरिद्वार, दिल्ली, मथुरा, आगरा, बक्सर, गया, पटना, बंगाल, गुजरात, सिंध और करांची तक पूरे देश का भ्रमण किया था। मक्का, मदीना, बगदाद, पेशावर, कंधार और बलोचिस्तान आदि अनेक सुदूर क्षेत्रों तक पहुँचकर अपनी अमृतमयी वाणी से लोगों को कृत-कृत्य किया। इसलिए उनकी भाषा में अरबी, फ़ारसी और खड़ी-बोली के शब्दों का उपयोग देखने को मिलता है।

नानक देव सत्य को ही ईश्वर मानते थे। उनका विश्वास था ईश्वर का नाम स्मरण करने और उसकी स्तुति गाने से हमारी भक्ति भावना जाग्रत होती है जिस प्रकार गन्दे कपड़े साबुन और पानी से धुलकर साफ हो जाते हैं उसी प्रकार प्रार्थना से मन के कलुष धुल जाते हैं। उन्होंने जनता को बताया कि वे अपनी भाषा में ईश्वर से सीधा सम्पर्क कर सकते हैं पर कठोर शब्द जाल से काम नहीं चलता। इसके लिए भावना के समन्वय की भी विशेष आवश्यकता है।

आत्मा को परमात्मा के ध्यान में लगाने से मनुष्य की इच्छा परमात्मा के अधीन हो जाती है और फिर उसके सारे क्रिया-कलाप ईश्वर की इच्छा के अनुरूप ही चलते हैं। ईश्वर प्रदत्त स्वतन्त्र इच्छा शक्ति मानव के लिए बहुत बड़ा वरदान है उसके सम्मुख सत्य और असत्य, पाप और पुण्य के मार्ग खुले रहते हैं उसे मार्ग चयन की पूरी-पूरी छूट रहती है। यदि ऐसा न होता तो उसका जीवन एक स्वचालित यन्त्र की तरह नीरस हो जाता। ऐसी स्थिति में न वह प्रतिष्ठा प्राप्त कर पाता और न महान् बन पाता।

ईश्वर को समर्पित जीवन जीने वाले लोगों का व्यक्तित्व प्रभावशाली इसलिए है कि वे सामान्य मनुष्यों को प्राप्त अवसरों से लाभ उठाकर अपने को महानता की ओर ले जाते हैं और अपने चारों ओर के मनुष्यों से ऊपर ठठ जाते हैं।

गुरु नानक के आगमन को भले ही पाँच शताब्दियाँ बीत गई हों पर उनके प्रेरक जीवन प्रसंग एवं सन्देश शाश्वत हैं। जो आज के अज्ञानांधकार में भटकते मानव को प्रकाश किरणों की तरह मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं और धार्मिक एकता एवं राष्ट्रीय कल्याण की भूमिका में सहायक हो सकते हैं।

संग्रह की सार्थकता

बगदाद के शासक ने जितना कर सकता था धन-सम्पत्ति जमा की। उसके लिये वह प्रजा पर तरह-तरह के अन्याय और अत्याचार भी करता था। उससे प्रजा बड़ी दुःखी थी।

एक दिन गुरु नानक धूमते-धूमते बगदाद जा पहुँचे। खलीफा के महल के सामने ही वह कंकड़ों का छोटा-सा ढेर जमा करके उन्हीं के पास बैठ गये।

किसी ने खलीफा को नानक के आने की सूचना दी। खलीफा स्वयं वहाँ पहुँचा। कंकड़ों का ढेर देखते ही उसने पूछा—“महाराज! आपने यह कंकड़ किसलिये इकट्ठे किये हैं।”

गुरु नानक ने मुस्करा कर उत्तर दिया—“खलीफा जी! इन्हें कयामत के दिन ईश्वर को उपहार में दूँगा।”

खलीफा जोर से हँसा और बोला—“अरे नानक! मैंने तो सुना था तू बड़ा ज्ञानी है पर तुझे इतना भी पता नहीं कि कयामत के दिन रुहें अपने साथ कंकड़ तो क्या सुई-धागा भी नहीं ले जा सकतीं।”

गुरु नानक ने चुटकी ली—“मालूम नहीं महोदय, पर मैं आया इसी उद्देश्य से हूँ कि और तो नहीं पर शायद आप प्रजा को लूटकर जो धन इकट्ठा कर रहे हैं, उसे अपने साथ ले जायेंगे तो उसके साथ ही यह कंकड़ भी चले जायेंगे?”

खलीफा समझ गया, इसके आगे प्रजा का उत्पीड़न बन्द कर उनकी सेवा में जुट गया।

सज्जनता का बिखराव

सन्त नानक एक गाँव में गये। वहाँ के निवासियों ने बड़ा आदर किया—चलते समय नानक जी ने आशीर्वाद दिया—‘उजड़ जाओ।’

वे दूसरे गाँव में गये तो वहाँ के लोगों ने तिरस्कार किया, कटु वचन बोले और लड़ने-झगड़ने पर उतारू हो गये नानक जी ने आशीर्वाद दिया—‘आबाद रहो।’

साथ में चल रहे शिष्यों ने पूछा—भगवन्! आपने आदर करने वालों को ‘उजड़ जाओ’ और तिरस्कार करने वालों को ‘आबाद रहो’ का उलटा आशीर्वाद क्यों दिया?

नानक ने कहा—सज्जन लोग उजड़ेंगे तो वे बिखर कर जहाँ भी जायेंगे सज्जनता फैलावेंगे इसलिए उनका उजड़ना ही ठीक है। किन्तु दुर्जन सर्वत्र अशान्ति उत्पन्न न करें इसलिए उनके एक ही जगह रहने में भलाई है।

चोरी से छुटकारा

एक चोर सन्त नानक के पास पहुँचा और इस बुरी आदत से छुटकारा पाने का उपाय पूछा।

नानक ने जो उपाय बताये वे उससे निभते न थे। एक के बाद एक उपाय बदलते-बदलते जब बहुत दिन बीत गये और किसी से भी वह आदत न छूटी तो उन्होंने चोर को बताया कि तुम अपने पाप सबके सामने प्रकट करने लगे।

चोर का बार-बार आना और पूछना समाप्त हो गया और आदत भी सुधर गई। पाप प्रकट करने से उसे लज्जा लगती थी, सो उसने चोरी करना ही बन्द कर दिया।

सम्पत्ति का दर्प

लाहौर के प्रसिद्ध सेठ दुनीचन्द को अपनी सम्पत्ति के ऊपर बहुत नाज था। उन्होंने अपने मकान के ऊपर अनगिनत झण्डे लगा रखे थे, जो इस बात के प्रतीक थे कि जितने झण्डे हैं उतने करोड़ रुपया सेठ के खजाने में जमा है।

एक दिन गुरु नानक वहाँ पहुँचे उनके धन का इस प्रकार का प्रदर्शन देख, एक सुई देते हुए कहा इसे अभी सुरक्षित रख लें और स्वर्ग में मुझे वापस कर दें। गुरु की बात सुनकर दुनीचन्द को बहुत आश्चर्य हुआ। उसने मुस्कराते हुए पूछा— “महोदय मैं अपने मरने के बाद यह सुई आपको कैसे लौटा पाऊँगा मरने के बाद तो किसी वस्तु को स्वर्ग नहीं ले जाया जा सकता।”

इस पर गुरु नानक देव मुस्करा उठे और करुणा भरे शब्दों में कहा— “यदि तुम अपने मरने पर एक छोटी-सी सुई भी नहीं ले जा सकते तो यह करोड़ों की सम्पत्ति तुम कैसे ले जा सकते हो?” गुरु के इस वचन ने दुनीचन्द के हृदय को छू लिया और उसने गुरु नानक के उपदेशों का पालन करते हुए त्याग और सेवा का मार्ग अपनाने का संकल्प लिया।

खरी कमाई

ईश्वर भक्ति और नानक देव की बढ़ती लगन को देखकर उनके पिता चिन्तित रहने लगे। उन्होंने सोचा यदि यही स्थिति रही तो यह कभी भी परिवार छोड़कर अन्यत्र जा सकते हैं, इसलिए किसी रोजगार में लगाना उचित है।

दूसरे दिन उन्होंने अपने पुत्र को बुलाकर कहा— “इधर-उधर भटकने से काम न चलेगा। खाने को तो दोनों समय भोजन चाहिए ही। अब तुम बराबर के हो गये हो अतः दुकान की ओर ध्यान देना चाहिए। तुम आज बाहर चले जाओ। वहाँ से दुकान के लिए सामान ले आओ। हाँ, इतना ध्यान रखना कि सामान अच्छी किस्म का हो और किसी के बहकावे में आकर गाँठ का पैसा भी मत गँवा आना।”

नानक ने रुपये लेकर कहा— “पिताजी! आप चिन्ता न करें। मैं सच्चा और खरा सौदा करके ही लौटूँगा।” पुत्र का आश्वासन पाकर पिता निश्चिन्त हो गये। उन्हें मार्ग में भगवान् का गुणानुवाद गाते हुए कुछ साधु मिले जो कई दिन से भूखे थे। जब नानक को पता चला तो उन्होंने अपनी गाँठ के सारे रुपयों से साधुओं के भोजन की व्यवस्था की। उन्हें भरपेट खाना खिलाया और रात भर उनके साथ रहकर सत्संग किया। दूसरे दिन खाली हाथ घर लौट आये।

जब पिता ने दुकान के माल के सम्बन्ध में पूछताछ की तो उन्होंने सारी घटना का विवरण समझाते हुए कहा— “धर्म की कमाई सर्वश्रेष्ठ कमाई है। इसका सुफल इस लोक में ही नहीं वरन् परलोक में भी मिलता है। मैं आपसे कहकर गया था कि सच्चा और खरा सौदा करके ही लौटूँगा। अब आप ही बताइए कि भूखे ईश्वर भक्तों को भोजन कराने से भी बढ़कर कौन-सा सच्चा सौदा हो सकता है?”

फकीरी का सही स्वरूप

एक बार गुरु नानक पानीपत गये, जहाँ शाहशरफ नामक एक प्रसिद्ध सूफ़ी फकीर रहते थे। गुरु नानक उस समय गृहस्थियों वाले वस्त्र धारण किए हुए थे। यह देखकर शाहशरफ ने पूछा— “फकीर होकर आपने गृहस्थियों वाले कपड़े क्यों पहन रखे हैं और संन्यासियों की तरह आपने अपना सिर क्यों नहीं मुड़ा रखा है?”

नानक ने उत्तर दिया— मूड़ना मन को चाहिए, सिर को नहीं और मिट्टी की तरह नम्र होकर ही मन को मूड़ा जा सकता है। अपने वेश के सम्बन्ध में उन्होंने कहा— जो मनुष्य परमेश्वर के दर पर अपने सुख, स्वाद और अहंकार को त्याग कर गिर पड़े वह जो भी वस्त्र धारण करे, परमात्मा उसे स्वीकार करता है। दरवेश का चोंगा और टोपी यही है कि वह ईश्वरीय ज्ञान को अपनी आत्मा में बसा ले। जो कोई मन जीत ले, सुख-दुःख में एक समान रहे और हर समय सहजावस्था में विचरण करे, उसके लिए हर तरह का वेश शोभनीय है।

जब शाहशरफ ने पूछा— “आपकी जाति क्या है, आपका मत क्या है, गुजर कैसी होती है?”

गुरुजी ने कहा— “मेरा मत है सत्यमार्ग, मेरी जाति वही है जो अग्नि और वायु की है— जो शत्रु-मित्र को एक समान समझती है। मेरा जीवन वृक्ष धरती की तरह है। नदी की तरह मुझे इस बात की चिन्ता नहीं कि मुझ पर कोई धूल फेंकता है या फूल और मैं जीवित उसी को समझता हूँ जिसका जीवन चन्दन के समान दूसरों के लिए घिसता हुआ संसार में अपनी सुगन्ध फैला रहा हो।”

यह सुनकर शाहशरफ ने कहा— “दरवेश कौन है?” नानक ने कहा— “जो जिन्दा ही मरे की तरह अविचल रहे। जागते हुए सोता रहे, जानबूझकर अपने आपको लुटाता रहे। जो क्रोध में न आये, अभिमान न करे। न स्वयं दुःखी हो, न किसी को दुःख दे। जो हमेशा ईश्वर में मग्न रहे और वही सुने जो उसके अन्दर से ईश्वर बोलता है और उसी सर्वान्तर्यामी परमात्मा को हर व्यक्ति हर स्थान में देखे।

तपोनिष्ठ महात्मा श्रीचन्द्र

भगवत् भक्ति से ओत-प्रोत योग साधन में कितनी शक्ति होती है। इसका उदाहरण सन्त श्रीचन्द्र के जीवन की अनेक घटनाओं से मिलता है।

महात्मा श्रीचन्द्र गुरु नानक के सबसे बड़े पुत्र थे। उन्होंने अपने पिता से ही योग-साधना तथा भगवत् भक्ति की शिक्षा-दीक्षा ली थी। कुछ समय तक गृहस्थ धर्म में रहकर उन्होंने साधना की और बाद में समय आने पर जब उन्हें सहज वैराग्य हो गया तो वे संन्यासी हो गए। महात्मा श्रीचन्द्र ने एक सौ साल की आयु पायी थी और उनके सामने सिक्खों के छह गुरु गद्दी पर बैठे थे।

महात्मा श्रीचन्द्र कितने बड़े त्यागी और योग सिद्ध महापुरुष थे उसके उदाहरण में एक घटना है। गुरुनानक ने शरीर त्याग के कुछ समय पूर्व श्री अंगद देव को गद्दी दे दी थी। श्री अंगद देव स्वयं ही बड़े त्यागी व्यक्ति थे और सदा भगवान् के ध्यान में निमग्न रहा करते थे। गुरु का पद पा लेने के बाद भी वे महात्मा श्रीचन्द्र के पास गये और विनयपूर्वक बोले— “आप गुरु के सबसे बड़े पुत्र हैं और बड़े भारी महात्मा हैं। उनकी गद्दी के आप ही सच्चे उत्तराधिकारी हैं। कृपापूर्वक गुरु की गद्दी पर बैठिये और शिष्यों को उपदेश दीजिये।

आप गुरु पुत्र हैं और मेरे लिये गुरु के समान ही हैं। गद्दी पर बैठना और शिष्यों को उपदेश देना आपके लिये ही योग्य है।”

श्री अंगद देव की बात सुनकर श्रीचन्द्र प्रेम से विभोर हो उठे और गदगद कण्ठ से बोले— “हे स्वरूप ! आप मुझसे ऐसा क्यों कह रहे हैं। मुझे तो सारा संसार एक भगवत् रूप ही मालूम होता है। मैं भला लोगों में गुरु और शिष्य का भेद करके उपदेश किस प्रकार कर सकता हूँ। मेरा हृदय तो परमात्मा के अखण्ड प्रेम में डूबकर मतवाला हो चुका है। शिक्षा-दीक्षा देने की योग्यता मुझ में नहीं रह गई है। गुरु की कृपा से आप में यह शक्ति और योग्यता अवश्य है कि आप आवश्यकतानुसार जब चाहें संसार में उतर कर लोगों को उपदेश कर सकते हैं इसलिये गुरु की गद्दी पर आप ही बैठिये और उनका मन्तव्य आगे बढ़ाइए ? श्री अंगद देव ने बहुत कुछ अनुरोध किया किन्तु महात्मा श्रीचन्द्र ने गद्दी पर बैठना स्वीकार नहीं किया।

महात्मा श्रीचन्द्र अधिकतर जंगल में ही रहा करते थे और वहीं आने वाले जिज्ञासुओं को धर्म का उपदेश दिया करते थे। एक बार साप्ताहिक समाधि से उठने के बाद उन्होंने भोजन के नाम पर थोड़ा-सा गुड़ खाने की इच्छा प्रकट की। एक शिष्य भागा-भागा पास के गाँव में गया और वहाँ के दुकानदार से कहा— “भाई थोड़ा-सा गुड़ दे दो गुरु ने खाने की इच्छा प्रकट की है। बनिये ने समझ लिया कि यह पैसे देने वाला तो नहीं।” निदान उसने कह दिया कि गुड़ नहीं है। लेकिन उसका बड़ा भारी कोठ गुड़ से भरा हुआ था।

शिष्य ने कहा, “भाई तुम्हारे पास कोठे के कोठे गुड़ भरा है लेकिन तुम थोड़ा-सा देने के लिये झूठ बोलते हो। दुकानदार ने कह दिया उसमें तो मिट्टी भरी है गुड़ नहीं।” शिष्य निराश होकर वापस आ गया और महात्मा श्रीचन्द्र से दुकानदार की शिकायत करते हुये बोला— “महाराज दुकानदार के पास गुड़ के कोठे भरे हैं लेकिन उसने न देने के लिये झूठ बोल दिया और कहा उनमें तो मिट्टी भरी है गुड़ नहीं।”

स्वरूप ! क्या तुमने उसका कोठा खोल कर देखा था। गुरु ने पूछा। शिष्य ने कहा नहीं महाराज ! गुरु ने फिर कहा— तब तुम बिना देखे दुकानदार को झूठा कैसे कहते हो। यह तो ठीक नहीं। क्या ठीक उसके कोठे में मिट्टी ही भरी हो या उसका गुड़ खराब होकर मिट्टी हो गया हो और वह दुकानदार सच बोलता हो। बिना प्रमाण पाये किसी को झूठा कहना भले आदमियों को शोभा नहीं देता।

बताया जाता है कि जब उस दुकानदार ने दूसरे दिन गुड़ का कोठा खोला तो उसका सारा गुड़ खराब होकर मिट्टी हो गया था। दुकानदार ने अपना परिवार बुलाया और कहा अब इस गाँव से चलो। यहाँ तो ऐसे योगी आ गये हैं कि जो कुछ कह देते हैं वही हो जाता है। दुकानदार गाँव छोड़कर चला गया।

महात्मा श्रीचन्द्र को जब पता चला तो वे दुःख के मारे रोने लगे और बोले धिक्कार है मुझे जो मेरे भय से एक आदमी गाँव छोड़ गया ! उन्होंने दुकानदार को बुलवाया और कहा, “भाई ! तुम गाँव में आ जाओ।” वह बोला महाराज हम संसारी आदमी हैं कहीं फिर कोई

गलती हो गई तो आप शाप दे देंगे और हमारा नाश हो जायेगा। श्रीचन्द्र उसे समझाते हुये बोले भाई मैंने तो कोई शाप नहीं दिया तुम्हारे कहे का समर्थन कर दिया था। हो सकता है तुम्हारे वचन तुम्हें फलीभूत हुए हों। तुम गाँव में आ जाओ और अच्छे आदमियों की तरह सत्य और ईमानदारी का पालन करते रहो। मैं क्या किसी महात्मा का शाप तुम्हें नहीं लग सकता। दुकानदार गाँव में चला आया।

महात्मा श्रीचन्द्र ने समझ लिया कि भगवत् भजन से उनकी वाणी में शक्ति आ गई है इसलिये वे आगे किसी के लिये भी कुछ कहने के लिये बहुत सावधान हो गये।

इसी तरह एक बार भानाराम नाम का एक आदमी उनके पास आया और बोला— “महाराज ! मेरे पिता घर छोड़कर संन्यासी हुए जा रहे हैं। किसी के समझाने से मानते ही नहीं। आप उन्हें समझा दें तो शायद मान जायें। महात्मा श्रीचन्द्र ने पिता को उनके पास भेज देने के लिए कहकर भानाराम को विदा कर दिया।”

भानाराम ने घर जाकर पिता से गुरु का संदेश कह दिया। वह बड़ा खुश हुआ। उसने सोचा महात्मा श्रीचन्द्र तो संन्यासी हैं। मेरे संन्यास लेने की बात सुन कर मुझे दीक्षा दे देंगे। वह उनके पास आया और बोला— “महाराज ! मौका आ गया। मेरे लिए क्या आदेश है ? आशा है आप मुझे संन्यास की दीक्षा दे देंगे।”

श्रीचन्द्र ने कहा— “पहले तुम एक रात जंगल में रहकर आओ और जो कुछ वहाँ अनुभव हो उसे आकर मुझे बताओ और तब दीक्षा की बात है।” वह व्यक्ति वन में चला गया। सबेरा होने पर गुरु के पास आया। महात्मा श्रीचन्द्र ने उससे उसका अनुभव पूछा। उसने बतलाया— महाराज ! रात को एक पेड़ के नीचे बैठा भजन कर रहा था तभी देखा कि एक कबूतर और कबूतरी सुखी डालियाँ और पत्ते तोड़ तोड़कर मेरे सामने डाल रहे हैं। मैंने उन्हें यों ही एक जगह इकट्ठा कर दिया और फिर भजन करने लगा। थोड़ी देर बाद देखा कि ये दोनों पक्षी एक जलती हुई डाली ले आये और मेरे सामने डाल गये। कुछ सर्दी थी। मैंने उस आग से वह पत्ते और डालों का ढेर जला दिया और फिर आँख बन्द कर भजन करने लगा। थोड़ी देर बाद फड़-फड़ की आवाज सुनकर मैंने आँख खोलीं तो देखा कि वे दोनों पक्षी आग में पड़े फड़-फड़ा रहे हैं। मैंने उन्हें निकाला पर वे बच न सके। मैं रात भर उनके शोक में बैठा रहा और प्रभात होने पर आपके पास चला आया।”

कथा सुनकर गुरु ने कहा— “अब एक रात बस्ती में रहकर आओ और जो अनुभव हो उसे मुझे आकर सुनाओ !” वह व्यक्ति रात भर एक बस्ती में रहा और सबेरे आकर अपना अनुभव महात्मा को सुनाया। वह बोला— “महाराज ! मैंने देखा कि कड़ाके की सर्दी में एक साधु एक स्थान पर नंगा बैठा कुछ ध्यान-सा कर रहा है। एक आदमी उधर से निकला और उससे बोला, इधर से लोगों के घरों की बेटियाँ निकलती हैं और तू नंग-धड़ंगा बैठा है। जा भाग जा यहाँ से। लेकिन उस साधु ने न तो कोई उत्तर दिया और न उधर गया ही। अपने ध्यान में बैठा रहा। उस आदमी ने उसे पीटा और फिर पैर पकड़ कर पीटता हुआ ले जाकर एक तरफ डाल आया।

तब भी उस साधु ने उससे कुछ न कहा। उसका सारा शरीर घसीटने से लहलुहान हो गया था।

तभी एक दूसरा आदमी आया और उसने उस साधु की मरहम पट्टी की और उसे एक शाल उड़ा गया। लेकिन उस साधु ने उसको भी कोई दुआ या धन्यवाद नहीं दिया। उसी प्रकार अपने ध्यान में बैठा रहा। तभी प्रभात हो गया और मैं आपके पास चला आया।

महात्मा श्रीचन्द्र बोले! 'देखो स्वरूप' जंगल के उस कपोत जोड़े ने तुम्हारे सामने सच्चे गृहस्थ का उदाहरण रखा। उन्होंने देखा कि एक व्यक्ति जाड़े में उनके वृक्ष के नीचे बैठा है। उन्होंने तुम्हारे लिए ईधन और आग का प्रबन्ध किया और रात में तुम्हारी क्षुधा तृप्ति के लिए अपने को ही आग में डाल कर भून दिया और दूसरा उस साधु ने तुम्हारे लिए एक सच्चे साधु का उदाहरण रखा जो कष्ट तथा सुख में एक जैसा ही रहता है। न तो मारने-घसीटने वाले को बुरा कहता है और न सुख देने वाले को वरदान देता है उसके लिए जिस प्रकार सुख-दुःख समान होते हैं उसी प्रकार दुःख-सुख देने वाले भी समान होते हैं। अब तुम संन्यास अथवा गृहस्थ धर्म जो भी चाहो ग्रहण कर लो।

उस व्यक्ति ने कहा महाराज गृहस्थ धर्म, संन्यास धर्म से मुझे तो ऊँचा लगा है तो वही ग्रहण करूँगा और वह साधु होने का विचार छोड़कर अपने घर चला गया।

समर्पण के आदर्श प्रतीक— गुरु अंगद देव

गन्दे नाले में गुरु नानक का प्याला गिर गया। उन्होंने अपने शिष्यों की ओर देखा और कहा— 'इस प्याले को उठाओ।' शिष्य दौड़े, प्याला उठाने के लिये नहीं मेहतर को बुलाने के लिए। नानक की आँखों में निराशा का भाव उभर आया। जिन शिष्यों को उन्होंने कार्य को ही पूजा समझने तथा स्वावलम्बी बनने का पाठ पढ़ाया था वे ही एक छोटे-से कार्य को करने में हिचक रहे हैं।

परन्तु लहिणा नाम का एक शिष्य उठा और प्याला निकालने के लिए गन्दे नाले में झुका। प्याला नाली में डूब गया, तब मैं बैठ गया। लहिणा ने अपने कपड़े ऊँचे चढ़ाये और नाली में उतर गया। हाथों को गन्दे पानी में डालकर प्याला उठा लिया। इस कार्य में उनके कपड़ों पर कुछ दाग भी लग गये। इतने में दूसरे शिष्य भी मेहतर को बुला लाये थे। गुरु नानक ने सबके सामने लहिणा की प्रशंसा की। दुत्करा दूसरे शिष्यों को भी नहीं कारण वे समझते थे— जन्म जन्मान्तर के संस्कारों को सीमित अवधि में मिटा सकना सम्भव नहीं है। वे कार्य की पूजा साधना में और अधिक निष्ठा के साथ संलग्न होने के लिए प्रेरित करते रहे।

इसी प्रकार की एक घटना है— लहिणा खेतों में से घास का गड्ढर उठाकर ला रहे थे। उनके कपड़े पर गीली मिट्टी के दाग पड़ गये। गुरु नानक की पत्नी ने गुरु से कहा— 'आप लहिणा को कैसे-कैसे काम बता देते हैं। देखिए उसके कपड़ों पर कितना कीचड़ गिर गया है।'।

यह सुनकर वे मुस्कराये— यह कीचड़ नहीं केसर है जो लहिणा के चरित्र को सुवासित कर देगा और वास्तव में लहिणा जी का जीवन इतना सुगन्धित हो उठा कि गुरु नानक ने अपने बाद उन्हें ही सिक्खों का मार्गदर्शक चुना।

यही लहिणा आगे चलकर गुरु अंगद देव के नाम से विख्यात हुए। उनका जन्म सन् १९०४ में पंजाब के फिरोजपुर जिले में हुआ। माता-पिता धार्मिक स्वभाव के थे। उसके साथ बालक लहिणा प्रतिवर्ष दूर देवी दर्शन के लिये जाया करते थे। इसी दर्शन यात्रा में उनका संपर्क एक बार गुरु नानक से हुआ।

माता दया कौर तथा पिता फेरू जी गुरु नानक के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। लहिणा को देखकर गुरु नानक ने उन दम्पति से पुत्र माँग लिया और फेरू जी तथा दया कौर ने इसे गुरु कृपा समझ कर सहर्ष स्वीकार कर लिया। गुरु अंगद देव भी नानक से बड़े प्रभावित हुए। उनके पास रहने के बाद वे बड़ी श्रद्धा तथा निष्ठा के साथ गुरु की सेवा में लगे रहते।

नानक ने अंगद की हर प्रकार से परीक्षा ली और सेवा साधना की कसौटी पर खरा पाया। उनकी सेवा, निष्ठा की अनेकों प्रेरणाप्रद कथायें साखियों के रूप में प्रचलित हैं। अनुशासन और आज्ञापालन में गुरु अंगद देव की कोई सानी नहीं रखता। समर्पण के वे जीते जागते प्रतीक थे। कठपुतली की तरह अपने गुरु के हाथों का खिलौना बनकर रहने का सिद्धान्त उन्होंने जीवन में पूरी तरह उतार लिया था। सूत्रधार की तरह गुरु जिस प्रकार नचाता उसी प्रकार नाचना— काम करना उनका धर्म हो गया था। अपने इष्ट की इच्छा के अनुकूल रहना, जो आदेश हुआ उसी का पालन, जिस स्थिति में मार्गदर्शक रखना चाहे उसी में सन्तोष समर्पण की यही तो सच्ची स्थिति है। यही कारण है कि गुरु कृपा का लाभ उन्होंने अन्य शिष्यों की अपेक्षा अगणित गुना ज्यादा उठाया था।

उत्तराधिकार में गुरुपद मिलने के बाद भी उन्होंने नानक की शिक्षाओं और आदर्शों को ही महत्त्व दिया। सच्चे धर्म और आस्तिकता के जीवन मूल्यों का प्रचार किया। गुरु नानक ने अपने उपदेश प्रचलित भाषा में दिये थे। उस समय सामान्य जनता में एक पुरानी लिपि जिसे उस समय 'शारदा' लिपि के नाम से जाना जाता था, में नानक की वाणी बिखरी पड़ी थी। अंगद देव ने सर्वप्रथम गुरु की शिक्षाओं साखियों को एकत्रित किया और उसे लिपिबद्ध करवाया। यही शारदा लिपि आगे चलकर गुरुमुखी कहलायी। पंजाबी भाषा इसी लिपि में लिखी जाती है। अंगद देव की संकलित साखियों का संग्रह आज जनम साखी के नाम से उपलब्ध है।

गुरु अंगद का सबसे प्रमुख कार्य है लंगर प्रथा को प्रचलित करना। लंगर सामूहिक भोज की तरह होता है। जिसमें सभी वर्ग के ऊँच-नीच, कुलीन-अकुलीन, अमीर-गरीब एक साथ बैठकर एक ही समान खाते हैं। इस परंपरा से सिक्खों में सामूहिकता और सहयोग की भावना का विकास हुआ। बिना किसी प्रकार के भेदभाव के लोग इसमें एक साथ भोजन बनाते हैं। इस प्रथा को चलाकर मानव मात्र एक समान के सिद्धान्त को उन्होंने व्यावहारिक रूप दिया। यद्यपि

इस परम्परा का विरोध करने वाले भी उस समय मौजूद थे। ऊँची जातियों के लोग गुरु अंगद की निन्दा करने लगे। उन्हें नानक की पवित्रता और मर्यादा को भंग करने वाला निरूपित किया जाने लगा परन्तु इसकी उन्होंने कोई चिन्ता नहीं की। विरोध के बावजूद भी हजारों लोग उनके लंगर में सम्मिलित होते थे। जो भोजन बचता उसे लोगों के घरों में बाँट दिया जाता।

उसके बाद भी कुछ बचता तो तालाबों में डाल दिया जाता ताकि मछलियाँ उन्हें खा लें। मानव मात्र ही नहीं जीव मात्र के प्रति समान भावना का उच्चतम विकास उनमें हुआ था।

अपने पिछड़ी मनोवृत्ति के गुरु भाइयों को अंगद देव ने वही प्यार और स्नेह दिया जिसकी परम्परा नानक ने डाली थी। इसी प्रकार की एक घटना है। जोध भाई नामक एक जाति अभिमानी विद्वान् उनके दर्शन करने आये। गुरु अंगद देव चाहते थे कि उनमें अहंकार का दोष न रहे। जोध भाई ने कुछ योग्य सेवा बताने के लिए कहा तो गुरु अंगद ने कह दिया—“लंगर की सेवा करो।”

जोध भाई के मन में बड़ी ठेस पहुँची परन्तु निष्ठा का उनमें अभाव नहीं था सो लंगर की सेवा में भोजन बनाने से लेकर बरतन साफ करने तक का काम उन्होंने किया। धीरे-धीरे उन्हें अपनी भूल और अहंकार का भान हुआ वे बड़ा पश्चात्ताप करने लगे। अंगद देव के पास पहुँचे और कहा—“अभिमान के कारण मैं अपने आपको न जाने क्या समझने लगा था। मुझसे बड़ी भूल हुई है।”

अंगद देव ने कहा—कोई चिन्ता नहीं। बर्तन साफ करते-करते अब तुम्हारा हृदय भी साफ हो गया है। चाहो तो इस काम को छोड़ सकते हो।

जोध भाई ने अपने कार्य के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए कहा—जिस साधना के परिणाम में मेरा मलीन हृदय स्वच्छ हो गया है उसे कैसे छोड़ दूँ। गुरु अंगद के अन्य कार्य में सहयोग देते हुए भी जोध भाई ने फिर कभी लंगर सेना को छोटा नहीं समझा।

गुरु अंगद देव ने समझा शरीर ही धर्म साधना का आधार है। इसे स्वस्थ रखना ईश्वर की पूजा का प्रथम कृत्य है इसलिए स्वास्थ्य रक्षा के लिए लोगों को श्रम और व्यायाम का अभ्यासी बनाना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने जगह-जगह व्यायामशालायें खोलीं और अखाड़े बनाये। स्वास्थ्य के प्रति आरम्भ से ही जागरूकता बनी रहे इसके लिए उन्होंने बच्चों को दण्ड-बैठक एवं कुश्ती का अभ्यास कराया। भारतीय समाज में बल की उपासना का भाव जगाने के लिए वे इन व्यायामशालाओं तथा अखाड़ों में स्वयं देखरेख करने जाते। कहते हैं हुमायूँ भी इन अखाड़ों में कुश्तियाँ देखने के लिए आया था तथा गुरु अंगद देव से बड़ा प्रभावित हुआ था। कुछ लोगों का यहाँ तक कहना है कि वह अपने पुत्र को इन अखाड़ों के संरक्षण में देने के लिए भी तैयार हो गया था।

अपने उपदेशों से उन्होंने लोगों को सदैव इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे अपना सर्वस्व मानव सेवा में लगा दें। यहाँ तक कि कल के लिए भी कुछ बचाकर रखना आवश्यक नहीं है। जो भगवान् आज के लिए हमारे निर्वाह का प्रबन्ध करता है कल की व्यवस्था

भी वही करेगा। इस सिद्धान्त को उन्होंने स्वयं के जीवन में भी उतार कर दिखाया।

सन् १५५२ में ४८ वर्ष की आयु में उनका देहान्त हो गया। अपने उत्तराधिकारी उन्होंने अपने शिष्य अमर दास को सिक्खों का तीसरा गुरु बनाया। उनके चुने हुए उपदेश गुरु ग्रन्थ साहब में भी संकलित हैं।

योग्य गुरु के योग्य शिष्य अमरदास और रामदास

गुरु अमरदास सिक्खों के तीसरे गुरु थे। वे गुरु अंगद देव के उत्तराधिकारी बने थे। गुरु अंगद देव के शिष्यों में बड़े धनवान और विद्वान् लोग थे और आशा करते थे कि गुरु का उत्तराधिकार उन्हें मिलेगा। अमरदास के गुरु बनने की किसी को आशा न थी। अमरदास कुछ अधिक पढ़े-लिखे भी नहीं थे और गरीब आदमी भी थे। लेकिन उनमें गुरु निष्ठा और सेवा भाव कूट-कूट कर भरा हुआ था। इन्हीं गुणों के आधार पर उन्होंने वह प्रतिष्ठापूर्ण उत्तरदायित्व पाया था।

गुरुद्वारे में जब-जिस समय भी कोई अतिथि आ जाता था तो अमरदास उसकी सराहनीय सेवा किया करते थे। आधी-आधी रात को उठकर उन्होंने अतिथियों और अभ्यागतों की सेवा की और कोई अन्य प्रबन्ध न होने पर अपने हाथ से भोजन बनाकर खिलाया। अमरदास अतिथियों के लिए खुद अपने हाथ से पानी भरते और उन्हें नहलाते थे। इसके अतिरिक्त गुरुद्वारे की सफाई और वहाँ रहने वालों का सारा काम अपने हाथ से किया करते थे।

गुरु के प्रति उनकी निष्ठा और भक्ति अपनी समता न रखती थी। गुरु के नित्य स्नान के लिए वे प्रातःकाल ब्रह्म मुहूर्त में स्वयं स्नान करके नदी से पानी लेने जाया करते थे। नदी जाते समय वे गुरुद्वारे की ओर जहाँ गुरु का निवास होता था, कभी पीठ नहीं करते थे और पूरे मार्ग उलटे चलकर जाया करते थे। इस क्रम में बहुत बार ठोकर लग जाने से वे गिर भी पड़ते थे, किन्तु तब भी गुरुद्वारे को पीठ न देते थे। गुरु को स्वयं स्नान कराते और उनके वस्त्र स्वयं धोते थे। इसी सेवा और भक्ति को देखकर गुरु अंगद देव ने उन्हें अपना उत्तराधिकारी बनाया था। उनका कहना था कि गुरु की गद्दी जन-सेवा का उत्तरदायित्व है, शासन का अधिकार नहीं। अमरदास सच्चा जन-सेवक और हर तरह से गद्दी पर बैठने योग्य है।

गुरु अमरदास भी अपने गुरु अंगद देव के समान ही न्यायपरायण और सच्चा सेवा भाव रखने वाले का बड़ा आदर करते थे। उनके मोहनचन्द और मेहरचन्द नाम के दो लड़के थे, पर उन्होंने अपना उत्तराधिकार अपने किसी लड़के को न देकर रामदास नाम के एक शिष्य को दिया था।

रामदास बड़े ही निराभिमानी, सज्जन और सेवाभावी व्यक्ति थे। वे भी अपने गुरु अमरदास की तरह ही अतिथियों की सेवा और गुरुद्वारे का सब काम किया करते थे। गुरु अमरदास उनसे बड़े प्रसन्न थे और अपने पुत्रों से अधिक उन्हें चाहते और प्यार करते थे। रामदास

पर गुरु की कृपा देखकर उनके लड़के मोहनचन्द और मेहरचन्द उनसे बहुत जला करते थे। बहुत दिन तक तो वे उन्हें पीटते और तरह-तरह से परेशान करते रहे। किन्तु रामदास ने उनसे कभी कुछ नहीं कहा और न गुरु से कभी शिकायत की। वे सदा ही गुरु पुत्रों को आदर की दृष्टि से देखते रहे।

एक बार की घटना है कि दोनों गुरु पुत्र और रामदास जंगल में सैर करने गये। रास्ते में एक पानी से भरा पोखर पड़ा। मोहनचन्द ने रामदास को उसमें धकेल दिया और अपने भाई को साथ लेकर सैर करने को निकल पड़ा। भोला रामदास देर तक उसमें गोते खाता रहा। फिर किसी प्रकार उससे बाहर निकल कर गुरु पुत्रों की तलाश में चल दिया। उसके सब कपड़े भीग गये थे और जगह-जगह कीचड़ लग गई थी। जब वह गुरु पुत्रों के पास पहुँचे तो वे दोनों हँसने लगे, पर रामदास ने उन पर किसी प्रकार का क्रोध नहीं किया और न शिकायत की।

घर वापस आने पर भी रामदास ने गुरु से उसकी शिकायत नहीं की, किन्तु गुरु अमरदास को उस घटना का पता चल चुका था। गुरु ने तीनों को बुलाया और पूछा आज क्या बात हुई तुम तीनों के बीच। मोहनचन्द और मेहरचन्द ने तो झूठ बोलकर कह दिया कि कुछ भी नहीं हुआ। गुरु पुत्रों को डाँट न पड़े— इस डर से रामदास ने भी कह दिया कि गुरुजी कुछ नहीं हुआ। हम तीनों जंगल में खेलने गये थे। लेकिन गुरु ने मोहनचन्द को उसके अपराध के लिए डाँटा और रामदास से क्षमा माँगने को कहा। किन्तु जब ईर्ष्यावश मोहनदास ने अपने अपराध की क्षमा नहीं माँगी तो उन्होंने उसे घर और पन्थ दोनों से निकाल दिया।

इस दण्ड पर रामदास रोने और प्रार्थना करने लगे कि भाई मोहनचन्द को इतना कठोर दण्ड न दिया जाये। उन्हें क्षमा कर दिया जाए। गुरु ने देखा कि रामदास के हृदय में अपने को दुःख देने वाले के प्रति भी प्रेम और सहानुभूति भरी है और सन्तोष के योग्य सज्जनता और सहनशीलता भी है। उसी दिन से रामदास गुरु अमरदास की दृष्टि में चढ़ गये और आगे चलकर उन्हीं को गद्दी दी गई।

सेवाधर्म के उपासक—अमरदास

तृतीय सिख गुरु अमरदास जी ने बासठ वर्ष की उम्र तक कोई गुरु न किया। उन्हें जब यह ज्ञात हुआ कि गुरु के बिना ज्ञान नहीं होता तो उन्होंने गुरु अंगद देव जी से दीक्षा ली। वे बड़े भोर उठ कर तीन कोस दूर व्यास नदी से गुरु के स्नानार्थ जल ले आते। एक अधेरी रात में वे जल लेकर लौट रहे थे तो रास्ते में जुलाहे की खड़ी से उन का पाँव टकरा गया और वे गिर पड़े। जुलाहा जाग उठा और पत्नी से बोला “देख तो कौन गिर पड़ा खड़ी में ?”

जुलाहिन ने कहा, “और कौन होगा, वही अनाथ अमरू आधी रात में गुरु की खिदमत के लिए उठ जाता है।”

प्रातःकाल गुरु अंगद देव जी ने यह वार्ता सुनी। उन्होंने सिखों के दरबार में विह्वल कंठ से रात की घटना बतायी और अमरदास जी को गले लगा कर बोले, “वह अमरू अनाथ नहीं, सिखों का स्वामी

है। सेवा-धर्म का पालन करने के कारण यह गुरु-गद्दी का अधिकारी है।” जिस स्थान पर गुरु अमरदास जी ठोकर खा कर गिरे थे वहाँ आज भी विशाल गुरुद्वारा उन की गुरु भक्ति का संदेश देने के लिए खड़ा है।

मनुष्य-मनुष्य में भेद कैसा

संसार में अपरिमित ज्ञान भरा पड़ा है पर उसे तभी प्राप्त किया जा सकता है जब अपना अहंकार मिटा कर शिष्य भाव लाया जाय, श्रद्धा और भावनापूर्वक ज्ञान पाने की पवित्रता व्यक्त की जाय— इसलिये हे वत्स ! आप शहंशाह अकबर से जाकर कहिये वे जब तक बादशाह होने का धमण्ड परित्याग नहीं करते तब तक अमरदास के दर्शन असम्भव हैं।

अमरदास सिक्ख सम्प्रदाय के तृतीय गुरु थे, उन्होंने अपने अनुयायियों को सामूहिक लंगर में भोजन कराने की प्रथा का सूत्रपात किया। उन दिनों हिन्दुओं में ऊँच-नीच, बड़े-छोटे का भाव अत्यधिक विकृत रूप धारण कर चुका था। गुरु अमरदास की धारणा थी कि इस प्रथा से— मनुष्य-मनुष्य के बीच ऊँच-नीच की खाई पटेगी इसलिये ही उन्होंने अपने अनुयायियों को इस प्रथा से बाँध दिया था।

बलिदानी सन्त गुरु तेगबहादुर

सिक्खों के नवें गुरु तेगबहादुर बड़े ही धर्मात्मा और भगवत भक्त थे। उनके समय में भारत में मुगल बादशाह औरंगजेब का शासन था। वह बड़ा ही कट्टर बादशाह था। मुसलमान धर्म के सिवाय वह सारे धर्मों को ढोंग कहता था और मिटा देने की कोशिश करता था। उन दिनों वह काश्मीर के हिन्दुओं को जबरदस्ती मुसलमान बनवा रहा था।

अत्याचार से त्रस्त होकर काश्मीर के बहुत-से पण्डित एक बार गुरु तेगबहादुर के पास आए और बोले— “गुरुजी ! हम हिन्दू लोग तो बड़ी मुसीबत में पड़े हैं। हमारी बहू-बेटियों की लाज और धन-दौलत दिन दहाड़े मुसलमानों द्वारा लूटी जा रही है। इसके अतिरिक्त काश्मीर में हिन्दुओं को जबरदस्ती मुसलमान बनाया जा रहा है। आप हिन्दू धर्म की रक्षा कीजिए। आपके सिवाय इस समय कोई रक्षक दिखलाई नहीं देता। हम आपकी शरण हैं। हमारी रक्षा कीजिए।”

गुरु तेगबहादुर काश्मीरी पण्डितों का दुःख सुनकर मौन हो गये और बड़ी देर तक विचार करते रहे। तत्पश्चात् बोले— “भाई ! बात दरअसल यह है कि धर्म की रक्षा बलिदान द्वारा होती है। यदि कोई बड़ा और भला आदमी इस समय अपना बलिदान दे दे तो धर्म की रक्षा हो सकती है।” गुरु की बात सुनकर सब लोग सोचने लगे कि ऐसा बड़ा और भला आदमी कौन हो सकता है, जो अपना बलिदान देकर धर्म की रक्षा करे। इस बलिदान के लिए तो कोई सच्चा धर्मात्मा ही होना चाहिए।

गुरु तेगबहादुर के पाँच वर्षीय पुत्र गोविन्दसिंह उस समय वहाँ बैठे थे। सबको असमंजस में बैठे देखकर बोले— “पिताजी ! इस

२.४८ महापुरुषों के अविस्मरणीय जीवन प्रसंग—१

समय आप से बढ़कर और कौन बढ़ा और भला आदमी हो सकता है। आप तो पूरे धर्मात्मा हैं। आप अपना बलिदान देकर धर्म की रक्षा क्यों नहीं करते।” पुत्र की बात सुनकर गुरु तेगबहादुर गद्गद हो उठे और बोले, “धन्य है मेरे वीर पुत्र ! तू ने मेरा पथ प्रदर्शन किया है।” उसके बाद काश्मीरी पण्डितों को यह कह कर विदा कर दिया कि अब जब कोई तुम से मुसलमान होने के लिए कहे तो कह देना कि यदि गुरु तेगबहादुर मुसलमान हो जायें तो हम सब खुशी से हिन्दू धर्म छोड़कर मुसलमान हो जायेंगे।

कुछ समय बाद औरंगजेब को इस शर्त का पता लगा। उसने गुरु तेगबहादुर को दिल्ली बुलवाया। गुरु तेगबहादुर धूमते-धामते और लोगों को धर्मोपदेश देते हुए दिल्ली पहुँचे तो वहाँ के हिन्दू-सिक्खों ने उनका बड़ा आदर-सत्कार किया। औरंगजेब को जब पता चला तो उसने उन्हें दरबार में बुलवा भेजा। गुरु के भक्तों और शिष्यों ने प्रार्थना की कि वे दरबार में न जायें। औरंगजेब बड़ा खराब बादशाह है। वह हिन्दू और सिक्खों से शत्रुता मानता है। आपका वहाँ जाना भय से खाली नहीं है।

गुरु तेगबहादुर ने कहा— “सच्चा सन्त किसी भय से अपने कर्तव्य का त्याग नहीं करता। मैं दरबार में जाऊँगा और बादशाह से बात करूँगा। सिक्खों और भक्तों को समझाकर गुरु तेगबहादुर औरंगजेब के दरबार में गये।

बादशाह ने कहा— “आप एक पहुँचे हुए फकीर बतलाए जाते हैं, अगर ऐसा है तो कोई करामात या कमाल दिखलाइये।” गुरु तेगबहादुर ने कहा— “बादशाह ! करामात या कमाल तो बाजीगर दिखलाते हैं, हमारी करामात तो सत्य का पालन करना है।” औरंगजेब ने कहा— “सत्य तो हमारा इस्लाम धर्म है तो फिर उसे मंजूर क्यों नहीं कर लेते।” गुरु तेगबहादुर ने कहा— “यह तुम्हारा धर्म है। यदि इस्लाम ही केवल सच्चा होता तो खुदा दुनिया में और धर्म पैदा ही न होने देता जब कि यहाँ पर बहुत-से धर्म मौजूद हैं। सदाचार, प्रेम और दया जिस धर्म में होगी वही सत्य होगा और संसार में जीवित रहेगा। यह गुण जिस धर्म में नहीं है वह सत्य नहीं मिथ्या है।”

औरंगजेब फिर बोला— “यह सब बेकार की बातें हैं। जब कोई करामात नहीं दिखला सकते तो फिर नया धर्म चलाने का तुमको क्या हक है ?” बादशाह का हठ देखकर गुरु तेगबहादुर ने कहा— “मेरी करामात यही है कि एक मन्त्र लिखा हुआ यह परचा मेरी गरदन में बँधा है। इसके प्रभाव से तुम्हारी तलवार का वार हमारी गर्दन पर असर नहीं कर सकता। चाहो तो परीक्षा कर देखो। औरंगजेब ने जल्लाद को तलवार चलाने को कहा। किन्तु जल्लाद के तलवार चलाते ही गुरु का सिर कट कर गिर गया दरबार में सन्नाटा छ गया। उनकी गरदन से खोलकर पर्चा पढ़ा गया, उसमें लिखा था— “सर दिया लेकिन सार नहीं दिया।” गुरु का बलिदान अपूर्व था जिसने आगे चलकर औरंगजेब का तख्त हिला दिया।

पुष्प से कोमल, वज्र से कठोर गुरु गोविन्दसिंह

चमकौर के किले में गुरु गोविन्दसिंह को समाचार मिला कि उनके दो बेटे किले की दीवार में जिन्दा चुनवा दिए गये हैं और उनके दुःख में उनकी माता और पत्नी ने प्राण छोड़ दिये हैं। इस हृदय विदारक समाचार को सुनकर भी गुरु गोविन्दसिंह विचलित न हुए और रोते हुए साथियों को समझाते हुए बोले—

“भाइयो ! आप लोग उस समाचार पर रो रहे हैं जिसको सुनकर हर्ष विह्वल हो उठना चाहिए था। यह तो खुशी की बात है कि बच्चों ने प्राण दे दिए लेकिन धर्म नहीं दिया। दुःख की बात तो तब होती जब वे भय और लोभ में आकर अपना धर्म दे देते। यदि आप लोग जीवन के सार की ओर न देखकर नश्वर शरीरों का शोक कर रहे हों तो भी ठीक नहीं।”

गुरु गोविन्दसिंह बोले, “इस रहस्य को समझो— आप लोग जमीन पर दो लकरीं खींचो।” साथियों ने लकरीं खींचीं, उन्होंने फिर कहा— “अब इन्हें मिटा डालो।” साथियों ने लकरीं मिटा दीं। गुरु गोविन्दसिंह ने पूछा— “क्या आप लोगों को यह लकरीं बनाते हुए कोई आनन्द हुआ।” साथियों ने कहा, “नहीं।” “क्या आप लोगों को इन्हें मिटाते समय कोई दुःख हुआ ?” गुरु गोविन्दसिंह ने फिर पूछा। साथियों ने कहा, “नहीं।”

गुरु गोविन्दसिंह समझाते हुए बोले— “बस इसी तरह मानव शरीरों को समझ लो, इन्हीं रेखाओं की तरह बने और मिटते रहते हैं। जो जन्म लेता है वह एक दिन मरता भी है। एक दिन उन दोनों कुमारों ने भी इन्हीं रेखाओं की तरह अस्तित्व पाया और उन्हीं की तरह मिट गए। उन्होंने धर्म पर अपना बलिदान दे दिया है। इसलिए उनकी मृत्यु बधाई का विषय है, दुःख अथवा शोक का नहीं।” गुरु का सार वचन सुनकर सबको ज्ञान हो गया और सभी सतग्री अकाल के घोष के साथ हर्षित हो उठे।

छोटे कुमारों के बलिदान के समाचार की ताजगी अभी कम न हुई थी कि जब तक बलिदान की घड़ी और आ गई। मुगलों ने चमकौर पर एक बड़ी फौज के साथ हमला कर दिया और किले को सब तरफ से घेर लिया। साधन और सामग्री की कमी में भी गुरु गोविन्दसिंह मोर्चा लेते रहे। किन्तु अन्त में जब रसद और सैनिकों के नाम पर ‘नहीं’ का शब्द बनने लगा तो मैदान में लड़कर बलिदान हो जाने का निश्चय किया गया।

गुरु गोविन्दसिंह हथियार बाँधकर चले तो उनके बड़े लड़के अजीतसिंह ने हाथ जोड़कर कहा— “पिताजी आप नहीं, पहले मैं युद्ध में जाऊँगा।” गुरु गोविन्दसिंह का उत्साह दो गुना हो गया। बोले— “अजीत ! तुम अभी बच्चे हो। शत्रु की ताकत ज्यादा है। इस समय मैदान लेना मृत्यु का आलिङ्गन करना है। अच्छा हो कि तुम किले में रहो और मुझे मैदान में जाने दो।” अजीत उदास होकर बोला— “आप हमें धर्म पर बलिदान होने से रोकना चाहते हैं।”

गुरु गोविन्दसिंह ने उस वीर बालक की भावनाएँ समझीं और अपने हाथ से हथियार बाँधकर युद्ध में भेज दिया। जिस समय सैकड़ों शत्रुओं को मौत के घाट उतार कर अजीतसिंह ने वीरगति पाई गुरु गोविन्दसिंह बोल उठे— “धन्य अजीतसिंह ! धर्म के लिए बलिदान होकर तुम अमर हो गये।” दूसरी बार उनके दूसरे पुत्र जुझारसिंह ने युद्ध में जाने की आज्ञा माँगी। गुरु गोविन्दसिंह ने उसको भी हथियार बाँधे। साथी सैनिक कह उठे— “गुरुजी ! आप क्या कर रहे हैं ? तीन बेटे तो आपने बलिदान कर दिये। अब क्या इस अकेले बचे बेटे को भी बलिदान कर देंगे। कुल का दीपक ही बुझा लेंगे क्या ? गुरु गोविन्दसिंह ने कहा— “खेद है कि इसके बलिदान देने के बाद मेरे पास कोई भी बेटा न बचेगा। भाइयो ! कुल का प्रकाश तो पुत्रों के शरीरों से नहीं उनके सत्कर्मों से होता है। सो यह सब कर ही रहे हैं।” उन्होंने चौथे पुत्र को भी युद्ध में भेज दिया और उसका बलिदान भी अपने आँखों से देखा, पर आह नहीं की।

अन्धविश्वास के विरोधी—गुरु गोविन्दसिंह

सिक्ख सम्प्रदाय के दसवें गुरु— गुरु गोविन्दसिंह एक महान् योद्धा होने के साथ बड़े बुद्धिमान् व्यक्ति थे। धर्म के प्रति उनकी निष्ठा बड़ी गहरी थी। वह धर्म के लिए ही जिये और धर्म के लिये ही मरे। धर्म के प्रति अडिग आस्थावान् होते हुए भी वे अन्ध-विश्वासी जरा भी न थे और न अन्धविश्वासियों को पसन्द करते थे।

गुरु गोविन्दसिंह सिक्खों का संगठन और शक्ति बढ़ाने की चिन्ता में रहते थे। उनकी इस चिन्ता से, एक पण्डित ने लाभ उठाने की सोची। वह गुरु गोविन्दसिंह के पास आया और बोला— यदि आप सिक्खों की शक्ति बढ़ाना चाहते हैं तो दुर्गा देवी का यज्ञ कराइये। यज्ञ की अग्नि से देवी प्रकट होगी और यह सिक्खों को शक्ति का वरदान दे देगी। गुरु गोविन्दसिंह यज्ञ करने को तैयार हो गये। उस पण्डित ने यज्ञ कराना शुरू किया।

कई दिन तक यज्ञ होते रहने पर भी जब देवी प्रकट नहीं हुई तो उन्होंने पण्डित से कहा— “महाराज देवी अभी तक प्रकट नहीं हुई।” धूर्त पण्डित ने कहा देवी अभी प्रसन्न नहीं हुई है। वह प्रसन्नता के लिये बलिदान चाहती है। यदि आप किसी पुरुष का बलिदान दे सकें तो वह प्रसन्न होकर दर्शन दे देंगी और बलिदानी व्यक्ति को स्वर्ग की प्राप्ति होगी।

देवी की प्रसन्नता के लिये नर बलि की बात सुनकर गुरु गोविन्दसिंह उस पण्डित की धूर्तता समझ गये। उन्होंने उस पण्डित को पकड़ कर कहा— “बलि के लिये आपसे अच्छा आदमी कहाँ मिलेगा। आपका बलिदान पाकर देवी तो प्रसन्न हो ही जायेगी, आप को भी स्वर्ग मिल जायेगा। इस प्रकार हम दोनों का काम बन जायेगा।” गुरु गोविन्दसिंह का व्यवहार देखकर पण्डित घबरा गया। गुरु गोविन्दसिंह ने बलिदान दूसरे दिन के लिये स्थगित करके पण्डित को एक कोठरी में रख दिया।

पण्डित घबराकर गुरु गोविन्दसिंह के पैरों पर गिर पड़ा और गिड़गिड़ाते लगा— “मुझे नहीं मालूम था कि बलिदान की बात मेरे

सिर पर ही आ पड़ेगी, गुरु जी मुझे छोड़ दीजिए। मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ।” गुरु गोविन्द सिंह ने कहा— अब क्यों घबराते हो ? बलिदान से तो स्वर्ग मिलेगा, क्यों पण्डितजी, बलिदान की बातें तभी तक अच्छी लगती हैं न जब तक वह दूसरों के लिये होती हैं ? अपने सिर आते ही असलियत खुल गई न।”

पण्डित बोला— “इस बार क्षमा कर दीजिये महाराज। अब कभी ऐसी बातें न करूँगा।” गुरु गोविन्दसिंह ने उसे छोड़ दिया और समझाया— “इस प्रकार का अन्धविश्वास समाज में फैलाना ठीक नहीं। देवी अपने नाम पर किसी के प्राण लेकर प्रसन्न नहीं होती। वह प्रसन्न होती है अपने नाम पर किये गये अच्छे कामों से।” बाद में गुरु गोविन्दसिंह ने उसे रास्ते का खर्च देकर भगा दिया।

‘एक हाथ में माला, एक हाथ में भाला’—मंत्र को अपनाने वाले आगे आये

गुरु गोविन्द सिंह अपने बड़े लड़कों अजीत सिंह और जुझार सिंह के साथ चमकौर के किले में बैठे मुगलों के विरुद्ध अपनी रणनीति बनाने और योजना को क्रियान्वित करने में व्यस्त थे। यहाँ पहुँचने से पूर्व ही इनसे माँ, दो लड़के फतेहसिंह व जोरावरसिंह बिछुड़ गये थे। युद्ध में व्यस्त गोविन्द सिंह उन्हें खोजने के बजाय सुरक्षित स्थान खोजकर अपनी बिखरी सेना को व्यवस्थित करने में जुट गये। तभी एक दिन मुखवाल और आनन्दगढ़ से कुछ दूत उनके पास सन्देश लेकर आये। दूतों ने उन्हें बताया “गुरुजी ! जो सिक्ख आपका साथ छोड़कर चले गये थे, जब गाँव पहुँचे तो उनके परिवार वालों ने उन्हें बहुत धिक्कारा वे आप से क्षमा मांगने इधर चल पड़े हैं।” गुरुजी ने प्रसन्नतापूर्वक कहा यह तो बड़ा शुभ समाचार है। धर्म युद्ध में सभी को अपनी भ्रातियों दूर कर अब एक हो जाना चाहिए। जरा, माँ व हमारे दोनों बेटों की कोई खबर तुम्हें मिली हो तो बताओ।

दूत वस्तुतः दोनों कुमारों के शहीद होने का समाचार ही लाये थे। पर गुरु जी को सुनकर धक्का न लगे, इसी कारण तुरन्त बता नहीं पा रहे थे। उन्होंने प्रश्न को टाल कर कहा कि मुगलों की सेना आक्रमण करने चमकौर शीघ्र खाना होने वाली है। इस समाचार को भी चुनौती के रूप में लेते हुए गुरु जी बोल उठे “लगता है तुम मेरे बेटों व माता का समाचार इसीलिये नहीं दे पा रहे हो कि उन्होंने शत्रुओं को समर्पण कर दिया है अथवा धर्म से विचलित हो गए हैं।” दूत तुरन्त रो पड़े और रुधे कण्ठ से बोले— “गुरुजी ! ऐसा न कहें। दोनों कुमारों ने धर्म के नाम पर बलिदान दे दिया। सरहिन्द के नेवाब की धमकी व लालच किसी का भी उन पर प्रभाव न पड़ा और उन्हें हमारे देखते-देखते किले की दीवार में जिन्दा चुनवा दिया गया। वह समाचार सुनते ही माता ने छत से कूद कर प्राण दे दिए।”

पिता के रूप में नहीं, धर्म-रक्षक संस्कृति के उद्धारक के रूप में गुरु गोविन्दसिंह यह समाचार सुनते ही खुशी से उछल पड़े और कहा— “धन्य हो मेरे बेटो ! तुमने आज धर्म की साख बढ़ा दी। तुमने बता दिया कि धर्म-संस्कृति की रक्षा के लिए तुम बलिदान होना

पसंद करोगे न कि विधर्मों बनना ।'' तीन सगे-सम्बन्धियों की मृत्यु का समाचार सुनकर भी दुगुने उत्साह से विधर्मियों से लड़-मरने का संकल्प लेने वाले गुरु गोविन्दसिंह अवसाद की उन घड़ियों में अवतरित हुए थे जबकि विदेशियों के बार-बार आक्रमण हो रहे थे और आपसी फूट-विद्वेष के कारण संगठित विरोध किधर से भी नहीं बन पा रहा था ।

भक्ति भावना प्रधान सिक्ख धर्म को गुरुजी ने नई दिशा दी । अन्याय, अनीति के प्रतिरोध को भी उन्होंने आस्तिकता ईश्वर भक्ति का पर्याय बताते हुए 'एक हाथ में माला, एक हाथ में भाला' देकर बड़ी संख्या में धर्म-प्रेमियों को धर्म-युद्ध के मंच पर ला खड़ा किया । युद्ध कला से अपरिचित उनकी सेना जब युद्ध में उतरती तो उनकी प्रचण्ड भावना देखते बनती थी । उन्होंने सेना में कोमल हृदय वालों को सेवा कार्य सौंपा तो साहसी—हिम्मत के धनी वीरों को तलवार थमाई । उनका धर्म-युद्ध किसी मत-सम्प्रदाय के विरुद्ध नहीं वरन् अत्याचार बलात् धर्म-परिवर्तन के विरुद्ध था ।

दो छोटे पुत्रों की शहादत के बाद उनके अपने दो नवयुवक पुत्र जुझार और अमरसिंह भी आनन्दपुर, मुक्तसर, सिरमातट के युद्ध में काम आए । अपने डेढ़ हजार शिष्यों के साथ ही बहादुरी से लड़ते हुए उन्होंने चालीस हजारी मुगल बादशाही सेना को परास्त कर दिखाया । इन संघर्षों के साथ उपासना क्रम की भी उन्होंने कभी अवहेलना नहीं की । धर्म-साहित्य का सृजन वे निरन्तर करते रहे, अपने अनुयायियों में भक्ति भावना भी भरते रहे तथा अपनी सेना में शौर्य का संचार भी करते रहे । उन्होंने मात्र बयालीस वर्ष की ही आयु पायी और अपने एक मुसलमान शिष्य के हाथों धोखा खाकर शहीद हो गए ।

गुरु गोविन्दसिंह जी ने जिस पराक्रम, पुरुषार्थ को इस अल्पावधि में कर दिखाया, उसी की परिणति आज इस धर्म-सहिष्णु भारतवर्ष के रूप में दृष्टिगोचर हो रही है । आवश्यकता के अनुरूप महामानवों को चोला बदल-बदलकर अवतरित होना पड़ा है । आज फिर माला और भाला के मन्त्र को जीवन में उतार लेने वालों की आवश्यकता आ पड़ी है । संस्कृति की रक्षा हो अथवा राष्ट्र की सुरक्षा, भावनाशील प्रखर अनीति से मोर्चा लेने वाले शूरवीर ही हमेशा काम आए हैं । आज जब आस्था का संकट गहन होता जा रहा है, मानवी मूल्यों का हास हो रहा है समाज की रक्षा के लिये गुरु गोविन्दसिंह की सेना की परम्परा में ही, 'मृत्यु' जिनका जाग्रत हो, ऐसे सत्साहसियों को एक-जुट हो जाना चाहिये ।

आह्वान—मनु की सन्तानों से

नासिक के पास पंचवटी में एक तरुण बैठा ध्यान कर रहा था । आज पन्द्रह वर्षों से उसका एक ही क्रम था प्रातः-सांय गोदावरी में स्नान, दिन भर स्वाध्याय-जप-तप, रात्रि के कुछ घण्टों को नींद के लिए छोड़कर ध्यान । क्रम की निरन्तरता अनवरत चल रही थी । उन्हीं दिनों दशम गुरु गोविन्दसिंह जन-जागरण के लिए देश भर की यात्रा के लिए निकले थे । पंचवटी पहुँचने पर उन्होंने इस तरुण तपस्वी

का साधना क्रम देखा । आस-पास के लोगों से पता लगाया । जिज्ञासा और बढ़ी । रात्रि को ध्यान से उठकर जब वह प्रातः नदी स्नान की ओर जा रहे थे गुरु साथ हो लिए ।

पूछा "आप का शुभ नाम ?"

"अब माधवदास ।"

"अब का तात्पर्य ?"

"एकान्त साधना के पहले लक्ष्मण देव था ।" छोटे प्रश्न का छोटा उत्तर । ऐसा जैसे अन्तर्मुखी तपस्वी कुछ अधिक बताने के लिये उत्सुक न हो । गुरु ने कुरेदा, अपने बारे में अधिक बताने की कृपा करेंगे ?

उसने गुरु के सिर से पाँव तक एक नजर डाली । प्रखर तेजोमूर्ति का अनुरोध वह अस्वीकार न कर सका । उसने बताना शुरू किया ।

"मैं काश्मीर के डोगरा राजपूत परिवार में जन्मा हूँ । पिता का नाम रामदेव था । उन्होंने मुझे शस्त्र और शास्त्र दोनों में निष्णात किया । एक दिन जब मैं शिकार खेल रहा था तीर गर्भवती हिरणी को लगा । उसके नीचे गिरते ही गर्भ से दो मृगशावक छिटक गए और कुछ ही समय बाद तीनों कलपते-तड़पते मर गए । हृदय विदारक इस दृश्य ने मुझे इतना व्यथित किया कि मैं यहाँ तप के लिए चला आया । उस समय मेरी आयु सोलह वर्ष की थी और आज कुछ सोचते हुए रुक कर उसने ३१ वर्ष ।" तो इस तप साधना का लक्ष्य क्या है ? युवक ! मान-अपमान में समान रहना, उद्वेगों को शान्त करना और कहते-कहते वह रुक गया ।

"बताओ-बताओ" गुरु ने प्रोत्साहित किया । मुक्ति निर्वाण का परम लाभ पाना ।

"अच्छा तो यह है आपकी साधना ।" गुरु ने उसकी ओर इस तरह से देखा मानो वह कोई बहुत छोटी चीज के लिए यत्न कर रहा हो । अभी तक उसे प्रशंसा करने वाले मिले थे । पर गुरु की आँखों में प्रशंसा का कोई भाव न था उल्टे उनमें उद्धारक की करुणा थी ।

अच्छा ! सच बताना अभी तक तुम मान-अपमान में समान रहकर उद्वेगों को शान्त कर सके ?

युवक कुछ क्षण मौन रहा मानो अपने अन्दर निहार रहा हो । मौन के बाद बोला नहीं—और शायद इस तरह जल्दी कर भी न सके उन्होंने धीरे से कहा ।

क्या ? कहकर वह अवाक रह गया । लगा उसके पैरों से जमीन खिसक गई हो । एक साथ हजारों सॉप-बिच्छू शरीर पर रेंग गए हों ।

कुछ क्षणों तक दोनों मौन रहे । 'क्यों' ? तपस्वी ने पूछा । 'वत्स' । गुरु का स्वर करुणा विगलित था । "जहाँ तुम्हें कोई सम्मान देने वाला नहीं, अपमानित तिरस्कृत करने वाला नहीं, उद्वेगों के अवसरों का पास फटकरने का मौका नहीं वहाँ समत्व कैसा ?" तो क्या अब तक की तपश्चर्या व्यर्थ गई । 'नहीं' उससे तुम निष्पाप हुए पर अधिक समय इसी में जुटे रहना हठ होगा । समय को पहचानने की कोशिश करो ।

कुछ क्षण वह युवक की आँखों में देखते रहे फिर प्यार भरे स्वर से बोले “तुम मुक्ति चाहते हो न ?” “यदि मैं उसे इसी जीवन में उपलब्ध करा दूँ ।”

“सच ! जैसे उसे सारी दुनिया का वैभव एक साथ मिल गया हो । अस्फुट स्वरों में बुदबुदाया— जीवन मुक्ति ।”

“हाँ” गुरु का स्वर था, “पर कीमत चुकानी होगी” “मैं बड़ी से बड़ी कीमत चुकाने को तैयार हूँ” “तो उठो और जुट पड़ो जन-क्रान्ति का शंख फूँकने में । अपने तपे-तपाए जीवन और सधे-सधाए मन के द्वारा घर-घर जाकर बताओ मनुष्य कब कैसा होता है ? मनुष्य देवता कैसे बनता है ? मेरे बेटे ! जन-समुदाय अनुकरण का आदी है । उसकी प्रवृत्तियों को सत् की ओर मोड़ने के लिए तुम्हारे जैसे खरे शिक्षक चाहिए ।” बोलो— “क्या तैयार हो ? मनु की सन्तानें अज्ञान के अन्धकार में पड़ी कीड़े-मकरोड़ों की तरह बिलबिला रही हैं । उनके उद्धार के लिए विद्या का आलोक चाहिए, जो पुस्तकों से नहीं तपे-तपाए ढले-ढलाए जीवन से ही सम्भव है । चुप क्यों हो ? कुछ तो बोलो ! क्या नीलकण्ठ बन मानवीय जीवन में भरती जा रही विषाक्तता के शमन के लिए तैयार हो ?” कहते-कहते गुरु का गला भर गया, आँखों की कोरों से आँसू ढुलक पड़े ।

तैयार हूँ गुरुदेव ! कहकर वह साष्टांग पैरों पर गिर पड़ा । गुरु ने उठा कर छाती से लगाया । दोनों बेसुध हो रोते रहे । बड़ी देर बाद एक-दूसरे से अलग हुए । दोनों की आँखों में अभी भी आँसू थे, पर ये दुःख के नहीं प्रसन्नता के थे । गुरु को प्रसन्नता थी कि मानवता के प्रति उसके हृदय की मर्मन्तक पीड़ा को पीने वाला शिष्य मिला । शिष्य को प्रसन्नता थी कि उसके जीवन को सही राह दिखाने वाला गुरु मिला ।

घटना का पटाक्षेप हुआ । उस दिन से लक्ष्मणराव गया, माधवदास गया, रह गया सिर्फ गुरु का ‘बन्दा वैरागी’ । यह उपाधि उसे गुरुगोविन्द से जो मिली थी । अब उसमें स्वार्थ संकीर्णता का कण भी न था, सर्वजन सुखाय, सर्वजन हिताय काम करने की लगन । यही था उसका वैराग्य । इन्हीं अर्थों में वह बन्दा वैरागी था ।

वैरागी ने माला रखकर तलवार उठाई और तत्काल बलि-भूमि पंजाब पहुँचा । वहाँ जाकर उसने नये सिरे से संगठन का शंख फूँका और धर्म-युद्ध का समारम्भ कर दिया । बन्दा ने अपनी शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक सारी शक्तियाँ धर्म-युद्ध में लगा दीं । नव सूर्योदय के समान बन्दा को पाकर पंजाब का सारा हिन्दू और सिक्ख समाज जागकर उसके झण्डे के नीचे आ गया । बन्दा ने इस जन-बल के आधार पर सरहिन्द जीता, पंजाब के अठ्ठाईस परगनों से यवन शासन का अन्त कर दिया और सतलज से यमुना तक की भूमि पर धर्मध्वज फहरा दिया ।

पंजाब को स्वाधीन कर बन्दा आगे की योजना बनाने और बलिदान हुए वीरों की याद में एक गुरुद्वारा बनवाने में व्यस्त हुआ । तभी भारत भर के मुसलमान शासकों ने औरंगजेब के नेतृत्व में उस पर चारों ओर से धावा बोल दिया ।

अत्याचारी बादशाह ने बन्दा का माँस नोच-नोच कर मार डालने का आदेश दे दिया । बन्दा जंजीरों से बाँधकर खड़ा कर दिया गया और जल्लादों ने गरम चीमटियों से उसका माँस निकालना शुरू किया, किन्तु धर्मवीर सच्चा वैरागी अन्त तक आनन्द की हँसी ही हँसता रहा ।

जून १७१६ में उन्होंने अपनी नश्वर काया का परित्याग किया । परन्तु आज शरीर के न रहने पर भी उनकी आत्मा चीख-चीख कर पुकार रही है ! गुरु के बन्दो । कहाँ हो ? मनु की सन्तानों की पीड़ा तुम से कैसे देखी जाती है ? इनके लिए वापस सतयुग लौटा लाने के लिए तुम्हारा पराक्रम क्यों नहीं जाग रहा ? क्या वे पुकारें हमें सुनाई पड़ रही हैं ? यदि हाँ, तो फिर गुरु के बन्दे बनें और कर्तव्य कर्म को पहचान कर जुट पड़ें ।

बलिदान का महत्त्व

एक संगठित शक्ति की आवश्यकता हुई । गुरु गोविन्दसिंह ने एतदर्थ एक नरमेध यज्ञ किया । उक्त अवसर पर उन्होंने घोषणा की भाइयो ! देश की स्वाधीनता पाने और अन्याय से मुक्ति के लिये चण्डी बलिदान चाहती है तुममें से जो अपना सिर दे सकता हो वह आगे आये । गोविन्दसिंह की माँग का सामना करने का किसी में साहस नहीं हो रहा था तभी दयाराम नामक एक युवक आगे बढ़ा । गुरु उसे एक तरफ ले गये और तलवार चला दी रक्त की धार बह निकली, लोग भयभीत हो उठे । तभी गुरु गोविन्दसिंह फिर सामने आये और फिर पुकार लगाई अब कौन सिर कटाने आता है । एक-एक कर क्रमशः धर्मदास, मोहकम चन्द, हिम्मत राय तथा साहब चन्द आये और उनके शीश भी काट लिये गये । बस अब मैदान साफ था कोई आगे बढ़ने को तैयार न हुआ ।

गुरु गोविन्दसिंह अब उन पाँचों को बाहर निकाल लाये और विस्मित लोगों को बताया यह तो निष्ठा और सामर्थ्य की परीक्षा थी वस्तुतः सिर तो बकरों के काटे गये । तभी भीड़ में से “हमारा भी बलिदान लो” — “हमारा भी बलिदान लो” की आवाज आने लगी । गुरु ने हँसकर कहा— यह पाँच ही तुम पाँच हजार के बराबर हैं जिनमें निष्ठा और संघर्ष की शक्ति न हो उन हजारों से निष्ठवान पाँच अच्छे ? इतिहास जानता है इन्हीं पाँच प्यारों ने सिख संगठन को मजबूत बनाया ।

अनुपम साहसपूर्ण त्याग

सिखों के नौवें गुरु श्री तेगबहादुर को औरंगजेब ने दिल्ली बुलाकर मरवा डाला था और उनकी लाश को नगर के एक चौराहे पर डलवाकर घोषणा कर दी कि जो कोई इसका अन्तिम संस्कार करने का प्रयत्न करेगा उसे भी प्राणदण्ड की सजा दी जायेगी । जब यह खबर गुरु गोविन्दसिंह जी के पास पहुँची तो वे उनकी लाश को प्राप्त करने दिल्ली की तरफ चले । उस समय उनकी अवस्था केवल सोलह वर्ष की थी । जब वे दिल्ली के निकट पहुँचे तो उनको एक गरीब गाड़ी वाला सिख मिला । उसने गुरुजी से कहा कि “आपको दिल्ली जाना

बड़े भय की बात है” औरंगजेब कभी आपको नहीं छोड़ेगा। इसलिए आप इसी जगह गुप्त रूप से ठहरे रहें, हम आपके पिता के शव को यहीं ला देंगे। यह कह वह अपने बेटे को साथ लेकर दिल्ली पहुँचा। उस समय तक गुरु तेगबहादुर का शव काफ़ी गल सड़ गया था और उसमें से बड़ी बदबू आने लगी थी। पहले वाले भी दूर हटकर बैठने लगे थे। वे गाड़ी वाले बाप-बेटे जब वहाँ पहुँचे तो बाप ने बेटे से कहा— गुरुजी के शव को हटाने से पहले हम दोनों में से एक को प्राण त्याग करना पड़ेगा क्योंकि पहले वाले शव को न देखकर उसे ढूँढ़ने लगेंगे। अभी तुम जवान हो इसलिए मेरा मरना ही उचित है। बेटे के जवाब देने से पहले बुद्ध ने कृपाण अपनी छाती में मार ली और वहीं गिर गया। बेटे ने गुरुजी के शव के स्थान पर अपने पिता का शव रख दिया और गुरुजी के शव को गुरु गोविन्दसिंह के पास पहुँचा दिया।

आत्मबल ही चमत्कार है

आज मुगल दरबार में विशेष हलचल थी। सन्धि-वार्ता हेतु सिक्खों के सम्माननीय गुरु गोविन्दसिंह जी आज आमन्त्रण पर पधारे थे। उनके गुरु शब्द से एक मौलवी को मन में रोष था। वह सोचता था सेना संचालन, युद्ध आदि के कार्यों से सन्त, गुरु का क्या सम्बन्ध? उसने उनके आध्यात्मिक स्तर पर चोट करने के विचार से प्रश्न कर दिया— महाराज, आप गुरु हैं— अपने नाम की सार्थकता के उपयुक्त कुछ चमत्कार दिखलायें?

गुरु गोविन्दसिंह हँसे। बोले— “मौलवी जी चमत्कार तथा आध्यात्मिकता का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। गुरु का काम चमत्कार दिखाना नहीं, शिष्यों का सही मार्गदर्शन करना होता है।” पर मौलवीजी ने पुनः आग्रह किया— “कोई चमत्कार तो दिखावें ही?” गुरुजी ने मुस्करा कर कहा— चमत्कार देखना ही है तो आँखें खोल कर देख लो, ईश्वर ने चारों ओर बिखेर रखे हैं। यह पृथ्वी, आकाश, तारे, वायु सभी चमत्कार हैं।” पर मौलवी का आग्रह था मनुष्य का चमत्कार दिखाने हेतु। गुरुजी ने पुनः समाधान किया— “अपने शहंशाह का चमत्कार देख लो न! किस प्रकार एक व्यक्ति की शक्ति पूरे राज्य में काम करती है।” पुनः आग्रह हुआ “वह नहीं अपनी सीमा में कुछ चमत्कार दिखावें।”

गुरु गोविन्दसिंह के माथे पर बल पड़ गये। बिना रुके वे तड़प कर खड़े हो गये। म्यान से तलवार निकाल कर कड़वी आवाज में बोले— “मेरे हाथ का चमत्कार देखने की शक्ति यदि तुझ में है तो देख! अभी एक हाथ से तेरा सिर अलग हुआ जाता है।”

मौलवी जी को पसीना छूट गया। यदि स्वयं शहंशाह उनको नम्रतापूर्वक रोक कर, हाथ पकड़ कर अपनी बगल में न बिठा लते तो मौलवी साहब खुदाबन्द के दरबार में पहुँच चुके होते।

सेवा के बिना

दसवें सिख गुरु गोविन्दसिंह आनन्दपुर साहिब में विराजमान थे। उन्हें प्यास लगी तो बोले— “कोई मुझे पवित्र हाथों से जल पिला

दे।” एक धनवान व्यक्ति उठा और जल ले आया। जल पात्र लेते समय उस व्यक्ति के हाथ गुरुजी को स्पर्श कर गये। वे पूछ ही बैठे— ‘तुम्हारे हाथ तो बड़े कोमल हैं।’

वह व्यक्ति अपनी प्रशंसा सुनकर फूला न समाया और बोला— गुरुजी मेरे अनेक सेवक हैं। मैंने स्वयं कोई सेवा कार्य नहीं किया इसलिए, मेरे हाथ इतने कोमल हैं। सुनकर गुरुजी ने होठों तक लाये जल पात्र को रख दिया और बोले— जिन हाथों ने कभी कोई सेवा नहीं की वे पवित्र कैसे हो सकते हैं। मैं तुम्हारे हाथ का जल ग्रहण नहीं कर सकूँगा।

वहीं प्यास बुझा लेना

गुरु गोविन्दसिंह ने अपने १६ वर्षीय बड़े पुत्र अजीतसिंह को आज्ञा दी कि तलवार लो और युद्ध में जाओ। पिता की आज्ञा पाकर अजीतसिंह युद्ध में कूद पड़ा और वहीं काम आया। इसके बाद गुरु ने अपने द्वितीय पुत्र जोझारसिंह को वही आज्ञा दी। पुत्र ने इतना ही कहा— पिताजी प्यास लगी है, पानी पी लूँ। इस पर पिता ने कहा ‘तुम्हारे भाई के पास खून की नदियाँ बह रही हैं वहीं प्यास बुझा लेना’। जोझारसिंह उसी समय युद्ध क्षेत्र को चल दिया और वह अपने भाई का बदला लेते हुए मारा गया।

धार्मिक मतभेदों के समन्वयकारी— संत कबीर

सन् १८०० के लगभग दिल्ली का बादशाह सिकन्दर लोदी बनारस आया। उसके सामने उस नगर के मुसलमान काजी ने शिकायत की कि यहाँ पर कबीर नामक उपदेशक लोगों को इस्लाम के विरुद्ध नसीहत देता है, जिससे बहुत-से मुसलमान कुरान के मार्ग से हटकर हिन्दुओं की तरह ध्यान और भजन करने लग गये हैं। साथ ही कुछ प्रमुख हिन्दुओं ने भी कहा कि कबीर परम्परा से चले आये धार्मिक और सामाजिक नियमों का खण्डन करता है और लोगों को ऐसे मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है जिसे न हिन्दू कहा जा सकता है और न मुसलमान। वह स्वयं ही सब का गुरु बनकर अपना नया ही पंथ चला रहा है।

यद्यपि धर्म के नाम एक ही व्यक्ति के विरुद्ध हिन्दू-मुसलमानों द्वारा शिकायत किया जाना एक नई बात थी, तो भी सिकन्दर लोदी ने एक शासक की हैसियत से कबीर को दरबार में हाजिर होने का हुक्म दिया। उनके आने पर मुसलमान और हिन्दुओं द्वारा कही गई शिकायतें उनको बतलाई और भविष्य में इस प्रकार के सिद्धान्तों का प्रचार न करने की आज्ञा दी। सरकारी फैसले की बात सुनकर कबीर साहब ने कहा—

हिन्दू तुम कहों से आया, किन यह राह चलाई।

हिन्दू तुम की एक राह है, सतगुरु इहे बताई ॥

कबीर साहब का कहना था कि हिन्दू और मुसलमानी धर्म आखिर कहाँ से आये? ये सृष्टि के आदि से तो नहीं हैं, बीच में ही किन्हीं

आचार्यों या धर्मोपदेशकों ने इनका प्रचार किया है। अगर ये परमात्मा द्वारा ही प्रेरित होते तो इनमें इतना अधिक भेदभाव दिखाई न पड़ता और न इनके अनुयायी इस प्रकार आपस में लड़ते-झगड़ते। इससे मालूम होता है कि इनके सिद्धान्तों में कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं अथवा बाद में नये-नये विचारकों और आचार्यों ने उनमें ऐसे पारस्परिक विरोधी परिवर्तन कर दिये हैं। कुछ भी हो, इन हानिकारक मतभेदों को देखते हुए अगर हम दोनों में समन्वय करते हैं और जीवन को सार्थक बनाने योग्य सरल और सच्चे सिद्धान्तों पर अमल करने की बात समझाते हैं, तो इसमें दोष क्या है ?

पर जमाना इस प्रकार के तर्क और न्याय की बातों को सहज में मान्यता दे सकने का नहीं था। हिन्दू और मुसलमान दोनों मजहबों के गुरुओं में अहमन्यता और स्वार्थ के भाव भरे हुए थे और वे यह सहन करने को कभी तैयार न थे कि कोई नया आदमी जनता को उनके प्रभाव से निकाल कर अपना अनुयायी बना लेवे। इसलिए इस प्रकार के धर्मजीवी लोगों ने बादशाह को खूब भड़काया और खास तौर से मुसलमानी धर्म को हानि पहुँचाने का भय दिखाया। मुसलमान बादशाह स्वयं भी तलवार के जोर से धर्म प्रचार करने में विश्वास करते थे। इसलिए सिकन्दर लोदी ने कबीर को दण्डनीय समझा। कबीर पंथियों के कथनानुसार तो बादशाह ने ५२ प्रकार के उपायों से कबीर साहब को मरवाने का प्रयत्न किया पर दैवी शक्ति के प्रभाव या चमत्कार के कारण उनमें से कोई कारगर नहीं हो सका। अन्य लोगों के मतानुसार काशी की जनता का एक बड़ा भाग कबीर साहब की शुद्धता और परोपकारिता से प्रभावित था और उसका परिचय पाकर बादशाह ने उनको छोड़ देना ही उचित समझा। कुछ भी हो कबीर जैसे सत्य की राह पर चलने वाले कभी अन्याय के सामने सिर नहीं झुका सकते और उनकी आत्मशक्ति अन्त में उनको विजयी बनाती है।

कबीर साहब के जन्म के सम्बन्ध में लोगों में काफ़ी मतभेद है। अधिकांश लोगों का मत है कि वे एक सद्यः जात शिशु के रूप में काशी के लहरतारा तालाब पर नीरू नामक जुलाहे को मिले थे। कुछ लोग इनको नीरू का ही पुत्र बतलाते हैं। कुछ भी हो जनता में वे नीरू (पिता) और नीमा (माता) के पुत्र के रूप में ही प्रसिद्ध थे और उन्होंने अपनी अनेक रचनाओं में अपनी जाति जुलाहा ही लिखी है। बाल्यावस्था में ही साधु-सन्तों की बातें सुनकर उनके हृदय में भक्ति भाव उत्पन्न हो गया था और वे सरल भाव से भगवान् का भजन करने लग गये। पर शीघ्र ही उनको अनुभव हुआ कि दुनिया के लोग भगवान् को सच्चे अन्तःकरण से मानने का महत्त्व नहीं समझते वरन् सबसे पहले जाति और मजहब का 'लेबिल' ही देखना चाहते हैं। हर एक व्यक्ति कबीर से पहला प्रश्न यही करता कि तुम हिन्दू हो या मुसलमान ? पर कबीर न तो हिन्दू थे, न मुसलमान अतः पूछने वाले को उत्तर से उनको कैसे सन्तोष होता ? बस, हिन्दू उनको मुसलमान कह कर पास बैठाने से इन्कार करते और मुसलमान उनको 'राम' का नाम लेने के कारण काफ़िर बलता कर भर्त्सना करते।

पर कबीर भी अपने सिद्धान्त के पक्के थे। वे जानते थे कि सच्चाई किसी खास मजहब से बँधी हुई नहीं है। जो कोई अपनी अन्तरात्मा में घुसकर निष्पक्ष भाव से उसकी खोज करेगा वही उसे प्राप्त कर सकेगा। उन्होंने स्वतंत्र चिन्तन द्वारा छोटी अवस्था में ही उसको प्राप्त कर लिया और डंके की चोट पर कहने लगे— “दुई जगदीश कहाँ से आया।” इसके साथ ही वे हिन्दू-मुसलमानों के अन्धविश्वासों और रूढ़िवादिता की भी तीव्र आलोचना करने लगे। जहाँ उन्होंने हिन्दुओं के 'माला और तिलक' धारण करने मात्र से सद्गति मिलने की आलोचना की वहाँ मुसलमानों से कहा— “क्या खुदा बहरा हो गया है जो इतने जोर से उसे पुकारते हो ?” उन्होंने “वे हलाल वे झटका मारें आग दुहुन घर लागी” कहकर दोनों मजहब वालों को फटकारा कि “मूढ़ लोगो ! धर्म के नाम पर गौ और बकरो की हत्या करके चट कर जाते हो और इसी पर अपने को ऊँचा बतलाते हो।” धर्म का पहला लक्षण किसी पीड़ित, दुःख से व्यथित प्राणी की सहायता और रक्षा करना ही हो सकता है, इसके बिना हर प्रकार का बाह्य कर्मकाण्ड केवल ढोंग है। इस प्रकार खरी बात करने के कारण पुण्ये विचारों के संकीर्ण मनोवृत्ति वाले बहुत से व्यक्ति उनके विरोधी हो गये।

काशी भारतवर्ष का सर्वप्रधान तीर्थ और हिन्दू धर्म का केन्द्र माना जाता था। आज भी वहाँ के 'पण्डितों' से किसी धार्मिक समस्या की व्यवस्था लेने के लिए लोग हजारों रुपये भेंट देते हैं। जब लोकमान्य तिलक ने काशी के एक शास्त्री से विदेश यात्रा की व्यवस्था कर देने को कहा तो उसने पाँच हजार रुपये माँगा था। जब आजकल यह दशा है तो पाँच सौ वर्ष पहले जब जनता में शिक्षा का प्रचार बहुत ही कम था और रूढ़ि पूजा को ही धर्म का मुख्य अंग माना जाता था, तब उस जमाने में इन 'पण्डित' और 'पुरोहित' नाम-धारी लोगों का प्रभाव कितना अधिक रहा होगा इसका अनुमान सहज में ही लगाया जा सकता है। इन लोगों ने कबीर को तरह-तरह से तंग किया। पर सच्चे सन्तों पर ऐसी बातों का प्रभाव कब पड़ता है ? वे अपने अपकारियों को भी सदा क्षमा करते रहे। इसका नतीजा यह हुआ कि कुछ लोगों को छोड़कर बाकी सबने उनकी महत्ता को समझ लिया। कबीर साहब के सिद्धान्त उनके जीवन काल में ही अच्छी तरह फैल गये।

कबीर छोटे-बड़े का भेद नहीं मानते थे। वे ज्ञानमार्ग के पथिक थे और उपनिषदों के इस तत्त्व को अच्छी तरह समझते थे कि “ब्राह्मण और शूद्र के भीतर एक ही आत्मा का अस्तित्व है।” इस युग में महात्मा गाँधी ने शूद्रों के उत्थान के लिए उन्हें 'हरिजन' की पदवी देकर आगे बढ़ने की प्रेरणा दी। कबीर ने पाँच सौ वर्ष पहले ही लिखा था 'हरिजन सबीन जाति' अर्थात् हरिजन से बढ़कर कोई जाति नहीं है। अवश्य ही उनका आशय इस शब्द से केवल शूद्रों से न था, फिर भी उन्होंने शूद्रों को ऊपर उठाने का मार्ग दिखलाया और घोषणा की कि वे भी अपने जीवन को शुद्ध और भक्तिमय बनाकर ऊँची जातियों के समकक्ष बन सकते हैं। भारत में कुछ समय से जन्म

से ही मनुष्य को छोटा-बड़ा मान लेने की जो प्रवृत्ति चल पड़ी है उसके ऊपर कबीर ने तीव्र प्रहार किया। वास्तव में यह दोष 'वर्ण व्यवस्था' के सिद्धान्त का नहीं है। अधिकांश विदेशियों ने भी इसको समाज संगठन और आवश्यक कर्मों को सुचारु रूप से सम्पन्न किए जाने का माध्यम माना है इसका व्यवहार प्राचीनकाल की तरह गुण-कर्म के आधार पर ही होना चाहिए। कबीर साहब की शिक्षा इसी से मिलती-जुलती है और उन्होंने वास्तव में करोड़ों अछूतों को ऊँचा उठाने में प्रशंसनीय कार्य किया है।

कबीर के जीवन में दूसरी अनुकरणीय बात यह थी कि उन्होंने शारीरिक श्रम की महत्ता को स्वीकार किया, सदैव अपने पेशे को करते रहे। जैसे गाँधी जी ने चर्खा चलाने को एक धर्म-कार्य का रूप दे दिया उसी प्रकार कबीर कपड़ा उठाने में भी भगवान् की भक्ति और आध्यात्मिक प्रगति का अनुभव करते थे। उनके समय में और आजकल भी हिन्दुओं में साधु-सन्तों का एक लक्षण यह भी मान लिया गया है कि गृहस्थ जीवन के सांसारिक कर्तव्यों को त्यागकर केवल भजन उपासना में ही सब समय व्यतीत कर दिया जाय। इस हानिकारक मनोवृत्ति का ही परिणाम हुआ है कि देश में लाखों अकर्मण्य 'साधु' और 'संन्यासियों' का आविर्भाव हो गया जिनके जीवन निर्वाह का भार समाज को उठाना पड़ रहा है। इनमें से कितने ही 'साधु-संत' तो 'त्यागी और विरगी' कहलाते हुए भी गृहस्थों की अपेक्षा बहुत अधिक शान-शौकत और आराम से रहते हैं। कबीर ने अपने व्यक्तिगत उदाहरण से इसका प्रतिकार किया और एक महान् सन्त होते हुए भी अपने पश्चिम की कमाई से ही सदैव अपना जीवन निर्वाह किया।

इस प्रकार कबीर ने सामान्य जनता के लिए ऐसा मार्गदर्शन किया जिससे वे सच्चाई, ईमानदारी, परोपकार का जीवन बिताते हुए समाज में सम्माननीय स्थिति प्राप्त कर सकें। यद्यपि आज धन का गौरव सबसे अधिक बढ़ गया है और उसी के आधार पर मनुष्यों को छोटा-बड़ा समझा जाने लगा है और यह बात सभी महापुरुषों के सिद्धान्त के विपरीत है। बुद्ध, ईसा और सुक्रात जैसे संसार के सबसे बड़े धर्मज्ञ और ज्ञानी पुरुषों ने मनुष्य की श्रेष्ठता का आधार उसके चरित्र, नैतिकता और परोपकारिता को ही बतलाया था। सन्त कबीर भी इसी मार्ग के अनुयायी थे। उन्होंने गरीबी की ही प्रशंसा की है और "माया महा तगिनि हम जानी" कहकर सांसारिक वैभव को ठुकराया ही है। इसीलिए इस नये युग में भी पण्डित जवाहरलाल नेहरू जैसे आधुनिक विचार के महानुभावों ने कबीर की महत्ता स्वीकार करते हुए अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ विश्व इतिहास की झलक में लिखा है—

“कबीर बहुत लोकप्रिय हो गये थे। हिन्दी में उनके भजन बहुत दूर-दूर के गाँवों तक में खूब प्रचलित थे। वह न हिन्दू थे, न मुसलमान। वह हिन्दू-मुसलमान दोनों थे या दोनों के बीच के थे और दोनों मजहबों तथा सब जाति के लोग उनके अनुयायी थे। कहते हैं कि जब वह मरे तो उनका शव एक चादर से ढँक दिया गया। हिन्दू चले उसे जलाना चाहते थे और मुसलमान शागिर्द दफन करने

पर जोर दे रहे थे। इस पर दोनों में विवाद और झगड़ा बढ़ा। पर जब चादर हटाई गई तो देखा कि वह शरीर जिसके लिए वे झगड़ रहे थे, गायब हो गया था और उसकी जगह कुछ ताजे फूल पड़े थे। मुमकिन है यह कहानी काल्पनिक ही हो, लेकिन है बहुत सुन्दर।”

कबीर पढ़े-लिखे भी नहीं थे। उनका यह कथन प्रसिद्ध है कि 'कलम गही नहीं हाथ।' फिर भी केवल अपने सहज ज्ञान और उसी के अनुसार सदाचरण के मार्ग पर चलकर उन्होंने एक अमर पदवी प्राप्त कर ली। वे बाहरी पूजा-पाठ और उपासना की बजाय 'सेवा-धर्म' को अधिक महत्त्व देते थे और सर्वत्र भगवान् की विभूति का अनुभव करते थे।

**जो पग धरूँ सोइ परिकरमा, जो कुछ करौं सो सेवा।
जब सोऊँ तब करूँ दण्डवत्, पूजूँ और न देवा ॥**

उन्होंने समाज में फैली हुई दुष्टवृत्तियों को मिटाने के लिए बड़े जोरदार ढंग से प्रचार किया। देवी-देवताओं के नाम पर जीव हिंसा करने वालों को फटकारते हुए कहा—“सन्तो! पांडे निपुण कसाई, बकरा मार भैंसा पर धावें, दिल में दर्द न आई।” इसके साथ ही मुसलमानों के लिए भी कहा “गाय बधे तेहि तुरक कहिए, इनते क्या वे छोटे।” वे केवल परोपकार और दूसरों के साथ भलाई करने को ही मानवता का सबसे बड़ा लक्षण बतलाते थे और उपदेश करते थे—“जो तो कूँ काँटा बुवे, ताहि बोहि तू फूल।” वे भगवान् को सर्वव्यापी देखते हुए कहते थे—“मोको कहाँ दूढ़े बन्दे मैं तो तेरे पास में।” वे धर्म में अन्य ब्रह्मा के भी विरुद्ध थे और स्वयं अपने लिए भी कहते थे कि “जब लग देखें न अपने नयनां, तब लग न मानों गुरु की बैनां।” इस प्रकार जनता में सत्य धर्म और सत् शिक्षाओं का आजीवन प्रसार करने वाले संत कबीर दास के जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त और उसके बाद की कई चमत्कारी किंवदन्तियाँ हैं। वे कितनी सच हैं और कितनी मन-गढ़न्त इसकी चर्चा तो अनावश्यक है, परन्तु सच यह है कि मध्य काल में ऐसे चमत्कारों, अन्धविश्वासों और मुल्ला-पण्डितों द्वारा निर्मित अन्ध-परम्पराओं से लेकर सामाजिक कुरीतियों पर कितना घातक प्रहार कबीरदास करते रहे उतना शायद ही किसी संत या आध्यात्मिक विभूति ने किया हो।

उनकी दृष्टि में जाति-पाँति, कुल-वंश, परिवार और पद-प्रतिष्ठा नहीं व्यक्ति का व्यक्तित्व और आन्तरिक निष्ठा ये ही अधिक महत्त्वपूर्ण थीं। वस्तुतः सन्त या साधारण इन्सान में अन्तर जानने के लिए परख की कसौटी है भी यही। उच्च ब्राह्मणों और राजकुलों में जन्म लेने वाले व्यक्ति का स्तर भी निम्न और पतित हो सकता है तथा निम्न कुल के, उपेक्षित और पिछड़े वंश परिवार में जन्म लेने वाला व्यक्ति भी अपनी आन्तरिक श्रेष्ठता के कारण संत, महात्मा और देव पुरुषों की पंक्ति में जा बैठ सकता है। उस समय जब कबीर का जन्म हुआ तो लोक-संसार के साथ अध्यात्म जगत में भी यही मान्यता स्थापित की हुई थी। समाज और राजपरिवार में तों प्रगति और श्रेष्ठता का आधार जाति या वंश था ही, आध्यात्मिक क्षेत्र में

भी साधना और आत्म-कल्याण का अधिकार उच्च कुल के व्यक्तियों को ही दिया गया। समाज में इस परम्परा का इतना दुष्प्रभाव नहीं पड़ता जितना कि अध्यात्म क्षेत्र में। क्योंकि इससे तो व्यक्ति के विकास की सम्भावनाएँ ही नष्ट हो जाती हैं और इसलिए संत कबीरदास ने सर्वप्रथम इस मान्यता को तोड़ा और 'जाति न पूछो साधु की पूछ लेउ बस ज्ञान'। ऐसी कुरीतियाँ भी प्रायः चिरपोषित अन्धविश्वास के परिणामस्वरूप जन्म लेती हैं।

जैसा कि कहा जा चुका है स्वयं कबीर दास के कुल और वंश का कोई पता नहीं है। जहाँ तक उनके सम्बन्ध में पता चला है उनका पालन-पोषण नीरू और नीमा नामक जुलाहा दम्पति ने किया था। अधिकांश लोगों की मान्यता है कि इस दम्पति को काशी के लहरतारा तालाब के तट पर एक बालक पड़ा मिला था वे निःसन्तान थे—स्वाभाविक ही उनके मन में इस अनाथ शिशु के प्रति ममत्व जागा और वे इसे उठाकर अपने घर ले आये तथा बेटे की तरह पालन करने लगे। यहीं कबीर बड़े हुए और अपने अभिभावक माता-पिता के पेशे में लगे।

काशी जैसा पवित्र तीर्थ स्थल। उन दिनों काशी में एक से एक पहुँचे हुए सिद्ध महापुरुष थे, जिनकी जीवन वाटिका में धर्म-साधना और ईश्वर उपासना की कला से विकसित पुष्पों की सुगन्ध महानगरी में फैली हुई थी। स्वामी रामानन्द जैसे वैष्णव संत भी वहीं निवास करते थे और वहाँ की जनता पर अनूठा प्रभाव था। क्या हिन्दू क्या मुसलमान सभी के मन में उनके प्रति अगाध श्रद्धा थी। नीरू जुलाहा भी उनके प्रति श्रद्धावन्त था और इन नियोजित माता-पिता की श्रद्धा भावना—कबीर को उत्तराधिकार में मिली।

संत कबीर जब थोड़े बड़े हुए तो उनके अन्तःकरण में आरोपित ईश्वर की भक्ति की बेल भी फलने-फूलने लगी। हृदय में तीव्र आकांक्षा थी कि स्वामी रामानन्द से ईश्वर भक्ति की—उपासना साधना की दीक्षा ली जाय। परन्तु असमंजस यह था कि जुलाहा परिवार का सदस्य होने के कारण, जाति से मुसलमान होने के कारण कहीं स्वामी जी मना न कर दें, अनधिकारी घोषित न कर दें और यदि यह आशंका सच निकली तो उन्हें अपना गुरु मानने की आशंका धूल-धूसरित हो जायेगी।

इस सम्भावना को दृष्टिगत रखते हुए कबीर ने एक ऐसा उपाय सोचा जिससे यह सम्भावना भी न रहे और स्वामी जी के शिष्यत्व की पात्रता भी मिल जाये। स्वामी रामानन्द प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त में गंगा स्नान के लिए जाया करते थे। कबीर को यह पता चला तो वे आधी रात को ही उसी घाट पर जा बैठे तथा स्वामी जी के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे। सूर्योदय होने में कोई एक पहर ही बाकी रहा होगा तब स्वामी जी आये और कबीर दास उनके जाने से पूर्व ही घाट की सीढ़ियों पर लेट गये।

अन्धकार के कारण स्वामी जी न देख पाये और उनका पाँव कबीर की देह पर रख गया। जैसे ही उन्हें यह लगा कि पाँव के नीचे कोई दब रहा है वे एक-दम राम-राम कहते हुए उछले और इधर कबीर

भी उठ बैठे। बड़ी प्रसन्नता से उन्होंने स्वगत कहा—'मिल गया। अब कोई चिन्ता नहीं।'।

स्वामी जी ने विस्मृत हो पूछा—'क्या मिल गया।'।

“मैं जाति का जुलाहा हूँ और आप से गुरुदीक्षा चाहता हूँ, सो मुझे गुरु मन्त्र मिल गया।”

‘गुरुदीक्षा ही लेनी थी तो मुझसे कहना था। इस प्रकार के लेटने से क्या लाभ मिला।’

कबीर ने कहा—‘मैं सोचता था। कहीं मुसलमान होने के कारण मुझे दीक्षा का अनधिकारी न कह दें।’

लोक-व्यवहार में परिणाम विपर्यय की सम्भावना से सावधान रहते और चातुरी बरतते देखा है परन्तु धर्म और अध्यात्म का क्षेत्र भी इतना संदिग्ध है कि मुमुक्षु को पहली सीढ़ी पार करने के लिए यह मार्ग अपनाना पड़ा। स्वामीजी ने अपने इस विचित्र शिष्य को गले से लगा लिया और उन्हें लगा कि जिस प्रतिभासम्पन्न शिष्य की तलाश थी वह मिल गया।

धर्म के क्षेत्र में पनप रहे छल-कपट तथा धूर्त व्यवहार से स्वामी जी भलीभाँति विज्ञ थे। उसे निर्मूल करने के लिए कबीर श्रेष्ठ भूमिका निवाह सकेंगे—प्रथम भेंट में ही उन्होंने जान लिया और कबीर को धर्म तथा अध्यात्म के सिद्धान्तों का ज्ञान कराने के साथ-साथ साधना मार्ग पर भी आरूढ़ किया।

स्वयं को ईश्वर से भी अधिक गुरु का उपकृत मानने वाले कबीर की श्रद्धा इन पंक्तियों में मुखरित हुई है —

**गुरु गोविन्द दोउ खड़े काके लागू पाँय ।
बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो बताय ॥**

वे कैसे साधु-महात्माओं के विरोधी हो सकते हैं? फिर भी वे साधु-पण्डित, काजी, मुल्लाओं के सबसे बड़े और प्रबल शत्रु थे। उस वर्ग के जिन्होंने अपने क्षुद्र स्वार्थों की पूर्ति के लिए धर्म के पुण्य क्षेत्र को विकृतियों से दूषित किया। जन-साधारण के कल्याण और सुख-शान्ति के मार्गदर्शन के स्थान पर जनमानस में अन्धविश्वास, पतन, हिंसा और अन्य व्यक्तिगत विकृतियों तथा सामाजिक कुरीतियों के विष बीज बोये।

कबीर समाज में ऐसे वर्ग से उठकर आये जिसे अभी तक विद्या बुद्धि प्रगति के क्षेत्रों में आगे बढ़ने का अवसर ही नहीं मिला था। उस वर्ग को अमानव या पशु का दर्जा दिया गया था। उस समय के कई पण्डितों और काजियों ने तो इस वर्ग को जड़ भी घोषित कर रखा था। ऐसे वर्ग और समुदायों की कुन्ठाओं या प्रतिक्रियाओं ने कबीर जैसे विद्रोही को जन्म दिया तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है। कुछ लोग कबीर को हठवादी और पूर्वाग्रही सिद्ध करने पर आज भी तुले हैं। परन्तु यह मान्यता अपने आप में एक पूर्वाग्रह है।

उस समय समाज की तन्द्रा तोड़ने के लिए यह आवश्यकता थी कि प्रचलित विश्वासों, मान्यताओं और प्रतीकों पर तीव्र प्रहार किया जाय। उन्हें तोड़े बिना जनता की निष्ठाएँ और आस्थाएँ सच्चे धर्म के प्रति उद्भूत ही नहीं हो सकती थीं। कबीर ने इस मर्म को

गम्भीरता से समझा, अपनी पैनी दृष्टि से देखा और अपनी तीखी शैली में कह दिया धर्मतन्त्र और अध्यात्म की स्थापना साधु-सन्तों की महिमा और शाश्वत सिद्धान्तों के जीवन मूल्यों की अवहेलना किये बिना असम्भव ही है। इस तथ्य को कबीर की नस-नस में बहता हुआ देखा जा सकता है। साधना, उपासना, चरित्र, सदगुण, सत्य, न्याय, प्रेम, गुरु, शास्त्र, दर्शन आदि के प्रति अगाध श्रद्धा व्यक्त करने में, आवश्यकता प्रतिपादित करने में कबीर अपने समय के सभी विद्वानों से आगे निकल गये।

संत कबीर ने अपने समय में प्रचलित पाखण्ड और अन्ध-विश्वास का ही खण्डन नहीं किया वरन् उस समय की कई सामाजिक कुरीतियों और परम्पराओं को भी नहीं बखशा। जाति-पाँति से लेकर मुसलमान तक और बाह्य चिह्न पूजा से लेकर पशुबलि के अन्धविश्वास तक कोई भी विकृति उनके आक्रमण से बच नहीं सकी। निःसन्देह ऐसी प्रवृत्तियाँ सम्बन्धित नेतृत्व में निहित स्वार्थ की भावना पनपने के कारण आती हैं। इन परम्पराओं और मान्यताओं पर प्रहार होते देखकर स्वार्थी तत्त्वों का कुपित होना स्वाभाविक ही है और संत कबीर को ऐसों का कोपभाजन बनना ही पड़ा परन्तु उन्होंने अपना मार्ग नहीं छोड़ा।

तत्कालीन शासक सिकन्दर लोदी ने उन्हें तरह-तरह से उत्पीड़ित किया। शारीरिक यातनाओं से लेकर मरणान्तक कष्ट देने तक कोई उपाय नहीं छोड़ा। परन्तु अन्तर्निहित जाग्रत आत्मदेव की शक्ति क्षमता ने उनका सदैव बचाव किया। एक बार तो उन्हें गंगा तक में फेंक दिया गया, पर सिद्धान्तों और आस्था निष्ठाओं के धनी कबीर ने जीवन मूल्यों को ही अधिक महत्त्व दिया।

उनके व्यक्तिगत निजी जीवन की ओर दृष्टिपात करने पर तो सर्वाधिक विस्मित रह जाना पड़ता है। कुलहीन व्यक्ति ने और वह भी अनपढ़ जिसकी अँगुली ने कभी कगज और कलम को छुआ तक नहीं, कैसे इतना साहित्य सृजन किया, अपने व्यक्तित्व में कहाँ से इतनी प्रभावकारी क्षमता अर्जित की जिसने क्या मुगल साम्राज्य और क्या हिन्दू धर्म की पण्डा-पुरोहित नियन्त्रित व्यवस्था की जड़ें हिला दीं। कबीर के कई-कई दोहे ऐसे हैं जिनका अर्थ आज तक नहीं खोजा जा सका है। उनकी उलटवांसियाँ तो शोध छात्रों का प्रिय विषय बनी हैं। उन पर शोध प्रबन्ध लिखकर ही वे अपनी योग्यता तथा विद्वत्ता को प्रमाणित करते हैं। कबीर के व्यक्तित्व की इस समृद्धि और सम्पन्नता की ओर देखने पर अध्यात्म तथा धर्म को, जीवन विद्या में निहित शक्ति जागरण की महानतम सम्भावनाओं को स्वीकार करना ही पड़ता है।

समाज में उनका प्रभाव और अनुयायियों की एक बड़ी संख्या होते हुये भी कबीर ने जुलाहों का-सा घर का पेशा अपनाया। वे एक साधारण गृहस्थ की तरह जिये। लोई जो उनकी धर्मपत्नी थीं ने दो बच्चों को भी जन्म दिया। पारिवारिक उत्तरदायित्वों के होने पर भी कबीर की मस्ती और सेवा साधना में कोई अन्तर नहीं आया। समाज में व्यापक परिवर्तन के सूत्रधार बनकर भी—अहर्निश इन प्रवृत्तियों

और गतिविधियों में संलग्न रहकर भी कबीर ने अन्य साधु-संन्यासियों की तरह कभी भिक्षा या दान नहीं लिया। इस मार्ग के अन्य पथिकों को भी उन्होंने सदैव यही प्रेरणा दी—

साधु संग्रह न करे, उदर समाता लेय ।
आगे पीछे हरि खड़े, जो माँगो सो देय ॥

और—

जो जल बाढ़े नाव में, घर में बाढ़े दाम ।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सज्जन को काम ॥

इस आदर्श को लेकर जीने वाले व्यक्ति ही अपने जीवन में समाज सेवा के लिए, नवनिर्माण के लिए कुछ कर पाने में समर्थ हो सकते हैं, अन्यथा जीवन स्त्री-बच्चों के लिए विलास सुविधायें जुटाने में ही बीत जाता है। १२० वर्ष की आयु में सन्त कबीर का देहान्त सन् १५८० ई० में हुआ। अपने अन्तिम समय में वे मगहर चले गए थे क्योंकि लोगों की मान्यता थी कि मगहर में मरने वाला व्यक्ति नर्क को जाता है। मरने के बाद भी अन्धविश्वास टूटे इसके लिए कबीर कितने यत्नशील थे।

कबीर की सिखावन

एक बार एक गृहस्थ कबीरदास के पास सत्संग के लिये गया। वह व्यक्ति अपने दाम्पत्य जीवन से असंतुष्ट था। स्वागत शिष्टाचार के बाद गृहस्थ ने पूछा— भगवन् ! सुखी दाम्पत्य जीवन का रहस्य क्या है ?

कबीर उस व्यक्ति की निराश मुख-मुद्रा देख कर समझ गये कि उसकी धर्मपत्नी से पटती नहीं। कबीर यह कह कर कि— “अभी समझाता हूँ” घर के भीतर चले गये।

थोड़ी देर में घर से सूत लेकर लौटे और उस व्यक्ति के सामने बैठकर उसे सुलझाने लगे। दो मिनट बाद अपनी पत्नी को आवाज लगाकर कहा यहाँ बड़ा अंधेरा है सूत नहीं सुलझता, दीपक तो रख जाओ। उनकी पत्नी दीपक जलाकर लाई और चुपचाप रखकर चली गई।

उस व्यक्ति को आश्चर्य हुआ कि क्या कबीर जी अंधे हो गये हैं जो सूरज के प्रकाश में भी उन्हें अंधेरा लगता है। इनकी पत्नी भी कैसी है जो बिना प्रतिवाद किये दीपक जलाकर रख गई। इसी बीच उनकी स्त्री दो गिलासों में दूध लेकर आई, एक उस आदमी के सामने रख दिया दूसरा कबीर को दे दिया। दोनों दूध पीने लगे। थोड़ी देर में स्त्री फिर आई और कबीर से पूछने लगी दूध में मीठा तो कम नहीं है। कबीर बोले नहीं, बहुत मीठा है, इसके बाद वे उसी भाव से दूध पी गये। वह आदमी फिर हैरान हुआ कि उसमें मीठा तो था भी नहीं गलती से चीनी की जगह नमक डाल दिया गया था।

आदमी बहुत झल्लाया, बोला— महाराज मेरे प्रश्न का उत्तर न दे सकें तो चलूँ ? कबीर बोले भाई समझा तो दिया और क्या सुनना चाहते हो ? विस्तार से सुनना चाहते हो, तो ? देखो परिवार के लिये आवश्यक है कि सदस्यों को अपने अनुकूल बनाओ और स्वयं भी

परिवार के अनुकूल बनो। पत्नी और संतति को सुशील और आज्ञाकारी बना सके और स्वयं भी जीवन में हर जगह स्नेह और क्षमता का दान दे सके, तभी गृहस्थ जीवन सफल हो सकता है। वह व्यक्ति सारी बात समझ गया और खुशी-खुशी घर लौट आया।

दृष्टिकोण की भिन्नता

कबीर सिद्ध पुरुष की तरह प्रख्यात हो गये। दूर-दूर से जिज्ञासु लोग आते। तब भी वे पहले की तरह ही कपड़ा बनाते रहते और साथ-साथ सत्संग चलाते।

शिष्यों में से एक ने पूछा— “आप जब साधारण थे तब कपड़ा बुनना ठीक था, पर अब जब कि सिद्ध पुरुष हो गये और निर्वाह में कमी नहीं रहती तो आप कपड़ा क्यों बुनते हैं।”

कबीर ने सरल भाव से कहा— “पहले मैं पेट पालने के लिए बुनता था। पर अब मैं जन-समाज में समाये हुए भगवान् का तन ढकने और अपना मनोयोग साधने के लिए बुनता हूँ।”

कार्य वही रहने पर भी दृष्टिकोण की भिन्नता से उत्पन्न होने वाले अन्तर को समझने से शिष्य का समाधान हो गया।

विश्वास की प्रगाढ़ता—दाम्पत्य जीवन की आधारशिला

कबीर अपने दरवाजे पर बैठे ग्रामवासियों को उपदेश दे रहे थे। तभी एक युवक ने पूछा— महाराज! यह तो बताइये कि विवाह करना ठीक होता है या नहीं? कबीर एक क्षण चुप रहे फिर अपनी पत्नी को आवाज देकर बुलाया और कहा— देख! यहाँ बड़ा अन्धकार फैला है दीपक तो जला कर ले आ। धर्म-पत्नी घर गई और दीपक जलाकर ले आई। युवक हँस कर बोला— महाराज! आप तो विलक्षण हैं ही आपकी पत्नी भी खूब हैं। आप दिन को रात बताते हैं तो पत्नी ने दीपक लाकर आपकी बात का समर्थन भी कर दिया। क्या खूब नाटक रहा। कबीर हँसकर बोले— नाटक नहीं, तुम्हारे प्रश्न का उत्तर। यदि युवक-युवती एक-दूसरे पर इतना प्रगाढ़ विश्वास रख सकें तो ही उन्हें विवाह करना चाहिए।

संन्यासी बनूँ या गृहस्थ

एक जिज्ञासु कबीर के पास पहुँचा, बोला— ‘दो बातें सामने हैं— संन्यासी बनूँ या गृहस्थ।’

कबीर ने कहा— ‘जो भी बनो आदर्श बनो।’

उदाहरण समझाने के लिए उन्होंने दो घटनाएँ प्रस्तुत कीं।

अपनी पत्नी को बुलाया। दोपहर का प्रकाश तो था, पर उन्होंने दीपक जला लाने के लिए कहा ताकि वे कपड़ा अच्छी तरह बुन सकें। पत्नी दीपक जला लायी और बिना कुछ बहस किये रखकर चली गई।

कबीर ने कहा— ‘गृहस्थ बनना हो तो परस्पर ऐसे विश्वासी बनना, कि दूसरे की इच्छा ही अपनी इच्छा बने।’

दूसरा उदाहरण सन्त का देना था। वे जिज्ञासु को लेकर एक टीले पर गये, जहाँ वयोवृद्ध महात्मा रहते थे। वे कबीर को जानते न थे। नमाज के उपरान्त उनसे पूछा ‘आपकी आयु कितनी है।’ बोले— ‘अस्सी बरस।’

इधर-उधर की बातों के बाद कबीर ने कहा— ‘बाबा जी, आयु क्यों नहीं बताते?’ सन्त ने कहा था— ‘बेटे, अभी तो बताया था, अस्सी बरस! तुम भूल गये हो। टीले से आधी चढ़ाई उतर लेने पर कबीर ने सन्त को जोर से पुकारा और नीचे आने के लिए कहा। वे हाँफते-हाँफते चले गये। कारण पूछा, तो फिर वही प्रश्न किया— ‘आपकी आयु कितनी है?’ सन्त को तनिक भी क्रोध नहीं आया। वे उसे पूछने वाले की विस्मृति मात्र समझे और कहा— ‘अस्सी बरस है।’ हँसते हुए वापस लौट गये।

कबीर ने कहा— ‘सन्त बनना हो तो ऐसा बनना, जिसे क्रोध ही न आये।’

शैतान का वश नहीं चलता

महर्षि कबीर अपने शिष्यों से कहा करते कि ‘रोज सबेरे शैतान आकर मुझसे प्रश्न करता है— ‘आज तू क्या खायेगा?’ मैं जबाब देता हूँ— ‘मिट्टी खाऊँगा।’ वह पूछता है— ‘क्या पहनेगा?’ मैं जबाब देता हूँ— ‘मुर्दे का कपड़ा।’ वह फिर पूछता है ‘रहेगा कहाँ!’ मैं जबाब देता हूँ— ‘श्मशान में।’

मेरे ये उत्तर सुनकर शैतान मुझे बड़ा अभाग्य बताकर चल देता है। क्योंकि मैं उन सभी चीजों से अनिच्छा प्रकट करता रहता हूँ कि जिनमें वह संसार के प्राणियों को फँसाकर मनुष्य से राक्षस बना देता है। इसी से उस का वश नहीं चलता।

पत्नी की सूझ-बूझ

एक पापी मनुष्य को एक बार अपने पापों के लिए पछतावा हुआ। उससे किसी ने कहा— ‘तू कबीर दास के पास जा। वे तेरे मन को शान्ति प्रदान करेंगे।’ वह मनुष्य जैसे रोगी अस्पताल में जल्दी जाय, उसी तरह कबीर के यहाँ गया। कबीर घर पर नहीं थे। इसलिए उनकी पत्नी ने दृढ़तापूर्वक तीन बार भगवान् का नाम लेने को कहा। पापी ने सच्चे भाव से वैसा ही किया। इससे उसका मन शान्त हो गया और वह नाचता-कूदता हुआ ईश्वर-स्मरण में मस्त हो गया। इसी समय कबीर घर आ गये। ऐसे प्रेमी मनुष्य को देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए। पत्नी ने उस भक्त का सब हाल बताया। कबीर ने खिन्न होकर अपनी पत्नी से कहा— ‘केवल एक बार प्रभु का नाम ले लेने से सब कुछ सिद्ध हो जाता है। तब तुमने तीन बार हरिनाम लेने को क्यों कहा? इससे मालूम होता है कि तुमको ईश्वर पर विश्वास नहीं है।’ स्त्री बोली— ‘तीन बार नाम लेने का आशय यह था कि जिससे उस पापी का कायिक, वाचिक और मानसिक मैल दूर हो जाय।’ कबीर अपनी पत्नी की इस सूझ पर बहुत प्रसन्न हुए।

मन से दुर्भावनाएँ दूर न हुईं तो फिर गंगा स्नान किस काम का ?

प्रातः का समय था। भक्त लोग स्नान कर रहे थे। कुछ ब्राह्मण भी गंगा स्नान करने आये। पानी काफ़ी गहरा था। अतः घुसकर स्नान करने का साहस नहीं हो रहा था। पात्र कोई नहीं था। एक किनारे पर सन्त कबीर स्नान कर रहे थे। उन्होंने देखा तो उनसे न रहा गया। उन्होंने अपना लोटा माँज-धोकर एक व्यक्ति को दिया और कहा कि जाओ, ब्राह्मणों को दे आओ ताकि वे भी सुविधा से स्नान कर लें।

कबीर का लोटा देखकर ब्राह्मण चिल्ला उठे— “अरे, जुलाहे के लोटे को दूर रखो।” भाइयो! कबीर बोले— “इस लोटे को कई बार माँजा और गंगा-जल से धोया फिर भी पवित्र न हुआ, तो यह मानव-शरीर जो दुर्भावनाओं से भरा है, गंगा जी में स्नान करने से कैसे पवित्र होगा ?”

कबीर के ये शब्द सुनकर ब्राह्मण बड़े लज्जित हुए और एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे।

अन्तिम समय मगहर में

कबीर का अन्तिम समय आ पहुँचा। वे शिष्यों से बोले— “मेरी अन्तिम साँस मगहर में ली जाय। मुझे तुरन्त वहाँ ले चलो।” सभी हैरान कि मरते समय तो लोग काशी आते हैं पर यह मगहर जाना चाहते हैं। कबीर बोले— मरकर यदि मैं स्वर्ग भी चला गया तो फिर काशी की ही महिमा गायी जाती रहेगी। मेरे खुद के किये-धरे का तो फिर कोई मतलब नहीं है। लोगों के मनों में बैठी भ्रान्तियों को निकालने के लिए मेरा मगहर में शरीर छोड़ना जरूरी है। लोग जानें कि कबीर ने ऐसी जगह शरीर त्यागा, जहाँ मरने पर अधोगति प्राप्त होती है किन्तु उसके कर्म इतने पवित्र थे कि परमपिता परमात्मा ने उसे सद्गति प्रदान की।

धर्मोद्धारक—राघवेन्द्र स्वामी

पुत्र के निर्माण में माता-पिता की भावनाएँ एक विशेष महत्त्व रखती हैं। माता-पिता की भावनायें ही सन्तान में संस्कार बनकर आत्मानुसार उसके आचरण की रचना करती हैं।

जिन अभिभावकों को राष्ट्र से प्रेम और समाज से स्नेह होता है, जो यह चाहते हैं कि उनका राष्ट्र संसार में मस्तक ऊँचा करके खड़ा हो, राष्ट्र का हर घटक अपने में एक पूर्ण मनुष्य बने, वे देश को अच्छे नागरिक देने के अपने कर्तव्य को बड़ी जागरूकता से निभाते हुये सन्तान का निर्माण किया करते हैं।

देश को एक होनहार नागरिक प्रदान करना बहुत बड़ी राष्ट्र-सेवा है। यदि देश के सारे माता-पिता समाज को उपयुक्त नागरिक देने के अपने उत्तरदायित्व को समझने लगे तो कुछ अन्य प्रयत्न किये बिना शीघ्र ही देश व समाज का कल्याण हो जाये।

राघवेन्द्र स्वामी के पिता श्री तिमम्पण भट्ट एक ऐसे ही उत्तरदायी व्यक्ति थे। समाज का वे जो कुछ थोड़ा बहुत हित कर सकते थे, वह तो उन्होंने अपनी परिस्थितियों के अनुसार किया ही, साथ ही देश को एक महान् नागरिक देने के लिए कुछ कम प्रयत्न नहीं किया।

पुत्र की कामना सबको होती है। किन्तु उनकी यह कामना केवल अपने स्वार्थ तथा हर्ष के लिये ही होती है। ऐसे कितने बुद्धिमान होते हैं जो पुत्र की कामना इसलिये करते हैं कि वे एक ऐसे मनुष्य, एक ऐसे नागरिक का निर्माण कर देश को प्रदान करने के अपने राष्ट्रीय-कर्तव्य को पूरा कर सकें, जो कि युग-आवश्यकता को पूर्ण करने में अपना तन, मन, धन सब कुछ न्योछावर कर दे। अपने स्वार्थ-साधन को न देख कर पुत्र को समाज सेवा के लिये प्रदान कर देना एक महान् तपोपूर्ण त्याग ही है।

तेरहवीं शताब्दी में महाराष्ट्र में महात्मा माध्वाचार्य जी द्वारा भक्ति मार्ग का उद्धार करने के लिये जिस वैष्णव मत की स्थापना की गई थी वह लगभग तीन सौ वर्ष की यात्रा करके सोलहवीं शताब्दी में आकर लड़खड़ाने लगा। श्री माध्वाचार्य का यह वैष्णव भक्ति मार्ग कोई साधारण उपासना प्रणाली मात्र ही नहीं था बल्कि यह उन मांगलिक साधनों में से एक था जिसने यवन बादशाहों के अत्याचारपूर्ण प्रयत्नों द्वारा तीव्रता से बढ़ते हुये इस्लामी प्रभाव से शिखा-सूत्र की रक्षा की थी। यह मत एक धार्मिक धरोहर थी जिसे हिन्दुत्व में चिर जीवन फूँकने के लिये सुरक्षित रखना आवश्यक था।

भक्ति प्राण तिमम्पण भट्ट ने वैष्णव मत की जीर्णता को पहचान लिया और उनकी आत्मा उसकी रक्षा के लिये छटपटा उठी। किन्तु वे आयु, पारिवारिक परिस्थिति, योग्यता एवं समय की कमी के कारण इच्छा होते हुये भी उतना कुछ नहीं कर पाते थे जितना कि सम्प्रदाय की रक्षा के लिये करना आवश्यक था।

श्री तिमम्पण भट्ट के कोई पुत्र नहीं था और न उन्हें पुत्र की कोई कामना ही थी। वे निरन्तर भगवत्-भजन में लीन रहने से निस्पृह, निष्काम तथा एषणाओं से रहित हो चुके थे। किन्तु, जिस भक्ति का फल वे आत्मानन्द के रूप में भोगते हुये संसार के दुःख-द्वन्द्वों से दूर हो चुके थे उसी सर्व सुख-सम्पन्न वैष्णव भक्ति का तिरोधान होते देख कर विचलित हो उठे और एक ऐसे पुत्र की कामना करने लगे जो समाज के कल्याण और उनकी आत्म-शान्ति के लिये उक्त भक्ति मार्ग को पुनर्जीवित कर सके।

निष्काम भक्त ने पुत्र की कामना से आराधना प्रारम्भ की और अपनी परमार्थपूर्ण इच्छा की प्रबलता से अपने विश्वासानुसार भगवान् वेंकटेश से इस वरदान के साथ पुत्र रत्न प्राप्त कर ही लिया— कि उनका पुत्र संसार के विषय-वासनाओं से विरक्त रहकर अपने कर्तव्यों द्वारा देश और धर्म का उद्धार करे।

अपनी समस्त मंगल कामनाओं के साथ मन-मार्ग द्वारा अपने पुत्र में समाहित होकर श्री तिमम्पण भट्ट इस प्रसन्नता के साथ शीघ्र ही अन्तर्हित हो गये कि यदि भगवान् वेंकटेश की इच्छा धर्मोद्धार की न होती तो वे मुझे इस उतरती आयु में माँगने पर पुत्र रत्न प्रदान न करते।

भगवान् वेंकटेश के नाम पर अभिधानित पितृहीन वेंकटनाथ के लालन-पालन का भार उनकी विधवा माता पर आ पड़ा। पति को पुत्र रूप में पाकर गोपा देवी ने अपने वैधव्य पर रोते रहना अयोग्य समझकर पति की भावनाओं को पुत्र में निष्ठापूर्ण कर्तव्य के रूप में रच देना ही पतिव्रत के अनुरूप समझा।

भक्त के पास विभूति का क्या काम ? वेंकटनाथ के पिता ने अपने पीछे कोई सम्पत्ति तो छोड़ी न थी, अतएव उनकी माता ने अपने परिश्रम के बल पर जीविका की व्यवस्था करके संतोषपूर्वक पुत्र का पालन प्रारम्भ कर दिया। उनके पुत्र-पालन का अर्थ था अवस्थानुसार विविध उपायों द्वारा पुत्र के मनोविकास के साथ उसमें पति की भावनाओं की स्थापना करना। यद्यपि वे कुछ पढ़ी-लिखी न थीं तथापि पुत्र वर्णमाला की आयु में पहुँचा तो वे उसके हृदय में विद्या की आधार-शिला रखने की योग्यता प्राप्त कर चुकी थीं।

प्रारम्भिक शिक्षा देकर गोपा देवी ने अपने मोह को दबाकर पुत्र को उच्च शिक्षा के लिए अपने विद्वान् दामाद पं. लक्ष्मी नरसिंहाचार्य के पास भेज दिया। किसी महान् मन्तव्य के लिए सुरक्षित की हुई पति की धरोहर को आत्म-सन्तोष के लिए अपने तक सीमित रखने का अधिकार गोपा देवी को नहीं था। इस बात को वे अच्छी तरह जानती थीं और इसीलिए अपने भविष्य की चिन्ता छोड़कर उन्होंने पुत्र को उसी मार्ग पर अग्रसर किया जिस पर चलकर वह अपने स्वर्गीय पिता की इच्छा पूर्ण करके कुल को उज्ज्वल करे। गोपा देवी अच्छी तरह जानती थीं कि उन्होंने पुत्र में जिन संस्कारों का जागरण किया है और जिस मार्ग पर उसे अग्रसर किया है उससे वापस आकर वह उन्हें पुनः प्राप्त नहीं हो सकता। किन्तु देश-धर्म की धरोहर उसे सौंपकर उन्होंने सन्तोष ही पाया।

माता द्वारा निर्मित मनोभूमि की उर्वरता, मस्तिष्क की प्रखरता तथा पिता की इच्छा के प्रतिनिधित्व भाव ने मिल कर वेंकटनाथ में एक ऐसी लगन उत्पन्न कर दी जिससे वह आगामी कर्तव्यों के योग्य ज्ञान प्राप्त करने के लिए विद्यावारिधि में आमूल निमग्न हो गया। शीघ्र ही उसने धर्म के सारे अंगों-उपांगों के साथ साहित्य, व्याकरण, न्याय, वेदान्त आदि में निपणता प्राप्त कर ली।

विद्या विदग्ध होने के साथ-साथ तरुण होकर आए, अपने पुत्र को देखकर गोपा देवी के हृदय में हर्ष के साथ मोह की भी पुनरावृत्ति हो उठी और वे कम से कम पुत्र को विवाह बन्धन में बाँधकर उसके संपत्तीक देखने की अपनी इच्छा को न रोक सकीं। कोई इच्छा अथवा आवश्यकता न होने पर भी ज्ञान-गरिमा के पुण्य-प्रभाव से वीतराग हुए वेंकटनाथ ने माता की प्रथमान्त इच्छा को पूर्ण करना अपना धर्म-कर्तव्य ही समझा।

अपनी सहधर्मिणी के रूप में विद्वान् वेंकटनाथ ने जिस सरस्वती नामक कन्या का चुनाव किया वह देखने में सुन्दर तो नहीं थी किन्तु विद्या, बुद्धि और पति-परायणता में हजार सुन्दरियों से बढ़कर थी। वेंकटनाथ के इस चुनाव की जब लोग चर्चा करते तो वे एक ही उत्तर देते थे कि 'मुझे अपने चुनाव चातुर्य पर न केवल सन्तोष ही है अपितु

गर्व भी है। जो व्यक्ति नारी के आन्तरिक सौन्दर्य की अपेक्षा बाह्य सौन्दर्य को अधिक महत्त्व देते हैं वे अधिक बुद्धिमान नहीं कहे जा सकते। नारी का वास्तविक सौन्दर्य तो उसके गुण हैं, बाह्य सौन्दर्य अचिर-जीवी विभ्रम के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता।'

ध्येय-धर्म की तैयारी करके और माता को तोष देकर श्री वेंकटनाथ अपने कर्तव्य मार्ग पर चल पड़े। इसके पहले कि वे जनता में धर्म-प्रचार का कार्य आरम्भ करते उन्होंने अपने गुरु श्री सुधीन्द्रतीर्थ जी का आशीर्वाद ले लेना आवश्यक समझा। गुरु ने वेंकटनाथ का उद्देश्य सुनकर तथा उस पर गहराई से विचार करके उन्हें अपने पास रोक लिया और शास्त्रों की पुनरावृत्ति का परामर्श दिया। यद्यपि वेंकटनाथ को अपने शास्त्रीय ज्ञान में कोई सन्देह न था तथापि वे गुरु की आज्ञा में किसी महान् मंगल का समावेश समझकर रुक गये और शास्त्रों के पुनर्मन्थन के साथ गुरु की सेवा में तल्लीन हो गये।

गुरु आश्रम में रहकर उन्होंने न केवल अपने ज्ञान को ही परिपुष्ट किया अपितु वक्तव्य-विकास के लिये अनेक शिष्यों को भी पढ़ाया। विद्या और वाणी पर समान रूप से अधिकार पाकर वेंकटनाथ ने गुरु से पुनः धर्माभियान की अनुमति माँगी। गुरु ने आश्चर्य होकर न केवल अनुमति ही दी अपितु अपने विश्वस्त शिष्य को स्वयं साथ लेकर पुण्य-पर्यटन पर चल पड़े।

सबसे पहले वेंकटनाथ अपने गुरु के साथ धर्म-जिज्ञासुओं के सम्मेलन तथा व्यावसायिक धर्म-प्रचारकों के केन्द्र स्थल तीर्थों पर अन्धविश्वास तथा भ्रांतियों को दूर करने के लिये गये। यद्यपि तीर्थों पर उन्हें धन्धकों के विकट विरोध का सामना करना पड़ा तथापि उन्होंने अपने साहस, आत्मविश्वास तथा विद्या के बल पर पुण्य स्थलों को मायावियों से मुक्त कर दिया। उन्होंने वर्षानुवर्ष सच्चे वैष्णव धर्म का प्रतिपादन करके भजन-कीर्तन तथा पूजापाठ के रूप में अपना सत्य सन्देश देश के कोने-कोने में पहुँचा दिया। उनकी ख्याति से उत्तेजित होकर अनेक धर्माधिकारियों तथा सम्प्रदायवादियों ने उन्हें शास्त्रार्थ के लिये ललकारा। चुनौती स्वीकार करके उन्होंने सैकड़ों शास्त्रार्थ किये और अपने अमोघ वक्तव्यों द्वारा विरोधियों के न केवल मुँह ही बन्द कर दिये बल्कि उन्हें वैष्णव मत का प्रचारक बना दिया।

श्री वेंकटनाथ की अविचल निष्ठा, अनवरत प्रयत्न एवं अप्रतिम प्रतिभा ने तात्कालिक धार्मिक क्षेत्र में एक क्रांति उपस्थित कर दी जिसकी हलचल ने भ्रांतिपूर्ण विश्वासों को भागने पर विवश कर दिया। ध्येय के प्रति अर्पितात्मा वेंकटनाथ की धाक सारे देश में बैठ गई और वे वैष्णव मत के पुनरुद्धार के रूप में पूजे जाने लगे।

धार्मिक क्षेत्र में वांछित परिवर्तन लाकर श्री वेंकटनाथ ने संन्यास ले लिया और कृत्यकृत्यता के सन्तोष के साथ राघवेन्द्र स्वामी के नाम से गुरु आश्रम में रहकर शान्तिपूर्वक लोक-शिक्षण की व्यवस्था करने लगे।

सेवा धर्म अपना कर आत्मसाक्षात्कार तक पहुँचे हुये श्री राघवेन्द्र स्वामी ने लोक-शिक्षा के लिये अन्तिम दिन तक आश्रम के नियमों का निर्वाह किया। वे नित्य बहामुहूर्त में उठते, कावेरी में स्नान करके गीता, ब्रह्मसूत्र तथा उपनिषदों का प्रवचन करते। शिष्यों को पढ़ाते तथा कीर्तन-भजन के लिये पदों की रचना करते।

वैष्णव मत की रक्षा करके और अनेक भविष्य-रक्षकों का निर्माण करने के बाद श्री राघवेन्द्र स्वामी ने संसार में आगे अपनी आवश्यकता न समझकर तुंगभद्रा के तट पर मंचाली ग्राम में वृन्दावन नामक स्वरचित समाधि-संधि के बीच निर्धारित समय पर, भजन करते हुये ब्रह्म समाधि प्राप्त की। उनके शिष्यों ने गुरु के आदेशानुसार बारह सौ शालिग्रामों से उन्हें ढक दिया और समाधि-संधि बन्द करके पत्थर पर— “यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ” का भगवद्-वाक्य अंकित कर दिया। स्वामी जी धर्म की स्थापना के लिये अवतरित हुये थे, उस कर्तव्य को अन्तिम श्वास चलने तक वे पूरा करते रहे।

धार्मिक क्रान्ति के स्वप्नदृष्टा— स्वामी विरजानन्द

स्वामी दयानन्द— जब मूलशंकर सत्य की खोज के लिए अपनी साधना में किसी योग्य पथ-प्रदर्शक को सहायक और सूत्र-धार बनाने के लिए यत्र-तत्र घूम रहे थे। बरसों हो गये इस खोज में घूमते हुए परन्तु बात बनती न दिखाई दी। घर-परिवार का व्यामोह चक्र भी बड़ी मुश्किल से तोड़ पाये थे कि यह एक और समस्या सामने आ गयी। अध्यात्म क्षेत्र में पनप रहा पाखण्ड और ढोंग इतनी चालाकी से खड़ा किया जाता था कि उसकी असलियत का पता ही नहीं चल पाता। मूलशंकर कई ऐसे साधु-महात्माओं के सान्निध्य में महीनों तक रहे परन्तु यही पाया कि जितनी ख्याति उनकी सुनने में आती थी अन्दर से उतने ही वे उथले और स्तरहीन होते। असलियत का पता चलते ही वे उन्हें छोड़कर अपनी खोज पुनः शुरू करते।

यह खोज पूरी हुई मथुरा में। पुण्य सलिला यमुना के तट पर इस नवजिज्ञासु ने एक कुटिया का द्वार खटखटाया। अन्दर से पूछा गया— कौन तो जिज्ञासु साधक ने कहा— मैं दयानन्द। कुटिया में निवास करने वाले सन्त अपने आपको दयानन्द कहने वाले इस युवक से अपरिचित ही थे सो पुनः पूछा— “क्या चाहते हो।” “मैं शिष्य बनना चाहता हूँ।” और इतना कहने के बाद इस कुटिया के द्वार खुले। एक कृशकाय, नेत्रहीन किन्तु आत्म साधना तपः तन से उदीप्त मुख मण्डल के दर्शन हुए। शरीर पर वस्त्रों के नाम पर एक लंगोटी थी और नग्न देह की कृशता इस तरह की थी कि एक-एक हड्डी गिनी जा सके। दयानन्द को उनके मुखमण्डल पर चमकता तेज देखकर लगा कि अब खोज पूरी हो गयी है। अब उन्हें कहीं अन्यत्र न भटकना पड़ेगा। प्रथम दर्शन में ही स्वतः नतमस्तक होकर दयानन्द ने प्रणाम किया और ऋषि ओष्ठ बुदबुदाये “आयुष्मान भव।”

कृशकाय, नेत्रहीन किन्तु प्रज्ञाचक्षु सम्पन्न यह ऋषि थे स्वामी विरजानन्द। जिनके प्रथम दर्शन से ही स्वामी दयानन्द का स्थापित अनुमान सत्य निकला और सचमुच उन्हें विरजानन्द जी को छोड़कर कहीं और न जाना पड़ा। स्वामी विरजानन्द जी तब मथुरा में— उसी कुटिया में रहते हुए एक संस्कृत पाठशाला चलाते थे। इस पाठशाला का उद्देश्य था वैदिक धर्म के सम्बन्ध में अनधिकार चेष्टा से हस्ताक्षेप

करने वाले पुरोधा और पण्डितों द्वारा फैलायी गयी भ्रान्तियों का उन्मूलन तथा उनके स्थान पर छात्र को संस्कृत भाषा का ज्ञान करा कर स्वयं वैदिक साहित्य का अध्ययन करने में सक्षम बनाना।

ईश्वर आराधना और आत्म साधना के बाद स्वामी विरजानन्द जी का यही एकमात्र मिशन था। प्रकण्ड विद्वत्ता और प्रचण्ड तपश्चर्या से उद्भूत आत्मबल इस मिशन को पूरा करने में सक्षम तो था परन्तु शारीरिक स्थिति इस मिशन को पूरा करने में बाधक थी। सो विरजानन्द जी किसी ऐसे शिष्य की प्रतीक्षा में थे जो सत्पात्र हो और जिसे वे अपनी इन सभी विभूतियों से आलोकित कर इस मिशन को पूरा कर सकें। स्वामी दयानन्द के रूप में उनकी यह साध पूरी हुई और लगा कि जिस सत्पात्र की उन्हें तलाश थी वह घर बैठे ही आ गया है। गुरु की अनुकम्पा प्राप्त करने के लिए तीन गुण आवश्यक हैं— जिज्ञासा, निष्ठा और सेवा। स्वामी दयानन्द में ये तीनों गुण कूट-कूट कर भरे हुए थे। जिज्ञासा-ज्ञान पिपासा के प्रति उनकी निष्ठा इस प्रकार विकसित थी कि जब गुरु ने कहा— सब अनार्य ग्रन्थों को फेंक दो और अपने ज्ञान को भूल जाओ। यद्यपि यह एक कठिन कार्य था। मन को सहज ही इस दृष्टि से तैयार नहीं किया जा सकता। परन्तु दयानन्द जी ने अपनी गुरुभक्ति के बल पर यह कर दिखाया। पात्रता की अन्य कसौटियों पर भी जब दयानन्द एक के बाद एक कर खरे उतरते गये तो विरजानन्द जी ने अपनी समस्त ज्ञान सम्पदा और आत्मिक विभूतियों को उन पर न्योछावर कर दिया।

सन् १८६० से ६३ तक— तीन वर्ष में दयानन्दजी ने गुरु सान्निध्य में रहकर शास्त्राध्ययन और साधन मार्ग का प्रशिक्षण प्राप्त किया और जब गुरुगृह से संन्यासाश्रम की दीक्षा लेकर विदा होने लगे तो अपने शिष्य से दीक्षा माँगी— दयानन्द मुझे दक्षिणा में क्या दोगे।

“गुरुवर ! यही तो मैं भी सोच रहा हूँ।”

“तेरे पास क्या है रे जो माँगू।” — गुरु ने कहा।

“बहुत कुछ है। जो भी चाहे माँग लो। आज तो इन्कार न करूँगा।”

“तो ठीक है अपना सारा जीवन ही मुझे दे डाल। मन में बड़ी साध है कि वैदिक धर्म के सम्बन्ध में फैली भ्रान्तियाँ दूर करूँ उस कार्य को तू ही पूरा करना।”

बिना कोई सोच-विचार किये दयानन्द जी ने कह दिया जो आज्ञा पूज्यवर और ऋषि ने अपने शिष्य को भी छाती से लगा लिया। इस अनूठे आत्मदान के साथ ही गुरु के अजस्र अनुदान भी प्रवाहित हो उठे और आत्मदान का संकल्प पूरा करने के लिए दयानन्द निकल पड़े।

इस गुरुदक्षिणा को स्वामी दयानन्द ने किस प्रकार चुकाया यह सर्वविदित है। स्वामी दयानन्द के कार्य और वैदिक संस्कृति के पुनरुत्थान अभियान की उपलब्धियाँ ऐतिहासिक हैं। उन ऐतिहासिक उपलब्धियों के पीछे कारण और शक्तिरूप से स्वामी विरजानन्द जी का व्यक्तित्व ही विद्यमान है। अन्यथा स्वयं के बलबूते पर इतना कार्य नहीं हो सका होता। स्वामी विरजानन्द के व्यक्तित्व की जिस प्रखरता का यहाँ संकेत किया जा रहा है वह भी आत्म-साधना, धर्म-

निष्ठा और अध्यात्म दर्शन की अभूतपूर्व मिसाल है। कहा जा सकता है कि स्वामी जी ने जो बीज वपन किये वे ही अपनी विशालकाय सम्भावनाओं के रूप में अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित होकर ऐतिहासिक बन गये। यह बात और है कि श्रेय की दृष्टि से उन्होंने अपने शिष्य को आगे कर दिया।

स्वामी विरजानन्द को सामान्यतः लोग दण्डी स्वामी के नाम से सम्बोधित करते थे। उनका जन्म सन् १७७८ ई० में पंजाब के गंगापुर गाँव में हुआ था। यह गाँव कर्तारपुर के समीप बुई नदी के तट पर स्थित है। घर-परिवार की आर्थिक स्थिति औसत स्तर की थी। जब उनकी आयु केवल पाँच वर्ष की थी तभी उन्हें शीतला का रोग हुआ और उसी रोग के कारण उनकी आँखें जाती रहीं। वे अपने चर्म चक्षुओं से केवल पाँच वर्ष की अबोध आयु तक ही यह संसार देख सके और उनकी शेष आयु में अन्धेरा हो गया। लेकिन उन्होंने तपश्चर्या, पुरुषार्थ, अध्यात्म और जीवन साधना के कण्टकक्रीर्ण मार्ग पर चलकर अपने उन्मीलित प्रज्ञा चक्षुओं को खोल लिया और उसके बल पर इतना कुछ देखा व परखा जिन्हें देखने में हजार आँखें भी अक्षम हैं।

देवी प्रकोप उनसे आँखें छीनकर सन्तुष्ट न रह गया। इसके तीन चार वर्ष बाद ही उनके माता-पिता भी स्वर्गवासी हो गये। जब तक माता-पिता थे—अपने अन्धे ही सही किन्तु बेटा तो है और उसी के प्रति दायित्वों को ध्यान में रखने के कारण उनके संरक्षण में शिक्षण की व्यवस्था चली। वह व्यवस्था भी अब नष्ट हो गयी और विरजानन्द अनाथ। बड़े भाई ने लोक-लाज से अपने अनुज को पास में रखा। लेकिन लोक-लाज ही भाई के प्रति कर्तव्य अच्छी तरह निभाने के लिए प्रेरित नहीं कर पाती। दुनिया की निगाह में विरजानन्द का पालन-पोषण उनके भाई-भावज कर रहे थे परन्तु उनकी नासमझी और दुर्व्यवहार के कारण विरजानन्द जी को कितना कष्ट तथा दुःख सहना पड़ा—यह कहा नहीं जा सकता। आरम्भ में तो ९-१० वर्ष का यह अबोध और संसार के ऊँच-नीच से अज्ञ बालक सब-कुछ सहता रहा। परन्तु जैसे-जैसे समझ बढ़ती गयी—स्थिति असह्य लगने लगी और अन्ततः वे १४ वर्ष की आयु में घर छोड़कर भाग निकले।

परिवार के वातावरण और माता-पिता से विरासत में मिली थी—ईश्वरनिष्ठा। मन में यह आस्था सुदृढ़ हो चली थी कि ईश्वर ही सबसे अच्छा और सबसे ऊँचा साथी है सो उसी सबसे अच्छे और सबसे सच्चे साथी से मिलने की धुन सवार हुई। गंगा और तीर्थ स्थानों पर बड़ी श्रद्धा थी सो मार्ग के कष्टों और कठिनाइयों को सहते हुए वे ऋषिकेश जा पहुँचे। गंगाजल में घण्टों तक आकण्ठ खड़े रहकर उन्होंने गायत्री का जाप किया और अपनी अन्तश्चेतना को तपश्चर्या की शान पर निखारा।

इसके बाद वे कनखल पहुँचे और वहाँ स्वामी पूर्णाश्रम जी से संन्यास आश्रम की दीक्षा लेकर काशी आ गये। इन दिनों उनके अनुभव में यह भली-भाँति आ गया था कि धर्म और अध्यात्म के सम्बन्ध में असफल जो धारणायें प्रचलित हैं उनसे सत्य की अपेक्षा भ्रम ही उपलब्ध हो सकता है। इस अनर्थपूर्ण विडम्बना को उलटने के लिए

आवश्यक है कि लोगों को धर्म और अध्यात्म का सच्चा अर्थ समझाया जाय। धर्म और अध्यात्म के शास्त्रीय सिद्धान्तों का अध्ययन करने के लिए वे काशी आकर रहने लगे और वहाँ संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् पण्डित विद्याधर से संस्कृत सीखी। अल्प समय में ही उन्होंने संस्कृत का इतना ज्ञान अर्जित कर लिया कि शास्त्रों का अध्ययन करने के साथ-साथ वे बालकों को संस्कृत भी पढ़ाने लगे। अध्ययन और अध्यापन से बचा हुआ समय वे सत्संग और वेदान्त चर्चा में लगाते।

काशी के वातावरण से वे जल्दी ही ऊब गये। चूँकि उनकी क्रिया पद्धति सही अर्थों में क्रान्तिकारी थी इसलिए मठाधीश और महन्तों का अवरोधक बनना भी स्वाभाविक था। इसी कारण और संन्यास आश्रम की मर्यादाओं के प्रति निष्ठा से प्रेरित होकर वे कलकत्ता और गया पहुँच कर सोंरों में आ गये और फिर गाड़िया घाट। गाड़िया घाट में भी गंगा के जल में उनकी ऋषिकेश वाली पद्धति पर गायत्री जप साधना चली। साथ ही वे कुछ स्तोत्रों का भी पाठ करते। परन्तु वे स्तोत्र होते थे उनके स्वरचित।

अलवर नरेश द्वारा स्वतः और स्वयं सम्पर्क साधने व अलवर चलने का सघन आग्रह करने पर दण्डी स्वामी अलवर चले गये। वहाँ पर अलवर नरेश और उनकी पत्नी को संस्कृत पढ़ाने लगे। अतिरिक्त समय में वे अन्य विद्यार्थियों को भी संस्कृत पढ़ाने लगे। राजा के शिक्षक होने के नाते राजगुरु होने पर भी वे एक साधारण सी कुटिया में रहते थे। यहीं रहकर उन्होंने संस्कृत व्याकरण पर शब्द बोध नामक एक पुस्तक लिखी। लेकिन अलवर में भी वे स्थायी रूप से न रहे वहाँ से चलकर सोंरों, मुरसान, भरतपुर आदि स्थानों पर रहते मथुरा आ गये और यमुना तट पर एक कुटिया में रहने लगे। इसी कुटिया में स्वामी जी ने संस्कृत पाठशाला की स्थापना की। अब यहाँ पर उनकी स्मृति में विरजानन्द वैदिक अनुसन्धान भवन स्थित है।

दण्डी स्वामी आत्मकल्याण की तपसाधना के साथ लोकमंगल और जन-कल्याण के लिये धर्म और संस्कृति के पुनरुद्धार के लिए भी शेष जीवन भर यहीं रहते हुए प्रयत्न करते रहे। उस समय वेद और दर्शनशास्त्रों की अपेक्षा मध्यमाल में रचे गये—अपने-अपने सम्प्रदायों और मतों के प्रतिपादन हेतु विभिन्न ग्रन्थों का ही अधिक प्रचलन था। इन ग्रन्थों में न केवल वैदिक आदर्शों की उपेक्षा तथा अवहेलना की गयी है वरन् उनके स्थान पर अनैतिक और अनार्ष मान्यताओं का भी बड़ा समर्थन किया गया है। परिणामस्वरूप ये अध्येता मुमुक्षु को आत्मकल्याण की दिशा में अग्रसर करने के स्थान पर उन्हें नैतिक दृष्टि से पतित बनाने में ही अधिक सहायक होते हैं।

इस विडम्बना के उन्मूलन हेतु यह आवश्यक था कि वैदिक ग्रन्थों की पुनर्प्रीति का जाय। अतः स्वामी जी ने अपने शिष्यों को उक्त अनार्ष ग्रन्थों का परित्याग कर आर्ष ग्रन्थों के अध्यापन पर ही अधिक जोर दिया। उनके सम्पर्क और प्रभाव से भारत के कई प्रसिद्ध विद्वान् आर्ष ग्रन्थों के परम भक्त बन गये। दण्डी स्वामी जी शास्त्र ज्ञान के अगाध सागर थे। यद्यपि उनकी पाठशाला में कई स्थानीय और बाहरी छात्र अध्ययन करते थे परन्तु उनकी आकांक्षा थी कि कोई ऐसा

शिष्य मिले जो उनके सिद्धान्तों का प्रचार कर संसार में विशेषकर भारत में एक नयी विचार क्रान्ति करने में सफल हो।

उनकी यह आकांक्षा स्वामी दयानन्द के रूप में पूरी हुई। पराधीनता का कलंक भी प्रज्ञा चक्षु दण्डी स्वामी से अछूता अनदेखा न रहा था। उन्होंने स्वतन्त्रता के बारे में विचार-विमर्श करने हेतु एक सर्वजाति सभा भी आयोजित की थी जिसमें प्रभावशाली निर्णय लिया तथा धर्म और समाज के क्षेत्र में नई क्रान्ति के पृष्ठभूमि निर्माता स्वामी विरजानन्द जी अपनी विभूतियों से देश और समाज को लाभान्वित करते हुए ९० वर्ष जीवित रहे। सन् १८६८ में उनका देहान्त हो गया।

धर्म समन्वयकर्ता— सन्त मलूकदास

समय-समय पर सन्तजनों ने अपनी साधना, आचरण, व्यवहार व वाणी से भारतीय जनमानस को अनुप्राणित किया है। उसके प्रभाव को आज भी भारतीय जनता में देखा जा सकता है। सन्त मलूकदास भी इसी कोटि के सन्त थे। उनका यह दोहा—

अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गये, सबके दाता राम ॥

अपने आप में बहुत गूढ़ार्थ लिए हुए है, पर उसके पीछे छिपी आस्तिकता और ईश्वर विश्वास की प्रामाणिकता के स्थान पर लोग मनचाहे ढंग से उसका यह अर्थ लगाते हैं कि हमें भी अकर्मण्यता को स्वीकार लेना चाहिए। इसमें दोष मलूकदास का नहीं उन लोगों का ही है जो उसका गलत अर्थ लगाते हैं। जो कुछ भी हो इस दोहे के माध्यम से मलूकदास की स्मृति सदियों बाद भी बनी हुई है, पर इसके गूढ़ार्थ पर न जाकर उसके छिछले और विकृत अर्थ के सहारे हम सन्त मलूकदास की जो तस्वीर अपने मस्तिष्क में बना सकते हैं, वे वास्तव में उससे भिन्न थे। उनका जीवन, उनके विचार और उनके दृष्टिकोण बड़े ही उच्च थे। वे मूढ़ परम्पराओं के अन्धभक्त न होकर बड़े प्रगतिशील और क्रान्तिकारी थे।

मलूकदास पर जो साहित्यिक शोध हुई है, उससे उनके सम्बन्ध में, उनके साहित्य और विचारधारा के सम्बन्ध में, जो तथ्य प्रकाश में आये हैं, वे बहुत प्रेरक हैं। सन्त मलूकदास की गणना इस नवीन शोध के आधार पर कबीर, रैदास और दादू जैसे सन्त कवियों के साथ की जा सकती है।

सन्त मलूकदास सन्त तुलसीदास के समकालीन थे। उनका जन्म उसी वर्ष हुआ था जिस वर्ष में तुलसी ने रामचरितमानस की रचना करनी आरम्भ की थी। सम्बत् १६३१ में इलाहाबाद से ३८ मील दूर कड़ा नामक स्थान पर सन्त मलूकदास का जन्म हुआ था। अधिकांश हिन्दी सन्त कवियों के जन्म, शैशव और जीवन सम्बन्धी अन्य जानकारीयों कहीं उल्लिखित नहीं होने के कारण जिस प्रकार विस्मृति के गर्भ में चली गई है वैसा ही सन्त मलूकदास के साथ भी

हुआ। उनके जीवन की मुख्य-मुख्य घटनाओं के बारे में उनके साहित्य से ही थोड़ी-सी जानकारी मिल पाई है।

जीवन की घटनाओं के सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं होने से मलूकदास जी की महत्ता कम नहीं हो जाती। हिन्दी काव्य साहित्य, आध्यात्मिक साधना और लोकमानस के परिष्कारार्थ समुचित मार्ग दर्शन विषयक उनकी देन भारतीय साहित्य, संस्कृति व इतिहास की अमूल्य निधि है।

उनकी संयम, साधना और लोकहित में निरत जीवन यात्रा १०८ वर्ष लम्बी रही। उनके जीवन काल में दिल्ली के तख्त पर चार मुगल बादशाह—अकबर, जहांगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब बैठे। अकबर के बाद मुगल बादशाहों की हिन्दू विरोधी नीति और भारतीय जनमानस में तज्जनित निराशा, असहिष्णुता और धार्मिक विद्वेष पैदा हो गया था उसे मिटाने के लिए सन्त मलूकदास ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति से प्रयास किया। सम्राटों द्वारा फैलाये गये धार्मिक विद्वेष के इस गरल से समाज शरीर को रोगाक्रान्त होने से बचाने के लिए उन्होंने एक कुशल वैद्य की भूमिका सम्पादित की थी।

अकबर के बाद मुगल बादशाहों की नीति हिन्दुओं के प्रति कठोर होती गई और औरंगजेब के समय में तो इस कठोरता की पराकाष्ठा ही हो गई। इन शासकों के धार्मिक अत्याचारों के कारण हिन्दू समाज अत्यन्त पीड़ित हुआ। अनेक धार्मिक आडम्बरो और बहुदेववादी धार्मिक व्यवस्था के कारण एक तो हिन्दुओं का धार्मिक जीवन पहले ही अस्त-व्यस्त था, उस पर मुगल शासकों की धार्मिक संकीर्णतापूर्ण मुस्लिमपरस्त नीति के कारण यह और भी छिन्न-भिन्न हो गया। परस्पर धार्मिक भेदभाव के कारण हिन्दू-मुसलमानों के बीच विरोध उग्र होता चला गया।

ऐसे विषम समय में सन्त मलूकदास ने न केवल हिन्दू-मुसलमानों के बीच सहिष्णुता उपजाने का कार्य किया वरन् उन्हें धर्म के सच्चे स्वरूप का भी ज्ञान कराया। उन्होंने दोनों मतवाल्गमियों को इस सत्य से परिचित कराया कि ईश्वर एक है। ईश्वर एक है तो उसके बेटों का धर्म के नाम पर लड़ना कहाँ तक उचित है? हिन्दू जिसे भगवान् कहते हैं, उसे ही मुसलमान खुदाबन्द-करीम की संज्ञा देते हैं। यह तो मात्र नाम का भेद हुआ। इससे ईश्वर दो नहीं हो जाते। वही एक ईश्वर इस जगत का सृष्टा, पालक और नियन्ता है। उसके नाम पर कोई मस्जिद खड़ी करता है कोई मन्दिर; किन्तु ईश्वर इन्हीं में तो निवास नहीं करता। वह तो सर्वव्यापक है। वे कहते थे—

दास मलूका कहा भरमो तुम, राम रहीम कहावत एके।

इस प्रकार के अपने उपदेशों के माध्यम से इस महान् सन्त ने धार्मिक समन्वय की नीति का प्रचार किया— धार्मिक विद्वेष के फैलते हुए जहर से मानवता को बचाने के लिए।

सन्त मलूकदास की सामाजिक भेदभाव और भिन्नताओं तथा विविधताओं में कोई आस्था नहीं थी। उन्होंने बिना किसी भेदभाव के हर वर्ग के, हर जाति के लोगों को अपना शिष्य बनाया। उनका कहना था कि हर प्राणी को ईश्वर को प्राप्त करने का अधिकार है, चाहे वह किसी भी जाति अथवा समाज का हो।

उन्होंने धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक एकता तथा समता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। सन्त कबीर की तरह ही उन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों के ही आडम्बरों पर करारी चोट करते हुए परम सत्य की शाश्वत दिशा दिखाई।

वह धर्म जो मनुष्य को मनुष्य नहीं बनाता, उसमें दया, ममता, करुणा, सहनशीलता, पर-दुःखकरतरता और आत्मीयता के भाव नहीं उपजाता, वह उनकी दृष्टि में धर्म नहीं था। वे स्पष्ट कहते थे—

**सब कोउ साहब बन्दते, हिन्दू मुसलमान ।
साहब तिनको बन्दता, जिनका ठोर इमान ॥**

मलूकदास अध्यात्म साधना के क्षेत्र में भी पहुँचे हुए सन्त माने जाते थे। उनके जीवन के साथ लोगों ने कई चमत्कारिक किंवदन्तियाँ जोड़ दी हैं। उनकी सच्चाई पर विश्वास सहज ही नहीं होता। पर इतना सत्य है कि जो अपने आपको साध लेता है वह सिद्ध हो जाता है और जो सिद्ध हो जाता है वह ऐसे कार्य सम्पादित कर जाता है जो साधारण मनुष्य के बस के नहीं होते।

उस समय में जब यातायात के साधनों का अभाव था, वे सत्य और शाश्वत सिद्धान्तों के प्रचार के लिए न केवल भारतवर्ष की वर्तमान भौगोलिक सीमाओं में ही घूमे वरन् वे नेपाल और काबुल तक पहुँचे थे। यह भी अपने आप में क्या कम चमत्कार था।

उनकी वाणी की प्रभावोत्पादकता, उनके आध्यात्मिक सम्पदाओं से भरे-पूरे व्यक्तित्व और तथ्यपूर्ण उपदेशों ने समुचित प्रभाव दिखाया। उनके शिष्य हिन्दू भी थे और मुसलमान भी। वे भी बहुत बड़ी संख्या में थे। ऐसे काल में इस प्रकार का कार्य कर दिखाना भी क्या कम चमत्कार की बात थी।

औरंगजेब जैसा कट्टर बादशाह भी उनके व्यक्तित्व और उनकी वाणी का लोहा मान चुका था। औरंगजेब जैसे कट्टरपंथी ने उन्हें कड़ा के पास के आठ गाँव उनके निर्वाह तथा ध्येय पूर्ति के निमित्त अपेक्षित आर्थिक साधन जुटाने के लिए जागीर में दिये थे। इसे भी एक चमत्कार ही कहना चाहिए।

वस्तुतः बाजीगरी और चमत्कार में बहुत बड़ा अन्तर होता है। जो बाजीगर है वह चमत्कारी नहीं हो सकता और जो चमत्कारी है वह बाजीगरी नहीं दिखाता फिरता। सन्त मलूकदास ने समय की हवा के ठीक विपरीत कार्य हाथ में लिया और उसे करके दिखा दिया। यह उनका चमत्कार था।

उस समय लोग धर्म और अध्यात्म के वास्तविक स्वरूप को भुलाकर उसके बाह्य क्रियाकलाप को ही मुख्यता देने लगे थे। उन प्रचलित धारणाओं पर सन्त मलूकदास ने करारी चोट करते हुए कहा है—

**न वह रीझे जप तप कीन्हें, न आतम के जागे ।
न वह रीझे धोती नेती, न वह चरण पखारे ॥
दया करे धर्म मन राखे, घर में रहे उदासी ।
अपना सा दुःख सबका जाने, तहिले अविनाशी ॥
भूखे ही टूक प्यासे ही पानी, यह भगति हरि के मन मानी ।
कहे मलूक आतम लौ लावे, जगनाथ घर बैठे पावे ॥**

उन्हें यह देखकर बड़ा दुःख होता था कि लोग पत्थर की मूर्ति को तो जाने-क्या-क्या समझ कर उसकी पूजा करते रहते हैं लेकिन चलते-फिरते चैतन्य इन्सान के प्रति उन्हें अपना कुछ भी दायित्व समझ में नहीं आता। तभी तो वे कहते थे—

**आतम राम न चिन्हहीं, पूजत फिरे पथान ।
केसहु मुक्ति न होयगी केतिक सुनो पुरान ॥**

धर्म तथा अध्यात्म मात्र मन्दिर में जाकर ईश्वर की पूजा करने, कथा प्रवचन सुनने या व्रत-उपवास करने तक ही सीमित नहीं है। यह बाह्य कर्मकाण्ड तो अपने भीतर के देवता को, भगवान् को जगाने के लिए है। मूर्ति और कथा-प्रवचन आदि तो साधन भर हैं, इन्हें साधन जितना ही महत्व दिया जाना चाहिए— इस बात का उन्होंने खुलकर प्रचार किया।

देखने में आज भी यही आता है। धर्म के नाम पर वही कुछ हो रहा है जो ऊपर बताया जा चुका है। धर्म आज कहने-सुनने भर की बात रह गया है। इसके पीछे मनुष्य को पशु से ऊपर उठाकर और उसके बाद देवता बनाने का जो विधान था, उसकी उस आत्मा को ही बिसार दिया गया है। सन्त मलूकदास ने अपने समय में इस प्रकार की गलत धारणाओं का खण्डन किया था और लोगों को सच्चा मार्ग बताया था।

साहित्य के क्षेत्र में भी सन्त मलूकदास जी की देन अपूर्व है। उन्होंने जिन विशद् ग्रन्थों की रचना की वे साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनके जीवन और उनके कृतित्व पर जो शोध प्रबन्ध लिखे गये हैं— उनसे कई महत्वपूर्ण बातें प्रकाश में आई हैं।

सन्त मलूकदास ने अपने १०८ वर्ष के दीर्घजीवन में मानव समाज की जो सेवा की, अपना सारा जीवन एक महान् ध्येय को समर्पित किया, उसे देखते हुए हमें उनका कृतज्ञ होना चाहिए। जो कार्य उन्होंने आज से चार सौ वर्ष पहले आरम्भ किया था वह अभी भी पूरा नहीं हुआ है। धर्म के सच्चे स्वरूप के दिग्दर्शन और उसमें निहित लोकोपकारी तत्त्वों को समझना, आत्मसात करना और उनका प्रचार-प्रसार करना आज भी आवश्यक है। सन्त मलूकदास के पास उतने साधन भी नहीं थे जितने आज के मनुष्य के पास हैं। उन्हें देखते हुए यह कार्य आज और भी सहज है।

धार्मिक समता के प्रचारक— श्री रामानुज

धर्म का क्या लक्षण है ? इस बात पर सदा से बिगाड़ होता चला आया है। दुनियादार लोग तो भगवान् के नाम थोड़ी पूजा-पाठ कर लेने को ही धर्म का पालन करना समझ लेते हैं और इस 'धर्म' को भी वे इसलिये महत्वपूर्ण समझते हैं जिससे प्रसन्न होकर भगवान् उनको धन-वैभव, स्त्री-पुत्र का भरपूर सुख देवें। पर विचारकों ने 'धर्म' उसे बतलाया जिससे अभ्युदय, नित्रेयस और मुक्ति की प्राप्ति हो।

यह लक्षण अधिकांश में सत्य और स्वार्थपरायण व्यक्तियों के कथन से बहुत ऊँचा है, पर इसमें भी एक मुख्य बात विचारणीय है। हमारे यहाँ के धार्मिक जन इसका आशय व्यक्तिगत शुद्धाचरण, त्याग, तपस्या, साधना को ही मानते हैं। सम्भव है कि इसका पान करने से वे अन्तिम लक्ष्य 'मुक्ति' के अधिकारी बन जाते हों। पर तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर ऐसी व्यक्तिगत मुक्ति मनुष्य का चरम पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता। प्रत्येक मनुष्य को 'अभ्युदय, निश्रेयस, मुक्ति' का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये, पर वह केवल अपने लिये न होकर समस्त समाज के लिये होना चाहिये। कारण यह है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, जन्म से मृत्यु तक उसका निर्वाह अन्य अनेक व्यक्तियों के सहयोग से ही होता है। इसलिये यदि वह समाज जिसमें वह जीवनयापन करता है, उन्नत नहीं बनता, सदगुणों का ग्रहण करना तो उसके अकेले के सुधर जाने से कोई विशेष फल नहीं निकल सकता।

श्री रामानुजाचार्य (आविर्भाव ११वीं शताब्दी) ने इस तथ्य को भली प्रकार समझ लिया था और इसलिये जन्म से बहुत उच्च ब्राह्मण होते हुए भी वे चरित्र और कर्तव्यपालन को ही सर्वाधिक महत्त्व देते रहे, चाहे वह किसी जाति के व्यक्ति में क्यों न पाया जाता हो। उनमें इस प्रवृत्ति के चिह्न छोटी अवस्था से ही पाये जाते थे। जब वे अपनी पितृभूमि पेरुबुधेरम् (मद्रास) रहते थे तो उनकी भेंट एक दिन 'कांचीपूर्ण स्वामी' नामक वैष्णव संन्यासी से हो गई। वे उनकी त्यागवृत्ति को देखकर घर लिवा लाये और आदरपूर्वक भोजन कराया। भोजन के पश्चात् जब कांचीपूर्ण बाहर बरामदे में जाकर विभ्राम करने लगे तो रामानुज उनके पैर दबाने को पहुँचे। पर कांचीपूर्ण ने उनको यह कह कर रोक दिया कि तुम ब्राह्मण हो और मैं शूद्र वर्ण का हूँ, इसलिये तुमको मेरे पैर नहीं छूने चाहिये। इस प्रकार रामानुज को बड़ा दुःख हुआ और कहने लगे— 'यह मेरा अभाय ही है जो आप जैसे सर्वस्व त्यागी महात्माओं की सेवा मैं नहीं कर सकता। जनेऊ पहन लेने से ही कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता। सच्चे भक्त ही वास्तविक ब्राह्मण हैं।'।

रामानुज को विद्याध्ययन से असाधारण प्रेम था। अनेक महापुरुषों की तरह उनकी भी विद्याध्ययन की भारी रुचि थी। जन्म भूमि में पढ़ाई पूरी कर लेने के बाद वे कांची चले आये जो दक्षिण भारत में विद्या का केन्द्र माना जाता था। वहाँ पर वे अध्ययन करने लगे। बाद में उन्होंने घर रहकर ही अपने आप शास्त्रों का अध्ययन, मनन किया।

उस समय वैष्णव सम्प्रदाय का केन्द्र स्थान श्रीरंगम् था, जहाँ यामुनाचार्य जी महन्त की गद्दी पर विराजमान थे। रामानुज की विद्वता और उच्च विचारों से अवगत होने पर उन्होंने निश्चय किया कि श्रीरंगम् की गद्दी पर वे ही बिठाये जायें। इसके लिये उन्होंने अपने एक प्रमुख शिष्य को रामानुज को बुलाने भेजा। पर जिस समय वे श्रीरंगम् पहुँचे यामुनाचार्य का देहावसान हो चुका था। इससे वे बिना जरा भी ठहरे

कांची वापस चले आये। कुछ समय बाद एक योग्य नेता की आवश्यकता समझ कर श्रीरंगम् के वैष्णवों ने फिर एक दूत भेजा। अब वे कर्तव्य की पुकार को अधिक अनसुनी न कर सके और उन्होंने श्रीरंगम् जाकर महन्त की गद्दी का कार्य सँभाल लिया। पर इस उच्च पदवी पर पहुँच कर भी उन्होंने मन्दिर की आय में से अपने लिये कुछ खर्च करना अनुचित समझा, वह सब मन्दिर की व्यवस्था में ही खर्च की जाती थी और रामानुज एक साधु की तरह भिक्षा लेकर ही निर्वाह करते थे। रुपये-पैसे के सम्बन्ध में वे आजन्म ऐसे ही निस्पृह बने रहे।

रामानुज के जीवन का उद्देश्य परोपकार और दूसरों की कल्याण-भावना ही था। वैष्णव सम्प्रदाय के एक मन्त्र का रहस्य जानने के लिये वे यामुनाचार्य के एक वृद्ध शिष्य गोष्ठीपूर्ण स्वामी के पास गये। उन्होंने १८ बार रामानुज की प्रार्थना को टाल दिया। जब उन्होंने १९वीं बार वही प्रार्थना की तो वे इस शर्त पर मन्त्र का रहस्य बतलाने को राजी हुए कि वह किसी अनधिकारी व्यक्ति को कभी न बतलाया जाय।

'गोष्ठीपूर्ण स्वामी' से मन्त्र दीक्षा लेकर वे अपने निवास स्थान को लौटे। रास्ते में नृसिंह स्वामी का मन्दिर मिला जहाँ पर उस दिन मेले के कारण वैष्णवों की अपार भीड़ थी। उस समुदाय को देखकर रामानुज से न रहा गया और उन्होंने जोर-जोर से उस मन्त्र को दुहरा कर सब लोगों को उसे अच्छी तरह सुना दिया। यह समाचार जानकर 'गोष्ठीपूर्ण स्वामी' बहुत नाराज हुए और रामानुज को बुलाकर कहा— 'क्या तुम्हें मालूम है कि गुरु की आज्ञा न मानने का क्या फल होता है ?'

रामानुज ने हाथ जोड़ कर कहा— 'हाँ गुरुदेव मैं जानता हूँ कि ऐसा आचरण करने पर दस हजार वर्ष तक नर्क में रहना पड़ता है।'।

गोष्ठीपूर्ण ने पूछा— 'तब तुमने मेरी आज्ञा के विरुद्ध उस मन्त्र को उन लोगों को क्यों बतलाया ?'

रामानुज ने उत्तर दिया— 'भगवन् ! मैं अपना अपराध स्वीकार करता हूँ। पर आपने ही मुझे बतलाया था कि इस मन्त्र के सभी सुनने वाले स्वर्ग जायेंगे। इतने लोगों को वहाँ इकट्ठे देखकर मेरे मन में यह भाव उठा कि मन्त्र को सुनकर उन सब लोगों को स्वर्ग प्राप्त हो, चाहे मुझे नरक में ही क्यों न जाना पड़े। मेरे इस अपराध के लिए आप जो कुछ दण्ड देंगे उसे मैं भोगने को तैयार हूँ।'।

रामानुज के उत्तर से गोष्ठीपूर्ण शांत हो गये और रामानुज को गले लगा कर कहने लगे— तुम्हीं मेरे गुरु हो। यही सच्चे वैष्णव का कर्तव्य है।

इसी प्रकार उनके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि अधिक अवस्था हो जाने पर नदी स्नान के लिये जाते समय किसी ब्राह्मण शिष्य का सहारा लेकर घाट तक जाते थे, पर वहाँ से लौटते समय एक शूद्र का सहारा ले लेते थे। लोगों ने इसे ठीक न बतलाकर कारण पूछा उन्होंने कहा कि— मेरे भीतर अपनी शुद्धता अथवा श्रेष्ठता का अहंकार न जग जाय, इसलिये मैं शूद्र का सहारा लेकर चलता हूँ। भगवान् की निगाह में कोई नीच नहीं है।

रामानुज ने अपने समुदाय में जिस धार्मिक-समता का प्रचार किया और दीन-दुःखियों की सेवा को धर्म का सर्वोच्च लक्षण बतलाया उसी का परिणाम है कि आज भी वैष्णवों में लुआछूत और ऊँच-नीच की भावना अपेक्षाकृत कम है। जो धर्म लोगों में भेदभाव की दीवारों को ऊँचा करता है उसे श्रेष्ठ मानना भूल है। धर्म वही है जो मानव मात्र के उत्थान का मार्ग प्रशस्त कर सके।

कहाँ जाऊँ ?

पाठ समाप्त हुआ। आचार्य रामानुज प्रदक्षिणा के लिये उठे ही थे कि सामने से चाण्डाल आ गया। उसे देखते ही आचार्य श्री क्रुद्ध हो उठे और गरजकर बोले— शठ ! आगे से हट जा, रास्ते को अपवित्र न कर। चाण्डाल ठिठक गया। लौटना चाहा पर किसी अज्ञात शक्ति ने उसे रोक दिया। हाथ जोड़कर उसने विनयपूर्वक पूछा— भगवान् अभी चला जाता हूँ किन्तु आप यह बताइये जाऊँ किधर ? मेरे चारों ओर पवित्रता बिखरी पड़ी है फिर मैं अपवित्र कहाँ जाऊँ ? रामानुज की आँखों से अज्ञान का पर्दा गिर गया। चाण्डाल सब ओर पवित्रता के ही दर्शन करता है और मैं भगवान् का भक्त होकर भी अपने मन का मल भी नहीं साफ कर सका ?

रामानुज ने हाथ जोड़कर कहा— क्षमा करो तात ! आज तो तुमने मेरी आँखें खोल दीं। तुमने तो मुझे भी पवित्र कर दिया।

ब्रह्मराक्षस क्यों बना ?

कांची नरेश की राजकुमारी प्रेत बाधा से पीड़ित हुई। भूत सामान्य नहीं, ब्रह्मराक्षस था। तब श्री रामानुजाचार्य बुलाये गये। उन्होंने वहाँ जाकर पूछा— “आपको यह योनि क्यों कर मिली।” रोककर ब्रह्मराक्षस बोला— “मैं विद्वान् था, किन्तु मैंने अपनी विद्या छिपा रखी। किसी को भी मैंने विद्या दान नहीं किया, इससे ब्रह्म-राक्षस हुआ। आप समर्थ हैं, मुझे इस प्रेतत्व से मुक्ति दिलाइये।” श्री रामानुज ने राजकुमारी के मस्तक पर हाथ रखकर जैसे ही भगवान् का स्मरण किया, वैसे ही ब्रह्मराक्षस ने उसे छोड़ दिया, क्योंकि वह स्वयं प्रेतयोनि से मुक्त हो गया। उस दिन से श्री रामानुज ने प्रतिज्ञा की कि वह स्वाध्याय का लाभ अपने समाज को भी देते रहेंगे।

धर्म का तत्त्वज्ञान समझाने वाले— सन्त वसवेश्वर

धर्म का वास्तविक प्रयोजन है जन-साधारण को कर्तव्य और विवेक का अवलम्बन लेकर परिष्कृत जीवन जीने के लिये तत्पर करना। इसी के लिए भक्ति भाव से लेकर विविध-विधि-कर्मकांडों की अनेकों क्रिया-प्रक्रियाएँ, व्यवस्थाएँ तत्त्वदर्शियों ने विनिर्मित की हैं।

जन मानस का दुलमुलपन ही कहना चाहिये कि लोग तथ्य को भूल जाते हैं और आवरण को पकड़ बैठते हैं। प्राण की उपेक्षा करते

हैं और कलेवर को पूजते हैं। धर्म के बारे में यही होता रहा है लोग विधि विधानों को ही सब कुछ मानने लगते हैं और यह नहीं सोचते हैं कि इनका सृजन किया किस प्रयोजन के लिये गया था। कर्मकाण्डों को ही लक्ष्यपूर्ति का आधार मान लेते हैं। क्रिया मुख्य हो जाती है और भावना गौण। धर्म अन्धविश्वास भर रह जाता है। कर्तव्यहीन व्यक्ति तथाकथित धर्म-कृत्यों को ही सब कुछ मान लेते हैं। परिणाम यह होता है कि लोग आदर्शवादी तथ्य अपनाने के कष्टकर कार्य को व्यर्थ कहकर निरर्थक समझने लगते हैं। जब सस्ते में ही अभीष्ट लाभ होता हो तो कोई महंगे रास्ते पर क्यों चले।

इसी धर्म-विकृति का समाधान करने के लिये समय-समय पर तत्त्वदर्शी ऋषि मनीषी अवतरित होते हैं और विडम्बनाओं का निराकरण करके जनसाधारण को यथार्थता से अवगत कराते हैं ताकि धर्म का मूल-भूत प्रयोजन जीवित बना रहे और वह अपनी उपयोगिता अधुण बनाए रख सकें।

कर्नाटक के महान् सन्त वसवेश्वर इसी स्तर के धर्म-संशोधकों में एक हुए हैं। शुद्ध नाम उनका वृषभेश्वर था पर कर्नाटक की उच्चारण प्रक्रिया के अनुसार वह शब्द वसवेश्वर बन गया और वे उसी नाम से प्रख्यात भी हो गये। वे दक्षिण भारत के बीजापुर नगर से २५ मील दूर ‘वससन बागेबाड़ी’ नामक ग्राम में सन् ११२५ में जन्मे थे।

उन दिनों उस क्षेत्र में बहु देवी-देवतावाद फैला पड़ा था। धर्म के नाम पर अगणित कुरीतियाँ चल पड़ी थी। ढोंग, पाखण्ड से बुरी तरह धर्म-क्षेत्र को आच्छादित करके उसे अनुपयोगी ही नहीं अवांछनीय भी बना दिया था। यह उनसे सन्न न हो सका। उन्होंने निश्चय किया कि वे अपना जीवन धर्म का परिष्कृत रूप प्रस्तुत करने और उसे प्रतिपादित करने के लिए ही समर्पित करेंगे।

इसके लिये विद्याध्ययन आवश्यक था। उन्होंने कृष्णा और माला सरिताओं के संगम पर अवस्थित ऋषि जठवेद के आश्रम में जाकर शास्त्रों का प्रगाढ़ अध्ययन किया और साधनानिरत रहकर आत्मबल बढ़ाया। वाणी की मधुरता, चरित्रनिष्ठा, निरहंकारिता, कर्मठता, निर्लोभता जैसे संतगुणों का जब समुचित विकास हो गया तो उनके गुरु ने उन्हें धर्मोपदेशक का कार्य कर सकने योग्य घोषित किया और भ्रमण करके धर्मोद्धार में निरत रहने का आदेश दे दिया। गुरु का आश्रम छोड़कर वे धर्म-प्रचार के लिये चल पड़े। उन्होंने व्याख्यान शैली नहीं अपनाई वरन् सुकरात की तरह प्रश्नोत्तर करके विचार-विमर्श और मंत्रणा करने का क्रम अपनाकर चले। फलस्वरूप उनके सम्पर्क में आने वाले सच्चे धर्मपरायण बनते चले गये। यह संख्या इतनी बढ़ी कि उनका समूह एक धर्म-सम्प्रदाय ही बनता चला गया। पीछे यह सम्प्रदाय ‘लिंगायत’ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दक्षिण भारत में यह सम्प्रदाय बहुत बड़ी संख्या के जनसमूह द्वारा अपनाया गया है। आज उस मान्यता के व्यक्ति लाखों की संख्या में हैं। इस विस्तार का कारण केवल धर्म-प्रेरणा ही नहीं उनके व्यक्तित्व की, सद्गुणों और उच्च जीवन नीति अपनाने की महानता भी थी।

उन्होंने प्रधानतया कर्मयोग का प्रतिपादन किया। भक्ति और ज्ञान के दर्शन को कर्म-निष्ठा के बिना अधूरा और अपूर्ण बताया। उनका कहना था कि जो व्यक्ति अपने वैयक्तिक और सामाजिक कर्तव्यों का पालन निष्ठापूर्वक करता है वही सच्चा धर्मपरायण है। वे पूजा-पाठ द्वारा पाप फल न मिलने का बहकावा नहीं देते थे वरन् यह कहते थे कि जो धर्म-प्रेमी है उसे पाप से घृणा करनी चाहिये, और अवांछनीय गतिविधियों का सर्वथा त्याग करना चाहिये, उसके लिये भले ही अभावग्रस्त या कष्टसाध्य जीवन क्यों न जीना पड़े। बाहर से वे धर्म-गुरुधर्म संस्थापक जैसे लगते थे, पर उनका लक्ष्य और प्रतिपादन देखकर उन्हें नीति-शिक्षक, समाज-निर्माता ही ठहराया जा सकता था।

आध्यात्मिक विशेषताओं से भरापूर उनका व्यक्तित्व ऐसा प्रभावशील, आकर्षक और सिद्धि-सम्पन्न बन गया कि सर्वसाधारण द्वारा उसे अलौकिक समझा गया। वे सिद्ध पुरुष माने जाते थे। उनके कहे हुए वचन और दिये हुए आशीर्वाद प्रायः सफल सार्थक ही होते थे। इस प्रकार का उनका चरित्र-चित्रण तेलगू के महाकवि पाल कुरिकी द्वारा लिखित 'वासवपुराण' में विस्तारपूर्वक किया गया है। इस ग्रन्थ में उस महान् विभूति के मूल मन्तव्यों और क्रियाकलापों का तात्त्विक विवेचन किया गया है। उसे पढ़कर यह भली-भाँति समझा जा सकता है कि उनकी जीवन-साधना किस महान् प्रयोजन के लिये नियोजित रही।

शैवमत के लिंगायत सम्प्रदाय को इन्होंने एकेश्वरवाद पर केन्द्रित किया। संकीर्ण जाति-पाँति को अधार्मिक घोषित करते हुए मानव-मात्र की एकता समता को सही बताया। विश्व-प्रेम और सेवा-साधना को स्वर्ग, मुक्ति का आधार भूत साधना सिद्ध किया। उन्होंने बताया ईश्वर की प्राप्ति उच्च-चरित्र, उदार-प्रकृति, परमार्थ-परायणता पर निर्भर है। केवल पूजा-प्रार्थना के आधार पर भगवान् का अनुग्रह नहीं प्राप्त किया जा सकता।

सन्त वसवेश्वर को सामाजिक क्रान्ति का ध्वजवाहक भी कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति न होगी। उन दिनों दक्षिण भारत में ऊँच-नीच, छूत-छात का पूरी तरह बोलबाला था। अहंकारी सवर्ण वंश-परम्परा के आधार पर अपनी श्रेष्ठता ही नहीं बताते थे, दूसरे लोगों को अछूत-अंत्यज बताकर उनके साथ हेय और तिरस्कृत व्यवहार करने में अपनी गरिमा भी समझते थे। ऐसे समय में इस ऊँच-नीच को अधर्म ठहराना कितना कठिन और कितना जोखिम भरा था। यह जानते हुए भी इन्होंने सामाजिक कार्या-कल्प का संकल्प लिया और सवर्णों के कोपभाजन रहते हुए भी अपना मिशन आगे बढ़ाया।

समाज में अन्धविश्वासों का बाहुल्य था। बरसाती उद्भिजों की तरह फैले पड़े देवी-देवताओं, भूत-पत्नीतों की आड़ में ओझा, झाड़-फूँक वालों का आतंक छाया हुआ था। लोग बहुत-सा धन और समय इसी आतंक से भयभीत होकर बर्बाद करते थे। धूर्तों की पाँचों अँगुलियाँ घी में रहती थीं। भोली-भाली जनता बेतरह उगी जाती थी। मनक्षेत्र में भीरुता और जड़ता की जड़ें गहराई तक घुस जाने से अनेक प्रकार की सामाजिक और नैतिक कुरीतियों का जाल-जंजाल

बुरी तरह फैल गया था। उसमें जकड़ी हुई जनता अवांछनीय जीवन जी रही थी।

इन विकृतियों के विरुद्ध सन्त वसवेश्वर विद्रोह का झंडा लेकर आगे बढ़े और असम्भव दिखने वाले कार्य को सम्भव कर दिखाया, उन्होंने युक्तियों से काम लिया। काँटे से काँटा निकाला। चमत्कारों पर विश्वास करने वाली जनता को अपनी चमत्कारी विशेषताओं से प्रभावित करके अवांछनीय मान्यता और गतिविधियाँ छोड़ने तथा विवेकशीलता का मार्ग अपनाने के लिए सहमत, तत्पर बना दिया। उनकी नीति इतनी सफल रही कि तत्कालीन विचारशील लोगों द्वारा उन्हें 'भगवान' कहा जाने लगा और उन्हें संत नहीं भगवान् भी समझा जाने लगा। अब भी लिंगायत सम्प्रदाय के लोग उन्हें भगवान् की तरह श्रद्धा और भक्ति के साथ नमन करते हैं।

केवल पूजा-पाठ और जप-तप तक सीमित एककी और व्यक्तिवादी तथाकथित सम्प्रदायवादियों के लिये सन्त वसवेश्वर का जीवनक्रम आदर्श के रूप में प्रस्तुत है और प्रकाश प्रेरणा से भरी दिशा दे रहा है।

संत वसवेश्वर के जीवन से जुड़े कुछ महत्त्वपूर्ण घटना प्रसंग इस प्रकार हैं—

एक दिन भगवान् की सामूहिक उपासना का आयोजन किया गया। अधिष्ठाता वसवेश्वर स्वयं थे। व्यक्तित्व उनका साधारण नहीं आसाधारण था। उस पूजा मंडली में नीची जाति के लोग भी सम्मिलित थे और अक्क महादेवी, बिज्जत्वा तथा नीलम्मा आदि विदुषी देवियाँ भी सम्मिलित थीं। कीर्तन पूजन भावनाशील वातावरण में सम्पन्न हुआ। इसके बाद सन्त का प्रवचन प्रारम्भ हुआ, उस दिन "कर्म ही परमात्मा की सच्ची पूजा है और ईश्वर आराधना का अधिकार प्राणिमात्र को है" इन दो विषयों पर सन्त को भाषण देना था।

पता न चला गाँव के प्रतिक्रियावादी उच्च वर्ण लोगों में कब कानाफूसी हुई और कब संगठित विरोध का वातावरण तैयार हो गया। वे अभी प्रवचन प्रारम्भ कर ही रहे थे कि बीच में खड़े होकर किसी अभद्र व्यक्ति ने उग्र होकर कहा— 'आपने स्त्रियों और नीच वर्ण के लोगों को सभा में स्थान दिया है। इसे हम भ्रष्ट मानते हैं और विरोध करते हैं।' "

ऐसी आवाजें चारों ओर से आईं, विरोध उग्र हो उठा तो जिस तरह जल की टंडी बूँदें अग्नि पर छीटें मारती हैं उसी प्रकार वसवेश्वर विनम्र वाणी में बोले— उपासना का सम्बन्ध भाइयो ! मन, हृदय और अन्तःकरण से है। किसी की अन्तरात्मा ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य, शूद्र होती हो तो बताइये। "

"आत्मा विशुद्ध तत्त्व-स्वरूप है। अनन्त, अजन्मा, अखण्ड, अभेद, अनाम, अरूप आत्मा ही विभिन्न शरीरों में व्याप्त है। शारीरिक बन्धनों से विमुक्त होकर आत्मस्वरूप में रमण करने का अधिकार किसी को हो, किसी को न हो यह न तो मानव धर्म है और न शास्त्रानुमोदित है।" भला विरोधी लोग उसका क्या जवाब दे पाते। तो भी गड़बड़ी में उस दिन का अनुष्ठान विधिवत् सम्पन्न न हो पाया।

तरुण-साधक का हृदय अधीर हो उठा। उन्होंने विचार किया हम जिस समाज में रहते हैं, उसमें सामाजिक समानता न होना मनुष्य जाति पर कलंक ही है उसे मिटाने के लिये मेरा शरीर भी लग जाये तो कुछ हर्ज नहीं।

उस दिन की निराशा मिटाने के लिए और सामाजिक चुनौतियों के प्रति प्रबल संघर्ष के लिए तप की आवश्यकता अनुभव हुई। ऐसी परिस्थितियों में जहाँ साधारण लोग निराश होकर चुप हो बैठते हैं वहाँ उत्कृष्ट और तेजस्वी आत्मायें प्रौढ़ पथ अपनाती हैं। वही वसवेश्वर ने भी किया। उन्होंने कुछ दिन के लिये घर का परित्याग कर दिया। एकान्त साधना और शास्त्र के अध्ययन, चिन्तन द्वारा आत्मशक्ति संचयन किया। कृष्णा नदी के तट पर संगम क्षेत्र में आपने जातवेदन मुनि से आध्यात्मिक शिक्षा ग्रहण की। इससे उनकी आत्मा, बुद्धि और आध्यात्मिक संस्कार और भी सशक्त हुए।

गुरु की इच्छा थी वसवेश्वर गहन साधना द्वारा समाधि-स्थिति को प्राप्त करे। शिष्य की क्रमना वर्तमान योग्यता का लाभ समाज को ऊँचे उठाने में लगाने के लिए हो रही थी। उन दिनों सामाजिक जीवन में बड़ी अस्थिरता थी। भक्ति-साधना न रहकर अन्ध-श्रद्धा के रूप में प्रचलित थी। कर्मवाद से बचा जा रहा था लोग घर-बार छोड़ कर संन्यास ग्रहण करने और संसार को मिथ्या मानने को ही असली अध्यात्म मानते थे। वसवेश्वर चाहते तो योग साधना में लग गये होते, पर उनके नवनीत हृदय ने पुकारा—“वसवेश्वर—तुम्हारी हिन्दू संस्कृति जर्जरित होती जा रही है, समाज अपने आप में ही विखिलित होकर टूट रहा है। धार्मिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, पारिवारिक व्यवस्थाएँ और मर्यादाएँ नष्ट होती जा रही हैं, क्या अपने जातीय स्वाभिमान, धार्मिक गौरव की रक्षा करना पुण्य और आत्म-कल्याण नहीं। मेरी जाति, मेरा धर्म और मेरे देश का कल्याण ही आत्मकल्याण है और मुझे अपना जीवन उसी में लगाना चाहिये।”

समाज-सेवा को सर्वोपरि मानकर वसवेश्वर ने गुरु आश्रम छोड़ दिया और प्रजा में भक्ति और कर्मयोग का प्रसार करने लगे। बसव कहते थे—भक्ति सरल नहीं है, उसकी पूर्णता और सार्थकता के लिए मनुष्य का वैयक्तिक और सामाजिक आचरण शुद्ध, सच्चरित्र, ईमानदार, नेक और पवित्र होना चाहिए। मनुष्य अपने परिवार और सामाजिक उत्तरदायित्वों का समुचित पालन किये बिना आत्म-कल्याण की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। संसार को छोड़कर मोक्ष पद की कल्पना की ही नहीं जा सकती।

पर एक दिन उन्होंने अपने आपको भी अभी तक इस सिद्धान्त से अव्यवहार्य पाया, क्योंकि उन्हें आजीविका के लिये परवलम्बी रहना पड़ता था। वाचिक सन्देश तो दिया करते थे, पर स्वयं गृहस्थ में प्रविष्ट नहीं हुए थे, इसलिए उन्हें अपना ही कथन अधूरा लगा करता था।

उन्होंने तब अपने परिश्रम से काम करने और कर्मवाद को व्यावहारिक जीवन में ढालने का दृढ़ निश्चय किया। इसी विचार से

वे कल्याण की ओर चल पड़े। राज-दरबार में वह राजकीय पत्र लेखक के रूप में काम करने लगे। अब उनके सिद्धान्तों के चरितार्थ होने का असली समय था।

राज्य कर्मचारी के रूप में उनके सामने अनेक प्रलोभन आये, आलस्य, भोग और सामन्तशाही के विचार और परिस्थितियों की बिजली मस्तिष्क में कौंधी पर तटस्थ योगी की भाँति वसवेश्वर पूर्ण योग्यता, सच्चरित्रता, कर्तव्य-परायणता और प्रामाणिकता से काम करते रहे। “योगः कर्मसुकौशलम्” कर्म में दत्तचित्तता, कुशलता और परमात्मा के प्रति भावनात्मक समर्पण रखना ही सच्चा कर्मयोग है, उसे वसवेश्वर पूर्ण निष्काम भाव से निभाते रहे।

ईमानदारी, सच्चरित्रता, दृढ़ता और परिश्रमशीलता जहाँ है, सुख-वैभव, साधन, सुविधायें भी वहाँ अनायास ही जुटती चली जाती हैं। कल्याण की मंत्रिपुत्री गंगाम्बिका के साथ उनका पवित्र ग्रन्थि-बन्धन हुआ। उनकी योगनिष्ठ कर्तव्य भावना से प्रभावित होकर कल्याण-नरेश दिज्जल ने सम्मानपूर्वक उन्हें अपना मन्त्री नियुक्त किया। इस तरह उन्हें भारतीय अध्यात्म की उपयोगिता और व्यावहारिकता को और भी प्रभावशाली ढंग से प्रसारित करने का अवसर मिला।

बसव अपने राजकीय कार्यों से बचा हुआ समय समाज, हिन्दू धर्म और संस्कृति के प्रसार में लगाने लगे। धर्म-प्रचार और आध्यात्मिक मार्गदर्शन के लिए ‘अनुभव मंडल’ की स्थापना की और स्वयं भी स्थान-स्थान पर घूमकर पशु-बलि, जाति-भेद, अन्ध-विश्वास और दाम्भिकता पर प्रहार करने लगे। उनका मुख्य उद्देश्य जनता के जीवन में ज्ञान और सन्मार्ग का प्रवाह जाग्रत करना था, उसके लिये उन्होंने मन्त्री होते हुए भी एक छोटे से कर्मचारी की भाँति काम किया। यही कारण था कि उस समय बौद्ध और जैन धर्म का बढ़ता हुआ प्रभाव रुक गया और हिन्दू धर्म का शुद्ध स्वरूप लोगों की निगाह के सामने आया। जाति-पाँति के भेद-भाव शिथिल हुए। स्त्रियों को धर्माचरण के लिए समान अधिकार मिले। कन्नड़ भाषा में उन्होंने हिन्दू धर्म के सन्देश प्रसारित कर उसे सर्व-साधारण के लिये सुलभ और सरल बना दिया। “कामकवे कैलासऽ” — अर्थात् — कर्म ही ईश्वर की सच्ची पूजा है, उनका यह जीवन मन्त्र अधिकांश लोगों का जीवन मन्त्र बना।

परम्परागत धार्मिक प्रथाओं और विधि-विधानों के प्रति संघर्ष कर हिन्दू धर्म को संगठित करने में उन्होंने अभूतपूर्व साधना की। उसी का यह प्रतिफल था कि भारतीय संस्कृति की मुरुझाई बैलि पुनः हरी हो चली उसे एक नया जीवन और नया प्रकाश मिला।

वसवेश्वर का जन्म कर्नाटक के बीजापुर जिले में ग्राम बागेवाड़ी में हुआ था। उनके पिता मादरास बड़े धार्मिक व्यक्ति थे। माता मदलाम्बिका आदर्श और श्रद्धालु नारी थीं। माता-पिता के भावनात्मक संस्कारों ने ही बच्चे को सन्त बनाया। अपने महान् त्याग, तप, साधना, श्रम और लगन से भारतीय धर्म को ऊँचे उठा कर उन्होंने न केवल कर्नाटक वरन् सारे भारतवर्ष को गौरवान्वित किया। उनके इस उत्सर्ग को भुलाया नहीं जा सकता। उसे तो अब नया रूप लेने का अवसर आ गया है।

ऋषि परम्परा निभाने वाले— महात्मा 'लिखित'

ऋषि 'लिखित' अपने बड़े भाई के आश्रम की ओर चल पड़े। दीर्घकाल तक एक स्थान पर साधना करते-करते एक दिन उन्हें भाई के पास जाने की इच्छा हो आई थी। उनका उद्देश्य भाई के पास जाकर उनके आश्रम में विश्राम करने का नहीं था। उनके अग्रज आयु में ही बड़े नहीं थे, तप और ज्ञान में भी श्रेष्ठ थे। उन्हीं के निर्देशन के अनुसार 'लिखित' अपनी साधना चला रहे थे। समय-समय पर यह भाई के पास जाकर प्रेरणा तथा मार्गदर्शन प्राप्त किया करते थे।

नदी के किनारे भाई के सुन्दर आश्रम में लिखित ऋषि पहुँचे। भाई को प्रणाम किया। भाई ने आशीर्वाद दिया—स्नेह से पास बिठाकर कुशल क्षेम तथा साधना की प्रगति पूछी। फिर स्नेहसिक्त स्वर में कुछ दिनों आश्रम में ही रुकने का आग्रह किया। लिखित को विशेष प्रसन्नता हुई। भाई के सान्निध्य में उन्हें बड़ा सुख मिलता था। साधना के निर्देशों के साथ उन्हें बहुधा जाने की आज्ञा भी तुरन्त मिल जाया करती थी। मार्गदर्शक भाई के आदेश का पालन वह परम कर्तव्य मानते थे। अस्तु, कभी अपनी रुकने की इच्छा भी व्यक्त नहीं किया करते थे। आज जब भाई द्वारा स्वयं कुछ दिन रुकने का आग्रह किया गया तो उन्हें मुँह-माँगा वरदान ही मिल गया।

दोनों भाई स्वर्गीय सुख का अनुभव करते हुए एक साथ रह रहे थे। साधना, उपासना, स्वाध्याय, सत्संग आश्रम व्यवस्था आदि के व्यस्त कार्यक्रम के बीच समय बीतता प्रतीत ही नहीं होता था। एक दिन लिखित ऋषि आश्रम के उपवन में टहल रहे थे। भाई के श्रमपोषित वृक्षों को देखकर आह्लादित हो रहे थे। अचानक उन्हें भूख का अनुभव हुआ। भाई की खोज में दृष्टि दौड़ाई किन्तु वह दीखे नहीं। अस्तु उन्होंने फल तोड़कर खा लिये। थोड़ी देर बाद ही भाई के आने पर उन्होंने भूख लगने तथा फल खाकर उसे शान्त करने की बात सामान्य ढंग से कह दी। भाई ने सुना तो गम्भीर हो गये, बोले “अनुज ! मेरे तुम्हारे में कोई भेद नहीं है। किन्तु बिना पूर्व अनुमति के इस प्रकार फल खा लेना तुम्हारी अस्तेय साधना के विपरीत है। तुम्हारी साधना में विघ्न आ गया।”

'लिखित' ऋषि स्तब्ध रह गये। भाई का तर्क सुनकर नहीं, “अपनी विचारहीनता को स्मरण करके।” इतनी सामान्य बात पहले ही मस्तिष्क में क्यों नहीं आई ? किन्तु अब तो भूल हो ही चुकी थी। साधना में खण्डन ऋषि के लिये यह कल्पना ही कष्टकर थी। भाई से भूल के परिहार हेतु अनुशासन माँगा। सन्तुलित उत्तर मिला “तुम्हें नियमानुसार अपराधी की भाँति राजदण्ड मिलना चाहिए।” लिखित ऋषि का चित्त हलका हुआ। दोष-परिहार का विधान सामर्थ्य के बाहर नहीं था। जहाँ दोषों को स्वीकार न करने तथा उसकी प्रतिक्रिया से बचने का प्रयास करने की वृत्ति पनपने लगती है, वहाँ प्रगति रुक जाती है। यह सत्य वह भली-भाँति जानते थे। अस्तु किंचित मात्र भी विलम्ब किये बिना उन्होंने भूलवश हुए अपराध के दोष निवारण

का प्रयास किया। वे राजदरबार में अपराध का दण्ड पाने के लिये पहुँचे।

दरबार में ऋषि के अचानक पहुँचते ही सभासद आसन छोड़कर खड़े हो गये। महाराज ने आगे बढ़कर प्रणाम किया तथा स्वागत सत्कार करके कुशल पूछी। फिर नम्रतापूर्वक इस प्रकार अप्रत्याशित रूप से पहुँचने का कारण पूछा। ऋषि द्वारा कारण बतलाये जाने पर राजा तथा सभासद चौंक पड़े। ऋषि को दण्ड ? वह भी चोरी का। राजा ने कहा—“महात्मन परस्पर स्नेह से रहने वाले भाइयों में एक-दूसरे की वस्तुओं का उपभोग किया जाना स्वाभाविक है। बिना पूछे फल तोड़कर खा लेना चोरी नहीं है जिसके कारण दण्ड दिया जावे।”

ऋषि की भ्रुकुटी तन गई। भावभंगिमा में परिवर्तन देख राजा सहम गये—कुछ समझ न सकने के कारण मौन खड़े रहे। ऋषि की गम्भीर वाणी निकली “राजन ! अनधिकार चेष्टा मत करो। सीमा से बाहर निर्णय लेने का प्रयास अहितकर होता है।” सारा दरबार स्तब्ध था। राजा ने पुनः प्रश्नवाचक दृष्टि से ऋषि की ओर देखा यह समझ न सके थे उनसे कहा सीमा का उल्लंघन हो गया। ऋषि उनकी दृष्टि समझ गये। स्वर में थोड़ा स्नेह प्रकट करते हुए कहा—“राजन् ! वर्णाश्रम व्यवस्था भूल गये ? किस कार्य को उचित किसको अनुचित कहा जाये यह निर्णय ऋषि-ब्राह्मण किया करते हैं। राजा का कार्य तो अनुचित घोषित किये जाने वाले कार्यों का वर्गीकरण करके उन पर दण्ड विधान बनाना है। मेरी साधना के स्तर के अनुसार मेरा कार्य चोरी घोषित किया जा चुका है। अब आप उसमें अपना निर्णय लगाने का प्रयास न करें। चोरी के अपराधी को क्या दण्ड दिया जाये यह निर्णय करना आपको उचित है।”

राजा एवं सभासदों ने ऋषि का उद्बोधन सुना और उनके कहे का औचित्य स्वीकार किया। परन्तु राजा अभी भी सहमे हुए खड़े थे। उनके दण्ड विधान में चोर के हाथ काटे जाने की व्यवस्था थी। यह दण्ड ऋषि को कैसे दें। ऋषि लिखित ने राजा की दुविधा समझी तथा पुनः बोले—“कर्तव्य पालन में सामने वाले के प्रति मोह नहीं करना चाहिए। राजा ही दण्ड देने में लड़खड़ायेगा तो राज्य व्यवस्था कैसे चलेगी ?” राजा ने समझा ऋषि प्रश्न नहीं कर रहे, आदेश दे रहे हैं और उन्होंने उनके हाथ काटे जाने की आज्ञा दे दी।

ऋषियों तथा शासकों का यह सन्तुलित सम्बन्ध जहाँ विचारक तथा सत्ताधारी एक-दूसरे के पूरक बनकर कार्य करते हैं—किसी समाज के लिये आदर्श व्यवस्था कही जा सकती है। जब तक शक्ति को विचार का प्रकाशदर्शन, व्यवस्था को चिन्तन का मार्गदर्शन मिलता रहा मानव दिनों-दिन प्रगति करता रहा तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

कटे हाथ लिये लिखित ऋषि प्रसन्नचित्त भाई के पास पहुँचे। हाथों के अग्रभाग न रहने से क्या-क्या कठिनाइयाँ खड़ी हो जावेंगी इसकी उन्हें चिन्ता नहीं थी। बिना हाथों के अनेक प्राणी अपना कार्य किसी प्रकार चला लेते हैं और जीवित रहते हैं तो बुद्धि सम्पन्न मनुष्य भी वैसा कर सकता है। बड़े भाई ने उनके दण्ड पाने का विवरण

सुना और उन्हें हृदय से लगा लिया। कहा—“तुमने ऋषि परम्परा को सुशोभित किया है। अविचलित भाव से दण्ड स्वीकार करना तथा शासन को कर्तव्य बोध कराना, दोनों ही कार्य अभिवन्दनीय हैं। तुम्हारे इस कार्य से हम प्रसन्न हैं— इच्छित वर माँग लो।

सामने तपोपुञ्ज समर्थ भाई खड़े थे तथा कटे हुए हाथों को लिए लिखित ऋषि। हाथों की पीड़ा की ओर उनका ध्यान नहीं था। भाई के अनुग्रह से उनकी आँखें चमक उठीं। बोले—“बन्धु श्रेष्ठ आप प्रसन्न हैं यह जानकर मैंने सब कुछ पा लिया। किन्तु आपने स्वयं कहा है तो मन की बात बाहर न लाना उपयुक्त न होगा।” भाई ने अर्थ भरी दृष्टि से उनकी ओर देखा कहने की अनुमति दी। तब लिखित बोले—“मेरे अन्तःकरण में फल खाने के पूर्व इतनी सामान्य बात न जगी इसका मुझे दुःख है। ऐसा प्रयास करें कि मेरी सहज प्रज्ञा जाग्रत हो।” भाई हँस पड़े, बोले—बन्धु उसके तो तुम सहज अधिकारी हो। तुम्हारी साधना से ही तुम्हें वह प्राप्त हो चुकी है। वह तो मैंने तुम्हारी निष्ठा की परीक्षा के लिये उस समय फल खाने के भाव पैदा किये थे। तुम्हारी भावना तो पवित्र है।

आज का भाई हो तो न जाने क्या अनर्थ खड़ा हो जाता। ऐसी भी क्या परीक्षा, मेरे हाथ कटवा दिये अब किसके सहारे बैठूँ? किन्तु ऋषि लिखित सब सुनकर भाई के पैरों पर गिर पड़े। बोले—“भ्रातृ श्रेष्ठ आपकी कृपा का मैं कहाँ तक आभार मानूँ मेरे लिये आपने सदैव कष्ट सहे। मेरे निर्माण में अपना अमूल्य तपोबल नष्ट करने की क्या आवश्यकता थी?”

भाई ने उन्हें आश्चर्य किया। कहा—“मार्गदर्शक को अपना कर्तव्य निभाना पड़ता है। तुम परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए। तुम्हारी साधना सफल है। अब तुम अपने सिद्धान्त का प्रसार संसार में सहर्ष कर सकते हो, अनुभूत तथा परिपुष्ट ज्ञान ही संसार को प्रभावित कर सकता है। आचरणहीन व्यक्ति का सिद्धान्त शोथालु सिद्ध होता है। तुम्हारे द्वारा मानव कल्याण का महत्त्वपूर्ण कार्य पूरा होगा—यह हमारा आशीर्वाद है।”

भाई का आशीर्वाद मिला, साधना की सफलता का प्रमाणपत्र। लिखित ऋषि हर्षविभोर हो उठे। भाई के स्नेह तथा तपोबल से वह चकित थे। किन्तु उनका हर्ष तथा आश्चर्य दूसरे दिन प्रातः सीमा पर था जब स्नान के बाद तर्पण के लिये हाथ जल में डालते ही उनके हाथ पूर्ववत् हो गये। पीछे खड़े उनके अग्रज मुस्करा रहे थे। उन्होंने कहा—“लोक-सेवी को किसी प्रकार के अभाव में रखना पातक है वत्स! मैंने ही तुम्हारे हाथ कटवाये थे उसकी पूर्ति भी कर दी। अब अपने प्रयासों से ईश्वर की इस पुण्य भूमि को सुशोभित करते रहना।

यह आदर्श ऋषि परम्परा जिस देश में रही है उसका विश्वगुरु कहलाना कोई आश्चर्य की बात न थी। अभी भी वह परम्परा जाग्रत की जा सकती है, वह गौरव प्राप्त किया जा सकता है।

क्षमाशील हो तो सन्त दादू जैसा

सन्त दादू शहर से दूर एक जंगल में ठहरे हुए थे। उस क्षेत्र के लोगों को पता चला तो सभी सत्संग करने हेतु जंगल में ही आने

लगे। शहर कोतवाल को उनके शुभागमन का सन्देश मिला तो उनके मन में भी सन्त के दर्शन की इच्छा उत्पन्न हुई। वह उनकी ख्याति कितने ही व्यक्तियों के मुँह सुन चुके थे। अतः घोड़े पर सवार चल पड़े जंगल की ओर।

वहाँ कोई सुन्दर-सी कुटिया तो बनी न थी और न संकेत के लिए किसी प्रकार के बोर्ड लगे थे। काफी दूर आने पर एक दुबला पतला व्यक्ति रास्ते की झाड़ियाँ साफ करता दिखाई दिया। वह बड़ी मुस्तैदी से झाड़ियों को काटने में लगा था। जैसे ढेर इकट्ठा हो जाता किनारे के किसी गड्ढे में फेंक देता। शरीर पर वस्त्र के नाम पर केवल एक लंगोटी थी। कोतवाल ने सोचा शायद सन्त का पता इस व्यक्ति से चल जाये उन्होंने उसके पास आकर घोड़े को रोक लिया और पूछा—ऐ भिखारी! तूने संत दादू की कुटिया देखी है।

दादू ने कोतवाल की ओर देखा और चुपचाप अपने कार्य में लगे रहे। अब कोतवाल घोड़े से नीचे उतर चुका था। उसे लगा कि सामने वाला व्यक्ति बहरा है अतः चिल्लाकर पूछा—मूर्ख! क्या तू दादू को बता सकता है? इतना सुनकर भी दादू ने उसकी ओर नहीं देखा। वे झाड़ियाँ काटने के काम में लगे रहे।

कोतवाल को गुस्सा आ चुका था। घोड़े को हाँकने वाला चाबुक उसके हाथ में था। उसी से कोतवाल ने पिटाई शुरू कर दी। दादू के शरीर में नीले निशान पड़ चुके थे। फिर भी उसने कुछ न कहा। कोतवाल गाली देता हुआ गुस्से में चिल्लाया—‘बेवकूफ’। एक भी शब्द नहीं बोल सकता। गुंगे और बहरे होने के साथ क्या पागल है। इतना कहकर कोतवाल ने चाबुक का डण्डा उसके सिर पर दे मारा। उसका सिर लहलुहान हो गया। रक्त की धारा प्रवाहित होने लगी। दादू को ऐसी दयनीय स्थिति में वहीं पड़ा छोड़ कर वह आगे बढ़ गया।

थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर उसे एक किसान जाता हुआ दिखाई दिया। उसे रोककर कोतवाल ने दादू का पता पूछा! उसने कहा—‘मैं अभी सन्त से ही मिल कर आया हूँ। ऐसा लगता है कि आप उन्हें पीछे ही छोड़ आये हैं। दुबले पतले शरीर वाला, लंगोटी धारी, मार्ग की काँटेदार झाड़ियों को साफ करने वाला और कोई व्यक्ति नहीं सन्त दादू है।’

कोतवाल ने चौंकते हुए पूछा—“वह दुबला-पतला व्यक्ति दादू है। वह तो मजदूर की तरह झाड़ियाँ काट रहा था।”

‘वही तो महात्मा दादू हैं। आप उन्हें पीछे छोड़ आये। कोई भी काम छोटा या बड़ा नहीं होता। उन्होंने देखा बरसात में झाड़ियों से सारा मार्ग अवरुद्ध हो गया है और यात्रियों को बड़ी कठिनाई होती है। अतः बचे हुए समय में इस कार्य को ही करना ठीक समझ कर लग गये इसमें।’

कोतवाल घोड़े को पीछे की ओर मोड़कर उस स्थान पर आये जहाँ एक व्यक्ति को गूंगा-बहरा और पागल समझकर पीटा था। अब उस व्यक्ति के सिर में पट्टी बँधी हुई थी। पास में जाकर घोड़े से नीचे उतर पड़े। और हाथ जोड़ते हुए बड़े विनम्र शब्दों में बोले—‘आप, क्या आपको सन्त दादू कहते हैं?’

दादू ने सहज भाव से उत्तर दिया— ‘हाँ ! इस शरीर को लोग दादू के नाम से ही जानते हैं ।’

अब कोतवाल उनके चरणों में पड़ा आँसू बहा रहा था । अपनी करनी पर बार-बार पछता रहा था । उसने बड़ी दीनता भरी आवाज में कहा— महाराज ! मुझे क्षमा कीजिये । मैं तो आपको गुरु बनाने की इच्छा से आया था ।

दादू ने बड़े स्नेह से उसे उठाकर अपने गले से लगा लिया । सन्त दादू ने क्रोध को जीतकर धर्म की राह पर चलने वाले व्यक्तियों को प्रेरणा देने की शक्ति प्राप्त की थी ।

इसी तरह की अन्य घटना है— ‘महाराज आप कोई ऐसा वशीकरण मन्त्र या कवच दीजिये जिससे मेरा पति वश में हो जाय’— सन्त दादू दयाल के पास एक सम्भ्रान्त मुस्लिम परिवार की महिला आई । दादू ने कहा— बेटी मैं कोई तन्त्र-मन्त्र नहीं जानता । ईश्वर का विश्वास ही मेरी सबसे बड़ी शक्ति है ।’

स्त्री ने दादू के पैर पकड़ लिए और कहने लगी—

‘ नहीं स्वामी जी ! ऐसा नहीं हो सकता कि आप कोई तन्त्र मन्त्र नहीं जानते हों । आप मुझे इस कठिनाई से नहीं उबारेंगे तो मैं मर जाऊँगी ।’

दादू ने उसकी कठिनाई का युक्तिपूर्ण निराकरण ढूँढ़ने के लिए स्वयं परिस्थिति का अध्ययन करना चाहा । स्त्री से दूसरे दिन उसके पति को बुलाकर साथ लाने के लिए कहा दूसरे दिन दोनों साथ आये । दादू ने स्थिति का अन्दाज लेने के लिए आदमी से कुछ प्रश्न पूछे । पता लगा कि— ‘स्त्री पति के कुल से गरीब घर की है । विवाह पूर्व उसकी सेवाभावना पर रीझ कर उस आदमी के पिता ने लड़की को अपनी पुत्रवधू बना लिया था । स्त्री एकदम सम्पन्न और सुखी वातावरण में आ गयी । जीवन स्तर जैसे ही थोड़ा ऊँचा उठता है, सामान्य लोगों में अहंकार, घमण्ड की भावना धीरे-धीरे घर कर लेती है और परिणाम यह होता है कि एक-एक कर सभी सदगुण विदा हो जाते हैं तथा व्यक्ति घृणा और तिरस्कार का पात्र बन जाता है ।’

इसी प्रकार की परिस्थितियाँ उक्त परिवार में घटी थीं फलस्वरूप पहले की तुलना में प्यार व मान कम हो जाने के कारण युवती का मन उद्विग्न हो उठा था ।

सन्त दादू ने परिस्थिति का भली-भाँति अध्ययन कर स्त्री को अलग ले जाकर एक लिखा हुआ कागज का पुर्जा दिया और कहा कि— इसका ताबीज बनाकर अपने गले में पहनना तथा इस यन्त्र को सिद्ध करने के लिए अपने पति की खूब सेवा करना ।

मुस्लिम दम्पति चले गये । यन्त्र की साधना के लिए स्त्री अपने पति की खूब सेवा करने लगी और अन्ततः वह प्रसन्न हो गया । वह भी अपनी पत्नी को पूर्ववत् प्रेम करने लगा । स्त्री अपनी सेवा निष्ठा के कारण पहले से भी ज्यादा घर के लोगों की प्रेम भाजन हो गयी । दादू दयाल का यंत्र अपना चमत्कारी प्रभाव दिखा गया ।

एक दिन ही बात में स्त्री ने उस यन्त्र और साधना की चर्चा अपने पति से कर दी पुरुष ने कौतूहलवश यन्त्र खोलकर देखना चाहा तो

स्त्री ने मना कर दिया और कहा कि— उस सन्त को यथेष्ट दक्षिणा दिए बगैर ताबीज गले से नहीं उतारूँगी ।

दक्षिणा की व्यवस्था की गयी । अपने नौकरों और रिश्तेदारों के साथ सब लोग दादू दयाल के पास पहुँचे । सन्त तो एक क्षण यह जुलूस देखकर स्तम्भित रह गये और स्त्री ने उनका ताबीज सिद्ध हो जाने की बात बताई तो सारी बात समझ गये ।

यहाँ सन्त ने सोचा कि लोग इस प्रकार ताबीजों और यन्त्रों के चक्कर में फँस जायेंगे तो जो बात अपना प्रभाव करती है उस सेवा साधना की उपेक्षा होने लगेगी इसलिए सब बातें स्पष्ट कह देना ही उचित समझा ।

दादू ने कहा— पर उस यन्त्र में कोई खास बात नहीं लिखी । मैंने तो तुमसे जो कहा था वही शब्द उस पुर्जे में भी लिखे हैं । इतना कहकर सन्त ने ताबीज में से कागज का पुर्जा खोलकर पढ़ा— सेवा साधना से भगवान् भी वश में हो जाता है ।

वस्तुतः किसी तन्त्र व मन्त्र के पीछे मनुष्य की अपनी संकल्प शक्ति काम करती है । यहाँ भी उस स्त्री के मन की शक्ति ही काम कर रही थी । वह समझ रही थी कि ताबीज की सामर्थ्य से यह सब हुआ है । इस महिला की सेवा साधना का ही सुपरिणाम था कि उसका पति तथा उसके परिवार के सदस्य उससे प्रसन्न रहने लगे थे । सही अर्थों में यह सेवा साधना ही व्यक्ति की लोकप्रियता का आधार होता है ।

ब्राह्मणत्व का पालन करने वाले— संत एकनाथ

वर्ण-व्यवस्था की स्थापना किसी समय समाज को सुसंगठित बनाये रखने और उसकी आवश्यकताओं की उचित रूप से पूर्ति होते रहने के उद्देश्य से की गई थी । उसमें ब्राह्मण को सर्वोच्च पद दिया गया था और साथ ही उनके कर्तव्य भी उतने ही कठिन रखे गए थे । त्यागमय जीवन बिताना और समाज की अधिक से अधिक सेवा करना ब्राह्मणत्व का आदर्श बतलाया गया था । जिन्होंने इसके अनुसार आचरण किया उनके नाम हजारों वर्ष बीत जाने पर आज भी आदर के साथ लिये जाते हैं । समय के परिवर्तन से इस प्रकार के ब्राह्मणों की संख्या मध्यकाल में बहुत घट गई और अधिकांश ब्राह्मण कर्तव्य को भूल कर केवल अपने विशेष अधिकारों के लिए ही सचेष्ट रहने लगे । ऐसे समय में महाराष्ट्र प्रांत में श्री एकनाथ महाराज ने व्यावहारिक रूप से ब्राह्मणत्व के उदाहरण को उपस्थित करके देश और जाति की उन्नति में विशेष रूप से योग दिया ।

एकनाथ महाराज का आविर्भाव अब से लगभग सवा चार सौ वर्ष पूर्व पैठण में हुआ था । यह नगर उस समय में विद्या और शास्त्रों के अध्ययन का बहुत बड़ा केन्द्र माना जाता था । दूर-दूर के मनुष्य वहाँ के पण्डितों से धार्मिक प्रश्नों पर व्यवस्था लेने आते थे । एकनाथ भी बाल्यावस्था से धर्म में अभिरुचि रखने वाले और बड़े प्रतिभाशाली

तथा मेधावी थे। छोटी अवस्था में ही उन्होंने संस्कृत में बातचीत करने की योग्यता प्राप्त करली थी। बारह वर्ष की अवस्था तक उन्होंने रामायण, महाभारत, भागवत् के अनेक अंश और कितनी ही पौराणिक कथाओं का अध्ययन कर लिया। इससे उनका ध्यान ईश्वर की तरफ जाने लगा और उनमें आध्यात्मिक ज्ञान की अभिलाषा उत्पन्न होने लगी। एक दिन अन्तःप्रेरणा से वे घर से निकल पड़े और देवगढ़ जाकर जनार्दन स्वामी के शिष्य बन गए। ये जनार्दन स्वामी अपने उच्चकोटि के आध्यात्मिक ज्ञान के कारण 'स्वामी' नाम से प्रसिद्ध थे। वैसे वे चालीसगाँव नामक स्थान के प्रधान अधिकारी थे। उनका विश्वास था कि मनुष्य घर रहकर ही जितनी चाहे आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है और इस बात को उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से पूरा करके भी दिखा दिया था।

जनार्दन स्वामी के पास रहकर एकनाथ छः वर्ष तक आध्यात्मिक विषयों का ज्ञान प्राप्त करके अभ्यास करते रहे। इसके बाद कितने ही मास तक उन्होंने शूलभंज नामक पर्वत पर जाकर एकान्त में तपस्या की। जब गुरु ने उनको सब प्रकार से योग्य देख लिया तो तीर्थ-भ्रमण के लिए जाने की आज्ञा दी जिससे संसार का व्यावहारिक अनुभव प्राप्त कर सकें, भिन्न-भिन्न स्थानों पर सन्तों और विद्वानों के सत्संग में रहकर अपने अनुभव और ज्ञान की वृद्धि कर सकें और समाज की परिस्थिति को देखकर अपने कर्तव्य का निर्णय कर सकें। उन्होंने दो-तीन वर्ष में भारत के प्रायः सभी तीर्थों की यात्रा की और अन्त में अपने गाँव पहुँच कर गृहस्थ आश्रम में रहना स्वीकार कर लिया।

एकनाथ के जीवन की ऐसी अनेक घटनाएँ प्रसिद्ध हैं जिनसे मालूम पड़ता है कि वे एक महान् आत्मज्ञानी और विद्वान् होने के साथ ही सहिष्णुता और सेवाभाव के मूर्तिमान अवतार भी थे। कहते हैं कि जिस मार्ग से वे नित्य गोदावरी स्नान करने के लिए जाया करते थे उस पर एक मुसलमान का घर था जो स्वभाव से बड़ा दुष्ट था। वह जब इनको स्नान से लौटते देखता तो जान-बूझ कर ऊपर से कुल्ला कर देता जिससे इनको पुनः स्नान करने जाना पड़ता। इस प्रकार वह इन पर कई-कई बार कुल्ला कर देता। एक दिन उसने हृदय कर दी और एकसौ आठ बार कुल्ला किया। पर धन्य है एकनाथजी की सहिष्णुता कि उस पर जरा भी क्रोध किये बिना ये बार-बार स्नान करते रहे। अन्त में जब वही थक गया, तब इन्होंने उसे धन्यवाद दिया कि आज तुम्हारे कारण मुझे १०८ दफे पवित्र गोदावरी का स्नान करने का पुण्य प्राप्त हो सका। इसके उपलक्ष में इन्होंने उसे अपने घर बुलाकर उत्तम भोजन भी कराया। इससे वह अत्यन्त लज्जित हुआ और फिर शिष्य की तरह इनका आदर-सम्मान करने लगा।

इसी प्रकार एक बार कुछ शरारती लोगों ने एक ब्राह्मण को दो सौ रुपये का लालच देकर इनके पास भेजा कि वह किसी तरह इनको क्रोधित कर दे। जब वह इनके स्थान पर पहुँचा तो ये मन्दिर में पूजा कर रहे थे। वह आकर अचानक इनकी पीठ पर बैठ गया। पर क्रोधित होने के बजाय ये उससे कहने लगे कि 'वाह भाई, मेरे पास इतने व्यक्ति आते हैं, पर तुम्हारा जैसा प्रेमी कोई नहीं आया जो आते ही लिपट जाय।' कुछ देर बाद वह इनके साथ भोजन करने बैठा तो

अचानक उछल कर भोजन परोसती हुई इनकी पत्नी गिरिजाबाई की पीठ पर बैठ गया। यह देखकर ये हँसने लगे और कहा— 'देखना यह बड़ा बालक पीठ से गिरकर चोट न लगा ले।' गिरिजाबाई ने भी हँसकर उत्तर दिया कि मुझे बच्चे को पीठ पर लेकर काम करने का अभ्यास है इससे मैं इसे गिरने न दूँगी। 'अन्त में अत्यन्त लज्जित होकर उसने पैरों पर गिर कर इनसे क्षमा माँगी और कहा कि मैंने आवश्यकतावश कुछ लोगों के कहने से ऐसा अनुचित व्यवहार किया। एकनाथजी ने स्वयं ही उसकी आवश्यकता की पूर्ति कर दी।

भारतवर्ष में अछूत जाति वालों की दशा आजकल भी बड़ी हीन है। कुछ सौ वर्ष पूर्व महाराष्ट्रीय समाज में उनकी स्थिति और भी शोचनीय थी। पर एकनाथजी उच्चकुल के ब्राह्मण होते हुए भी किसी से घृणा व उपेक्षा का व्यवहार नहीं करते थे, वरन् सब के साथ 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धान्त का ही पालन करते थे। एक दिन उनके पूर्वजों का श्राद्ध था और इसलिए गिरिजाबाई ब्राह्मण-भोजन के लिए उत्तम पकवान बना रही थीं। उसी समय कुछ अछूत जाति के व्यक्ति उनके घर की बगल में होकर निकले और पकवानों की खुशबू आने से आपस में चर्चा करने लगे कि 'हम लोगों का ऐसा भाग्य कहाँ जो ऐसे पकवान पा सकें।' संयोगवश यह बात घर के एक कमरे में बैठे एकनाथजी के कानों में सुनाई दे गई। उन्हें इन लोगों की दुर्दशा पर बड़ी दया आयी और उनको घर में बुलाकर अच्छी तरह भोजन करा दिया। इसके पश्चात् रसोईघर और समस्त बर्तनों को फिर खूब अच्छी तरह साफ करके ब्राह्मणों के लिए फिर दुबारा रसोई बनाई। पर उनके लिए बनाया गया भोजन अछूतों को खिला देने की बात सुनकर वे ऐसे नाराज हुए कि उन्होंने खाने से इंकार ही कर दिया। एकनाथजी के बार-बार आग्रह करने पर भी वे राजी नहीं हुए तो उन्होंने अपनी लाचारी बताकर पित्रों का आह्वान किया। उनकी हार्दिक भावना को देखकर पितृगण सशरीर वहाँ उपस्थित हो गए और उन्होंने भोजन को ग्रहण किया। यह देखकर हठधारी ब्राह्मण बहुत पछताए और क्षमा प्रार्थना करने लगे।

इसी प्रकार एक बार रान्या नामक अछूत ने एकनाथ को अपने घर भोजन करने का निमन्त्रण दिया। उसने कीर्तन करते हुए एकनाथजी को एक उपदेश करते सुना कि 'प्राणिमात्र में एक ही परमेश्वर का निवास है।' इस पर उसने सोचा कि यदि हम में भी वास्तव में परमेश्वर का निवास है तो एकनाथजी हमारे हाथ का भोजन ग्रहण क्यों न करेंगे? वैसे भी वह रान्या बहुत ही धर्मेनिष्ठ और सदाचारी था तथा कभी मद्य-माँस को छूता भी नहीं था। एकनाथ ने उसका निमन्त्रण निस्संकोच भाव से स्वीकार कर लिया और अन्य ब्राह्मणों के बहुत कुछ बुरा कहने पर भी उनके यहाँ जाकर भोजन किया। इसके लिए कट्टरपंथी उनकी बहुत समय तक निन्दा करते रहे, पर उन्होंने इसकी कुछ भी परवाह न की।

इसी प्रकार पैठण में रहने वाली एक वेश्या इनके घर कभी-कभी कथा सुनने आ जाया करती थी। एक दिन उसने इनके मुख से भागवत् में वर्णित पिंगला नाम की वेश्या का आख्यान सुना, जिससे उसको

वैराग्य हो गया। वह बार-बार यही विचार करने लगी कि “मैं कैसी पापिनी-अभागिनी हूँ जो जीवनभर इन रक्त, माँस, विष्टा, मूत्र के पिण्ड परपुरुषों का आलिंगन करने में ही लगी रही और कभी अन्तरात्मा में रहने वाले भगवान् का ध्यान भी नहीं किया।” इस प्रकार रोती और पश्चाताप करती वह घर में ही पड़ी रही। वह एकनाथजी का स्मरण करने लगी और विचार करने लगी कि क्या वे मुझ जैसी पापिनी को अपनी चरण रज प्रदान करेंगे? एक दिन जब वह इस प्रकार विचार कर रही थी तो उसने उसी समय एकनाथजी को गोदावरी में स्नान करके अपने घर के पास से जाते हुए देखा। वह दौड़ती हुई आई और कहने लगी—“महाराज! क्या आप इस पापिनी के घर को अपनी चरण रज से पवित्र कर सकते हैं?” एकनाथजी ने सहज भाव से कहा—“इसमें कौनसी कठिनाई है?” वे घर के भीतर गए और उनके पहुँचते ही वहाँ का पाप पूर्ण वातावरण नष्ट होकर सात्विकी भाव का अनुभव होने लगा। वेश्या ने उनसे ‘राम कृष्ण हरि’ का मन्त्र ग्रहण किया और फिर जीवन के अन्त तक भगवान् के ध्यान और पुण्य कार्यों में ही समय लगाती रही।

इस प्रकार एकनाथजी ने अपने उदाहरण द्वारा अपने समकालीन लोगों को सच्चे ब्राह्मणत्व का आदर्श दिखलाया कि केवल बाह्य शुद्धाचार और पूजा-पाठ से ही मनुष्य ब्राह्मण नहीं बन सकता, वरन् उसका असली कर्तव्य तो नीची दशा में पड़े हुए प्राणियों को ऊँचा उठाकर पुण्य-मार्ग पर चलने की प्रेरणा करना है। जो व्यक्ति समझता है कि नीच या पतित लोगों के संसर्ग में आने से हम भ्रष्ट हो जायेंगे अथवा हमको पाप लगेगा, वे शुद्धता और ज्ञान का ढोंग ही करते हैं। जो निष्काम भाव से किसी जीव के उद्धार के लिए किसी अवसर पर अशुद्ध अथवा पापयुक्त वातावरण में भी जाता है, तो उसका उससे कुछ बिगाड़ नहीं हो सकता। किसी गिरते-पड़ते को बचाने में थोड़ी देर के लिए हमारे हाथ गन्दे भी हो जायें तो उससे हमारी आत्मा दूषित नहीं हो सकती। श्री एकनाथ महाराज ने आजीवन इसी प्रकार के सत्यधर्म के पालन का उपदेश देकर अन्त में यह कहते हुए संसार से विदा ली कि—“भगवद् भक्तो मेरे चले जाने के बाद तुम भागवत् धर्म का प्रचार जारी रखना और लोगों के विरोध, निन्दा आदि की परवाह न करके इस पवित्र कार्य के लिए प्राण देने को भी तैयार रहना।”

उपकार का प्रतिफल

कुछ ग्रामीण एक साँप को मार रहे थे तभी ऊपर आ पहुँचे सन्त एकनाथ, बोले भाइयो इसे क्यों पीट रहे हो—कर्मवश सर्प होने से क्या? यह भी आत्मा ही तो है। एक युवक ने कहा—आत्मा है तो फिर काटता क्यों है? एकनाथ ने कहा—तुम लोग सर्प को न मारो तो वही तुम्हें क्यों काटेगा? लोगों ने एकनाथ के कहने से सर्प को छोड़ दिया।

कुछ दिन पीछे एकनाथ अँधेरे में नदी स्नान करने जा रहे थे। तभी उन्हें सामने फन फैलाये खड़ा सर्प दिखाई दिया, उन्होंने उसे बहुत हटाना चाहा पर वह टस से मस न हुआ। एकनाथ मुड़कर

दूसरे घाट स्नान करने चले गये। उजाला होने पर लौटे तो देखा बरसात के कारण वहाँ एक गहरा खड्ड हो गया है सर्प ने न बचाया होता तो एकनाथ उसमें कब के समा चुके होते।

तुम्बा पलटी की आदत न गयी

सन्त एकनाथ के साथ तीर्थयात्रा पर एक चोर भी चल पड़ा। साथ लेने से पूर्व सन्त ने उससे रास्ते में चोरी न करने की प्रतिज्ञा कराई।

यात्रा मण्डली को नित्य ही एक परेशानी का सामना करना पड़ता। रात को रखा गया सामान कहीं से कहीं चला जाता। नियत स्थान पर न पाकर सभी हैरान होते और जैसे-तैसे जहाँ-तहाँ से ढूँढ़कर लाते।

नित्य-की इस परेशानी से तंग आकर कारण की खोज शुरू हुई। रात को जागकर इस उलट-पुलट की वजह ढूँढ़ने का जिम्मा एक चतुर यात्री ने उठाया।

खुराफती पकड़ा गया। सबेरे उसे सन्त एकनाथ के सम्मुख पेश किया गया। पूछने पर उसने वास्तविकता कही। चोरी करने की उसकी आदत मजबूत हो गई है। चोरी न करने की यात्राकाल में कसम निभानी पड़ रही है पर मन नहीं मानता तो तुम्बा पलटी-इधर से उधर सामान रख आने से उसका मन बहल जाता है। इससे कम में काम चल नहीं सका तो वह कौतूहल करने लगा।

सन्त एकनाथ ने मण्डली के साथियों को समझाया कि मन भी एक चोर है उसे बाहरी दबाव से एक सीमित मात्रा में ही काबू में रखा जा सकता है। आत्म सुधार तो हृदय परिवर्तन से ही सम्भव है और उसे स्वयं ही संयम साधना के आधार पर करना होता है।

दरिद्र नारायण की सेवा ही सच्ची भक्ति

सन्त एकनाथ गंगाजल की काँवर रामेश्वर पर चढ़ाने के लिए हरिद्वार से चल पड़े।

सफर लम्बा था। रास्ते में कई विराम करने थे। एक जगह उन्होंने प्यासे गधे को देखा जो मरणासन्न स्थिति में पड़ा था। उस क्षेत्र में कहीं दूर-दूर तक पानी था नहीं।

एकनाथ जी को दया आई। प्यासे गधे को देखकर उन्होंने गंगाजल का एक घड़ा गधे के मुँह में डाल दिया। पीकर वह खड़ा हो गया और बोला दूसरा घड़ा भी पिला दें तो बड़ी कृपा होगी। इसके बिना इस रेगिस्तान से पार जा नहीं सकूँगा।

सन्त ने दूसरा घड़ा भी पिला दिया और खाली काँवर एक ओर पटककर वापस चलने लगे। भगवान् पर जल चढ़ाने का पुण्य न मिला, तो न सही एक प्यासे की जान तो बच गई।

गधा लौट पड़ा। बोला, सन्त आओ गले मिलें और एक-दूसरे को निहाल करने पर प्रसन्नता व्यक्त करें।

आश्चर्यचकित सन्त का समाधान करते हुये गधे ने कहा—मैं रामेश्वरम् हूँ। सच्चे भक्त का दर्शन करने हेतु इस मार्ग पर पड़ा

रहता था। पुजारी बहुत निकलते थे, पर दयालु सन्त आप ही मिले, मेरा दर्शन मनोरथपूर्ण हो गया।

एकनाथ ने पीड़ित के रूप में भगवान् को देखकर नमन किया। बोले, अब मैं सदा आपके दरिद्र नारायण स्वरूप की ही पूजा करूँगा और पीड़ितों-पतितों की सेवा में निरत रहकर आपकी सच्ची भक्ति में संलग्न रहूँगा।

धर्म के लिये मर मिटने वाले— महात्मा पाल

जब तक मनुष्य अज्ञान के अन्धकार में रहता है तब तक उसे सत्य के दर्शन नहीं होते। वह असत्य को सत्य और सत्य को असत्य समझता रहता है। किन्तु जब स्वाध्याय, सत्संग और विचार-चिन्तन द्वारा अपने को प्रकाशित करता है तब सत्य का महान् अनुयायी बन जाता है और जीवन भर उसका प्रचार करता रहता है। उसके सारे पूर्वाग्रह नष्ट हो जाते हैं और वह यथा तथ्य बात को ग्रहण करने लगता है।

सन्त पाल ईसा धर्म के महान् प्रचारक हुए हैं। विदेशों में और यहूदी जातियों में ईसा धर्म के प्रचार का अधिकांश श्रेय उन्हीं को है। पहले सन्त पाल ईसाइयों के घोर विरोधी थे। पर बाद में जब उसके प्रति उनका अज्ञान दूर हो गया तो वे उसके बहुत बड़े प्रचारक बने और उस प्रचार में अपार कष्ट सहे। अन्त में उसी उद्देश्य के लिये प्राण तक दे दिये।

अज्ञानावस्था में पाल ईसाई धर्म के कट्टर विरोधी थे। यहाँ तक कि जब महात्मा स्टेफिन को उन्होंने ईसाई धर्म का प्रचार करते हुए देखा तो लोगों को उनके विरुद्ध भड़काया और पत्थरों से मार-मार कर मार डालने की प्रेरणा दी। यहूदी लोग वैसा करने को तैयार हो गये। पाल ने उनके लिये पत्थर जमा किये और अत्याचारियों के कपड़ों की खुद रखवाली की। अन्त में उन्होंने महात्मा स्टेफिन को पत्थरों से मरवा ही डाला।

पाल ने ईसाइयों को नष्ट कर डालने की कसम खा रखी थी। उन्होंने योरूशलम में उन्हें चैन नहीं लेने दिया और जब वे योरूशलम से भागकर दमस्क आदि नगरों में भाग गये तो वहाँ भी उनका पीछा किया और बहुतांश को मार डाला और बहुतांश को जेलखाने में डलवा दिया। इस प्रकार जब पाल ईसाइयों को मारने और नष्ट करने में लगे थे एक दिन उनके मस्तिष्क में आया कि एक बार यह भी तो विचार करना चाहिए कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ वह ठीक भी है या नहीं। ईसाई जिस धर्म के लिये इतना कष्ट सह रहे हैं उसमें क्या विशेषता है। यह पाल के हृदय परिवर्तन का पुण्य क्षण था। उन्होंने निष्पक्षता पूर्वक विचार किया और ईसा के उपदेशों का अध्ययन किया। ऐसा करने से उन्होंने शान्ति, अहिंसा, प्रेम और दया, क्षमा का महत्त्व समझा। उन्हें अपनी पिछली क्रूरता पर बड़ा पश्चाताप हुआ और वे भगवान् ईसा के पक्के अनुयायी बन गये और ईसाई धर्म का प्रचार करने लगे।

अपने प्रचार कार्य में महात्मा पाल ने अपार कष्ट सहे। उन्हीं की चलाई रीति के अनुसार यहूदियों ने उन्हें योरूशलम में ही पत्थर मार-मारकर मार डालने का प्रयत्न किया। महात्मा पाल के पत्थर लगते थे और वे खुश होकर कहते थे “मारो और मारो— जो जैसा करता है, वैसा फल पाता है। दूसरों के लिये कुँआ खोदने वाला खुद उसमें गिरता है।” जब महात्मा पत्थरों की मार से चूर होकर गिर पड़े तो लोगों ने उन्हें मरा हुआ समझा और घसीट कर नगर के बाहर डाल आये। किन्तु पाल होश में आते ही फिर धर्म प्रचार में लग गये। अबकी बार लोगों ने उनको एक टोकरी में बन्द करके शहर-पनाह के बाहर फेंक दिया। किन्तु वे फिर भी किसी प्रकार बच गये और अपना काम करने लगे।

उनके इस प्रभाव को वहाँ के कट्टर लोग सहन न कर सके और उन्होंने सन्त पाल को बहुत बार कोड़ों से मारा। जब यह अत्याचार भी उन्हें उनके उद्देश्य से विचलित न कर सका तो उनको जेलखाने में डाल दिया गया। उनको काठ में देकर एक कोठरी में बन्द कर दिया गया, किन्तु उनकी दृढ़ता, प्रेम, क्षमा, दया और सहनशीलता ने ज्यादा दिन जेल में नहीं रहने दिया।

अन्त में जब दशमक से पाल योरूशलम आये तो आखिर आततायियों ने उन्हें मार ही डाला। इस प्रकार एक बार ज्ञान पाकर पाल जीवन भर उसका प्रचार करते रहे और अन्त में उसी उद्देश्य में हर्षपूर्वक बलिदान हो गये।

धर्म के लिये बलि हो जाने वाले— संत पीटर

ईसाई धर्म के प्रथम प्रचारक सन्त पीटर प्रारम्भ में मछली पकड़कर बेचने का काम करते थे। ये न तो कुछ पढ़े-लिखे थे और न धर्म-कर्म से ही सम्बन्ध रखते थे। उनकी प्रवृत्ति भी नास्तिकता की ओर झुकी हुई थी। मछली मारना, बेचकर रोटी कमाना और पेट भरकर सो रहना— यही तीन बातों को वे जानते थे। कभी कहीं होने वाले धार्मिक सत्संगों में वे कभी नहीं गए। ऐसे आयोजनों को वे बेकर की चीज समझते थे।

एक बार महात्मा ईसा अपने कुछ शिष्यों के साथ उधर जा पहुँचे जिधर पीटर नाव पर मछली मार रहे थे और कोई उपयुक्त स्थान न देखकर महात्मा ईसा उसकी नाव पर चढ़ गए और लोगों को उपदेश देने लगे। पीटर के जीवन में यह पहला अवसर था, उनको एक महात्मा का सम्पर्क प्राप्त हुआ था और प्रवचन सुनने का सौभाग्य मिला।

महात्मा ईसा का प्रवचन सुनते-सुनते पीटर अपने आपको भूल गए। उन्हें ऐसा लगा जैसे अमृत की धारा उनके कर्णों द्वारा हृदय में जा रही है और आत्मा में एक दिव्य प्रकाश का जागरण हो रहा है। ईसा का प्रवचन समाप्त हुआ और वे चलने लगे तो पीटर भाव-विह्वल होकर उनके चरणों पर गिर गये और बोले— “प्रभो! मैं कृतार्थ हुआ। आपके वचनों ने मुझे मानव-जीवन का रहस्य बता दिया। मुझे ज्ञान का प्रकाश मिल गया। अब तक मैंने अपना सारा जीवन

जानवरों की तरह ही बिताया। न कभी सत्संग किया और न महात्माओं के वचन सुने। इसका मुझको खेद है। किन्तु इसकी प्रसन्नता भी कम नहीं है कि आज मैं सत्संग का महत्त्व समझ गया। अब आप मुझे अपने साथ ही रखलें जिससे आपके सम्पर्क तथा प्रवचनों का लाभ उठाकर ज्ञान का पूरा प्रकाश पा सकूँ और आगे का जीवन सार्थक बना सकूँ।” महात्मा ईसा ने उन्हें अपने साथ कर लिया।

महात्मा ईसा के कथनानुसार पीटर ने उनके स्वर्गवास के बाद से उनके धर्म का प्रचार करना प्रारम्भ किया। पीटर ईसा की तरह ही जनता में प्रवचन करते थे। लोगों को सत्य और सदाचार का मार्ग बतलाते थे। इसके अतिरिक्त वे रास्ते चलते लँगडों-लूलों और अपाहिजों की सेवा करते रहते थे। पीटर ने कुछ ही समय में हजारों लोगों को ईसा-धर्म में दीक्षित कर लिया।

एक बार जब येरूशलम में पीटर का प्रवचन सुनकर लोग ईसा-धर्म में प्रवेश कर रहे थे, तो वहाँ के रूढ़ि-धर्म के मानने वाले सदयूसी लोगों ने बड़ा विरोध किया। वे झुण्ड के झुण्ड उनके पास आए और बोले—“तू किसके नाम का प्रचार कर रहा है?” पीटर ने उत्तर दिया—“भगवान् के उस नाम का जो पृथ्वी पर ईसामसीह के नाम से प्रसिद्ध है।” सदयूसी लोग इस बात से बड़े कुपित हुए और बोले—“तू या तो नये धर्म का प्रचार करना छोड़ दे नहीं तो मरने को तैयार हो जा।” पीटर ने उत्तर दिया—“आप लोग जिसको नया धर्म कहते हो वह पुराने धर्म का ही सुधरा हुआ रूप है। उसका ही सच्चा स्वरूप लोगों को बतलाता हूँ।

किन्तु सदयूसी लोग न माने उन्होंने कहा कि पुराना धर्म जिस रूप में चला आ रहा है तुम उसमें सुधार मत करो। इससे धर्म-क्रान्ति पैदा हो सकती है।” पीटर ने कहा, “मैं एक सद-क्रान्ति ही तो लाना चाहता हूँ जिससे धर्म के नाम पर रूढ़ियों और कुरीतियों की चलती परंपरा समाप्त हो जाए और लोग सत्य का दर्शन पा सकें।”

इस पर सदयूसी लोगों ने उन्हें बुरी तरह मारा-पीटा और धर्म-सभा में मुकदमा चलाकर जेल में डाल दिया। किन्तु सत्यव्रती पीटर ने जेल से छूटकर फिर वही काम शुरू कर दिया। इस प्रकार वे जीवन-भर जेल और जुल्म सहते रहे किन्तु सच्चे धर्म-प्रचार से विचलित न हुए।

यही कारण है कि ईसाई धर्म के प्रचारकों में सन्त पीटर का प्रमुख स्थान है। यह उसी धर्म के पहले प्रचारक भी हैं। सन्त पीटर ईसामसीह के मात्र शिष्य अथवा अनुयायी ही नहीं थे बल्कि अपने चरित्र और आचरण में उनके प्रतिबिम्ब थे। सन्त पीटर ईसा के समान ही सहनशील, क्षमाशील और शान्ति, प्रेम तथा अहिंसा के पुजारी थे। धर्म-प्रचार के कार्य में उन्होंने आजीवन कष्ट सहें और यातनाएँ भोगीं, किन्तु अपने उद्देश्य से विचलित न हुए।

पीटर के धर्म-प्रचार से यहूदी जाति के बहुत-से लोग ईसा-धर्म को मानने और उसके नियम तथा रीति-रिवाजों को पालने वाले बन गये। चूँकि ईसा और पीटर यहूदी जाति के थे इसलिये यहूदी, ईसाई उन्हें अपनी ही सम्पत्ति समझने लगे। संकीर्णतावश वे नहीं चाहते

थे कि ईसाई धर्म का प्रचार ऐसे लोगों में किया जाये जो यहूदी नहीं थे, किन्तु सन्त पीटर इस संकीर्णता से परे थे। वे ईसा-धर्म में सबका अधिकार मानते थे और सभी जातियों को उपदेश दिया करते थे।

कैसरिया नगर में जाने और वहाँ के लोगों को उपदेश करने पर येरूशलम में यहूदी ईसाई विरोधी हो गये। उन्होंने कहा—“पीटर अनधिकारी जाति को लोगों का धर्म का उपदेश कर के अनधिकार चेष्टा करते हैं।” पीटर की प्रतिष्ठा चली जाने का संयोग आ गया। किन्तु निरहंकर पीटर ने इसकी जरा भी परवाह नहीं की और स्पष्ट कह दिया—“ईश्वर किसी एक जाति का पक्ष नहीं करता। वरन् जो भी जाति अथवा जो भी मनुष्य उससे डरता है, उसमें विश्वास और आस्था रखता है, वह उसे अच्छा लगता है और ऐसी जाति अथवा मनुष्य को सद्धर्म का उपदेश दिया जा सकता है यह उसे पाने का सर्वथा अधिकारी है।”

किन्तु इस कथन से यहूदी ईसाइयों को सन्तोष न हुआ और उन्होंने एक बड़ी भारी धर्म-सभा की और पीटर पर यह आरोप लगाया कि वह उस जाति के लोगों को भी धर्म का उपदेश देते हैं, जो अपवित्र हैं और यहूदी जाति के नियमों से भिन्न नियम मानती है। धर्म-सभा ने पीटर से इसका स्पष्टीकरण माँगा। पीटर ने निर्भीक होकर उत्तर दिया—

“भाइयो ! मैं संसार की सारी जातियों को उत्पन्न करने वाला एक ही ईश्वर मानता हूँ। इसलिये मेरी दृष्टि में कोई भी जाति अपवित्र नहीं है। यदि किसी जाति के रस्म-रिवाज दूसरी तरह के हैं, तो इससे यह जाति ईश्वरीय उपदेश की अनधिकारिणी नहीं हो जाती। पवित्र आत्मा की छाया उन पर भी उसी प्रकार पड़ती है जिस प्रकार हम लोगों पर।”

पीटर ने आगे कहा—“भगवान् की भक्ति किसी एक प्रकार के रस्म-रिवाजों में नहीं बँधी है। आप लोग भी पहले यहूदी रस्म-रिवाजों को मानने वाले थे। आप लोगों को भी भगवान् ईसा का उपदेश मिला और आप लोगों ने उन पर आस्था की। उनके बतलाये नियम ग्रहण किये। इससे सिद्ध होता है कि भगवान् की भक्ति किसी प्रकार के रस्म-रिवाज मानने वाले कर सकते हैं। ईसाई-धर्म किसी एक जाति के लिये नहीं है। इस धर्म का स्वरूप तो भगवान् की भक्ति, भगवान् ईसा के विश्वास और सदाचार हैं, जिसमें सभी जातियों और सभी वर्ग का अधिकार है।”

धर्म-सभा ने पीटर का स्पष्टीकरण स्वीकार किया और सभी जातियों को ईसा-धर्म का अधिकारी मान लिया।

विदेशों में प्रचार करते-करते पीटर रूस देश गये और वहाँ भी अपने धर्म का प्रचार करने लगे। रूस देश का राजा नीरोवड संकीर्ण, अनुदार और निर्दयी था। उसने पीटर को पकड़ कर क्रस पर लटक देने की आज्ञा दे दी। सजा का हुक्म सुनकर पीटर बहुत प्रसन्न हुए और बोले—“यह मेरा अहोभाग्य है कि जो सजा धर्म-प्रचार में हमारे प्रभु ईसा को मिली वही मुझे मिल रही है।”

लोकशाह—जिन्होंने धर्म-क्रान्ति का सूत्र संचालन किया

इतिहासकारों का मत है कि पन्द्रहवीं शताब्दी विश्व में धर्म-क्रान्ति की शताब्दी थी। योरोप में इन्हीं दिनों पोप की जर्जर धर्म-सत्ता के विरुद्ध अभिनव धर्म-चेतना जाग रही थी, मार्टिन लूथर के नेतृत्व में। भारत में भी कबीर और नानक जैसे सुधारवादी सन्तों का आविर्भाव इसी समय में हुआ था जिन्होंने धर्म-चेतना पर आ गयी रूढ़ियों और अन्धविश्वासों की राख को हटाया था। आडम्बरों और बाह्याचारों के विरुद्ध सन्त नामदेव के नेतृत्व में एक नया स्वर गूँज रहा था। इन्हीं दिनों जैनधर्म में भी जो शिथिलता और गतिरोध आ गया था उसे दूर करने का उद्योग लोकशाह नामक धर्म-सुधारक ने किया।

चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान महावीर से लेकर जैन मुनि भद्रबाहु तक जैन धर्म की धारा अविकल गति से बढ़ती रही थी। पर उसके पश्चात् जैन संघ श्वेताम्बर और दिगम्बर दो सम्प्रदायों में बँट गया और उस धारा का प्रवाह भी बहुत कुछ अवरुद्ध हो गया। उस धारा के जल में वह वेग, वह निर्मलता नहीं रही थी जो नदी की प्रारम्भिक अवस्था में होती है। पूर्वोत्तर भारत से श्रमण संस्कृति का पराभव होने लगता है। अधिकांश श्रमण दक्षिण पश्चिम की ओर चल पड़ते हैं।

वस्तुतः प्रत्येक धर्म-सुधारक ने किसी अभिनव धर्म की सृष्टि नहीं की है वरन् उस सनातन धर्म-धारा में आ गये गतिरोधों, कूड़े-ककड़ों, शैवालों और झाड़-झंखाड़ों को हटाकर उस धारा की चिरन्तनता का सातत्य बनाये रखा है। जैन मत और बौद्ध मत ही नहीं सभी भारतीय मत उसी धर्म-धारा के सातत्य को बनाये रखने का प्रयास भर था। भगवान् महावीर का प्रयास भी विवेकशील और पूर्वाग्रह मुक्त धर्मावलम्बियों को ऐसा ही लगता है। किन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी तक आते-आते उस मत में भी कई ऐसी बातें आ गयी थीं कि जो भगवान् महावीर के सिद्धान्तों के भी विपरीत थीं। स्त्रियों को निर्वाण की अधिकारिणी नहीं मानना और शूद्रों के द्वारा दिये गये अन्न का बहिष्कार करना आदि ऐसी ही बातें थीं जो रूढ़ियों का आकार ग्रहण करने लगी थीं।

इसके साथ ही श्रमणों का जीवन भी अपने मूल उद्देश्य से हटने लगा था। वे भी चैत्य और धर्म-प्रभावना के नाम पर धन की वर्षा करने लगे और पूजा और जिन भक्ति के नाम पर आडम्बर रचने लगे। श्रमणों के जीवन का उद्देश्य घर-घर, गाँव-गाँव जाकर अपने उपदेशों व आचरणों द्वारा जन-मन को चेतना प्रदान करना न रहकर मठाधीश बनने जैसा ही बनता जा रहा था। यद्यपि इसके पीछे उनके मन में कोई लौकिक एषणा नहीं थी। यह सब वे धर्म-प्रचार के लिये ही करना चाहते थे। किन्तु आगे चलकर इसका परिणाम शुभ होने वाला नहीं था क्योंकि यह मार्ग ही गलत था, उनके लिये। कहने का

अर्थ यही है कि भगवान् महावीर ने धर्म के क्षेत्र में जो सुधार किये थे वही मत यहाँ आकर सुधार परिष्कार की चाह करने लगा था।

इसे आश्चर्य का विषय ही कहना होगा कि साधु समुदाय के मानस, चिन्तन में आ गये इस शैथिल्य को दूर करने का प्रयास एक सामान्य गृहस्थ द्वारा किया गया। यह गृहस्थ थे—लोकशाह। पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों में उन्होंने पश्चिमी भारत से धर्म-क्रान्ति का शंखनाद किया।

एक सामान्य गृहस्थ द्वारा श्रमण, योगी और यतियों के विचारों और क्रियाकलापों पर अंगुली उठाना साधारण काम नहीं था। जैसा कि आज भी कहावत प्रचलित है। राजा, जोगी और अग्नि से डरते रहना चाहिए क्योंकि ये प्रीति बहुत कम पाला करते हैं, तो उस समय जबकि धर्म-सत्ता आज की अपेक्षा कई गुना अधिक समर्थ थी और उस सत्ता के धारक थे श्रमण और यती जिनके तन्त्र-मन्त्रों से सामान्य जन तो क्या बड़े-बड़े राजा और धनपति भी भय खाते थे तो एक सामान्य स्थिति के व्यक्ति लोकशाह द्वारा उनके विरुद्ध क्रान्ति का शंख फूँकना कितने साहस, आत्मबल, बुद्धिबल और शास्त्रबल का काम था।

लोकशाह ने क्रान्ति का शंखनाद तो किया पर उसका जो ढंग अपनाया वह मृदुता और शिष्टता का था, कठोरता और निन्दा का नहीं। उन्होंने साधु परम्परा की निन्दा नहीं की। उनका विद्रोही स्वर सत्य की दृढ़ता लिये तो था पर उसमें किसी को नीचा दिखाने का भाव उन्हें पराजित करके अपने बुद्धिबल का झण्डा फहराने का भाव नहीं था वरन् यही भाव था कि यह सब हम सबके हित के लिए आवश्यक है। इसलिये मुझे करना पड़ रहा है। उनका विद्रोह भी मर्यादा में बँधा हुआ औचित्य की सीमा में सिमटा हुआ था।

उनकी अपनी बात कहने का तरीका, उनकी भाषा भी शिष्ट है, खण्डन-मण्डन का कटु तरीका उन्होंने नहीं अपनाया। वे अपनी बात जनता के सामने, विद्वज्जनों के सामने, विवेकीजनों के सामने रखते थे और कहते थे कि वे इसे समझने का प्रयास करें। यदि बात समझ में आ जाती है तो सहयोगी बनें नहीं तो मन में कोई कटुता नहीं लावें। वे आक्षेप नहीं करते थे, किसी की बात को काटते नहीं थे, अपनी बात कहते थे। किसी के गले उतरती है तो उसे माने बस यही उनका विनम्र आग्रह रहता था।

लोकशाह एक सामान्य वणिक परिवार में जन्मे थे। घर की आर्थिक स्थिति सामान्य ही थी। विद्याध्ययन का नियमित अवसर तो उन्हें नहीं मिला पर उन्होंने अपनी ज्ञानार्जन की लालसा को तृप्त करने की एक राह अवश्य खोज निकाली। उनका हस्त लेख सुन्दर था अतः उन्होंने लिपिक का काम करना आरम्भ कर दिया। उन दिनों आज की तरह मुद्रणालय नहीं थे। ग्रन्थ हाथ से ही लिखे जाते थे। लोकशाह ने भी 'गन्ने की बिक्री पुष्कर यात्रा' जैसा ही काम अपनाया। उनके पास जो ग्रन्थ नकल करने के लिये आते थे उन्हें वे बड़े ध्यान से पढ़ते थे और उनमें निहित विचारों पर चिन्तन, मनन किया करते थे।

जैन मतावलम्बी होने के कारण जैन साहित्य और धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन उन्हें विशेष प्रिय था। इस प्रकार नकल करने के साथ-साथ ग्रन्थों के स्वाध्याय और चिन्तन-मनन का क्रम चलता रहा। जब उन्होंने ग्रन्थों में लिखे उपदेशों के, विचारों को प्रचलित धर्म-परम्पराओं में देखने का प्रयास किया तो उन्हें लगा कि बहुत कुछ उन विचारों के विपरीत हो रहा है जो धर्म-ग्रन्थों में संग्रहित हैं तो वे धर्म-परम्पराओं में आ गयी विकृतियों को दूर करने के विषय में विचार करने लगे।

अपनी लगन, जिज्ञासा और चिन्तन, मनन के द्वारा उनके भीतर तलस्पर्शी चिन्तक का जन्म हुआ साथ ही उन विचारों को व्यवहार में लाने के कारण उनके चरित्र में एक प्रखरता भी उत्पन्न हो गयी थी। वे यह कैसे सहन कर सकते थे कि भगवान् महावीर ने जिन श्रमणों के लिये पुष्प की पंखुड़ी का स्पर्श करने और अन्न के एक कण को भी संग्रह करने का निषेध कर रखा था उन्हीं की पूजा और भक्ति के नाम पर पुष्प, अन्न और धन के संग्रह किये जायें। वीतराग कहाने वाले जैन तीर्थंकरों की प्रतिमाओं पर माणिक्य सजाये जायें। समता और वैराग्य के आदर्शों पर आडम्बरो और बाह्याचार की धूल जमते देखकर उनका हृदय वेदना से भर उठा।

यह जानते हुए कि श्रमण समुदाय के विरुद्ध विद्रोह करने के कारण उन्हें लोक-प्रतिष्ठा का मोह छोड़ना होगा, सुख, सुविधाओं को त्यागना होगा, बड़े-बड़े विरोध और आतंक सामने आयेंगे, बहुत सम्भव है प्राण विसर्जन भी करने पड़ें इस क्रान्ति यज्ञ में, उन्होंने विद्रोह का क्रान्ति का स्वर गुंजाया।

आरम्भ में उन्हें बहुत दुःख सहना पड़ा। अपने धर्मगुरु, मार्गदर्शक, गृहत्यागी श्रमणों के विरुद्ध जन-सामान्य में जो अन्ध श्रद्धा थी उस अन्ध-श्रद्धा ने उन्हें पग-पग पर अपमानित, लांछित और प्रताड़ित किया। पर वे इस प्रारम्भिक प्रतिक्रिया को अविचलित होकर सह गये। फिर तो कुछ विवेकीजनों ने उनके विद्रोह के अर्थ को समझा, सराहा और सहायता देना आरम्भ किया। पाटण का एक घनादय व्यापारी-लखपती उनका समर्थक बन गया। उसके प्रभाव से लोकाशाह के समर्थकों की संख्या में वृद्धि हुई।

‘सत्य में हजार हाथियों का बल होता है’ इस उक्ति की सत्यता, स्वामी दयानन्द, शंकराचार्य, मार्टिन लूथर, स्वामी विवेकानन्द प्रभृति कई महामानवों के कर्तृत्व में देखने को मिलती है। वही सत्य लोकाशाह के समय में भी उजागर हुआ था। एक सामान्य से लिपिक ने जिसके पास केवल सत्य का बल था उसके अतिरिक्त, न राज्य का बल था, न धन का पर उस सत्य के बल पर उसने तत्कालीन जैन परम्पराओं में श्रमण संस्कृति में जो विकृतियाँ आ गयी थीं उनके विरुद्ध सफल क्रान्ति का सूत्र संचालन किया।

परम्पराओं के मूल में जो विचार होता है वह कभी मरता नहीं है। उसका प्रारम्भिक प्रवाह तों निर्मल होता है पर आगे चलकर उसमें रूढ़ियों का कचरा आ जाता है। फिर कोई महापुरुष आता है और वह उस कचरे को दूर कर देता है। लोकाशाह ऐसे ही एक महापुरुष

थे। अपने अध्यवसाय, आत्मशक्ति और साहस के बल पर वे इस गौरव तक पहुँचे थे। ऐसा साहस जो जुटाता है वही महापुरुष की गणना में गिना जाता है।

सत्य के साधक लोकाशाह ने जब आगम के साथ तत्कालीन साधु जीवन के आचार-व्यवहार की तुलना की और उन्हें उसमें जमीन और आसमान का अन्तर दिखायी दिया। इस पर वे चुप बैठ जाते तो उन्हें यह श्रेय कभी न मिलता। वे चुप नहीं बैठे वरन् क्रान्ति के कण्टकाकीर्ण पथ पर चल पड़े। अपने पक्ष को विनम्र किन्तु दृढ़ स्वयं में मृदुता के साथ रखने के कारण उन्हें सफलता भी शीघ्र मिली। आरम्भ में उनका विरोध साधारण था पर धीरे-धीरे यह प्रबल होता गया। वे मूर्ति पूजा और वेश परिवर्तन आदि का विरोध भी करते थे।

यह बात आरम्भ में भी कही जा चुकी है कि समय की अपनी एक गति होती है। काल-चक्र अबाध गति से चलता ही रहता है। पन्द्रहवीं शताब्दी में धार्मिक क्रान्ति का वातावरण भारत में ही नहीं सारे विश्व में भी उत्पन्न हुआ था। उस विराट ब्रह्म का स्फूर्तिलग्न बनकर कुछ व्यक्ति ज्योति लिए हुए थे। उन्हीं में से एक लोकाशाह भी थे। समय की इस नियति को, गति को पहचानने और युग धर्म-पालन के लिये उठ खड़ा होने के बीच तो जनमानस में होते ही हैं ऐसे वातावरण में वे शीघ्र अंकुरित होते हैं। अतः जब लोकाशाह ने धर्म-क्रान्ति का स्वर निनादित किया तो उसकी प्रतिध्वनियाँ भी सब ओर से उठीं और क्रान्ति का महारथ बन गयीं। उनके द्वारा प्रारम्भ किया गया यह आन्दोलन दिन पर दिन समर्थ होता गया। हजारों साधक उनके इस कार्य को सफल बनाने के लिये निकल आये।

लोकाशाह को मृत्यु भी वैसी मिली जैसी प्रायः महामानवों को मिला करती है। सुकरात की तरह उन्हें भी विषपान करना पड़ा था। सत्य के लिये अपना जीवन समर्पित कर देने वालों के लिये धर्म-सरिता की धारा में आये अवरोधों को हटाने के लिये जीवन समर्पित करने वाले महात्माओं का यही अभिनन्दन किया करता है मनुष्य समुदाय।

हजरत मोहम्मद—सहिष्णुता से हृदय जीता

घटना अरब देश के एक सुसम्पन्न परिवार की है उन दिनों अरब में हजरत मूसा का मूसाई मत बड़े जोरों पर अपना प्रभाव जमाये बैठा था। उन दिनों इस धर्म में अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता और कट्टरता प्रधान रूप से विद्यमान थे।

इस धर्म से पूर्ण प्रभावित और आबद्ध अजमत नाम की एक महिला थी। इनके पति ‘अमीर’ वास्तव में अमीर थे। खुदा ने उन्हें सब कुछ दे रखा था। किसी भी वस्तु की कमी न थी। अजमत को इस बात का भी बहुत बड़ा धमण्ड था और वह पास-पड़ोस तथा मोहल्ले की स्त्रियों में अपने को नवाबजादी बताया करती थी। जब

भी वह कहीं जाती दूसरी स्त्रियों को उपेक्षा भरी नजरों से देखती और बात-चीत तथा व्यवहार में भी अभिमान एवं अहंकर टपक करता था ।

अजमत के घर के बगल से जो रास्ता जाता था उसी से इस्लाम धर्म के प्रवर्तक मोहम्मद साहब नित्य ही प्रातः-सायं वायु सेवन के लिये निकला करते थे । अपने मत को वह सही मानती थी और इस्लाम की निन्दा किया करती थी । मोहम्मद साहब से भी इसे चिढ़ थी । अजमत को ऐसी शरारत सूझी कि वह अपने घर का कूड़ा-कचरा एक टोकरी में इकट्ठा कर लेती और उनकी प्रतीक्षा में बैठी रहती थी । ज्यों ही वे उस मार्ग से निकलते त्योंही उनके ऊपर निःसंकोच भाव से फेंक देती । ऐसा लगता था मानो वह उन्हें कूड़ा-कचरा का घृण समझती हो ।

यही नित्य का क्रम चल पड़ा था । देखने वाले रहगीर और पास-पड़ोस के लोग भी हैरत करते थे । सहिष्णुता और दृष्टता दोनों में जोरों की होड़ लगी हुई थी कि देखें कौन बाजी मार ले जाता है ? अन्त में अजमत को हार माननी पड़ी । आत्मग्लानि से उसका पराजित दिल बेतरह घायल हो गया और अपने कुकृत्यों पर स्वयं पश्चाताप करने लगी । इसी अफसोस में वह बीमार पड़ गई और चारपाई पकड़ ली ।

उस दिन मोहम्मद साहब शान्त भाव से आगे निकल गये और कूड़ा-कचरा उन पर न पड़ा । इसी तरह दूसरा, तीसरा और चौथा दिन भी व्यतीत हो गया, जब अजमत बिल्कुल ही दिखाई न दी । अन्त में मोहम्मद साहब ने पास के एक पड़ोसी से पूछा, “भाई ! आज कई दिनों से बहिन अजमत दिखाई नहीं दे रही है ?” पड़ोसी मुस्कराते हुए बोला “कूड़े-कचरे का मेह सिर पर बरसते हुए अधिक आनन्द आता है क्या ?” हँसते हुए मोहम्मद साहब ने कहा, “हाँ भाई ! बहिन की इन सेवाओं को भी मुझे स्वीकार ही करना पड़ता है । इसलिये तो मुझे इतनी बेचैनी है ।” आगे पड़ोसी के द्वारा मालूम हुआ कि वह कई दिनों से बीमार है ।

अजमत की बीमारी का समाचार सुनते ही हजरत साहब का चेहरा उदास हो गया, मानो उनका कोई परम स्नेही सम्बन्धी बीमार पड़ गया हो । तुरन्त ही वे परिचारिक से आज्ञा लेकर वहाँ पहुँचे जहाँ अजमत बिस्तर पर लेटी पड़ी हुई थी । उसे इस अवस्था में देखते ही हजरत का हृदय करुणा से भर आया और बोले, “बहिन अजमत, तुम्हारी यह क्या दशा हो गई ? तबियत कैसी है ?” उन्हें देखते ही अजमत की आँखें शर्म से नीचे गड़ गई । अन्तःकरण अपने कुकृत्यों पर पश्चाताप करके नीचे दबा जा रहा था । आखिर वह बोलती क्या ? उसके आँखों के सामने तो वे सब दृश्य नाच रहे थे, जो उनके साथ व्यवहृत किये थे । हजरत उसकी कठिनाइयों और उलझनों को समझ रहे थे ।

उन्होंने अधिक वार्तालाप की आवश्यकता न समझी और तुरन्त चिकित्सा व्यवस्था में लग गये । अच्छे चिकित्सक को लिवाकर लाना, दवादारू तथा परिचर्या की व्यवस्था करना मोहम्मद साहब का दैनिक

कार्य बन गया और वह तब तक चलता रहा जब तक कि अजमत पूर्ण स्वस्थ न हो गई ।

दूसरों पर रहम करो

बदर के युद्ध में कुरैश लोग बुरी तरह परास्त हो चुके थे और हजरत मुहम्मद साहब के खून के प्यासे हो रहे थे । अनेक कुरैश युवकों ने बीड़ा उठाया था कि हम एक दिन जरूर मुहम्मद का सिर काट कर लावेंगे । दासूर उन्हीं कुरैश युवकों में से एक था ।

एक दिन दोपहर के समय हजरत मुहम्मद साहब अपने खेमे से कुछ फासले पर एक वृक्ष की छाया में लेटे हुए थे । ठण्डी-ठण्डी हवा चली, तो उनकी आँख लग गई । दासूर उनके पीछे लगा हुआ था ही । यह मौका पाया, तो वह अपने घोड़े को तेजी से दौड़ा कर उनके निकट जा पहुँचा । घोड़े की टापोँ की भनक पड़ी, तो हजरत मुहम्मद साहब जाग उठे । परन्तु, वे सम्मलने भी न पाये थे कि दासूर ने उनके कण्ठ पर तलवार रखदी और अभिमानपूर्वक कहा ‘मुहम्मद ! बोल इस वक्त तुझे कौन बचावेगा ?’

मुहम्मद साहब ने गरज कर उत्तर दिया— ‘अल्लाह !’ उनकी आवाज में ऐसी कुछ शक्ति थी कि दासूर का हृदय हिल उठा और उसके हाथ से तलवार छूट कर भूमि पर जा गिरी । मुहम्मद साहब ने फौरन पैतरा बदलकर तलवार उठा ली और उसे खींचते हुए पुनः गर्जना की— ‘दासूर ! बोल अब तुझे कौन बचावेगा ?’

दासूर काँपते हुए उनके पैरों पर गिर पड़ा और गिड़गिड़ा कर बोला— “या हजरत, अब आपके सिवा मुझे कोई नहीं बचा सकता ।”

यह सुनना था कि मुहम्मद साहब ने तलवार फेंक दी और दासूर से कहा— ‘ए बदनसीब इन्सान ! इस वक्त भी तेरे मुँह से खुदा का नाम न निकला ! उफ, तेरे पापिक मोहताज और कौन होगा ? जा, आज से दूसरों पर रहम करना सीख ।”

दासूर पर हजरत मुहम्मद के इस व्यवहार से ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह उसी समय उन पर ईमान लाया और उनका शिष्य हो गया

स्वर्ग उन लोगों के लिए है

पैगम्बर मुहम्मद के नाती हुसैन बहुत सम्पन्न थे । उनके कई दास थे । एक दिन दास खौलते जल से भरा पात्र ले जा रहा था । उधर हुसैन भोजन कर रहे थे । थोड़ा-सा जल पात्र से उछला और हुसैन के पैरों में छींटे पड़े । वे क्रोध से चीख पड़े । दास वहीं घुटने टेककर बैठ गया, पर डरा नहीं । उसने कुरान की एक आयत पढ़ी— “स्वर्ग उन लोगों के लिए है, जो अपने क्रोध को वश में रखते हैं ।”

हुसैन का क्रोध हवा में उड़ने लगा । तभी दास ने दूसरी आयत पढ़ी— “और स्वर्ग उन लोगों के लिए है, जो क्षमा करते हैं ।” हुसैन का क्रोध समाप्त हो गया । उन्होंने दास को उठाकर उसे चार सौ दिरहम देते हुए कहा— “आज से तुम स्वतन्त्र हो ?”

अब तू मेरी सच्ची बेटी है

हजरत मोहम्मद एक दिन फ़ातिमा से मिलने उसके घर गये। वहाँ जाकर देखा उनकी बेटी हाथों में चाँदी के मोटे-मोटे कंगन पहने है और दरवाज़ों पर रेशमी परदे लहरा रहे हैं। मोहम्मद साहब बिना कुछ बोले उलटे पाँव घर से वापस चल दिये और मस्जिद में जाकर रोने लगे।

फ़ातिमा कुछ न समझ सकी। उसने अपने लड़के को दौड़ाया कि देख तो तेरे नाना घर आकर एकाएक वापस क्यों चले गये।

लड़के ने जाकर देखा कि नाना मस्जिद में बैठे रो रहे हैं। उसने घर से एकाएक वापस चले आने और इस प्रकार रोने का कारण पूछा। मुहम्मद साहब ने कहा— ‘यहाँ गरीब भूख से परेशान होकर मस्जिद के सामने रो रहे हैं और वहाँ मेरी बेटी रेशमी परदों के बीच चाँदी के कड़े पहने मौज कर रही है— यह देखकर मुझे बड़ी शर्म आई और मैं मस्जिद में वापस चला आया।’

लड़के ने जाकर अपनी माँ को सारी बातें बतलाई। फ़ातिमा ने रेशमी परदों में चाँदी के कड़े बाँधकर पिता के पास भिजवा दिये। मोहम्मद साहब ने उन्हें बेचकर गरीबों को रोटी बाँटी और खुशी से जाकर अपनी बेटी से मिले और बोले— अब तू मेरी सच्ची बेटी है।

विवेक का आश्रय

हजरत मुहम्मद ने मुआज को यमना का सूबेदार बनाकर भेजा। जब सूबेदार चलने लगा, हजरत ने पूछा कि वहाँ की समस्याओं का समाधान कैसे करोगे? मुआज ने कहा, “कुरान के आधार पर”। हजरत ने पूछा, “अगर कुरान के साथ समस्याओं का तालमेल न बैठता तो?” मुआज ने कहा, “पैगम्बर की मिसाल सामने रखकर”। हजरत ने पूछा, “यदि वह भी ठीक न बैठे तब”। मुआज ने कहा, “अपनी अकल और इन्साफ को आगे रखकर काम करूँगा”।

हजरत ने इसी तरीके को ठीक बताया और समझाया कि हर बात दूसरों के कहने पर ही सही नहीं माननी चाहिये।

उद्दण्डता का प्रतिकार कैसे करें ?

अरब देश में इस्लाम अपने प्रथम चरण में था। एक बार कुछ लोग मुहम्मद साहब के पास आये। उन्होंने अतिथियों की मेहमानदारी का प्रबन्ध किया। अपने मित्रों से कहा कि एक-एक आदमी ले लो और उनकी अच्छी तरह सेवा करो।

इन मेहमानों में एक व्यक्ति अपनी उद्दण्डता के लिए कुख्यात था। उसे अपने यहाँ मेहमान बनाना किसी ने स्वीकार नहीं किया। मुहम्मद साहब ने उसे अपने यहाँ अतिथि बनाया। घर में सब लोगों के लिए जितना पका था, वह इस नीयत से सब खा गया कि सब भूखे पेट सोयें। मुहम्मद साहब ने उसे एक अलग कोठरी में सुलाया और आरामदेह बिछौना बिछा दिया। अधिक भोजन कर लेने से उसे बदहजमी हो गयी। उसने बिस्तर भी खराब कर दिया।

सुबह जल्दी उठ कर वह डर से भाग गया। जब मुहम्मद साहब उस को जलपान देने पहुँचे तो उसे न पाकर उन्हें अफसोस हुआ। फिर वे बिस्तर और कमरे की सफाई में लग गए।

वह आदमी अपनी तलवार कोठरी में ही भूल गया था। उसे लेने के लिए वह लौट पड़ा। उसे यह देखकर बहुत आश्चर्य हुआ कि उसके द्वारा अपवित्र किए कपड़े मुहम्मद स्वयं साफ कर रहे हैं और उनके चेहरे पर क्रोध का कोई चिह्न नहीं है। जब मुहम्मद साहब ने उसे देखा तो प्रसन्नतापूर्वक उस से बोले, “भाई, कहाँ चले गये थे? चलो, नाश्ता कर लो।” उद्दण्ड व्यक्ति शर्म से पानी-पानी हो गया।

श्रद्धालु को अश्रद्धालु न बनायें

हजरत मूसा ने एक अनपढ़ किसान देखा जो ध्यानमग्न होकर प्रार्थना कर रहा है— “हे परमेश्वर यदि तू मेरे पास आ जाय तो तुझे खूब स्नान कराऊँ, अच्छे कपड़े पहनाऊँ, भोजन कराऊँ और पैर दबाऊँ, सुख पहुँचाऊँ।”

किसान की प्रार्थना सुनी तो हजरत मूसा अप्रसन्न हुए और डाँटते हुए बोले— मूर्ख, ईश्वर कोई मनुष्य थोड़े ही है जो भोजन, वस्त्र आदि से प्रसन्न होगा। वह तो निराकार है।

हजरत की बात सुनकर किसान उदास हो गया और सोचने लगा भला निराकार ईश्वर की मैं क्या सेवा कर सकूँगा। मेरे जैसों के लिए तो पूजा का रास्ता ही बन्द है। दुःखी किसान ने हजरत से अपने अज्ञान की क्षमा माँगी और आगे से पूजा-प्रार्थना बन्द कर दी।

परमेश्वर ने सन्देश भेजा और कहा— मूसा हमने तुम्हें श्रद्धा उत्पन्न करने लोगों के पास भेजा था, कि श्रद्धावानों को अश्रद्धालु बनाने के लिए।

धर्म और जाति से परे— फकीर अजीजउद्दीन

“आप माला के दाने बाहर की ओर फेरते हैं और हम अंदर की ओर। बताइये इन दोनों में कौनसा तरीका श्रेष्ठ है?” पंजाब के शरी महाराजा रणजीतसिंह ने सिख साम्राज्य के विदेश मंत्री फकीर अजीजउद्दीन से पूछा और फकीर ने बड़ी बुद्धिमत्ता के साथ इस प्रश्न का उत्तर इन शब्दों में दिया— “महाराज! मुसलमान माला के दाने बाहर की ओर फेरकर दोष निकालने का प्रयास करते हैं जबकि हिन्दू अंदर की ओर फेरकर गुण ग्रहण करने का यत्न करते हैं।”

धर्म और जाति की सीमा को पाकर मानवता के अनन्य उपासक फकीर अजीजउद्दीन का जन्म नाई परिवार में हुआ था। इनके पूर्वज बुखारा से आए थे। लाहौर के प्रमुख हकीम लाला हाकिमराय के पास रहकर इन्होंने चिकित्सा का कार्य सीखा और अपनी योग्यता तथा परिश्रमशीलता के आधार पर यह राज-दरबार के चिकित्सक बन गए। इतना ही नहीं फकीर अजीजउद्दीन महाराजा रणजीतसिंह के प्रमुख परामर्शदाता, उच्च श्रेणी के मनोविज्ञानवेत्ता तथा बड़े प्रतिभावान व्यक्ति थे। उनके जीवन की सरलता, सादगी तथा चरित्र की उत्कृष्टता का महाराजा पर विशेष प्रभाव था।

अजीजउद्दीन अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। जब महाराजा की जिह्वा पर आंशिक रूप से लकवे का प्रभाव हो गया था तब तो इनके उत्तरदायित्वों का क्षेत्र भी बढ़ गया था। उच्च अधिकारियों से परामर्श के समय अजीजउद्दीन अनुवादक एवं प्रवक्ता के रूप में सामने आते थे। महाराजा को उनमें कुशल कूटनीतिज्ञ के गुण दिखाई दिए। इसलिए ईस्ट इंडिया कंपनी से पत्र-व्यवहार करते समय उनसे सलाह लिया करते थे।

सैनिक और नागरिक सेना में धर्म और जाति भेद को प्रश्रय न देने की नीति में अजीजउद्दीन की प्रेरणा ने ही काम किया था। महाराज की सेनाओं को सही अर्थों में राष्ट्रीय कहा जा सकता था क्योंकि धर्म और जाति के भेदभाव को तिलांजलि देकर सेना में सभी वर्गों के व्यक्तियों को भर्ती किया गया था। मुसलमान, सिख, ईसाई, डोगरा, राजपूत और गोरखा सभी तो सेना में थे। ये सैनिक राष्ट्र हित में अपने प्राणों को न्योछावर करने के लिए सदैव तैयार रहते थे। सैन्य संगठन और संचालन में अजीजउद्दीन का प्रमुख हाथ था।

युद्ध संचालन की तरह शांति स्थापना हेतु उनके प्रयत्नों को भी भुलाया नहीं जा सकता। घटना सन् १८०९ की है। सर चार्ल्स मेटकाफ सिख राज्य की सीमा निर्धारण हेतु आए हुए थे। दोनों ओर की सेनाएँ तैयार थीं। स्वर्ण मंदिर, अमृतसर के शहीदी जत्थे ने गोरी सेना पर आक्रमण कर दिया। उस समय स्थिति बड़ी भयंकर हो गई। ऐसी विकट स्थिति में अजीजउद्दीन ने महाराजा को सलाह दी कि वह अपने गोविंदगढ़ दुर्ग से निकल कर सफेद रूमाल हिलाते हुए सर चार्ल्स मेटकाफ के डेरे की ओर बढ़ें। उनका यह प्रयास शांति का प्रतीक माना जायेगा। महाराजा ने ऐसा ही किया। दोनों ओर से मोर्चे बंदी थी। लड़ाई की पूरी तैयारी थी। अजीजउद्दीन की सूझ-बूझ का ही यह परिणाम हुआ कि अमृतसर की युद्ध बंदी संधि हो गई और सारे पंजाब में शांति की स्थापना हुई। न जाने इस भयंकर युद्ध से कितनी धन-जन की हानि होती? महाराजा रणजीतसिंह और सर विलियम बैंटिक के मध्य जो संधि हुई थी, उसके पीछे भी अजीजउद्दीन का ही हाथ था।

जब काबुल के दोस्त मोहम्मद ने सिखों के विरुद्ध जिहाद की घोषणा की और अफगानिस्तान की सीमा पर मोर्चेबंदी होने लगी उस समय भी अजीजउद्दीन ने आगे बढ़कर वार्तालाप की पहल की और महाराजा को रक्तविहीन विजय दिलवाई। अजीजउद्दीन विदेश मंत्री के रूप में लोकप्रियता प्राप्त करते जा रहे थे। राज्य स्तर की गुप्त से गुप्त मंत्रणा भी इनके अभाव में अपूर्ण मानी जाती थी। वे इस्लाम के अनुयायी होते हुए भी हिन्दू धर्म के प्रति पूरी श्रद्धा रखते थे। दिसंबर १८४५ में देशभक्त अजीजउद्दीन ने अंतिम साँस ली।

भक्ति-मार्ग के अविचल पथिक—

सनम साहब

जहाँ इष्ट और उपासक का प्रश्न है वहाँ यदि उपासना, भक्ति में अविचल निष्ठा से तों व्यक्ति धर्म और सम्प्रदाय की संकीर्णताओं

से ऊपर उठकर सार्वजनीन प्रेम के चरम सत्य तक पहुँच जाता है अपनी उत्कट भक्ति के कारण। उसके लिए फिर मानव मात्र में कोई भेद नहीं रहता। कई कृष्ण भक्त मुस्लिम सन्तों ने हिन्दू, मुस्लिम के विभेद से ऊपर उठकर जन-सामान्य को प्रेम और भक्ति की रस सरिता से आप्लावित किया है। रहीम, रसखान प्रभृति सन्त इसी कोटि के थे। उसी परम्परा की एक कड़ी थे, सनम साहब।

अपने मार्मिक और भक्ति भावपूर्ण प्रवचनों में उन्होंने श्रीकृष्ण के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए बताया था— “श्रीकृष्ण को हम दो रूपों में भजते हैं— निराकार और साकार। निराकार तीन रूपों में अभिव्यक्त होता है— प्रेम, जीवन तथा आनन्द के रूप में। प्रेम ही जीवन विधान है। जीवन सत्यता का आधार है तथा आनन्द ही जीवन का मूल उद्देश्य है। श्रीकृष्ण में ये तीनों भाव प्रखर रूप में उद्भासित हुए हैं। श्रीकृष्ण की भक्ति करने का अर्थ इन तीनों में गहन आस्था रखना है। जो इन तीनों में आस्था रखता है उससे इस जगत का कोई अहित नहीं हो सकता है। होगा तो मंगल ही। भक्ति का अर्थ यही है कि व्यक्ति में, अपने इष्ट में निहित महाभाव-उपासक में भी उतरे। श्रीकृष्ण का निराकार रूप सब के लिये उपास्य है। उसके लिये हिन्दू, मुस्लिम का भेद करना बेमानी है।” सनम साहब के कथन में निहित इस सत्य को सभी धर्मावलम्बी समझ सके होते तो धर्म के नाम पर असहिष्णुता कहीं देखने को नहीं मिलती।

परम सत्य-परमात्मा तक पहुँचने, ईश्वर को पाने के कई मार्ग हैं। उन्हीं में से सबसे सुगम और सहज मार्ग है— भक्ति मार्ग। यही मार्ग सामान्य जन के लिये उपयोगी है। मन्दिर, मस्जिद और गिरजों की स्थापना इसी के लिये की गयी है। ये सब एक-दूसरे के विरोधी न होकर पूरक हैं। इतने अधिक मार्ग होने से मनुष्य को अपने लिये उपयुक्त, मनभावन मार्ग को पाने के अधिक अवसर मिले हैं किन्तु इन्हें रूढ़ नहीं बना दिये जायें, इतने जटिल न बना दिये जायें कि पारस्परिक सौमनस्य-सहिष्णुता ही नष्ट हो जाय। सनम साहब का जीवन इसी रूढ़िता को मिटाने का अथक प्रयास कहा जा सकता है।

उन्नीसवीं सदी के आठवें दशक के प्रथम चरण में अजमेर के एक मुस्लिम परिवार में जन्मे मोहम्मद याकूब खाँ का बड़े होकर सनम साहब बन जाना यह स्पष्ट करता है कि धर्म व्यक्ति की आस्थाओं पर टिका होना चाहिये न कि जन्म पर। पिता हिन्दू धर्मावलम्बी है या इस्लामपरस्त है यह आवश्यक नहीं कि पुत्र भी उसी मत को माने। ईश्वर में उसकी आस्था जिस मार्ग का अनुसरण करके दृढ़ होती है, मानवता और लोक-मंगल की भावनाएँ जिस पथ पर चलकर क्रियात्मक अभिव्यक्ति पाती हैं उसे ग्रहण करने में कोई बाधा, दबाव न हो।

किशोर मोहम्मद याकूब को रसखान, सूर आदि कृष्ण भक्त कवियों की रचनाओं ने ऐसा मोहा कि वे भी उसी भाव-सरिता में बह चले। पिता सम्पन्न थे, पढ़ने की जिज्ञासा मन में थी ही सो अपनी लगन और परिश्रम जुटाकर वे संस्कृत, हिन्दी, फ़ारसी, उर्दू, अंग्रेजी आदि भाषाओं के ज्ञाता बन गये। इन सभी भाषाओं में प्रकाशित होने वाले कृष्ण भक्ति साहित्य का गहन अध्ययन किया। श्रीकृष्ण

भक्ति के सर्वांगपूर्ण चरित्र ने उन्हें ऐसा मोहा कि उन्होंने अपना सारा जीवन उनकी भक्ति करते हुए लोकसेवा में लगा देने का निश्चय कर लिया ।

अपने गुरु की आज्ञा लेकर उन्होंने देश भर में कृष्ण भक्ति और उसके साथ जुड़ी हुई सार्वजनीन प्रेम, जीवन के प्रति दृढ़ आस्था और सुख-दुःख से ऊपर उठकर आनंद के नित्य रस का रसास्वादन करने की भावनाओं का प्रचार करने का उद्योग किया । कहना न होगा कि इस प्रचार के पीछे लोकहित की उत्कट भावनाएँ छिपी हुई थीं ।

सनम साहब एक मुस्लिम परिवार में उत्पन्न हुए थे अतः कई मुस्लिम धर्मावलम्बी यह समझते थे कि वे मुसलमान हैं, उन्हें कृष्ण भक्ति का प्रचार नहीं करना चाहिए । किन्तु उन्होंने न तो इस्लाम को छोड़ा था और न हिन्दू धर्म को ग्रहण किया था । वरन् वे तो कृष्ण के परम भक्त बन गये थे । उनकी दृष्टि करुणामय हो चुकी थी जिसमें हिन्दू, मुसलमान के विभेद का कुछ भी महत्त्व नहीं था । वे उपासना के क्षेत्र में संकीर्णता को महत्त्वहीन मानते थे ।

उनकी इस दृष्टि को समझ सकना कई इस्लाम मतावलम्बियों के लिये दुष्कर था । वे उन्हें समझाने के लिये उनके पास पहुँचे । उन्होंने बताया कि आप मुसलमान हैं आपको हिन्दुओं के भगवान् कृष्ण की भक्ति नहीं करनी चाहिए और न ही उसका प्रचार । इस पर सनम साहब ने बताया कि ईश्वर के दरबार में न कोई हिन्दू है न मुसलमान, वह अपने प्रभु को जिस रूप में भजना चाहे वह उस रूप में भज सकता है । भक्ति और उपासना के क्षेत्र में उसके लिये स्वतन्त्रता आवश्यक है । चाहे जिस मार्ग से हो मनुष्य को मनुष्य बनना चाहिए यह उसकी इच्छा पर है कि वह अपने लिये कौनसा मार्ग उपयुक्त समझता है ।

समझाने-बुझाने का उन पर कोई असर नहीं हुआ तो कुछ संकीर्ण-मना धर्मान्ध लोगों ने उनके जान से मार देने की धमकियाँ भी दीं । पर वे विचलित नहीं हुए उन्हें ईश्वर ने जिस प्रयोजन से भेजा है वह पूरा होने तक तो उन्हें कोई मार नहीं सकता । “उसे जब तक मुझसे कोई काम लेना होगा तब तक तो मेरा कोई कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सकता ।” यह उनका विश्वास था अतः वे धमकियों से डरे नहीं । कई बार उन पर आक्रमण भी हुए पर हर बार वे बच जाते ।

अजमेर में ‘श्रीकृष्ण पुस्तकालय’ उन्हीं के सद्प्रयासों के फलस्वरूप स्थापित हुआ । इस पुस्तकालय के लिये १२०० दुर्लभ ग्रन्थों को संग्रहित करने के लिये उन्हें बड़ा श्रम करना पड़ा था । धर्म और उपासना के क्षेत्र में मनुष्य की स्वतन्त्रता और सभी धर्मों की पारस्परिक सहिष्णुता का यह स्मारक छोटा भले ही हो कम महत्त्वपूर्ण नहीं है ।

सन् १९३४ में महामना मालवीय जी ने उन्हें वाराणसी आमन्त्रित किया । इनसे भक्ति विषयक वार्तालाप करने पर— उनके लोक-हितकारी विचारों को सुनकर वे बहुत प्रभावित हुए । सनम साहब ने व्यक्तित्व में जिस भक्ति, ज्ञान और विद्वता की त्रिवेणी बही थी उसे देखकर वे बहुत-बहुत प्रसन्न हुए । महामना ने अपने क्षेत्र में उनके

कई प्रवचन कराये । उनकी निष्ठा और भक्ति से कई हिन्दू सन्त, भक्त भी बहुत प्रभावित हुए थे ।

कीर्तन करना उनके नित्य कर्म का महत्त्वपूर्ण अंश था । कीर्तन के माध्यम से जन-मन में भक्ति और उदात्त जीवन दृष्टि का रसोद्रेक करना और उसे दिशा देने में वे सिद्धहस्त थे । उन्हीं जैसे एक ईसाई कृष्ण भक्त रोनाल्ड निकसन से भी उनका निकट सम्पर्क रहा । भारतीय संस्कृति और धर्म के एक पहलू भक्ति मार्ग पर आरूढ़ रहकर जन-जीवन में धर्म-श्रद्धा को बनाये रखने का उसे विकसित, परिपुष्ट करने का उनका जीवन यज्ञ अबाध गति से चलता रहा था । मार्ग के अवरोधों की परवाह उन्होंने कभी नहीं की ।

वे किसी की आस्थाओं पर चोट नहीं करते थे । वे श्रीकृष्ण को अवतार मानते थे, पर जो उन्हें महापुरुष मानते थे उनसे वे किसी प्रकार का कोई मलाल नहीं रखते थे विवाद करने की अपेक्षा वे अपनी भावना को स्पष्ट कर देने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते थे ।

१५ अगस्त सन् १९४५ में श्रीकृष्ण की लीला भूमि ब्रजभूमि में उनका देहावसान हुआ । जिस प्रकार जाति का जन्म से कोई सम्बन्ध नहीं होता उसी प्रकार किसी विशेष धर्मावलम्बी के घर उत्पन्न होकर ही कोई उस धर्म का अनुयायी नहीं बन जाता यह तो अपनी श्रद्धा का विषय है । व्यक्ति को धार्मिक होना चाहिए यह तो आवश्यक है पर उसके लिये कोई दुराग्रह पालना ठीक नहीं । इस तथ्य की सत्यता और न्यावहारिकता को उनके जीवन में स्पष्ट देखा जा सकता है ।

अन्याय के विरोधी— हजरत इमाम हंबल

हजरत इमाम अहमद हंबल ईराक के प्रख्यात सन्त थे । उनका ज्ञान अगाध और वैराग्य अटल था । धर्माधता के वे कट्टर विरोधी थे तथा कुरान की भ्रान्त व्याख्याओं का स्पष्ट खण्डन करते थे । तत्कालीन रूढ़िवादी काजियों के निहित स्वार्थों को इससे चोट पहुँचती । वे कुरान शरीफ की विवेकपूर्ण व्याख्या कर ऐसे काजियों के आचरण की असलियत उघाड़ कर रख देते । इन काजियों की राजसत्ता में पहुँच व सहभागिता थी । उन्होंने खलीफा के कान भरे । कहा गया कि सन्त कुरान शरीफ की गलत-सलत व्याख्या कर उस पवित्र ग्रन्थ का अपमान कर रहे हैं ।

वयोवृद्ध सन्त को बन्दी बनाकर खलीफा के महल के सामने लाया गया । अन्यायी शासक के अमानवीय अत्याचारों की अनेक घटनाएँ सन्त ने सुन-जान रखी थीं । अतः उन क्रूरताओं का स्मरण कर उनके मन में उथल-पुथल-सी मच रही थी ।

तभी महल के द्वार पर पहरा दे रहा एक सिपाही सन्त के समीप पहुँचा और फुसफुसाकर कहने लगा— “हजरत, सच्ची बहादुरी दिखाइएगा । जुल्म से डरिएगा नहीं । मैं एक बार चोरी के जुर्म में पकड़ा गया । मुझे एक हजार कोड़ों की सजा दी गई । मैंने कोड़े सह

लिए, पर जुर्म कबूल नहीं किया और मुझे छोड़ दिया गया। मैंने झूठ के लिए इतनी हिम्मत दिखाई, तो फिर आप तो सच के लिए कष्ट सहेंगे। “डर कैसा ?”

वृद्ध सन्त को लगा, जैसे कोई दिव्य-ज्योति पथ-संकेत कर रही है। भावविह्वल हो उठे। वे बोले— “मेरे आत्मीय ! तूने सही समय पर मुझे जगाया है।”

खलीफ़ के दरबार में सन्त सत्य-पक्ष पर अडिग रहे। असत्य के अभ्यस्त लोग भला यह कैसे सहते ? हजार कोड़ों का दण्ड सन्त को दिया गया। हजरत इमाम अहमद का वृद्ध शरीर इतने बेंत सहने लायक नहीं था। पर उनका मन प्रसन्न-संतुष्ट था। क्रूर प्रहारों से शिथिल उनका शरीर धराशायी हो गया। मृत्यु से मिलने की बेला में भी हजरत को उस चोर-सिपाही की बातें याद रहीं और प्रफुल्लित से उन्होंने शरीर त्यागा।

धर्मगुरु और शासक हजरत उमर जिन्होंने जिम्मेदारी निभायी

इस्लाम धर्म के आरम्भिक दिनों में शासन-व्यवस्था के साथ-साथ सत्प्रवृत्तियों के सुसंचालन का दायित्व भी उनके कंधों पर रहता था, इसलिए खलीफ़ वे ही बनते थे, जो व्यक्तित्व की दृष्टि से इसके योग्य होते थे। फलस्वरूप इस कांटों के ताज को पहनने के लिए आपाधापी भी नहीं होती थी। त्रुटियों के भय से उस दायित्व से कतराते भी थे, पर उस आवश्यकता की पूर्ति किये बिना काम चलता भी नहीं था। इसलिए आत्मविश्वासी लोगों को इसके लिए आगे आना भी पड़ता था। वे सामान्य लोगों से अधिक कठिनाइयाँ उठाते थे सतर्कता बरतते थे, फिर भी उस कठिन दायित्व के निर्वाह की अग्नि-परीक्षाओं में उत्तीर्ण ही होते रहते थे।

खलीफ़ों की जीवन गाथाओं में ऐसे ही प्रेरणाप्रद संस्मरण बड़ी मात्रा में भरे हुए हैं। इन्हीं में से कुछ का उल्लेख नीचे किया जाता है। यदि ऐसी विशेषताएँ उनमें न रही होतीं तो अपने प्रयास को इतना व्यापक, लोकप्रिय बनाने में ये कदाचित् ही सफल हो सके होते।

रसूल के न रहने पर विरोधियों की बन आयी थी। वे न केवल झूठे-सच्चे आरोप लगाने लगे, वरन् लुक्छिपकर तथा आम्ने सामने आक्रमण भी करने लगे। साधारण लोग राज्य कर स्वेच्छापूर्वक चुकाने में भी आनाकानी करने लगे। ऐसी दशा में बहुमुखी मोर्चे को सँभालना असाधारण काम था, जिसे हजरत अबूबक्र ने बड़ी कुशलतापूर्वक निबाहा।

उन्होंने शासन सँभालते ही जनता को एकत्रित करके कहा— “लोगो ! मैं तुम पर शासन करने के लिए नियुक्त किया गया हूँ, लोगो ! मैं तुमसे अच्छा नहीं हूँ ? यदि मैं भलाई का काम करूँ तो मेरी सहायता करो और अगर बुराई की ओर बढ़ूँ, तो मुझे ठीक कर दो। जब तक मैं श्रेष्ठता के मार्ग पर चलूँ तो मेरा कहना मानना, जब इसके विपरीत करूँ तो मेरी आज्ञा पर चलना अनिवार्य नहीं है।”

शासकीय कर्मचारियों से उन्होंने कहा— “खुदा के बन्दों के साथ भलाई करो, भेद-भाव या पक्षपात से दूर रहो। अपने अधिकारों से निकट संबंधियों और मित्रों को साधारण लोगों की तुलना में अधिक लाभ न पहुँचाओ। अपने अधीनस्थ के दुःख-दर्द में सम्मिलित रहो। ऐसा न हो कि वे आपत्ति में हों और तुम मजे करो।”

हजरत अपने बचे हुए समय में निर्बलों की सेवा करने के लिए अवसर निकालने में उत्सुक रहते थे।

खलीफ़ बनने से पूर्व वे एक बूढ़ी औरत की बकरियाँ चुरा लिया करते थे। जब वे शासक के पद पर पहुँचे, तो बुढ़िया ने उलाहना देते हुए कहा— “अब तो खलीफ़ हो गये हो, हमारी बकरी चुराने और दुहने क्यों आया करोगे ?” हजरत ने मुस्कराते हुए कहा— “नहीं अभी भी मैं तुम्हारी बकरियाँ दुहता रहूँगा।”

— वे खलाफ़त में व्यस्त रहते हुए भी अपने पुश्तैनी धन्ये कपड़ा बेचने के लिए समय निकाल लेते थे, ताकि निर्वाह के लिए जनता का पैसा खर्च न करना पड़े।

— कोई उन्हें आतिथ्य में शरबत पिलाता तो इन्कार करते और सादा पानी ही पीते। एक बार शाही भण्डार में जमा शहद में से एक गिलास शरबत बना कर दिया। वह भी उन्होंने यह कहकर लौटा दिया कि यह बीमारों और कमजोरों के लिए सुरक्षित रखा जाय।

— स्वर्गवास के समय उन्होंने अपनी सारी निजी सम्पत्ति राज्यकोष में जमा कर दी। वह मात्र मुट्ठी भर कीमत की थी। कफन के लिए उन्होंने नया कपड़ा इस्तेमाल करने से मना ही कर दिया और कहा— मुर्दे के लिए पुराने कपड़े का कफन काफी है। नया कपड़ा तो जीवित को चाहिए। वे अपने बड़प्पन का इजहार करने के साथ-साथ यह भी कहते कि “दुनिया में सामर्थ्यवानों और साधन वालों का उत्तरदायित्व कहीं अधिक बढ़ जाता है।” कयामत के दिन उनसे पूछताछ अधिक होती है और लम्बे एमालनामे की अच्छी खासी कुरेदबीन की जाती है।

हजरत सुलेमान के पास कुछ शिक्षार्थी विद्या ग्रहण करने आया करते थे। गुरु शिष्य मिलकर निर्वाह सम्बन्धी घरेलू कार्यों को पूरा किया करते थे। गुरु हमेशा यह प्रयत्न करते कि बच्चों को कम और उन्हें अधिक काम करने का अवसर मिले। वे पढ़ाते भी जाते और काम भी करते जाते। इस प्रकार बिना किसी नौकर की सहायता के मिल-जुल कर सारे काम निपट जाते। रोटी बनाने से लेकर पशु चराने तक।

सीरिया से एक अमीर कुछ सामान लेकर आ रहा था। बोझ भारी था। रास्ते में हजरत सुलेमान मोटे कपड़े पहने और सादे वेशभूषा में मिले। उसने मजूर समझकर गद्दा ले चलने का हुक्म दिया। हजरत ने खुशी-खुशी उठा लिया और उसके घर तक पहुँचाया। जब घेद खुला कि यह तो यहाँ के शासक हजरत सुलेमान हैं तो घबराया और माफ़ी माँगने लगा। हजरत यही कहते रहे— “खिदमत का मौका देकर तुमने अहसान ही किया है। माफ़ी किस बात की।”

हजरत उमर इब्न अब्दुल अजेजा ने मरते समय अपने बच्चों को बुलाया। उनके लिए न वे कुछ सम्पत्ति जमा कर सके थे और

न उन्हें योग्य बना सके थे। इसका कारण बताते हुए उन्होंने बच्चों को समझाया कि मेरे सामने दो ही रास्ते थे। एक तुम लोगों के लिए खुशहाली की सोचता। दूसरा यह कि दीन की सेवा का जो काम सिर पर आया उसे पूरा करता। दोनों में से एक ही काम हो सकता था सो मैंने दूसरा ही चुना। तुम मेरी स्थिति को समझना और खुद भी ऐसा ही करना।

सीरिया फतह करने के बाद वहाँ के शासक सईद बिन आमिद नियुक्त किये गये। समय निकल कर बड़े अफसर को वहाँ के असहाय असमर्थों की सहायता करने भेजा गया। सूची बनी तो सबसे निर्धन वहाँ के शासक सईद का नाम आया। हजरत उमर ने जब उनकी इतनी गरीबी सुनी तो दीनारों की एक थैली भेजी ताकि वे गरीबी से छुटकारा पा सकें। पर उन्होंने वह पैसा लिया नहीं और धर्म युद्ध में लगे सैनिकों की जरूरतों के लिए भेज दिया। वे गरीबी में ही दिन कटते रहे।

हजरत सुलेमान जब मरने लगे तो उनकी आँखों से पानी बह रहा था। लोगों ने पूछा तो उन्होंने कहा— मैं रसूल के राहें कदम न चल सका। उन्होंने कहा था कि आदमी के पास इतना सामान होना चाहिए जितना एक मुसाफिर के पास होना चाहिए। पर मैं तो अपना सामान इतना बिखरा देख रहा हूँ। सारा सामान बेच कर वह धर्म-सभा में जमा किया गया। उसकी कीमत बीस दिरम उठी। उस वजन को हलका करके हजरत ने अपना मन हलका कर लिया।

शासक सईद के पास हजरत उमर की शिक्षाएँ पहुँची कि वे लोगों से मिलने के लिए कम वक्त निकालते हैं। जाँच करने पर मालूम हुआ। उनके पास एक ही कपड़ा था जिसे धोते और सुखाते। तब तक नंगे होने के कारण घर से बाहर न निकलते। दिन भर घर का काम करते। बीबी उतनी मेहनत करने की स्थिति में नहीं थी। रात को वे घण्टों नमाज पढ़ते। इतने पर भी जो समय मिलता उसमें लोगों से मिलते और उनकी सारी जरूरतें पूरी करते।

हजरत उमर को मदीने बुलाया गया। उनकी आर्थिक तंगी की रिपोर्ट मिल चुकी थी सो आवश्यक सामान ले जाने के लिए उनके सामने रखा गया।

उमर ने कहा— सात सैर जौ घर छोड़कर आया हूँ सो अनाज का संग्रह करके क्या करूँगा। हाँ बीबी को एक धोती में गुजर चलाते कठिनाई होती है, सो उसके लिए एक और ले लेता हूँ। सुल्तान ने हजरत उमर से कहा— “यदि आप जैसे त्यागी और कर्मठ कुछ और मिल पाते तो मिल्लत का आसमान चूमने का मौका मिलता।”

हजरत उस्मान बहुत बड़े व्यापारी थे। मदीने में उन दिनों अकाल पड़ा हुआ था। अनाज के लाले पड़ रहे थे। हजरत उस्मान ने एक हजार ऊँट अनाज मदीने भेजा। यद्यपि व्यापारी उसे खरीद कर भारी लाभ उठाना चाहते थे। पर उन्होंने उन्हें बीच में नहीं पड़ने दिया और हर स्थिति के व्यक्ति को उसके कहे दाम पर अनाज दे दिया। फलतः यह अकाल का वर्ष बिना भुखमरी का सामना किये गुजर गया।

सूफी सन्त ‘सरमद’

औरंगजेब जब मरने लगा तो उसने कई मुल्लाओं को बुलाया कि मुझे अपने तीन पाप बहुत भारी मालूम पड़ते हैं। आप लोग किसी तरह उन्हें खुदा से माफ करा दें। तीन पाप थे (१) पिता को जेल में बन्द करा देना। (२) दारा वगैरह भाइयों को कत्ल करा देना तथा (३) सूफी फकीर सरमद का सिर उतरवा लेना। गुनाह माफ हुए या नहीं यह तो ईश्वर ही जाने पर यह स्पष्ट है कि मरते समय उसे इन पापों का रंज अवश्य था।

सरमद सूफी सन्त थे। मध्य ऐशिया से भारत व्यापार के लिए आये थे। पहले वे सिन्ध में तिजारत करते रहे, साथ ही सूफी पन्थ का प्रचार भी। जन्मतः वे यहूदी थे। बाद में मुसलमान हुए और अन्त में वेदान्त धर्म के अनुयायी हो गये। दारा उनकी विद्वता और भक्ति से बहुत प्रभावित थे। औरंगजेब ने जब दारा को कत्ल करा दिया तो उसे यह भय बराबर बना रहा कि दारा के मित्र और जनता में अत्यन्त लोकप्रिय सरमद कहीं उसके लिए कोई संकट खड़ा न करें। वे उसकी आँखों में काँटे की तरह खटकने लगे।

एक दिन औरंगजेब सरमद के पास से गुजरे। देखा कि वे गंगा-धड़ंग पड़े हैं। कम्बल दूर पड़ा है। औरंगजेब ने कड़ककर कहा— गंगा क्यों पड़ा है, पास में पड़े कम्बल से बदन क्यों नहीं ढक लेता, सरमद ने कहा— इतनी कृपा आप ही कर दें। मुझे तो बन नहीं पड़ता। औरंगजेब ने कम्बल उठाया तो उसके नीचे उन सबके सिर थे जिन्हें उसने कत्ल कराया। औरंगजेब के बूते कम्बल न उठा। तो सरमद ने कहा— तू ही बता— तेरे पापों को ढकना ज्यादा जरूरी है या अपने बदन को ढकना।

सरमद का दिल्ली की जनता पर असप्रधारण प्रभाव औरंगजेब से देखा न गया। उसके इशारे पर मुल्लाओं ने इल्जाम लगाया कि वह अधूरा कलमा पढ़ता है। अदालत में पेश किया गया तो वहाँ भी उसने वह अधूरा ही सुनाया ‘ला इला इललिलाह’ जिसका अर्थ होता है। सभी दोषी हैं। शेष अंश जो रह गया था। वह था। मुहम्मद ‘रसूलिल्लाह’। सरमद का कहना था कि मैंने अभी उस देवदूत का दर्शन नहीं किया। जिन्हें देखता हूँ, दोषी पाता हूँ। इस कथन पर मुल्लाओं की अदालत में सरमद को दोषी पाया गया और उसका सिर उतार लेने का हुक्म हुआ। सरमद का सिर काट लिया गया। जब सिर कटा तो उसमें से तीन बार आवाज निकली— ‘ला इलाह इल्लिल्लाह’। सरमद के सच्चे विश्वास की इस गवाही को देख कर सभी दंग रह गये।

जिस दिन सरमद का सिर कटा उस दिन पूरी दिल्ली में रंज मनाया गया। न किसी के घर में चिराग जला न चूल्हा। बादशाह के सामने कोई कुछ कह ही नहीं सकता था, पर इतना सभी ने अनुभव किया कि एक बेगुनाह सच्चे फकीर का कत्ल हुआ।

औरंगजेब के मन पर उस अन्याय का बोझ जिन्दगी भर लदा रहा और जब वह मरा तब भी उसे वह गुनाह बेतरह अखरता रहा।

सूफ़ी सन्त अपनी भक्ति भावना के लिए भारत भर में लोकप्रिय रहे। अजमेर के ख्वाजा भी सूफ़ी थे। जिनकी दरगाह पूजने हिन्दू, मुसलमान सभी जाते हैं। सूफ़ी धर्म के सिद्धान्त, हिन्दुओं के वेदान्त दर्शन से पूरी तरह तालमेल खाते हैं। सरमद की कब्र दिल्ली में है जिन्हें उनका इतिहास स्मरण है उन सब के सिर उस स्थान के समीप जाकर झुक जाते हैं।

प्रेम और सेवा का अवतार— महात्मा फरशाद

बहराम बिन फरशाद फ़ारस देश के एक बड़े सन्त हुए हैं। उन्होंने प्रेम और सेवा के रूप में भगवान् की प्राप्ति की थी। वे कहा करते थे कि मनुष्य को हर साँस पर भगवान् का नाम लेना चाहिए। आई हुई एक श्वास ही अपनी होती है। आने वाली दूसरी साँस का कोई भरोसा नहीं। वह आ भी सकती है और नहीं भी। इसलिये अपनी किसी साँस को भगवान् के नाम के बिना बेकरार नहीं जाने देना चाहिए।

महात्मा बहराम बिन फरशाद भगवान् का नाम लेते-लेते इतने भाव-विभोर हो जाते थे कि रोने लगते थे। उनके लिये प्रसिद्ध था कि उनके सामने कैसा ही क्रूर और कुटिल आदमी क्यों न जाये वह भी उनकी प्रेम भावना से प्रभावित होकर सज्जन बन जाता था। महात्मा बहराम बिन फरशाद सब में भगवान् की ज्योति देखते थे और हर आने वाले को खुद ही पहले उठकर प्रणाम किया करते थे।

एक बार एक बड़ा ही दुष्ट आदमी उनकी प्रेम-परीक्षा लेने गया। महात्मा बहराम बिन फरशाद उस समय भगवान् का भजन कर रहे थे। उस आदमी को आया देखकर विह्वल होकर दौड़ पड़े और आलिंगन करते हुए बोले—“मेरे भगवान् तुम आ गये। आइये और मेरे पास बैठकर मुझे कृतार्थ करिये।” कहने के साथ उन्होंने प्रेमाश्रुओं से उस आगन्तुक के कपड़े भिगो दिये। आगन्तुक अवाक् रहकर उन्हें देखता रहा। फिर उनके पैरों पर गिरकर रो उठा और बोला—महात्मन ! मुझे क्षमा करें। मैंने आपको गलत समझा। आप साक्षात् प्रेम के अवतार हैं। बाद में वह दुष्ट व्यक्ति उनका शिष्य बनकर बड़ा भारी सन्त बना।

एक बार महात्मा बहराम बिन फरशाद कहीं जा रहे थे। उन्होंने देखा कि एक सिपाही एक आदमी को बुरी तरह मार रहा है। वे उसके पास पहुँचे और पूछा—“भाई आप इस आदमी को क्यों मार रहे हो। इसने क्या अपराध किया है।

सिपाही बोला— इसका भाई मेरे पास नौकर था। मैंने उसे पेशगी रुपये दे रखे थे। मगर वह भाग गया। अब मैं इससे रुपये माँगता हूँ तो यह नहीं देता। इसलिये इसे पीट-पीट कर रुपये वसूल करने की कोशिश कर रहा हूँ। यह बेईमान सीधी तरह मेरे रुपये थोड़े ही देगा।”

महात्मा बहराम बिन फरशाद ने कहा— भाई तुम्हारे रुपये तो इसका भाई लेकर भाग गया है और तुम मार इसे रहे हो। इसका अर्थ तो यह हुआ कि यदि कोई आदमी अपराध करके भाग जाय और

न मिले तो उसका दण्ड उसके किसी सम्बन्धी को दिया जा सकता है। यदि आपके भाई की गलती के लिये कोई आपको दण्ड देने लगे तो क्या उसे आप उचित कहेंगे। मेरा ख्याल है, शायद नहीं। इसी तरह इस बात को समझ लो। आप अन्याय तो खुद कर रहे हैं और बेईमान इस बेचारे को बतला रहे हैं। यह तो ठीक नहीं।

वह सिपाही बड़ा अहंकारी था। बात का महत्त्व समझने के बजाय महात्मा बहराम बिन फरशाद पर सीधा हो गया। अपनी मुसीबत किसी भले आदमी के सिर पर जाते देखकर वह आदमी बोल उठा—“मैं अपने भाई को बुलवा दूँगा।” सिपाही उसकी तरफ घूमा और बोला, “तब तक मेरा काम कौन करेगा?”

महात्मा बहराम बिन फरशाद ने तुरन्त उत्तर दिया—“तब तक आपको काम मैं करूँगा।” सिपाही तैयार हो गया और उन्हें अपने घर लेकर चला गया।

महात्मा बहराम बिन फरशाद बड़े प्रेम और लगन से सिपाही के घर का सब काम करने लगे। वे झाड़ू, बुहारी लगाने, पानी भरने, आटा पीसने और बरतन साफ करने से लेकर सबको नहलाने-धुलाने तक का काम करते थे। जो कुछ खाने-पीने को मिल जाता था खा-पी लेते थे, भजन का समय मिल जाता था कर लेते थे नहीं तो उसी सेवा को भगवान् का भजन समझ लेते थे। इस प्रकार कई दिन गुजर गये।

महात्मा बहराम बिन फरशाद के शिष्यों को बड़ी चिन्ता हुई कि गुरु जी कई दिन से कहाँ चले गये वे? ढूँढ़ते-खोजते और पता लगाते उस सिपाही के घर पहुँच गये। उस समय वे बाहर कुँए पर सिपाही को नहला रहे थे। उनको देखते ही सब शिष्य गुरुदेव ! “आप यहाँ यह क्या कर रहे हैं” कह कर पैरों पर गिर पड़े। सिपाही यह दृश्य देखकर बड़े सक्ते में पड़ गया और शिष्यों से उनका परिचय पूछा। जब उसे पता चला कि यह तो महात्मा बहराम बिन फरशाद हैं, तो वह घबरा उठा और पैरों पर गिर कर माफ़ी माँगने लगा। महात्मा बहराम बिन फरशाद ने शिष्यों से कहा कि तुम लोग चलो। मैं इनकी सेवा की अवधि पूरी करके आऊँगा। सिपाही बोला— भगवन् अब मैं आप से सेवा लेने का पाप आगे नहीं कर सकता। महात्मा बहराम बिन फरशाद ने कहा— इससे क्या हर्ज है— सेवा करना तो हमारा धर्म है। सिपाही गिड़गिड़ाते लगा— भगवन् जो दण्ड चाहें दे लें लेकिन अब मुझे क्षमा कर दें। बहुत कहने पर महात्मा बहराम बिन फरशाद ने उससे कहा— कि अगर तुम जीवन में किसी को मारने, सताने अथवा अन्याय न करने की प्रतिज्ञा करो तो मैं अपना सेवा-व्रत अवधि से पूर्व तोड़ सकता हूँ। सिपाही ने ईश्वर को साक्षी कर तीन बार कसम खाई और तब महात्मा बहराम बिन फरशाद उसे अशीर्वाद देकर चले गये।

धर्म-सहिष्णु सुल्तान— जैनुल आब्दीन

महाकव्तर सुल्तान सिकन्दर से परम उदार धर्म-सहिष्णु सुल्तान जैनुल आब्दीन का जन्म होना कैसा विचित्र संयोग है। काश्मीर के

हिन्दू राजाओं में जो स्थान ललितादित्य धुक्तापी का है, वही मुस्लिम शासकों में जैनुल आब्दीन का है। काश्मीर की जनता आज भी इस महान् सुलतान को 'बड़े शाह' के नाम से याद करती है। सुलतान जैनुल आब्दीन ने सन् १४२० से १४७० तक ५० वर्ष राज्य किया। इसके शासनकाल में काश्मीर अपने गौरव तथा उत्कर्ष के चरम शिखर पर पहुँच गया था। सभी इतिहासकारों ने एक मत से उसे महान् उदार शासक बतलाया है।

सिंहासन पर बैठते ही उसने सबसे पहला काम अपने पिता सिकन्दर द्वारा चलाए कठमुल्लावाद का अन्त किया। उसने संगीत, नृत्य आदि पर से रोक हटा दी। सुलतान स्वयं संगीत का बड़ा प्रशंसक था और उसकी सभा में अनेक महान् संगीतकार थे।

सुलतान ने कलाकौशल और शिक्षा के विकास में बहुत ध्यान दिया। काश्मीरी शालों के लिए सैकड़ों कारीगर रात दिन एक से एक सुन्दर डिजाइन और कलात्मक सज्जा की ओर ध्यान देते थे। कितने ही चित्रकार, मूर्तिकार और कलाकार उसके द्वारा पुरस्कृत हुए। उसने शिक्षा के लिए अनेक मदरसे व विद्यालय स्थापित किए। उसने दूर-दूर से मुल्ला, मौलवी, पण्डित तथा आचार्यों को बुलाया और उन्हें जागीर देकर अपने राज्य में बसाया। वह संस्कृत की पाठशालाओं के लिए खुले हाथ दान देता था।

सुलतान स्वयं फ़ारसी, संस्कृत, तिब्बती और काश्मीरी इन चार भाषाओं का पण्डित था। उसे नए-नए ग्रन्थ खरीदने और संग्रह करने का बड़ा शौक था। इस शौक को पूरा करने के लिए उसने एक विशाल पुस्तकालय भी बनवाया। उसने दूर-दूर देशों से हजारों ग्रन्थ मँगवाये और खुले हाथ से उनका मूल्य चुकाया, जिन्होंने ग्रन्थ बेचने से इन्कार किया उस ग्रन्थ की फ़ौरन साफ़ सुन्दर अक्षरों में नक़ल करवाई। मिस्र और बंगाल तक उसके आदमी पुस्तकों की खोज में घूमते रहे, संस्कृत और फ़ारसी का ऐसा कोई ग्रन्थ न था, जो सुलतान के पुस्तकालय में न हो।

हजारों ग्रन्थ एकत्रित हो जाने के बाद सुलतान ने सोचा कि संस्कृत और फ़ारसी दोनों ही भाषाएँ साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध हैं अतः क्यों न इनके चुने हुए काव्यों व अन्य ग्रन्थों का एक से दूसरी भाषा में अनुवाद कर दिया जाए जिससे फ़ारसी के जानकार संस्कृत का और संस्कृत के जानकार फ़ारसी साहित्य का पूरा-पूरा आनन्द उठा सकें। इस प्रकार के दोनों साहित्यों की महान् सेवा भी हो जाएगी।

ऐसा विचार कर सुलतान ने एक अनुवाद विभाग खोला और उसने काश्मीर के दिग्गज विद्वानों को इस कार्य में लगाया संस्कृत का ऐसा कोई काव्य-नाटक नहीं था, जिसका फ़ारसी में अनुवाद न हुआ हो। यही बात फ़ारसी के सम्बन्ध में भी थी। उसकी सभा में विद्वानों की कमी न थी। योगभट्ट नामक एक विद्वान् को फिरदौसी का पूरा 'शाहनामा' ही कण्ठस्थ था। उसने संस्कृत में इसका सुललित अनुवाद किया। पण्डित श्रीवर कवि ने जामीकृत 'यूसफो जुलेखाँ' का 'कथा कौतुकम्' नाम से अनुवाद किया। इसी तरह मुल्ला अहमद ने, जो फ़ारसी और संस्कृत का प्रकाण्ड विद्वान् था, महाभारत एवं

राजतरंगिणी जैसे विशालकाय ग्रन्थों का फ़ारसी में सुन्दर अनुवाद किया।

सुलतान जैनुल आब्दीन की उल्लेखनीय विशेषता अपनी हिन्दू प्रजा के साथ उदार व्यवहार करना था। उसने उन सभी हिन्दुओं को आदरपूर्वक काश्मीर बुलवा लिया, जो सिकन्दर की कट्टरता से दुःखी होकर जम्मू और पंजाब की ओर भाग गये थे। हिन्दुओं को पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता दे दी गई। उनके तीज-त्यौहार एवं पर्वों पर लगी हुई सभी रोक पूरी तरह समाप्त कर दी। उसने सिकन्दर द्वारा तुड़वाए मन्दिरों को फिर से बनवाने और नई मूर्तियाँ प्रतिष्ठित करने की आज्ञा दे दी। सुलतान ने बहुत-से मन्दिर स्वयं अपने खर्च से बनवाए। उनमें मूर्ति-प्रतिष्ठा के समय होने वाले यज्ञ व उत्सव में वह बड़े उत्साह से अपने सभासदों के साथ शामिल होता था।

उसके पिता के शासन-काल में जिन लाखों हिन्दुओं को धर्म-बदलने के लिए बाध्य किया गया था, उन्हें उसने बड़ी उदारता से आज्ञा दे दी कि यदि वे चाहें तो फिर अपने धर्म में वापस जा सकते हैं। सुलतान की इस देवोपरम उदारता से बहुत से लोग फिर अपने पुराने धर्म व जाति में आ गए। हिन्दुओं का दिल जीतने के लिए वह दरबारियों के साथ उनके उत्सवों में सम्मिलित होता था, झेलम नदी के जन्मोत्सव के अवसर पर वह नदी के दोनों ओर होने वाली दीपमाला को देखने के लिए सारी रात नदी में ही नाव पर बिता देता था। जगह-जगह होने वाले संगीत-समारोह, नृत्य आदि देखता और दूसरे दिन आयोजित पुष्प-प्रदर्शनी में भाग लेता एवं सबको दान, मान और पुरस्कारों से सन्तुष्ट करता था।

सुलतान जैनुल आब्दीन जाति और धर्म की संकीर्णता से बहुत ऊपर उठा हुआ था। योग्य व्यक्ति ही उसके शासन में ऊँचे पद पर आते थे। जाति और धर्म का उसमें कोई भेदभाव नहीं होता था। यही कारण था कि उसके समय में हिन्दू बहुत ऊँचे और विश्वस्त पदों पर आसीन थे। कर्पूर भट्ट और शिव भट्ट नामक दो आयुर्वेदाचार्य ब्राह्मण सुलतान के व्यक्तिगत चिकित्सक थे। तिलकचार्य नामक एक बौद्ध विद्वान् ब्राह्मण सुलतान के उच्च-न्यायालय का प्रधान न्यायाधीश था। सिंह भट्ट और रुपय भट्ट उसकी सभा में महान् ज्योतिषी थे।

सुलतान बहुत न्यायप्रिय था। वह जब-तब राज्य के विभिन्न भागों का दौरा करता रहता था और खलीफ़ हारून रशीद, विक्रम एवं भोज आदि की तरह वेश बदल कर रात को घूमा करता ताकि प्रजा के सुख-दुःख का पूरा-पूरा पता लगा सके। यदि उसे कोई सरकारी अधिकारी रिश्वत लेता हुआ या अत्याचार करता हुआ मिल जाता तो वह उसे सख्त सजा देता था। उसने मौर्य सम्राट अशोक की तरह अपने राज्य के नियम बड़े-बड़े शिलालेखों में खुदवा दिए थे। गाँव-गाँव में ताम्रपत्रों पर उसकी विभिन्न आज्ञायें खुदी रहती थीं। आज भी श्रीनगर के पुरातन संग्रहालय में उसके बहुत-से ताम्रपत्र एवं शिलालेख देखे जा सकते हैं।

सुलतान ने काश्मीर की आर्थिक स्थिति सुधारने का बहुत यत्न किया। उसने खेती की दशा सुधारने के लिए अनेक नहरें बनवाईं।

श्रीनगर की भार नहर पर सात पुल बनवाये, जिससे आवागमन और व्यापार में बहुत सुविधा हो गई।

कला की उन्नति के लिए उसने अपने आदमी प्रशिक्षण के लिए दूर-दूर देशों में भेजे ताकि वहाँ से नई-नई चीजें नए-नए इल्म व हुनर सीख कर आयें। उसने यह नियम बना दिया था कि कोई भी विदेशी काश्मीर को जब तक नहीं छोड़ सकता जब तक कि अपनी कला लोगों को सिखा न जाए। इन कारणों से काश्मीर में कलाकौशल की अभूतपूर्व उन्नति हुई। शालों की कढ़ाई-बुनाई में तो सदियों बाद आज भी कोई काश्मीर के सामने टिक नहीं सकता। इसी प्रकार लकड़ी का काम, कागज बनाना, आतिशबाजी, रेशम आदि के निर्माण में भी यह प्रदेश बहुत बढ़ा-चढ़ा था और ये चीजें दूसरे देशों को भी पर्याप्त मात्रा में भेजी जाती थीं।

सुल्तान बहुत न्यायप्रिय था। न्याय करते समय वह धनी-निर्धन, ऊँच-नीच और अपने पराये का भेदभाव पास फटकने भी नहीं देता था। चाहे किसी ने अपराध किया हो, उसे उचित दण्ड भोगना ही पड़ता था। एक बार उसके एक विश्वस्त साथी मीरशाह ने क्रोध में आकर अपनी पत्नी की हत्या कर दी। सुल्तान ने इसके फलस्वरूप उसको मृत्युदण्ड दिया था।

सुल्तान अत्यन्त दयालु था। उसने चोर, डाकुओं को मिलने वाला मृत्युदण्ड समाप्त करके उन्हें उपयोगी कामों में लगाया। उन पर कोई नहीं बरसाए जाते थे, सिर्फ जंजीर से बाँधकर रखा जाता था और खेती, खान आदि में उनसे काम लिया जाता था। उसने यह नियम भी बना दिया था कि किसी गाँव या नगर में यदि चोरी, डकैती होगी तो उसके मुखिया को वह सारी रकम भरनी पड़ेगी। इस नियम के कारण सभी मुखिया बहुत चौकन्ने रहने लगे और काश्मीर राज्य से चोरों का अस्तित्व ही मिट गया।

सुल्तान के सम्बन्ध अन्य देशों से बहुत ही मैत्रीपूर्ण थे और उनमें समय-समय पर बहुमूल्य भेंटों का आदान-प्रदान हुआ करता था। एक बार तैमूरलंग के विद्वान् पुत्र समरकन्द के शासक शाहरुख ने सुल्तान के लिए बहुत से हाथी, हीरे, जवाहरात भेंट भेजे। सुल्तान ने धन्यवाद सहित उन्हें वापस करते हुए एक पत्र लिख भेजा— “यदि आप इनके स्थान पर मेरे लिए कुछ विद्वान् तथा अरबी, फ़ारसी और संस्कृत के ग्रन्थ भेज सकें तो मुझे बड़ी खुशी होगी।” इससे यह ज्ञात होता है कि सुल्तान की नजर में हीरे-जवाहरात से भी ज्यादा कीमत एक विद्वान् की थी।

सुल्तान प्रजा-पालन की ओर भी खूब ध्यान देता था, वह प्रजा के सुख और हित के लिए सर्वस्व त्यागने को तैयार हो जाता। सन् १४६० में काश्मीर घाटी में भयंकर हिमपात हुआ, जिससे धान की फसल को बहुत हानि पहुँची। भूख के कारण लोग जड़ें और पत्तियाँ तक खाने को मजबूर हो गए। हजारों व्यक्ति भूख से तड़प-तड़प कर मरने लगे। लोगों ने अपनी जमीन, मकान, गहने आदि गिरवी रखकर अन्न खरीदा। यह संकट देखकर सुल्तान ने सरकारी गोदामों के द्वार खोल दिए। सभी को मुफ्त अन्न बाँटा जाने लगा जब अकाल

दूर हो गया तो सुल्तान ने विशेष आज्ञा निकाली कि कोई भी व्यापारी अन्न की कीमत के रूप में गिरवी रखी हुई— किसी भी चल या अचल सम्पत्ति पर अधिकार न करे। अन्न की सारी कीमत सरकारी खजाने से चुकाई जायेगी। इस तरह उस दयालु और उदार सुल्तान ने अपनी सारी प्रजा का ऋण खुद ही चुकाया।

सुल्तान जैनुल आब्दीन की ६९ साल की अवस्था में १२ मई, १४७० शुक्रवार को मृत्यु हुई। उस दिन राज्य में किसी के घर चूल्हा नहीं जला। सारी प्रजा अपने पितृतुल्य सुल्तान के लिए रो रही थी। सुल्तान की इच्छानुसार कब्र के पत्थर पर क्रमशः पाली, संस्कृत और फ़ारसी भाषाओं में नाम व लेख खोदे गये। सुल्तान की कब्र पर तीन प्रमुख धर्मों की तीन भाषाओं में खुदे हुए वे अक्षर आज भी उस धर्म-सहिष्णु सुल्तान की अमर-गाथा गा-रहे हैं।

आज भी काश्मीर में जाकर आप किसी वृद्ध काश्मीरी सज्जन से सुल्तान जैनुल आब्दीन की चर्चा करें तो वह आपके भावविभोर होकर बड़े प्रेम से अपने ‘बड़े शाह’ से सम्बन्ध रखने वाली कहानियाँ सुनाएगा। उन पर भले ही आपका पूरा-पूरा विश्वास न हो पर उन शब्दों के पीछे छिपी उन भोले लोगों की इच्छा से आप प्रभावित हुए बिना न रहेंगे। पाटलिपुत्र में जो स्थान सम्राट अशोक का और उज्जयिनी में विक्रमादित्य का है वही स्थान श्रीनगर में सुल्तान जैनुल आब्दीन का है।

इन्हे सिना—ज्ञान ही जिनका अराध्य देवता था

सन् १००० के आस-पास की बात है। बुखारा में उस समय सुल्तान अब्दुल मंसूर का राज्य था। भोग-विलास और ऐशो-आराम के जीवन ने उनके स्वास्थ्य को बड़ी बुरी तरह झकझोर कर रख दिया। सुल्तान एक भयंकर रोग का शिकार हो गया और अब तब की स्थिति आ गयी। चारों ओर नजरे झौड़ाई गयीं। चिकित्सक बुलाये गये परन्तु कोई भी औषधि काम करती नहीं दिखायी दे रही। निश्चित लगता था यह कि सुल्तान बच नहीं सकेगा। मुल्ला और मौलवी अन्तिम समय में अदा किये जाने वाले रस्म-रिवाजों की व्यवस्था तैयारी कर रहे थे।

तभी राजमहल के सिंहपौर पर सत्रह-अठारह वर्ष का कोई किशोर आकर चौकीदार से कहने लगा— जरा सम्राट तक यह समाचार पहुँचा देना कि मैं उनकी चिकित्सा करना चाहता हूँ। ठीक होना तो मालिक के हाथ में है फिर भी मैं अपना प्रयोग तो कर देखूँ। मुझे पूरा यकीन है कि सुल्तान ठीक हो जायेंगे। सत्रह-अठारह वर्ष का यह किशोर! सुल्तान के रोग का उपचार कर सकेगा। मुश्किल है यह बात। अस्सी अस्सी वर्ष के अनुभवी और वृद्ध हकीम जब सुल्तान की बीमारी ठीक नहीं कर सके तो यह कल का छोकरा ऐसी निश्चित बात कैसे कह रहा है। जरूर इसका दिमाग फिर गया है और चौकीदार ने डाँटते हुए कहा— ‘चल-चल ! क्यों अपनी जान का दुश्मन बना हुआ है।

यह समझ ले अच्छी तरह कि यदि सुल्तान को कुछ हो गया तो तेरी गर्दन अलग करवा दी जायेगी ।’

कुछ होना न होना तो ऊपर वाले के हाथ में है भाई उस युवक ने कहा— मैं तो यकीन भर दिला सकता हूँ कि मेरी दवाई व्यर्थ नहीं जायेगी ।

“कभी किसी का इलाज भी किया है । जो यकीन होने लगा तुझे और हमें क्या बेवकूफ समझ रखा है कि हम इतनी आसानी से तुझ जैसे गैर-तजुबेकार को सुल्तान तक पहुँचने देंगे ”—अर्दली लोग अपनी बात पर अड़े हुए से मालूम देते थे । और आगंतुक किशोर इन लोगों की कमजोरियों को अच्छी तरह जानता था । उसने जेब में हाथ डाला और एक सिक्का निकाल कर देते हुए कहने लगा— कौन जाने मेरे दोस्त ! मेरा इलाज सुल्तान को एकदम ठीक कर दे । तुम लोग अपनी जिद भी क्यों अड़े हुए हो जाओ और जरा पूछ कर तो आओ ।’

सिक्के ने सचमुच जादू का-सा काम किया । एक अर्दली दौड़ता हुआ अन्दर गया और कुछ ही मिनटों बाद वापस लौटा तो उसकी मुखमुद्रा पर स्वीकृति की सूचना झलक रही थी । अर्दली ने आकर भी वही कहा— ऐ भाई तुम अन्दर जा सकते हो ।

और राजमहल के अन्तर्कक्ष में जाकर युवक ने सुल्तान की रोग परीक्षा की । उसका उपचार आरम्भ किया । औषधियों से अधिक युवक के प्रेम प्रदर्शन ने काम किया । वस्तुतः अपने चारों ओर चापलूस, खुशामदखोर स्वार्थी लोगों का जमघट लगा रहने के कारण सुल्तान सच्चे और श्रद्धा के अभाव में जीवन के प्रति अश्रद्धालु, निराश और हताश हो चुका था । जीवन की आशा ज्योति ही जब बुझ गयी हो तो कोई सार्थकता नहीं रह जाती है जीने में और वह जीवन मृत्यु की एक शामिल प्रतीक्षा ही बन कर रह जाता है ।

सुल्तान का जीवन भी मृत्यु की प्रतीक्षा ही बन कर रह गया था । लेकिन जब उसे नये वैद्य किशोर को औषधियों के साथ क्रमशः प्रेम, स्नेह, आशा और उत्साह मिलने लगा जो सूखी पड़ी जीवन की बेल पुनः हरी-भरी होने लगी । कुछ ही दिनों में सुल्तान का स्वास्थ्य लौटने लगा और रोग विदा आने की स्थिति में आ गया । लौटते हुए सुल्तान के स्वास्थ्य ने महलवासियों की दृष्टि में युवक का मूल्य और महत्व बढ़ा दिया । एक दिन जब सुल्तान आराम से सो कर उठा था । अपने पास उसी युवक को बैठा पाया । रात अपने पूरे उभार पर थी और ऐसे समय में परिचारक का जागते हुए मिलना वस्तुतः एक सुखद आश्चर्य ही था । कृतज्ञता से भर उठा सुल्तान और उसने पहला प्रश्न किया— ‘आप कौन हैं ?’

‘मैं आपका अदना-सा सेवक हूँ ।’

सुल्तान का तात्पर्य कुछ और ही था । वह अभी तक अपने वैद्य का परिचय भी नहीं जान पाया था और युवक का उत्तर उसका अपना परिचय नहीं था । इसलिए और अधिक स्पष्टता से सुल्तान ने पूछा— मेरा मतलब है आपका परिचय प्राप्त करना । मैं आपको अभी तक नहीं जान पाया है कि आप किनके साहबजादे हैं ।’

‘मैं अब्द अल्लाह का बेटा हूँ और मेरा नाम है अबुआनी इब्ने सिना ।’

‘अच्छा अच्छा’— सुल्तान ने अपनी स्मृति पर जोर डालते हुए कहा— वही इब्ने सिना । जिन्होंने कम उम्र में ही गणित, दर्शन और हकीमी में काबिलियत कर ली है ।’

इब्ने सिना की आँखें अपनी प्रशंसा होते देख शर्म से झुक गयीं । सुल्तान और अधिक कृतज्ञता दर्शाते हुए कहने लगा— “अब आप भी मुझे उपकार का थोड़ा प्रतिदान करने का मौका दें । सुबह तक आप भली-भाँति विचार कर लें और अपनी मनपसंद वस्तु का नाम मुझे कह दें । वह चाहे जो भी हो मैं उसे अवश्य दे दूँगा । आपने मुझे मेरी दुनिया की अनमोल चीज दी है— जीवन ।”

‘नहीं ! नहीं !!’ इब्ने सिना ने कहा— मैंने प्रत्युपकार के लिए यह सब नहीं किया था । आपके हाथों हमारे देश का भविष्य है इसलिए आपके स्वास्थ्य की चिन्ता करना मैंने अपना कर्तव्य समझा और उसका ही पालन किया ।’

‘मैं आपकी भावना को समझता हूँ’— सुल्तान बोला “मैं जानता हूँ कि आपने यह कार्य प्रत्युपकार के लिए नहीं किया था । फिर भी आपकी सेवा का जो गहन भार मेरे ऊपर है उसे थोड़ा हलका करने के लिए ही यह है ।”

‘ठीक है’— सुल्तान की भावनाओं का ख्याल रख कर इब्ने सिना ने कहा । अन्यथा व्यक्तिगत रूप से उन्हें अपने लिए कुछ प्राप्त करने की तनिक भी आकांक्षा नहीं थी । सुबह सुल्तान ने दरबार में आने की घोषणा करवा दी । अब इस योग्य हो गया था कि धीरे धीरे सामान्य दिनचर्या बना सके और उस रोज दरबार में सम्राट को स्वास्थ्य लाभ के लिए बधाइयाँ देने वालों का ताँता-सा लग गया । सामान्य कर्मचारी से लेकर जन-प्रतिनिधि और उच्च अधिकारियों तक ने सम्राट के लिए प्रभु से दुआ माँगी । दरबार से सम्राट के समीप ही इब्ने सिना को बिठाया गया । सभा की कार्यवाही इस नन्हें से कुशल चिकित्सक को पुरस्कृत करने की घोषणा से आरम्भ हुई ।

सभी सभासद यह भली-भाँति जानते थे कि सुल्तान पर इब्ने सिना का महती उपकार है और उसके लिए इब्ने सिना पुरस्कार में जो भी माँग रखेगा वह मिल जायेगा । पूरी रात सोच-सोच कर इब्ने सिना ने अपना मन-पसन्द पुरस्कार चुन लिया था जब वे खड़े हुए यह कहने के लिए कि मैं यह पुरस्कार लूँगा तो लोगों के मुँह पर कौतूहल के भाव थे ।

इब्ने सिना ने सम्राट के अभिमुख होकर कहा— महाराज आप मुझे पुरस्कृत करना ही चाहते हैं तो मैं बड़ा भाग्यशाली हूँ जो मुझे आश्वासन है कि मेरी मन-पसंद वस्तु मिल जायेगी । सभासदों का कौतूहल यह सुनकर और बढ़ गया । सचमुच इब्ने सिना सम्राट की सर्वाधिक प्रिय वस्तु ही माँगेगा । वह राज्य और जागीर से लेकर सुन्दर महल और खूबसूरत स्त्री बेगम या बेटी भी हो सकती है । लोगों की आतुरता बेहद बढ़ गयी ।

और इब्ने सिना ने कहा— मैंने सुना है कि आपके पास एक बहुत अच्छा और समृद्ध पुस्तकालय है। अगर आप मुझे खुश हैं तो मुझे इस पुस्तकालय में अध्ययन करने की अनुमति दें ?

लोग सुनकर बड़ी हैरत में पड़ गये। इब्ने सिना को मिले हुये हुए अवसर का लाभ उठाना नहीं आया। वह मूर्ख हो गया है। उस समय दरबार में उपहासास्पद अट्टहासों का सम्मिलित शोर गूँज उठा। सब अपनी समझ में बुद्धिमान थे। जिन्हें इब्ने सिना जैसे मूर्ख पर हँसने का जन्म-जात अधिकार था। लेकिन सुल्तान की दृष्टि में इब्ने सिना का मूल्य और भी अधिक बढ़ गया था। क्योंकि उन्होंने बड़े प्रयत्नपूर्वक सँजोये और एकत्रित किये गये ज्ञान के प्रकाश स्रोतों के पाठ का महानतम बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय लिया था।

अपने वायदे के अनुसार ज्ञान और विद्या के उस श्रेष्ठतम मंदिर से मंसूर ने इब्ने सिना को भगवती सरस्वती की आराधना का अवसर दिया और इब्ने सिना अहर्निश उसी पुस्तकालय में बैठे रहकर संसार के सर्वश्रेष्ठ विद्या ग्रन्थों का अध्ययन करने लगे। उन दिनों जबकि इब्ने सिना निष्ठापूर्वक ज्ञान साधना में लगे हुए थे— स्मरण करते हुए उन्होंने स्वयं एक स्थान पर लिखा है— “मैं रात को बिल्कुल सो नहीं पाता था। मैं सदा पुस्तकों की ओर ही केन्द्रित रहता। जब कभी ऐसी गुत्थियाँ आ जातीं जिन्हें मैं समझ नहीं पाता तो मेरी परेशानियाँ बढ़ जातीं और मैं मस्जिद में जाकर अल्लाह से प्रार्थना करता कि गुत्थी को सुलझाने की शक्ति दे मुझे। रात को देर तक चिराग जला कर पढ़ता रहता और जब मेरी आँखों को नींद थका देती तो सो जाया करता। यह क्रम अनवरत चलता रहा। मुझे कभी अपने ज्ञान पर संतोष नहीं हुआ।”

यह एक आश्चर्यजनक सत्य है कि जीवन में उपलब्धियों के सभी क्षेत्रों में संतोष को सुख और प्रगति का अन्तिम मार्ग समझा जाता है परन्तु ज्ञान-साधना में तो असंतोष है विकास का मार्ग। उसके बिना कोई भी ज्ञान पिपासु इंच भर भी आगे नहीं बढ़ पाया। इब्ने सिना को आजीवन अपने से असंतोष ही रहा। परिणामस्वरूप वे वृद्धावस्था में भी पुस्तकों के लिए यत्र-तत्र भटकते रहे और खुशामद करते रहे उन लोगों की, जिनके पास उनकी मनचाही पुस्तक मिली।

आजीवन अतृप्त रहने वाली यह ज्ञान पिपासा उन्हें अपने परिवार से विरासत के रूप में मिली थी। उनके पिता के पास भी सैकड़ों दुर्लभ ग्रन्थ थे और वे स्वयं उन ग्रन्थों का स्वाध्याय करते रहते। रात में जब कभी इब्ने सिना की आँख खुलती तो वे पुस्तकों के ढेर के बीच चिराग की रोशनी में झुके हुए अध्ययन करते अपने पिता को देखते। इसी प्रेरक परिवेश ने इब्ने सिना को ज्ञान साधना के पथ पर आरूढ़ कर दिया। युवावस्था तक तो उन्होंने तर्कशास्त्र, विज्ञान, गणित और चिकित्सा के विषयों का अधिकारिक ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

इब्ने मंसूर के ग्रन्थालय में उन्होंने अदु-नभ्र-अलफरावी नामक दार्शनिक ग्रन्थ पढ़ा और वे अध्यात्म विज्ञान की ओर आकृष्ट हुए। इसके बाद तो उन्होंने विख्यात दार्शनिक अरस्तू के भी कई अन्य ग्रन्थों का बीसियों बार अध्ययन कर डाला।

सन् १०१२ में उनके पिता का देहांत हो गया। अब उनकी परीक्षा का समय आया। अभी तक तो उनके और परिवार के निर्वाह का दायित्व पिता सम्हाल रहे थे। इसलिए ज्ञान साधना में कोई अवरोध नहीं आ पाया था। लेकिन पिता का देहांत हो जाने से ज्ञान साधना में बड़ा भारी व्यतिक्रम आ उपस्थित हुआ। परिवार की जीविका के लिए भी उन्हें ही चिंतित होना पड़ा। दुनियादारी के क्षेत्र में उनका अनुभव नहीं के बराबर था सो मुश्किलें आना स्वाभाविक ही था। लेकिन इब्ने सिना तो जीवन में प्राण फूँकने वाली संजीवनी के सान्निध्य में रह चुके थे। वहाँ घबड़ाने या चिंतित होने की क्या आवश्यकता ? निर्विकार और अविक्षिप्त लिप्त से वे जीविका की तलाश के साथ साथ नियमित ज्ञान साधना भी करते रहे। परिवार को उन दिनों बड़े दुर्दिन देखने पड़ते। इब्ने सिना उतना ध्यान जीविका की तलाश में नहीं दे पाते वे जितना कि देना चाहिए। उनका अधिकांश ध्यान पढ़ने-लिखने की ओर ही रहता।

सुल्तान अबल मंसूर को उनकी इस स्थिति का पता चला तो उसने इब्ने सिना को बुलाकर एक उच्च पद पर नियुक्त कर दिया। स्वाभाविक ही ज्ञान और विद्या की संपदा ने उनकी प्रतिष्ठा को बढ़ाया। लेकिन पुराने, लम्बे समय से काम करते चले आ रहे ईर्ष्यालु अधिकारियों को यह नहीं भाया। उन लोगों ने इब्ने सिना के विरुद्ध मन-गढ़ंत दोष लगाना शुरू किये। अपने प्रति अनर्गल प्रचार को वे सह न सके और न ही उन्होंने स्वयं को ऐसी स्थिति में रह सकने योग्य पाया। पता चलते ही सिना के उच्च पद से त्यागपत्र दे दिया और गुरांगज चले गये।

वहाँ उनके एक परिचित अमीर थे इब्न अलमामून इस परिचय को उन्होंने मैत्री सम्बेदना तक ही सीमित रखा। किसी प्रकार का लाभ उठाना उचित न समझा। उन्होंने वहाँ वकालत करना आरम्भ किया। लेकिन वे इस धन्ये में नहीं रह सके। इसका कारण था उनका आदर्श निष्ठ व्यक्तित्व। वे वकालत के पेशे में केवल उन्हीं लोगों की पैरवी करते थे जिसका पक्ष सत्य और न्याय का हो। वे झूठे मुकदमे नहीं लेते और अदालतों में तो झूठे लोग ही अच्छा वकील ढूँढ़ते हैं। इब्ने सिना के पास योग्यता थी, प्रतिभा थी और इन सबसे भी अधिक थी सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा।

परिणामस्वरूप वे सफल न हो सके वकालत के धन्ये में और इब्ने सिना को फिर रोजी-रोटी की तलाश में इधर-उधर भटकना पड़ा उन्होंने परिवार को साथ लेकर दर-दर की ठोकें खायीं। भटकते भटकते वे जुरजान शहर पहुँचे। वहाँ के राजकुमार असाध्य रोग के शिकार बने हुए थे। इब्ने सिना ने उसकी चिकित्सा की, वह ठीक भी हो गया और राज-परिवार ने उन्हें आश्रय देना चाहा। परन्तु नौकरियों का बड़ा कटु-अनुभव था उन्हें भूखे रहना स्वीकार कर उन्होंने नौकरी नहीं की। चिकित्सा का जो पारिवर्तिक मिला उसी में संतोष किया।

और यहीं रहकर चिकित्सा विज्ञान पर अस-कानून तिल तिल नामक ग्रन्थ लिखा। जो बाद में बड़ा प्रसिद्ध हुआ और विज्ञान की

निधि बन गया। हमदन में रहकर उन्होंने एक और पुस्तक लिखी— ‘किताब अल शफ़र’। इस पुस्तक ने हमदन के सुल्तान को इतना प्रभावित किया कि उसने सिना को अपने यहाँ मंत्री बना कर रख लिया। उनकी इस प्रतिष्ठा ने वहाँ भी ईर्ष्यालु अधिकारियों की आँख का खटना बना दिया। वहाँ भी उनके विरुद्ध षड़यंत्र रचे जाने लगे। इब्ने सिना को भी इसका पता तो चल गया था परन्तु अबकी बार वे यह निश्चय कर चुके थे कि चाहे जो हो अवांछनीयता के आगे सिर न झुकाने।

वस्तुतः अनीति और अवांछनीयतायें इसीलिए बढ़ती हैं कि उसके सामने औचित्य और न्याय पस्तहिम्मत हो कर भाग खड़े होते हैं। औचित्य के साथ साहसिकता भी जुड़ी हो तो कोई संदेह नहीं कि अनीति को परास्त करने का उपक्रम न किया जा सके। इब्ने सिना ने भी यही किया। उन्होंने विश्वास किया स्वयं पर कि इस बार मर भले ही जायें अनीति के सामने सिर न झुकऊँगा और सचमुच उन्हें मर ही जाना पड़ा परन्तु सिर न झुकाया। अनीति से हार न मानी।

गुप्त षड़यंत्रों द्वारा ईर्ष्यालु अधिकारियों ने नजरबन्द कर लिया। इब्ने सिना को एकान्त और घने वन में स्थित एक बड़ी इमारत में कैद किया गया। महीनों तक वहीं भूखे-प्यासे रह कर कैद रहे। एक रात उनके कुछ साथियों ने उन्हें मुक्त कराया और भगा कर ले गये अपने साथ। इब्ने सिना को जब होश आया तो उन्होंने स्वयं को इस्फ़हान राज्य में— एक सूफ़ी संत के वेष में पाया। यहाँ के सुल्तान ने उन्हें अपना दरबारी बना लिया।

जीवन भर संघर्ष करते रहने के बाद उन्हें थोड़ा अवकाश मिला था। इस अवकाश में भी उन्होंने विश्राम नहीं किया। वे अपनी कुछ अधूरी पुस्तकें पूरी करने लगे। लम्बी कष्ट-यातनाओं के कारण और बाद में एकदम सामान्य जीवन-क्रम बन जाने के कारण उन्हें उदर रोग हो गया। रोग बढ़ा भयंकर था— इतना भयंकर कि जिससे उन्होंने सैकड़ों व्यक्तियों को मुक्ति दिलायी वही उनकी जीवन मुक्ति का कारण बन गया। जीवन के अन्तिम दिनों में उन्होंने यह कह कर किसी भी प्रकार की औषधियाँ लेना बंद कर दिया था कि— “जो सदैव मेरी रक्षा करता रहा है वह अब अरक्षित रहने में ही मेरा हित समझता है। इसलिए अब कोई दवा लेना मैं नहीं चाहता।

इस वाक्य में ईश्वर के प्रति उनकी वह आस्था ही व्यक्त हुई है जिसे वे जीवन भर सुदृढ़ करते आये। अभी कुछ वर्षों पूर्व विश्वभर में उनकी सहस्राब्दी मनायी गयी है। दुनिया के कई प्रतिष्ठित विश्व-विद्यालयों में उनकी पुस्तकें पाठ्यक्रम में सम्मिलित की गयी हैं। मरने के बाद जिस व्यक्ति की महामानव के रूप में प्रतिष्ठा की गयी वह व्यक्ति जीवन में कभी किसी से प्रोत्साहन नहीं पा सका परन्तु उनका वस्तु जीवन तो मरणोपरान्त ही आरम्भ हुआ। सही मायने में मर कर ही जीवन पाया भी जाता क्योंकि वह जीवन अमर है। जो मरण धर्मा है वह कोई जीवने नहीं है वस्तुतः वह तो जीवन की तैयारी है।

इब्राहीम बिन अदहम— सियाराम मय सब जग जानीं

सूफ़ी सन्तों के इतिहास में सन्त इब्राहीम बिन अदहम का मूर्धन्य स्थान है। एक बार उनके मन में इच्छा जाग्रत हुई कि मक्का की यात्रा कर क़बा के दर्शन किये जायें। सो, वे विचार करने लगे कि यह किस प्रकार की हो। क्योंकि वे चाहते थे कि यह सामान्य प्रकार की न होकर कोई विशेष तरह की हो, ताकि पैगम्बर मुहम्मद उससे प्रसन्न होकर आशीर्वाद वरदान से उन्हें निहाल कर दें। ध्यान आया कि क्यों न हर कदम पर रकअत (एक विशेष प्रकार की नमाज) का पाठ करते हुए यात्रा सम्पन्न की जाय।

बस, फिर क्या था। विचार को क्रिया रूप दे दिया गया। यात्रा शुभारंभ हुई। पग-पग पर नमाज पढ़े जाने के कारण मक्का पहुँचने में उन्हें काफी विलम्ब हुआ। चौदह वर्ष लग गये। इतनी लम्बी यात्रा के उपरान्त भगवान् की इबादत करते हुए गन्तव्य पर जब वे पहुँचे तो हतप्रभ रह गये। क़बा अपने स्थान से गायब था। सोचा, शायद दृष्टि में कोई अन्तर आ गया है। कई बार आँखें मलीं, मुलमुलायीं, किन्तु फिर भी क़बा नदारद। अभी वे इस संबंध में लोगों से पूछताछ करना चाह ही रहे थे कि आकाशवाणी हुई कहा गया— अदहम ! न तो तुम्हारी आँखों में कोई फर्क आया है, न जो तुम देख रहे हो, वह भ्रम ही है। क़बा वस्तुतः इस समय अपने स्थान पर नहीं है। वह अपने एक अत्यन्त प्रियपात्र के स्वागतार्थ गया हुआ है।”

इतना सुनना था कि अदहम सोच में पड़ गये कि आखिर वह कौन-सा सौभाग्यशाली है, जिसकी अगवानी करने के लिए क़बा को अपना स्थान छोड़ना पड़ा ? हमने तो पग-पग पर, कदम-कदम पर भगवान् को याद किया, उन्हें एक पल के लिए भी विस्मृत नहीं किया, फिर भी हम उनके प्रेमभाजन न बन सके।

इन्हीं विचारों में खोये इब्राहीम अदहम अपने भाग्य का रोना रो रहे थे कि चौदह वर्ष हमने बेकार में गँवा दिये। यदि इतना मालूम होता कि पैगम्बर इस तरह के मनुहार से प्रसन्न नहीं होते हैं, तो भला इतना समय और श्रम क्यों बरबाद करता। इतने में सामने से सन्त राबिआ आती दिखाई पड़ीं।

आकाशवाणी एक बार पुनः हुई— “ऐ ! इब्राहीम ! यही खुदा की वह हबीब है, जिसके स्वागत के लिए क़बा गया हुआ था। तू अफ़सोस न कर और राबिआ से वह रहस्य ज्ञात कर कि वह हमारी इतनी प्रिय किस प्रकार बन गई। उपाय जान कर तू भी उसी तरह के कार्य में संलग्न हो जा। तुम्हारी वह सेवा हम ग्रहण करेंगे। फिर तुम भी हमारे उतने ही निकटस्थ व अजीज होंगे, जितनी राबिआ है।”

सन्त बीच ही में बोल पड़े— “ऐ बन्दानवाज ! आप ही क्यों नहीं बता देते कि मेरी बन्दगी में कमी क्या रह गई, जिससे आप उसे कबूल नहीं किया ?”

‘तो सुन’— इब्राहीम के कानों से आवाज टकरायी “ तुमने मेरी सच्ची सेवा की जगह प्रदर्शन और आडम्बर को अपनाया, सस्ती वाहवाही लूटनी चाही। इसलिए तुम्हें उसका फल प्राप्त नहीं हो सका, जबकि राबिआ ने इन सब से सर्वथा मुक्त रहकर मेरी सच्चे हृदय से सेवा की है फलतः उसका परम पुनीत फल सामने देख रहे हो। ”

अब तक राबिआ इब्राहीम के काफ़ी करीब आ चुकी थी। उसने सन्त को पहचान कर आदाब में सिर झुका लिया। सन्त ने भी उसका प्रत्युत्तर दिया। इब्राहीम इस आश्चर्य में डालने वाली घटना से कुछ गंभीर और परेशान से लग रहे थे। राबिआ ने इसे भांप कर सन्त से पूछा ! “यदि इजाजत हो, तो एक सवाल पूछूँ ?” हाँ में इब्राहीम ने सिर हिला दिया।

“आप अल्लाह के दरबार में इतने गंभीर और गमगीन क्यों दिखाई पड़ रहे हैं ? यह मेरी समझ में नहीं आ रहा है। कुछ रोशनी डालेंगे ? इसका कारण क्या है ?”

एक गंभीर निःश्वास छोड़ते हुए सन्त की करुण वाणी मुखरित हुई— “क्या बताऊँ राबिआ ! तुमने जो कुछ इतनी जल्दी पाया है, उसे मैं अब तक न पा सका। इसे मैं तुम्हारी तपश्चर्या ही कहूँगा, जिसका हाथो-हाथ फल तुम्हें मिला है। ” उनकी आवाज से दुःखभरी करुणा टपक रही थी। उन्होंने अपनी सन-करी-सी श्वेत दाढ़ी को सहलाते हुए पुनः कहना आरंभ किया— “यह देख रही हो ? जीवन भर परवरदिगार की इबादत में ही बाल सफेद हो गए, किन्तु आज समझ में आयी कि उनकी बन्दानवाजी के योग्य मैं क्यों न हो सका ? अच्छा एक बात बताओगी राबिआ ?”

‘अं !’ अचानक के प्रश्न से वह चिहूँक उठी। ‘फरमाइए।’ “तुम खुदा की बन्दगी कैसे करती हो ? यह बता सकोगी।” सन्त का अनुरोध था।

“क्यों मजाक उड़ा रहे हैं मेरी ” राबिआ ने तनिक संकोच भरे लहजे में कहा— “भला आपकी तुलना मुझसे कैसे हो सकती है। तनिक सोचिए तो तप-तप कर सफेद हुए आपके इन बालों और भव्य व्यक्तित्व के समक्ष मेरे श्याम केशों और क्षुद्र अस्तित्व की क्या बिसात !”

“नहीं-नहीं, इसे हँसी में न टालो राबिआ, अभी-अभी इलहाम हुआ है कि मुझे तुमसे इबादत का वह रहस्य जान कर उसी में संलग्न हो जाना चाहिए, जिसे सिर्फ तुम्हीं जानती हो। ”

‘अच्छा !’ राबिआ ने आश्चर्य प्रकट किया। “यदि परवरदिगार की यही मर्जी है तो सुनिए” राबिआ कह रही थी— “यदि बन्दगी से आपको मतलब नमाज की अदायगी से है, तो वह तो मैं दिन में सिर्फ एक ही बार पढ़ती हूँ और शेष समय खुदा के बन्दों की सेवा में बिता देती हूँ। यही मेरी प्रतिदिन की दिनचर्या है। यहाँ मक्का भी मैं इसी दिनचर्या का पालन करती हुई आयी हूँ। रास्ते में मिलने वाले राहगीरों, अपंगों, अपाहिजों की खिदमत करते-करते आने के कारण ही मुझे यहाँ पहुँचने में पाँच वर्ष लग गये, अन्यथा एक महीने में पहुँच जाती, पर क्या बताऊँ मेरे अजीज ! मुझसे इनकी पीड़ा सहन

नहीं होती और बरबस इनकी सहायता करने को जो तड़फड़ाने लगता है। मैं तो इसी को खुदा की नेक बन्दगी मान लेती हूँ और प्रार्थना करती रहती हूँ कि जब तक यह शरीर जीवित रहे, इसी काम आये। खुदा इसे स्वीकारे या न स्वीकारे मुझे इसकी कोई परवाह नहीं। ”

“नहीं-नहीं राबिआ ! ऐसा मत कहो। उस बन्दानवाज ने तुम्हारी सेवा प्रसन्नतापूर्वक कबूल की है और इसे ही अपने सच्ची खिदमत बताया है व मुझे भी इसी राह पर चलने की सलाह दी है। तुम धन्य हो, तो तुम्हें नूरे-इलाही के दीदार होने वाले हैं। ”

इस घटना के बाद घर पहुँच कर इब्राहीम ने अपने छोटे से मकान और दौलत को गरीबों में बाँट दिया और स्वयं एक छप्पर तले रहने लगे व कंगालों एवं जरूरतमंदों की खिदमत करने लगे। कहते हैं कि इस बार की सेवा से खुश होकर पैगम्बर मुहम्मद ने इब्राहीम को उनके झोंपड़े में दर्शन व आशीर्वाद दिये, जो एक सच्चे सन्त को ही नसीब होता है। हदीस पर आधारित यह कथा हमें सेवा साधना का सच्चा रूप समझाती है व विराट ब्रह्म की आराधना करने की प्रेरणा देती है।

सच्चे साधु-महात्मा आजर कैवाँ

आजर कैवाँ फ़ारस के शाही खानदान के व्यक्ति थे। किन्तु इन्होंने जीवन का सार भोग-विलास के जीवन में नहीं तप और त्याग में देखा। इन्हें प्रारम्भ से ही भगवान् के प्रति बड़ी आस्था थी और उसे पाने के लिये व्यग्र रहते थे। भगवान् की ज्योति पाने के लिए इन्होंने बड़ी कठोर साधना की थी। इन्होंने १२५ वर्ष का लम्बा जीवन पाया और सारे का सारा भगवान् की उपासना में लगा दिया। इसमें से अठ्ठाइस वर्ष तो दिन-रात भगवान् के भजन में ही लगाये और उस समय बड़े संयम का पालन किया। भोजन की मात्रा कम करते थे, दिन-भर में एक तोले भोजन पर आ गये थे। ये भारतीय योग-साधना की शिक्षा लेने भारत भी आये थे और बिहार की राजधानी पटना में रहे थे। इन्होंने त्रिकुटी समाधि और अनहद नाद की साधना सीखी और अपने पारसी शिष्यों को सिखलाई थी। जिनमें से मूबद होशियार और मूबद सरोष नाम के शिष्य इस योग के बड़े सफल साधक हुए हैं।

आजर कैवाँ बड़े विद्वान् सन्त थे और ज्ञान को ही भगवान् की ज्योति मानते थे। इन्होंने अध्यात्म दर्शन और सदाचार पर बहुत-सी पुस्तकें लिखी थीं। ये अपने पारसी धर्म के बड़े ही पक्के और सच्चे अनुयायी थे। उस समय जब कि पारसी धर्म लोप हो रहा था और उसके स्थान पर मुसलमान धर्म बढ़ रहा था, महात्मा आजर कैवाँ ने पारसी धर्म का उच्चादर्श उपस्थित कर उसकी रक्षा की थी। यह उनका श्रेय है, जो आज अन्य धर्मों के साथ पारसी धर्म का भी अस्तित्व संसार में है अन्यथा इसके इस्लाम धर्म में निहित हो जाने में कोई सन्देह नहीं रह गया था। महात्मा आजर कैवाँ को पारसी धर्म का रक्षक कहा जाय तब भी अतिशयोक्ति न होगी। सच्चा सन्त सब कुछ करने में समर्थ होता है।

पारसी होने पर भी वे बड़े ही अहिंसावादी और जीव दया समर्थक थे और सदैव ही माँसाहार का निषेध किया करते थे। एक बार एक

मुसलमान ने इनसे पूछा— “हजरत ! आप अपने शिष्यों और अनुयायियों को जानवरों को मार कर उनका मांस खाने से क्यों रोकते हैं ? मांस खाना तो पारसियों में जायज माना जाता है ।”

उन्होंने उत्तर दिया— “जीव हिंसा और मांस भोजन की आज्ञा किसी धर्म में नहीं है । यह तो स्वार्थी और जिह्वा के दास लोगों ने आरोप कर दिया है । आपको पता है कि जब कबा-शरीफ की यात्रा की जाती है तो मांस भोजन का निषेध रहता है । जानते हो क्यों ? इसलिये कि कबा-शरीफ ईश्वर का घर माना जाता है और लोग उसकी खोज में ही वहाँ जाते हैं । इसी तरह जो भगवान् का भक्त है, उस पर विश्वास रखता है, उसके लिये उसका दिल ही कबा है, ईश्वर का घर है । भक्ति द्वारा हृदय में परमात्मा की खोज करने वाले का जीव-हिंसा अथवा मांस-भोजन किस प्रकार उचित हो सकता है । मेरे सारे शिष्य और सारे अनुयायी हृदय में ही परमात्मा की खोज करते हैं, उनको मैं जीव-हिंसा न करने और मांस न खाने के लिए कहता हूँ ।” प्रश्नकर्ता उनका उत्तर सुनकर संतुष्ट हो गया और उस दिन से पूरा निरामिषहारी बन गया ।

एक बार एक मनुष्य उनके पास आया और बोला— “महात्मन् ! मैंने देख लिया है कि संसार निस्सार है । इसलिये उसे छोड़ कर फक्री ले लेने का विचार किया है ।” लेकिन उसके योग्य माला, कर्मडल, आसन और गुदड़ी आदि वस्तुयें नहीं मिल पाई हैं ।”

महात्मा आजर कैवाँ ने कहा— “भाई ! तुम तो संसार छोड़ कर भी संसार की वस्तुयें इकट्ठी करना चाहते हो । फक्री सामान जमा करने में नहीं, छोड़ने में होती है । तुम अभी संन्यास के योग्य नहीं हो । जाओ घर-गृहस्थी में रहकर अपने कर्तव्य के साथ भगवान् का भजन करो । यही तुम्हारे लिये फक्री और दरवेशी है ।”

धर्मोद्धारक राजा— अर्दशीर बाबकान

फरस का राजा अर्दशीर बाबकान अपने समय का बड़ा धर्मात्मा राजा हुआ है । यह एक भेड़ें चराने वाले दास का बेटा था । किन्तु अपने गुणों के बल पर बढ़ता-बढ़ता फरस का बादशाह बन गया । यह पारसी धर्म का मानने वाला था । उसके पहले जब फरस को सिकन्दर ने जीत लिया था— बहुत से राजा फरस पर राज्य कर चुके थे । किन्तु वे सभी बड़े ही नास्तिक और विलासी थे । इसलिए फरस के सच्चे पारसी धर्म का लोप हो गया था और उसका स्थान अन्ध-विश्वासों और पाखण्डों ने ले लिया था । किन्तु आगे चलकर अर्दशीर बाबकान ने पारसी धर्म का पुनरुत्थान किया ।

अर्दशीर जब बालक ही था तभी बादशाह अर्दवान ने उसे अपने पास बुलाकर रख लिया था और उसके गुणों पर रीझकर अपने बेटे के समान मान लिया था । अर्दशीर बाबकान और शाहजादा एक साथ ही रहते थे । एक बार शाहजादा और अर्दशीर साथ-साथ शिकार खेलने गये । वहाँ पर एक हिंसक पशु शाहजादे पर दौड़ पड़ा । अर्दशीर

ने तुरन्त ही उसे तीर मारकर मार गिराया और तभी शाहजादे ने भी अपना तीर उस पर चला दिया ।

अपने साथी का श्रेय छीन लेने के लिये शाहजादे ने कहा यह जानवर तो मेरे तीर से मरा है । अर्दशीर तुम इसे मारने के घमण्ड में मत आ जाना, यह मेरा शिकार है । अर्दशीर ने हँसकर कहा कि लीजिये आपका शिकार ही माने लेते हैं । वैसे सच्चाई की बात यही है कि इसे मैंने ही मारा है । शाहजादे के अहंकार पर चोट लगी और वह अर्दशीर से जिद करने लगा कि वह कहे कि शिकार शाहजादे का है उसके तीर से मरा है, मैंने इसे नहीं मारा । अर्दशीर को शाहजादे की जिद पर बड़ा खेद हुआ— वह बोला— शाहजादे अब तुम गैर ईमानदारी पर उतर आये और मुझसे सरासर झूठ बुलवाना चाहते हो । जो मुझसे नहीं हो सकता है । शाहजादा खिसिया गया और उसने आकर अपने पिता बादशाह से शिकायत की ।

बादशाह ने अर्दशीर को बुलवाया और कहा कि तुम शाहजादे की बराबरी करने लगे हो इसलिये अब उसके साथ रहने योग्य नहीं रहे । मैं तुम्हें अस्तबल का अफसर बनाकर उससे अलग करता हूँ । किन्तु अर्दशीर के स्वाभिमान में उस अपमान को स्वीकार न किया और वहाँ से चला आया और बाद में अपनी वीरता और गुणों के आधार पर फरस का बादशाह बना ।

बादशाह बनकर अर्दशीर भोग-विलास में नहीं पड़ा । उसने धर्म-सुधार का और उसके प्रचार का काम अपने हाथ में लिया । जिन दिनों वह कुन्तीतियों, रूढ़ियों और अंधविश्वासों का विनाश कर रहा था उन्हीं दिनों किर्मानशाह नामक नगर राज्य में एक बड़ा भयंकर अंध-विश्वास चल रहा था । वहाँ के एक किले के भीतर एक मन्दिर में बहुत दिनों से न जाने कहाँ एक अजदहा साँप आकर रहने लगा था । पाखण्डियों ने उसकी पूजा शुरू करवा दी और उस नगर को कर्म अजदहे (अजगर साँप की राजधानी) प्रसिद्ध कर दिया था । धूर्त लोग उसी के नाम पर नगर पर राज्य करने और प्रजा को लूटने लगे । प्रतिदिन उस अजगर को बीसों भेड़ें और दूसरे जानवर मार कर उनका खून पिलाया जाता था । बहुत बार तो धूर्त लोग किसी से रुष्ट होकर धर्म और राजा अजगर के नाम पर मनुष्यों को ही काटकर उनका खून पिला दिया करते थे । खून पी-पीकर अजगर खूब मोटा और भयानक हो गया और वहीं जमकर रहने लगा ।

उसी अजगर राजा का नाम दूर-दूर तक फैल गया और लोग देशान्तर से उसकी पूजा और दर्शन करने आने लगे । इस प्रकार धूर्तों का न केवल प्रभाव ही बढ़ने लगा बल्कि राज्य विस्तार भी हो गया । धर्मात्मा अर्दशीर ने इसको धर्म के लिये एक बड़ा खतरा समझा और उस अजगर की पूजा करने के बहाने जाकर उसे खून के स्थान पर पिघला हुआ गरम ताँबा पिलाकर मार डाला । बाद में किर्म अजदहे और अर्दशीर के राज्यों में घमासान युद्ध भी हुआ । किन्तु उसमें धर्म के पक्षपाती अर्दशीर की ही विजय हुई । इस प्रकार अर्दशीर ने एक भयंकर अन्धविश्वास मिटाकर धर्म और जनता की बड़ी सेवा की ।

वृद्ध होने पर अर्दशीर ने राज्य का भार अपने बेटे को दे दिया और पूरी तरह धर्म-सुधार और प्रचार में लग गया । उसने चालीस